अर्वाचीन राजनीतिक चिन्तन

(मार्क्स से अब तक)

(Political Theory from Marx to Present Day)

अनेक विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत

•

डॉ. प्रभुदत्त शर्मा
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्राक्कथन

प्रो० ए० बी० लाल
पूर्व कुलपति
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

•

कॉलेज बुक डिपो, जयपुर

प्राक्कथन

पश्चिम के राजनीतिक विचारकों ने आज की सभ्यतता के मूल्यों और राजनीतिक व्यवस्थाओं को जन्म दिया है। इन महान् चिन्तकों की दार्शनिक उपलब्धियाँ आज के बुद्धि-जगत् को सुरक्षित रखती हैं।

माध्यम की कठिनाई के कारण आज की युवा पीढ़ी इस ज्ञान भण्डार का उपयोग करने में अपने को अशक्त पा रही है। विश्वविद्यालयों के शिक्षकों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे द्विभाषी ज्ञान के कारण संक्रमण की इस समस्या का अच्छी स्तरीय पाठ्य-पुस्तकों द्वारा हल करेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी माध्यम से इसी दिशा में एक अच्छा प्रयास है। लेखक का परिश्रम सफल रहा है। उनकी शैली पुस्तक को बोधगम्य बनाती है। आशा है डॉ प्रभुदत्त शर्मा का यह प्रयास हिन्दी माध्यम के नए लेखकों को प्रेरणा दे सकेगा।

कुलपति
राजस्थान विश्वविद्यालय — ए बी लाल
दिसम्बर, 1972

Published by College Book Depot, Tripolia Bazar, Jaipur-2
Printed at Hema Printers, Jaipur

संशोधित संस्करण की भूमिका

'अर्वाचीन राजनीतिक चिन्तन' (मार्क्स से अब तक) अपने सशोधित नए सस्करण मे आपके सामने प्रस्तुत है। गत दशक मे इस पुस्तक का जो स्वागत हुआ है और इससे लाभान्वित होने वाले जिन विद्यार्थियो और शिक्षको ने हमे जो भी प्रतिक्रियाएँ और सुझाव दिए हैं, उन्हे सामने रखकर पुस्तक मे कितने ही आमूलचूल परिवर्तन एव सशोधन किए गए है। कहना न होगा कि विचारो के इतिहास मे मूल विचार तो नही बदलते, किन्तु उन पर चलता रहने वाला विचार-मन्थन और व्याख्याएँ युग और काल के साथ-साथ नए रूप ग्रहण करती रहती है। इस सस्करण मे हमारा यह प्रयास रहा है कि भारतीय विद्यार्थी को आज की समस्याओ पर सोचने और समझने के लिए एक आधुनिक विचारभूमि प्रदान की जाए। गत दशक मे जो नई शोध-सामग्री इस क्षेत्र मे प्रकाशित हो सकी है उसे भी यत्रतत्र सर्वत्र छात्रोपयोगी ढग से इस नए सस्करण मे समाहित कर लिया गया है।

कागज के अभूतपूर्व अभाव और छपाई की आकस्मिक महँगाई की प्रतिकूल परिस्थितियों मे भी हम अपने नए सस्करण को उसी कलेवर मे प्रकाशित कर सके है, इसके लिए हमारे प्रकाशक-बन्धु विशेष बधाई के पात्र है।

गतिशीलता एव निरन्तरता विचारो की दुनिया की एक सहज विशेषता है। अत आगामी सस्करण के लिए आपके विचार एव सुझाव आमन्त्रित है।

प्रभुदत्त शर्मा

दो शब्द

पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन के इतिहास में आधुनिक युग अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। मार्क्स, लेनिन, स्टालिन, गांधी, लास्की आदि विचारकों के दर्शन में तत्कालीन युग अपनी परिस्थितियों के साथ सम्मुख आ जाता है। समाजवादी, प्रजातन्त्रवादी और अधिनायकवादी विचारधाराओं का ज्ञान प्राप्त किए बिना हम मार्क्सकालीन और उत्तरवर्ती युग की विशेषताओं एवं उसकी प्रवृत्तियों को नहीं समझ सकते। इसी प्रकार मैकडूगल, लासवैल, दुर्खीम, पैरेटो आदि के विचारों में बुद्धिवाद (Reason) के विरुद्ध जिस क्रान्ति के बीज बोए गए हैं उसे भी समझना आवश्यक है, अन्यथा वर्तमान की गहराइयों में पहुँचना कठिन है। प्रस्तुत रचना में इन विभिन्न विचारधाराओं के विवेचन के अतिरिक्त आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त के महत्त्वपूर्ण पक्षों को भी स्पष्ट किया गया है। राजनीति शास्त्र का परम्परागत स्वरूप बदलता जा रहा है, अध्ययन के नए आयाम, नए दृष्टिकोण विकसित होते जा रहे हैं। पहले व्यवहारवादी क्रान्ति आई और अब उत्तर-व्यवहारवाद की गूँज सुनाई देती है। इन सभी के विवेचन द्वारा भी पुस्तक की उपयोगिता बढ़ाने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत रचना 'अर्वाचीन राजनीतिक चिन्तन' को विद्यार्थियों के हित की दृष्टि से सक्षेप में प्रस्तुत करने के लिए तैयार की गई है। बहुत थोड़े में स्पष्ट ढंग से वे सभी मूल बातें कहने का प्रयास किया गया है जिनका आधार लेकर एक गम्भीर विद्यार्थी अपना अध्ययन अपने आप चला सकता है। भाषा, शैली एवं विवेचना की दृष्टि से भी सरलता, स्पष्टता और बोधगम्यता की ओर विशेष रूप से सचेष्ट रहा गया है। पुस्तक के प्रूफ-संशोधन कार्य में श्री प्रकाश जैन का पूर्ण सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ है अतः उन्हें धन्यवाद देना अनौपचारिकता नहीं होगी।

आशा है विद्यार्थी-जगत् इसे उपयोगी पाएगा और इसके अनुशीलन से लाभान्वित हो सकेगा।

प्रभुदत्त शर्मा

अनुक्रमणिका

1 आधुनिक राजनीतिक चिन्तन

(Modern Political Thought)

राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र को विश्व की सभ्यताएँ हर युग मे प्रभावित करती रही हैं। राज्य, समाज और मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध राजनीतिक चिन्तन के विशेष अंग हैं जो सुदूर अतीत से मानव-जीवन और उसके चिन्तन को प्रभावित करते रहे हैं। राज्य और विविध राजनीतिक संस्थानों के विभिन्न पक्षों तथा उनसे सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नो की मीमाँसा राजनीतिक चिन्तन की अध्ययन-सामग्री है। वेपर (Wayper) के शब्दो मे "राजनीतिक चिन्तन वह है जिसका सम्बन्ध राज्य, राज्य के आकार, राज्य के स्वभाव तथा राज्य के लक्ष्य से है। इसका मुख्य कार्य है समाज मे मानव का नैतिक पर्यवेक्षण करना। इसका उद्देश्य राज्य के अस्तित्व, स्थिरता तथा दिन-प्रतिदिन का विवरण प्रस्तुत करना ही नहीं है, वरन् राज्य क्या है और किसी को राज्याज्ञा का पालन क्यो करना चाहिए, राज्य का कार्यक्षेत्र क्या है और कोई *राज्याज्ञा का उल्लघन कब कर सकता है, तथा राज्य के बिना अपूर्ण* मानव की शक्ति क्या रह जाती है, आदि प्रश्नो का उत्तर देने के लिए भी यह चिरकाल से प्रयत्नशील है।"[1] फिलिस डॉयल के अनुसार, "मनुष्य की प्रकृति और उसके कार्य, शेष विश्व से उसका सम्बन्ध जिसमे सम्पूर्ण जीवन का विवेचन अन्तर्निहित है और इन दोनो बातो की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने वाली मनुष्य की अपनी सहजातियो से सम्बन्ध की समस्या ही राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख विषय है और इसके अन्तर्गत राज्य का स्वरूप, प्रयोजन तथा उसके कार्यों का विवेचन, सभी समाविष्ट हैं।"[2] राजनीतिक चिन्तन की विषय-सामग्री बहुत व्यापक है जिसका समय के साथ निरन्तर विस्तार होता जा रहा है। यह निरन्तर सजीव, गतिमान और विकासमान है जिसमे हर युग के विचारको और दार्शनिको के विचार मुखरित हुए हैं।

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन को मोटे रूप मे तीन युगों मे विभाजित किया जा सकता है—प्राचीन युग, मध्ययुग और आधुनिक युग। प्राचीन युग के अन्तर्गत

1 वेपर : राजदर्शन का स्वाध्ययन, पृष्ठ 1
2 *Phyllis Doyle* : A History of Political Thought, p. 15.

300 ईसा पूर्व तक के काल की गणना होती है। प्लेटो और अरस्तू इस युग के महान् यूनानी राजनीतिक चिन्तक थे। मध्ययुग के अन्तर्गत 300 ईसा पूर्व से 1500 का काल सम्मिलित किया जाता है। इस युग की सबसे प्रधान समस्या राजसत्ता और धर्मसत्ता के बीच सम्बन्ध निर्धारण की थी। राजा और पोप का सघर्ष चला जिसमे अन्तत पोप का पराभव हुआ। इस युग के प्रमुख विचारको मे सन्त अम्ब्रोज, सन्त ऑगस्टाइन, सन्त टॉमस एक्वीनास, दाँते, मार्सिलियो ऑफ पेडुआ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। तत्पश्चात् *आधुनिक युग* का सूत्रपात माना जाता है जिसका प्रथम विचारक मेकियावली था। उसे 'आधुनिक राजनीति का जनक' (Father of Modern Political Thought) कहा जाता है। मेकियावली ने अपनी कृतियो मे मध्ययुगीन विचारो पर तीक्ष्ण प्रहार किए तथा मध्ययुग की मान्यताओ और परम्पराओ का खण्डन कर राजनीति को नवीन व्यावहारिक रूप प्रदान किया। उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन यह थी कि उसने राजनीति को धर्म और नैतिकता से पृथक् किया। मेकियावली के बाद बोदाँ, ग्रोशियस, हॉब्स, लॉक, रूसो, मॉण्टेस्क्यू बर्क, बेन्थम, जे एस मिल टी एच ग्रीन, काण्ट, हीगल, कार्ल मार्क्स, लेनिन, गाँधी, लास्की, कोल, रसेल आदि इस युग के महान् राजनीतिक विचारक माने जाते हैं।

पाश्चात्य राजदर्शन की इस पुस्तक का विषयारम्भ उपयोगितावादी चिन्तन से हुआ है जिसने राज्य के *'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित'* के उद्देश्य पर बल दिया। उपयोगितावादी विचारको ने व्यक्ति को समाज का अभिन्न अग स्वीकार करते हुए उपयोगिता को ही राज्य के समस्त कार्यकलापो का आधार माना। जर्मी बेन्थम (1748–1832) उपयोगितावादियों मे सर्वाधिक विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् था जिसने उपयोगितावादी सिद्धान्तों की स्पष्ट समीक्षा की और उपयोगितावाद पर आधारित एक क्रमबद्ध राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन करने मे सफलता प्राप्त की। वैसे इसके प्रवर्तको मे डेविड ह्यूम, प्रीस्टले तथा हुचिसन के नाम लिए जाते हैं। बेन्थम के बाद जेम्स मिल, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन ऑस्टिन, जॉर्ज ग्रोट एलेक्जेण्डर बेन आदि ने उपयोगितावाद में सशोधन किए। जॉन स्टुअर्ट मिल ने बेन्थम के उपयोगितावादी विचारो की पुनर्समीक्षा कर उपयोगितावादी दर्शन को एक नई दिशा प्रदान की।

उपयोगितावादी राजनीतिक चिन्तन के बाद आदर्शवादी विचारधारा को प्रधानता प्राप्त हुई जिसके प्रमुख स्तम्भ इमेनुअल काण्ट, हीगल, टी एच. ग्रीन, बोसाँके आदि थे। टी एच ग्रीन ने इंग्लैण्ड में उदारवादी आदर्शवाद की परम्परा कायम की जबकि काण्ट और हीगल ने जर्मन आदर्शवाद का विकास किया। उपयोगितावाद औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न परिस्थितियों का उपयुक्त समाधान प्रस्तुत करने म असमर्थ रहा और इसीलिए विचारशील लोगों मे यह प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई कि मानव स्वभाव की उपयोगितावादी खोखली धारणा के स्थान पर एक अधिक ठोस धारणा प्रस्थापित करने की आवश्यकता है, और इसी प्रतिक्रिया ने आदर्शवादी चिन्तन का मार्ग प्रशस्त किया। आदर्शवादियों ने सर्व सामान्य प्रमुख सिद्धान्तो को

प्रस्थापित करते हुए यह स्वीकार किया कि राज्य एक नैतिक अनिवार्य सस्था है, राज्य सर्वशक्तिमान है तथा उसमे और व्यक्ति मे कोई पारस्परिक विरोध नही है। राज्य का अपना उद्देश्य एव व्यक्तित्व है तथा वह मनुष्य की सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। आदर्शवादियो ने राज्याज्ञा-पालन को ही स्वतन्त्रता माना और राज्यो को अधिकारों का जन्मदाता बतलाया।

एक अन्य विचारधारा ने भी 19वी सदी के चिन्तन को नया मोड दिया। राजदर्शन के इतिहास मे यह वैज्ञानिक विचारधारा के नाम से विख्यात है। इसके दार्शनिको ने मानव-जीवन की व्याख्या प्राकृतिक विज्ञान के रूप मे करने का प्रयास किया। राज्य और उसकी समस्याओ का अध्ययन करने के लिए उन्होने जीव शास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाया। दूसरी ओर कतिपय ऐसे दार्शनिक हुए जिन्होने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को अधिक उपयुक्त समझा। यदि हरबर्ट स्पेंसर जीवशास्त्रीय व्याख्या के जनक के रूप मे सामने आया तो बेजहॉट मनोवैज्ञानिक व्याख्या का अग्रदूत बना। स्पेंसर ने आचार-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र को जीव विज्ञान के नियमो के समरूप और उनका एक अग माना तथा अपने विकासवादी दर्शन द्वारा भौतिकशास्त्र एव जीवशास्त्र जैसे दो भिन्न विषयो को समन्वित करने का प्रयास किया। बेजहॉट ने सामाजिक और राजनीतिक व्यापार के सम्बन्ध मे मनोवैज्ञानिक पद्धति का सूत्रपात किया जिसे अनेक ब्रिटिश, फ्रांसीसी एव अमेरिकी विद्वानों ने विकसित किया। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि बेजहॉट के समय से ही राजनीतिक सिद्धान्तवादी सामाजिक मनोवैज्ञानिक बने और आज तो मानव-जीवन की समस्याओ के समाधान मे मनोविज्ञान का प्रयोग एक फैशन बन गया है। इस प्रसग मे हम मन (Maine) तथा सेविग्नि (Savigny) सरीखे विचारकों को भी नही भूल सकते जिनकी अध्ययन-पद्धति ऐतिहासिक थी।

19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे कार्ल मार्क्स और एजिल्स के सिद्धान्तो ने राजनीतिक परिवर्तन पर व्यापक प्रभाव डाला और यह प्रभाव 20वी शताब्दी के चिन्तन पर भी व्यापक रूप मे दिखाई देता है। आज का तो युग ही समाजवाद का युग कहा जाता है जो किसी न किसी रूप मे ससार के करोडो व्यक्तियो का एक धर्म सा बन गया है और उनके विचारों एव कार्यों की रूपरेखा निर्धारित करता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से टॉमस मूर ने एक आदर्श समाजवादी व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत किया। तत्पश्चात् इसके सूत्रधारो में कल्पनावादी विचारक सेंट साइमन तथा फेरियर और उनके समकालीन रॉबर्ट ओवन एव कुछ अन्य विचारक हुए। इन सबने 19वी शताब्दी मे ससार के सामने समाजवाद के विकासवादी, अहिंसात्मक अथवा शान्तिवादी तथा आदर्शवादी पक्ष पर बल दिया लेकिन राजनीति मे कार्ल मार्क्स के पदार्पण ने समाजवादी शान्तिपूर्ण धारा को हिंसक, वेगवती और क्रान्तिकारी धारा मे परिवर्तित कर दिया। पूंजीवाद, स्वतन्त्र व्यापार तथा प्रतिस्पर्द्धा और लेसेज फेयर (अहस्तक्षेप) जैसे सिद्धान्तों पर, जिन पर विगत युग का सामाजिक ढाँचा आधारित था, एजिल्स ने कडा प्रहार किया। उसने समाजवाद को स्वप्नलोक से निकाल कर

वैज्ञानिक धरातल प्रदान किया और उसे जनक्रान्ति का रूप दिया। समाजवाद के विकासवादी और क्रान्तिवादी दोनो ही रूप स्पष्ट रूप से वर्तमान राजनीति मे पाए जाते हैं। रूसी और चीनी साम्यवाद मार्क्सवाद के ही रूसी और चीनी संस्करण हैं।

कार्ल मार्क्स और एंजिल्स से प्रेरणा प्राप्त करने वाले विचारको ने सामाजिक पुनर्रचना के विभिन्न सिद्धान्तो को प्रतिपादित किया। कट्टर मार्क्सवाद की अपेक्षा प्रजातान्त्रिक एव विकासवादी समाजवाद इगलैण्ड की धरती के लिए अधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ। वहाँ अनेक समाजवादी आन्दोलनो ने जन्म लिया जिनमे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'फेबियनवाद' था। सन् 1887 मे फेबियनवादियो ने अपने समाज का उद्देश्य प्रकट करते हुए कहा कि फेबियन समाज समाजवादियो का समाज है जिसका उद्देश्य समाज का नवगठन करना है। यह नया सगठन भूमि तथा उद्योग-धन्धो को व्यक्तिगत तथा वर्ग विशेष के स्वामित्व से निकाल कर समाज को उसका स्वामी बनाकर किया जाएगा, जिससे सब सामान्य लाभ के लिए कार्य करे और केवल इस रीति से सम्पूर्ण लाभ का समस्त जनता मे समानता के आधार पर वितरण हो। वास्तव मे फेबियनवाद ने क्रान्ति और हिंसा से दूर रहते हुए वैधानिक उपायो द्वारा समाजवाद की स्थापना करने पर बल दिया और विनाश की अपेक्षा सुधार को अधिक महत्त्व दिया। विकासवादी समाजवाद का एक महत्त्वपूर्ण पहलू समष्टिवाद के रूप मे सामने आया जिसे राज्य-साम्यवाद, समूहवाद आदि नामो की भी सज्ञा दी जाती है। समाजवाद का यह एक परिष्कृत रूप है जो समाजवादी उद्देश्य की पूर्ति के लिए शान्तिपूर्ण उपायो पर बल देता है। परिवर्तन की क्रमिकता मे विश्वासरखते हुए समष्टिवादी चाहते हैं कि राज्य मे समाजवादी क्रान्ति बिना किसी रक्तपात तथा हिंसा के धीरे-धीरे लाई जाए। विकासवादी समाजवाद की एक प्रमुख शाखा सशोधनवाद (Revisionism) के रूप मे विकसित हुई जिसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्याख्याता बर्न्सटाइन था। सशोधनवादियो ने मार्क्स के सिद्धान्त की कटु आलोचना करते हुए आग्रह किया कि मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी पहलू की अपेक्षा विकासवादी पहलू को महत्त्व दिया जाना चाहिए और परिवर्तित परिस्थितियो मे मार्क्सवादी सिद्धान्तो मे आवश्यकतानुसार सशोधन किए जाने चाहिए।

उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम भाग मे फ्रांस के श्रमिक आन्दोलन द्वारा श्रमजीवी वर्ग के लिए श्रम सघवाद नामक एक नए सामाजिक सिद्धान्त का जन्म हुआ। यह एक क्रान्तिकारी विचारधारा है जो शान्ति और विकासवाद दोनो सिद्धान्तो को अस्वीकार कर मजदूरो को तुरन्त सब प्रकार के बन्धनो से मुक्त करना चाहती है। इस विचारधारा मे मजदूरो का स्वाधीनता प्रेम इस सीमा तक पहुँच गया है कि वह औद्योगिक क्षेत्र मे उद्योगपतियो के अधिकार के विरुद्ध ही नहीं, बल्कि राजनीतिक क्षेत्र मे राज्य के हस्तक्षेप के विरुद्ध भी विद्रोह करती है। श्रम-सघवाद उद्योगो का सचालन एव स्वामित्व राज्य के हाथो मे न देकर मजदूरों के हाथ मे रखना चाहता है। समाजवाद की एक अन्य प्रशाखा, जिसे हम समाजवाद का अग्रेजी सस्करण कह सकते हैं, 'श्रेणी समाजवाद' है। यह मध्यमार्गी विचारधारा अंग्रेजी फेबियनवाद और

फाँसीसी सघवाद का 'बुद्धिजीवी शिशु' है जिसका प्रतिपादन 20वी शताब्दी के प्रथम एव द्वितीय दशको मे किया गया। सामान्य रूप मे श्रेणी-समाजवाद का उद्देश्य उद्योगो मे सलग्न लोगो के स्वराज्य की स्थापना कर वर्तमान वेतन-प्रथा का अन्त करना है। इसके अनुसार एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण होना चाहिए जिसमे श्रमिको की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ विकसित हो सकें। यह चाहता है कि पूँजीवादी व्यवस्था और प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के स्थान पर औद्योगिक समाज मे उत्पादको के सघ हो और ये सब सस्था मे इतने हो जितने कि समाज मे होने वाले कार्य अर्थात् प्रत्येक उद्योग के लिए पृथक्-पृथक् सघ हो। क्रमिक परिवर्तन मे विश्वास करने वाली इस विचारधारा का अब सक्रिय राजनीति मे कोई स्थान नही है।

आधुनिक राजनीतिक चिन्तन की दो अन्य महत्त्वपूर्ण विचारधाराएँ हैं—अराजकतावाद एव गाँधीवाद। 'अराजकतावाद' किसी निश्चित सिद्धान्त का नाम नही है, अपितु एक आधारभूत विचारधारा का सूचक है जिसे कतिपय विचारको ने अपने-अपने ढग से व्यक्त किया है। इसका आधारभूत सिद्धान्त यह है कि राजनीतिक शक्ति हर रूप मे एक बुराई है, अत अवांछनीय एव अनावश्यक है। मानवीय सम्बन्धो मे न्याय की स्थापना करने के लिए राज्य को समूल नष्ट कर उसके स्थान पर स्वतन्त्र समाज का सगठन किया जाना चाहिए जिसमे सामजस्य की स्थापना, उत्पादन, उपभोग तथा एक सभ्य प्राणी की नाना आवश्यकताओ की तुष्टि के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक स्थापित विभिन्न सगठनो मे स्वतन्त्र समझौते हो। ऐसा इसलिए सभव है क्योकि मनुष्य स्वभाव से अच्छा है। गाँधीवाद, जो आज के युग की एक अत्यन्त सजीव, सुधारवादी और प्राणदायिनी विचारधारा है, इस रूप मे अराजकतावादी है कि यह आधुनिक केन्द्रीभूत राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता का शत्रु समझती है। यह दर्शन वैयक्तिक सम्पत्ति और निर्बाध प्रतिस्पर्द्धा पर आधारित वर्तमान सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के स्थान पर सत्य और अहिंसा पर आधारित ऐसे नवीन समाज की रचना करना चाहता है जिसमे व्यक्ति को अधिकतम स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके। इस तरह यह मार्क्सवाद या साम्यवाद, अराजकतावाद या अन्य किसी वाद की अपेक्षा अधिक जीवन्त और अधिक क्रान्तिकारी विचारधारा है। साम्राज्यवाद, फासीवाद, नाजीवाद आदि विचारधाराओ का भी आधुनिक राजनीतिक चिन्तन मे स्थान है।

2

मार्क्स के बाद समाजवाद : एडवर्ड बर्नस्टाइन, कार्ल काटस्की, लेनिन, ट्रॉटस्की, स्टालिन और माओ

(Socialism After Marx Edward Bernstein, Karl Kautsky, Lenin, Trotsky, Stalin and Mao)

कार्ल मार्क्स की मृत्यु के बाद उसके दर्शन के समर्थक कई गुटों में विभाजित हो गए। जिन देशों में लोकतान्त्रिक विचार मजबूती से जम चुके थे वहाँ मार्क्स के अनुयायी उसके कतिपय सिद्धान्तों से जैसे इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, वर्ग-संघर्ष, क्रान्ति की अपरिहार्यता आदि से आश्वस्त नहीं हुए और उन्होंने मार्क्सवाद को लोकतान्त्रिक ढाँचे में ढालना चाहा। मार्क्स के बहुत से समर्थक ऐसे थे जो अपने-अपने देशों की भौगोलिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक आवश्यकताओं के अनुकूल मार्क्सवाद को ढालने के इच्छुक थे। उग्रपंथी मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी पहलू को अधिक महत्त्व देना चाहते थे। दूसरी ओर ऐसे भी लोग थे जो मार्क्सवाद पर शान्तिपूर्वक पुनर्विचार कर उसके विकासवादी पहलू पर बल देने का समर्थन करते थे। इन विभिन्न विचारों और दृष्टिकोणों के फलस्वरूप मार्क्स के बाद समाजवाद की विभिन्न शाखाएँ प्रस्फुटित हुई और इसके विभिन्न प्रवक्ता हुए।

(अ) सर्वप्रथम इस अध्याय में एडवर्ड बर्नस्टाइन (Edward Bernstein), कार्ल काटस्की (Karl Kautsky), लेनिन (Lenin), ट्रॉटस्की (Trotsky), स्टालिन (Stalin) और माओ (Mao) तथा कुछ अन्य विद्वानों के विचारों की विवेचना की जाएगी।

(ब) अगले कुछ अध्यायों में फ्रांसीसी श्रमिक संघवाद (French Syndicalism), फेबियन समाजवाद (Fabian Socialism), श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism) अराजकतावाद क्रान्तिकारी और दार्शनिक (Anarchism Revolutionary and Philosophical) आदि का वर्णन किया जाएगा।

(स) अन्त में लोकतान्त्रिक समाजवाद (Democratic Socialism) पर विचार किया जाएगा।

पुर्नविचारवाद : एडवर्ड बर्सटाइन

(Revisionism : Edward Bernstein, 1850–1932)

पुर्नविचारवाद (Revisionism)

पुर्नविचारवादियो द्वारा मार्क्स के सिद्धान्त की कटु आलोचना की गई और इस बात पर बल दिया गया कि मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी पहलू की अपेक्षा विकासवादी पहलू पर बल दिया जाना चाहिए तथा परिवर्तित परिस्थितियो मे मार्क्सवादी सिद्धान्तो मे आवश्यकतानुसार सशोधन किए जाने चाहिए। यूरोप मे पुर्नविचारवादियो अथवा सशोधनवादियो और सुधारवादियो के इस उदार तथा व्यावहारिक समाजवाद के सिद्धान्त प्रथम विश्व युद्ध से 25 वर्ष पूर्व विविध विद्वानो जैसे, जर्मनी मे एडवर्ड बर्सटाइन (Edward Bernstein), फ्रांस मे जीन जोरेस (Jean Jaures), बेल्जियम मे अंसीले (Edward Ansiele), इटली मे बिस्सोलाटी (Leonido Bissolati), रूस मे टुगन बेरोनोस्की (Tugan Baronowsky) तथा स्वीडन मे कार्लब्रंटिग (Karl Branting) के वक्तव्यों तथा कार्यो मे और बेल्जियम के मजदूर दल, दक्षिणी जर्मन राज्यो की समाजवादी प्रजातान्त्रिक पार्टियों, फ्रांस की स्वतत्र समाजवादी पार्टियो तथा ब्रूसिस्टो (Broussisto) और इटली की समाजवादी पार्टियो के सिद्धान्तो तथा युक्तियो मे प्रकट हुए। इस सुधारवादी समाजवाद (Reformist Socialism) के सिद्धान्त बर्सटाइन जोरेस तथा टुगन बेरोनोस्की के लेखो एव रचनाओ म विशद् रूप से उपलब्ध हैं किन्तु इनमे भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण बर्सटाइन ही है जिसे सशोधनवादी अथवा पुर्नविचारवादी (Revisionist) आन्दोलन का प्रणेता कहा जाता है। बर्सटाइन ने मार्क्सवाद के विकासवादी पहलू पर बल दिया, मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो को तथ्यों की दृष्टि स दोषी पाया और कहा कि मार्क्स के बुद्धिमान शिष्यों को अपने गुरु की प्रत्येक बात को आँखें बन्द करके स्वीकार नहीं करना चाहिए, बल्कि इसमे जो सत्य है उसे ग्रहण करना चाहिए और जो असत्य है उसका परित्याग कर देना चाहिए।

एडवर्ड बर्सटाइन (Edward Bernstein)

एडवर्ड बर्सटाइन का जन्म सन् 1850 मे बर्लिन मे एक लोकोमोटिव इन्जीनियर के परिवार मे हुआ था। उसका सामाजिक जीवन सन् 1872 मे समाजवादी प्रजातान्त्रिक दल (Social Democratic Party) की सदस्यता से शुरू हुआ। सन् 1878 मे जब समाजवाद विरोधी कानून पारित हुआ तो बर्सटाइन को जर्मनी से बाहर लगभग 20 वर्ष एक निर्वासित के रूप मे व्यतीत करने पड़े। सन् 1900 मे जर्मनी लौटने पर उसने पुर्नविचारवादी आन्दोलन की बागडोर सम्भाल ली और साशल डेमोक्रेटिक पार्टी के कटु विरोध के बावजूद युवको को बडी सीमा तक प्रभावित किया। पुर्नविचारवाद के प्रति विरोध का नेता कॉट्स्की था। बर्सटाइन का सन् 1914 तक उससे सैद्धान्तिक सघर्ष चलता रहा। सन् 1932 मे इस महान् सशोधनवादी नेता की मृत्यु हो गई।

बर्संटाइन ने मार्क्सवाद पर 'Problems of Socialism' नामक लेखमाला मे अपने आक्रमणकारी विचार प्रकाशित किए। एक जटिल शीर्षक वाले ग्रन्थ मे उसके विचारो की अभिव्यक्ति हुई जिसका संक्षिप्त अंग्रेजी अनुवाद 'Evolutionary Socialism' के नाम से प्रकाशित हुआ। बर्संटाइन ने एक लम्बे पत्र मे मार्क्सवाद की आलोचना का सार प्रस्तुत किया है जो उसने सन् *1898* मे जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी को लिखा था। बर्संटाइन की शकाम्रो, अविश्वासो और मार्क्सवादी आलोचनाओं का मुख्य तर्क यह था कि मार्क्स ने समाज का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया था वह गलत प्रमाणित हो चुका था और घटनाक्रम के अनुसार मार्क्स की भविष्यवाणियाँ भी गलत सिद्ध नही हुई थीं, अत यह सर्वथा उचित था कि मार्क्स के सिद्धान्तो मे संशोधन किया जाए और उन बातो को हटा दिया जाए जो गलत सिद्ध हो चुकी थीं।[1]

बर्संटाइन द्वारा मार्क्स की आलोचना

बर्संटाइन ने *समाजवाद की समस्याएँ* (Problems of Socialism) *नामक* लेखमाला मे मार्क्स पर स्वप्नलोकीय (Utopian) होने का आरोप लगाया। मार्क्स ने भविष्य के सामाजिक सगठन की कोई कल्पना नही की थी, पर यह पूर्ण विश्वास के साथ कहा था कि आकस्मिक तथा तीव्र परिवर्तन के फलस्वरूप समाज पूँजीवाद के स्थान पर समाजवाद का रूप धारण कर लेगा। बर्संटाइन ने मार्क्स के इस विचार को स्वप्निल बताया और कहा कि मार्क्स की धारणा यथार्थ से दूर थी। उसका यह विश्वास गलत था कि पूँजीवादी समाज का अन्त निकट आ रहा था और वह उस अन्तिम सकट के चरम बिन्दु पर था जिसके *परिणामस्वरूप श्रमिक* वर्ग को शक्ति प्राप्त हो जानी थी। मार्क्स द्वारा ऐसे विचारो को प्रकट करना भ्रान्तिपूर्ण तथा स्वप्नलोकीय था।

बर्संटाइन ने आरोप लगाया कि मार्क्स के स्वप्नलोकीय विचारों का ही यह दुष्परिणाम था कि जर्मनी की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी मे निष्क्रियता व्याप्त हो गई थी। इस पार्टी ने क्रान्ति से पूर्व कोई भी रचनात्मक कार्य करना आवश्यक नहीं समझा। चूँकि बर्संटाइन को मार्क्स द्वारा कथित क्रान्ति के कोई भी लक्षण नही दिखाई दे रहे थे, अत उसने यह तर्कसंगत शका प्रस्तुत की कि क्या श्रमिको के लिए यह उचित है कि उन सुधारों के लिए कोई *प्रयत्न करें* जो *पूँजीवादी राज्य मे* पूँजीवादी ढाँचे के अन्तर्गत भी प्राप्त हो सकते हैं, और क्या उनके लिए यह उचित है कि वे इन सुधारो को पाने के लिए प्रयत्नशील होने की अपेक्षा प्रत्याशित क्रान्ति की प्रतीक्षा करते रहे। बर्संटाइन ने कहा कि क्रान्ति की अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा करना श्रमिको के हितो के दृष्टिकोण से लाभप्रद नहीं है और उचित मार्ग यही है कि पूँजीवाद के *विनाश* की प्रतीक्षा मे बैठ न रहकर श्रमिक पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत अधिकतम सुविधाएँ प्राप्त करने को सचेष्ट हो। बर्संटाइन के ये विचार डेमोक्रेटिक पार्टी के सिद्धान्तों से मेल नहीं खाते थे।

1 *Laidler* A History of Social Thought, p. 295.

बर्सटाइन ने अनुभव किया कि मार्क्स की भविष्यवाणी के विपरीत वर्ग-सघर्ष मे कमी होने के कारण क्रान्ति की सम्भावना निरन्तर घटती जा रही थी। समाज दो उत्कट परस्पर विरोधी वर्गों में विभक्त नही हो रहा था। श्रमिक स्वय किसी एक गठित वर्ग मे आबद्ध नहीं थे, उनका विभाजन कुशल, अकुशल आदि अनेक वर्गों मे हो रहा था। बर्सटाइन ने कहा कि सामाजिक धन की भारी वृद्धि ने बडे पूँजीपतियो की सख्या मे कमी नही की थी, बल्कि सम्पूर्ण श्रेणी के पूँजीपतियो की सख्या मे वृद्धि हुई थी। पूँजी का केन्द्रीकरण कुछ ही हाथो मे होने से मध्यमवर्गीय और छोटे व्यवसायो का लोप नहीं हो रहा था और श्रमिको की दशा गिरने के बजाय सुधर रही थी। ज्यो-ज्यो राज्य का लोकतान्त्रिक स्वरूप उन्नत हो रहा था, श्रमिक वर्ग की राजनीतिक क्रान्ति द्वारा समाजवाद के आने की सम्भावना कम होती जा रही थी।[1] बर्सटाइन के शब्दो मे, "कारखानो के बारे मे अधिनियम, स्थानीय शासन का जनतन्त्रीकरण, उसके कार्यक्षेत्र का विस्तार, वैधानिक प्रतिबन्धो से ट्रेड यूनियनो और सहयोगी व्यापारी-सस्थाओं की मुक्ति, सार्वजनिक सेवाओ द्वारा कार्य के एक निश्चित स्तर का विचार—ये समस्त विचारधाराएँ विकास की विशेषताएँ हैं। वर्तमान राष्ट्रो का राजनीतिक सगठन जितना अधिक जनतन्त्रीय हाता है उतनी ही अधिक राजनीतिक सकट की आवश्यकताएँ तथा अवसर कम होते हैं।" बर्सटाइन इस परिणाम पर पहुँचा कि एक "समाजवादी का कार्य श्रमिक वर्ग को राजनीतिक रूप से सगठित करना और उन्हें एक लोकतन्त्र मे विकसित करना तथा राज्य मे उन समस्त सुधारो के लिए लडना है जिनसे श्रमिक वर्ग ऊँचा उठ सकता है और राज्य को लोकतन्त्र की दिशा मे मोडा जा सकता है।" स्पष्टत बर्सटाइन के मतानुसार पूँजीवाद से समाजवाद मे परिवर्तन शनै-शनैः ही हो सकता है। स्थायी सफलता के लिए आवश्यकता यह है कि क्रान्तिकारी परिवर्तन के बजाय धीरे-धीरे किन्तु निश्चित विकास की ओर अग्रसर हुआ जाए। समाजवाद की स्थापना वर्ग-सघर्ष के परिणामस्वरूप नही होगी, बल्कि क्रमिक सुधारो द्वारा होगी। श्रमिको को चाहिए कि वे अपने राजनीतिक अधिकारों के लिए जोर दें। श्रमिक को ग्रामो और नगरो मे अपने वर्गीय हितो के लिए राजनीतिक सघर्ष करना चाहिए और अपने औद्योगिक सगठन के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

बर्सटाइन के इन विचारों से स्पष्ट है कि वह समाजवाद और प्रजातन्त्र को परस्पर-विरोधी नही मानता था। उसके लिए दोनो एक दूसरे के पूरक थे। बर्सटाइन के ही शब्दो मे, "बिना कुछ प्रजातान्त्रिक परम्पराओ और सस्थाओ के वास्तव में आज का समाजवादी सिद्धान्त सम्भव नही होगा। श्रमिक आन्दोलन अवश्य होगा, पर सामाजिक प्रजातन्त्र नहीं। आधुनिक समाजवादी आन्दोलन तथा उसकी सैद्धान्तिक व्याख्याएँ वस्तुत महान् फ्रांसीसी क्रान्ति एव औचित्य की इन भावनाओ का प्रतिफल है जिसे श्रमिक आन्दोलन सामान्यतया स्वीकार कर लिया गया है। प्रजातन्त्र और

1 Evolutionary Socialism (Tr. of *W. Huebsch*), p XII

समाजवाद मे परस्पर अन्तर्विरोध मानना भ्रामक है। प्रजातन्त्र तो समाजवाद की शर्त है, वह समाजवाद का केवल साधन ही नहीं उसका सार भी है।"[1]

बर्सटाइन को मार्क्स के इतिहास की एक युग से दूसरे युग पर आकस्मिक छलांग की धारणा मे कोई विश्वास न था। फेबियनों के विचार भी ऐसे ही थे।

बर्सटाइन ने मार्क्स की इतिहास की आर्थिक व्याख्या को भी अपने आक्रमण का निशाना बनाया। उसने कहा कि इतिहास के निर्धारण में केवल आर्थिक तत्त्व ही सब कुछ नही हैं। उसने मार्क्स के इस सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या की और उसमे भविष्य के परिवतनो के निर्धारण मे विचारधारा-सम्बन्धी और नैतिक जैसे अर्थेतर कारको को भी ध्यान मे रखा। यद्यपि मार्क्स और ऐंजिल्स दोनो ने इनकी सत्ता स्वीकार की थी, तथापि उन्होंने इनको गौण स्थान दिया था, जबकि बर्सटाइन के अनुसार स्वतन्त्र क्रिया के लिए इनका प्रमुख स्थान है। अपने ग्रन्थ 'विकासवादी समाजवाद' (Evolutionary Socialism) मे उसने लिखा कि—"आधुनिक समाज प्रारम्भिक समाजो के आदर्शों से कहीं अधिक उन्नत है। ये आदर्श केवल आर्थिक तत्त्वो तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि इन आदर्शों के क्षेत्र में विज्ञान, कला तथा अन्य सामाजिक सम्बन्धो का समावश है। ये विभिन्न तत्त्व आज आर्थिक तत्त्वो पर इतने आधारित नहीं हैं जितने प्राचीन काल मे थे। आधुनिक आदर्शों का, विशेषकर नैतिक आदर्शों का क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत है, वे केवल आर्थिक तत्त्वो पर आधारित नही है।"

बर्सटाइन ने इस बात पर बल दिया कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव की आर्थिक शक्तियो के निर्देशन की शक्ति बढती जाती है तथा प्राकृतिक आर्थिक शक्ति मनुष्य की सेविका बन जाती है। आर्थिक परिवर्तन की दृष्टि से समाज को पूर्वापेक्षा अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है। स्पष्ट है कि बर्सटाइन का यह विचार मार्क्सवाद के मूल पर प्रहार करता है क्योंकि यह ऐतिहासिक विकास मे आवश्यकता के नियम से इन्कार करता है। बर्सटाइन की मान्यता है कि व्यक्तिगत हित के विरुद्ध सामान्य हित अधिक प्रबल होता जा रहा है, जिसके फलस्वरूप 'आर्थिक शक्तियो का प्रारम्भिक नियम' खण्डित होता जा रहा है। उसके स्वय के शब्दो मे, "व्यावसायिक व आर्थिक विकास तथा अन्य सामाजिक प्रवृत्तियो के विकास मे कारण और कार्य की अन्यान्याश्रितना निरन्तर रूप से बढती जा रही है जिसके कारण आर्थिक शक्तियो के प्रारम्भिक नियम के उपर्युक्त रूप को निर्धारित करने की शक्ति बहुत कम होती जा रही है।"

बर्सटाइन ने मार्क्स के मूल्य-सिद्धान्त का भी खण्डन किया। इस सम्बन्ध मे बर्सटाइन के विचारो को स्पष्ट करते हुए प्रो कोकर ने लिखा है कि—

"मार्क्स के मूल्य-सिद्धान्त का खण्डन करते समय बर्सटाइन ने उस भ्रान्ति की ओर सकेत किया जो 'कैपिटल' ग्रन्थ के तीसरे खण्ड में मार्क्स के मत परिवर्तन के कारण उत्पन्न होती है। 'कैपिटल' के इस खण्ड में बाजार-मूल्य (Market

1 *Edward Bernstein* Evolutionary Socialism (Eng. Tr), p. 9

Value) को उत्पादन की लागत के बराबर माना गया है जिसमे औसत मुनाफा भी सम्मिलित है, किन्तु पहले के खण्डों मे विनिमय-मूल्य (Exchange Value) केवल उसी को माना गया है जो उत्पादन मे लगाए गए श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है। तीसरे खण्ड मे यह विचार केवल इस रूप में मिलता है कि समस्त पक्षों का सामाजिक मूल्य उस समस्त श्रम-काल के बराबर है जो उसके उत्पादन मे लगा है और पूर्ण उत्पादन पूर्ण मजदूरी से जितना अधिक है वह पूर्ण सामाजिक बढोतरी (Surplus) है जो श्रमिको द्वारा उत्पन्न की गई है परन्तु जो उनसे अन्यायपूर्वक छीन ली गई है। बर्नस्टाइन का यह विचार था कि श्रम निर्मित मूल्य के किसी भी सिद्धान्त के आधार पर हम वितरण के लिए कोई उपयुक्त प्रणाली स्थापित नहीं कर सकते। मूल्य-सिद्धान्त श्रम के उत्पादन के विभाजन मे न्याय या अन्याय का निर्णय के लिए कोई आदर्श स्थापित करने मे उतना ही असफल है जितना किसी मूर्ति की सुन्दरता या कुरूपता का निर्णय करने के लिए अणु-सिद्धान्त (Atomic Theory)। आज जिन उद्योगो मे अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) की दर बहुत अधिक ऊँची है उनमे हमें श्रेष्ठतम अवस्था वाले मजदूर दिखाई देते हैं और जिन उद्योगो मे अतिरिक्त मूल्य की दर बहुत निम्न है उनमे मजदूर अत्यन्त हीन अवस्था में हैं। साम्यवाद या समाजवाद के लिए वैज्ञानिक आधार केवल इस बात से प्राप्त नही किया जा सकता कि मजदूर को उसके श्रम का पूर्ण मूल्य प्राप्त नहीं होता। संशोधनवादी सामान्यतया मार्क्स के मूल्य-सिद्धान्त को अस्वीकार करने में बर्नस्टाइन का अनुसरण कर सकते थे। जहाँ तक कि उस सिद्धान्त मे यह माना जाता है कि वस्तुओं का विनिमय मूल्य केवल मजदूरो के प्रयत्नो से निर्धारित होता है और जिस अतिरिक्त मूल्य का पूँजीपति शोषण करते हैं उनका निर्धारण केवल उस अतिरिक्त भाग से होता है जो उत्पादन मे से मजदूरी देने के बाद बचा रहता है। परन्तु वे इस बात का खण्डन नही करते कि अतिरिक्त मूल्य होता है या अतिरिक्त भाग उस बढोतरी से बनता है जो पूँजीपतियो को वस्तुओं की बिक्री से प्राप्त धन में से जो धन वे वस्तुओं को मूल्य देने मे खर्च करते हैं उसे घटाकर शेष रहती है। वे इस बात मे विश्वास करते थे कि पूँजीपतियो की बढोतरी को बढाने के प्रयत्नो से पूँजीवाद के स्वाभाविक विकास को शक्ति मिलती है और उससे मजदूरो का शोषण भी होता है।"

बर्नस्टाइन ने मार्क्स के इस प्रश्न का भी परीक्षण किया कि पूँजी केवल थोडे से हाथों मे केन्द्रित होती चली जाती है। मार्क्स ने कहा था कि शीघ्र ही ऐसा समय आएगा जब सारी पूँजी बडे-बडे पूँजीपतियों के हाथ मे आ जाएगी, छोटे-छोटे पूँजीपति को बडे पूँजीपति अपने मे समेट लेंगे और इस प्रकार अन्त मे पूँजीपति नगण्य मात्रा मे शेष रह जाएँगे। इस तरह पूँजीवाद का अपने ही विकास एवं विघटन के नियमो के अनुसार पतन होकर अनिवार्य रूप से समाजवाद का उदय होगा। बर्नस्टाइन ने मार्क्स की इस भविष्यवाणी का खण्डन किया। उसने कहा कि यद्यपि यह सही है कि व्यापार-सगठन उत्तरोत्तर वृहत्तर होते जा रहे हैं, पर साथ ही यह

भी तथ्य है कि पूँजीपतियों की सख्या घट नहीं रही है, प्रत्युत् मिश्रित कम्पनियों के उदय होने के कारण उनकी सख्या मे वृद्धि हो रही है। उसने आँकडे देकर यह सिद्ध कर दिया कि छोटे-छोटे उद्योग-धन्धे विलीन नहीं हो रहे थे, बल्कि "सगठन द्वारा छोटे उद्योगो का बडे उद्योगों मे केन्द्रीकरण होने के कारण सम्पत्ति का स्वामित्व केन्द्रीभूत होने के स्थान पर विस्तृत हो रहा था और इस तरह पूँजी के स्वामियो की सख्या कम होने के बजाय बढती जा रही थी।" बर्सटाइन ने आँकडो के आधार पर यह भी बताया कि मध्यम-वर्ग और मजदूर वर्ग द्वारा वस्तुओ का उपयोग बढ रहा था। पूर्ण उत्पादन मे वृद्धि होने से प्रति व्यक्ति की सम्पत्ति मे वृद्धि हो रही थी और इस तरह "मजदूरो के सकटों तथा दुःखों मे भी निरपेक्ष और सापेक्ष दोनो दृष्टियो से कमी होती जा रही थी। साथ ही बाजार के विस्तार और ऋण प्रणाली मे सुधार के कारण व्यापारिक सकट कम और कम गम्भीर होते जा रहे थे तथा सार्वभौम और घातक सकटो की सम्भावना घटती जा रही थी।" मार्क्स के इस विचार पर कि जनता मे उपभोक्ता की कमी के कारण सकट उत्पन्न होते हैं क्योकि दरिद्रता के कारण जनता की उपभोग-शक्ति कम हो जाती है तथा मार्क्स के इस विचार पर कि आर्थिक सकट अधिक भयकर होने चले जाएँगे और अन्त मे पूँजीवादी प्रथा का अन्त हो जाएगा, बर्सटाइन ने सत्य का केवल नगण्य आभास स्वीकार किया। उसने कहा कि—

"सत्य केवल इतना ही है कि वर्तमान समाज मे उत्पादन क्षमता जो शक्ति से उत्पन्न होती है, वास्तविक माँगों की अपेक्षा कम है। करोडो मनुष्यो को पर्याप्त मात्रा मे मकान, कपडा तथा भोजन प्राप्त नही होता, यद्यपि इन समस्त वस्तुओ के लिए बहुत से साधन उपलब्ध हैं। इन कारणो से विभिन्न क्षेत्रों मे उत्पादन बढा हुआ मालूम होता है। इसका परिणाम यह होता है कि कुछ वस्तुएँ उपभोग की आवश्यकता से अधिक मात्रा में नही होती परन्तु क्रय की मात्रा से अधिक अवश्य होती हैं। इसके कारण श्रमिको के रोजगार मे बहुत अनिश्चितता रहती है और उनकी स्थिति बहुत अधिक असुरक्षित हो जाती है। श्रमिको को कारखानो के मालिको की दया पर निर्भर रहना पडता है।" बर्सटाइन ने कहा कि "इन सकटो को केवल नारो (Slogans) से नही टाला जा सकता वरन् हमे उन आर्थिक स्थितियों पर विचार कर उसको समाज मे लागू करना चाहिए जिससे ऐसे सकट कम हो जाएँ।"

मार्क्स ने श्रमिको के अधिनायकवाद की स्थापना की बात कही थी, किन्तु बर्सटाइन ने अपने ग्रन्थ 'Evolutionary Socialism' मे समाजवाद और लोकतन्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा करते हुए मार्क्स का विस्तार से खण्डन किया क्योंकि यह जनतान्त्रिक सिद्धान्तो के विरुद्ध है। बर्सटाइन के अनुसार जनतन्त्र का अर्थ है सब के लिए समान न्याय और वर्ग शासन का अभाव। हिंसात्मक क्रान्ति के बजाय वयस्क मताधिकार के द्वारा भी समाज मे परिवर्तन लाया जा सकता है। जनतन्त्रीय पद्धति से समाज मे परिवर्तन धीरे-धीरे तो होता है, परन्तु वह सफलता का निश्चित साधन है। बर्सटाइन ने स्पष्ट कहा कि किसी भी बहुसख्यक वर्ग को चाहे वह पूँजीपतियो

का हो अथवा मजदूरो का, अल्पसख्यको को कुचलने का अधिकार नही है। मजदूर-वर्ग का पूँजीपति-वर्ग को नष्ट कर देना भी उतना ही गलत होगा जितना पूँजीपति-वर्ग द्वारा मजदूर-वर्ग का शोषण होना। जनतन्त्र का अर्थ वर्ग-शासन को समाप्त करना है, एक वर्ग के स्थान पर दूसरे वर्ग का शासन स्थापित करना नही।

बर्सटाइन ने मार्क्स की इस धारणा को निरर्थक बताया कि मजदूरो का कोई देश नही होता। उसन कहा कि यह धारणा सन् 1840 के लगभग कुछ हद तक सही हो सकती थी क्योकि उस समय श्रमिक वर्ग मत देने के अधिकार से वचित था और वह राजनीति मे सक्रिय भाग नही ले सकता था, लेकिन अब जबकि श्रमिक वर्ग का मताधिकार प्राप्त हो गया है, यह धारणा आँशिक रूप मे असत्य सिद्ध हो गई है और भविष्य मे जबकि श्रमिक राजनीति मे पूर्णत भाग लेने लगेंगे, तब यह धारणा पूर्णत असत्य सिद्ध हो जाएगी।

बर्सटाइन ने मजदूरो और पूँजीपतियो दोनो को राष्ट्र की रक्षा के लिए सतत् प्रयत्नशील रहने का आह्वान किया क्योकि राष्ट्र को क्षति पहुँचाने वाली परिस्थितियो से दोनो को हानि हागी। राष्ट्र की रक्षा का दायित्व मजदूरो का भी उतना ही है जितना पूँजीपतियो का।

जीन जोरेस (Jean Jaures)

जीन जोरेस बिनाय मेलन (Benoit Malon) फ्रांस मे संशोधनवादी आन्दोलन के सर्वोत्तम प्रवक्ता थे। बर्सटाइन की भाँति ही जोरेस ने भी मार्क्सवादी भविष्यवाणी को स्वीकार किया। उसने मार्क्स की इस कट्टर धारणा का खण्डन किया कि पूँजीवाद का अन्त निकट आ रहा है और बर्सटाइन से सहमति प्रकट करते हुए कहा कि जिस समय मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी तभी से मजदूर-वर्ग की दशा आर्थिक दृष्टि से गिरने के बजाय उन्नत होती जा रही थी और वे मार्क्स के कथनानुसार अधिकाधिक सकटग्रस्त नही हो रहे थे। जोरेस ने कहा कि आर्थिक सकट यद्यपि पूँजीवादी व्यवस्था की अव्यवस्था के प्रमाण हैं, तथापि वे इस व्यवस्था का अन्त करके किसी अन्य प्रणाली को जन्म नही दे सकते तथा मजदूरो के बिलकुल निर्धन हो जाने से पूँजीपतियो को हटाकर उनका स्थान ग्रहण करने की उनकी क्षमता मे वृद्धि होने के स्थान पर ह्रास ही होगा। जोरेस मजदूर-वर्ग की राजनीतिक क्रान्ति सम्बन्धी विश्वास का खण्डन करता था। उसकी धारणा थी कि समाजवादी व्यवस्था का जन्म मजदूर-वर्ग को सचेत और जागरुक बनाने से होगा, पूँजीवाद के पतन से नही। बर्सटाइन की भाँति उसका भी यह कहना था कि समाजवादी लक्ष्य की प्राप्ति वर्तमान राज्य का एक साधन के रूप मे प्रयोग करके की जानी चाहिए तथा समाजवादी आन्दोलन को लोकतन्त्रीय आन्दोलन का एक अग समझा जाना चाहिए।

पुनर्विचारवादी अथवा सशोधनवादी मार्क्सवाद के सिद्धान्तो का खण्डन करते थे, पर इसका अभिप्राय यह नही है कि मार्क्सवाद मे उनकी कोई आस्था नहीं थी। वस्तुत वे सच्चाई के साथ मार्क्स के कुछ आधारभूत आर्थिक एव विकासात्मक सिद्धान्तो को मानते थे। उनका कहना था कि पूँजीवादी समाज अत्यन्त निर्दयता

से मजदूरों के एक विशाल बहुमत का शोषण करता है और मूल्यों के उत्पादन मे मजदूरो का जितना योग होता है उससे वह उन्हे सदा कम देता है। अल्प वेतनभोगी बहुसख्यक जनता की क्रय-शक्ति से अधिक उत्पन्न कर पूँजीवादी समाज स्वय अपनी जड़ें खोद रहा है। इन अवस्थाओं में वर्ग सघर्ष उत्पन्न होना स्वाभाविक है। सशोधनवादियो ने यह भी कहा कि इस प्रकार के वर्ग सघर्ष से बचने के लिए यह सम्भव है कि कुछ अवस्थाओं में दलित वर्ग द्वारा हिंसात्मक विद्रोह ही एकमात्र उपाय रह जाए। उन्होंने यह स्वीकार किया कि "यद्यपि प्रवृत्ति पूँजीपतियो की सख्या तथा मजदूरो के वास्तविक वेतन मे वृद्धि की ओर रही है, तथापि व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रणाली मे अधिकाँश मजदूरों के लिए उन सुविधाओं और सुखो को प्राप्त करना सम्भव नहीं जो अल्पसख्यक पूँजीपतियों को प्राप्त हैं। मजदूर-वर्ग की आर्थिक दशा मे सुधार से मजदूरो को अपने पूर्ण अधिकार प्राप्त करने की इच्छा एव इसके लिए क्रान्तिकारी उपायो द्वारा अथवा शान्तिमय साधनों द्वारा सफलतापूर्वक कार्य करने की क्षमता में कमी के स्थान पर वृद्धि होती है।"

स्पष्ट है कि सशोधनवादियों ने इस बात पर सहमति प्रकट की कि आर्थिक विषमताओं से समाजवाद का औचित्य सिद्ध होता है। उन्होने इस अर्थ मे समाजवाद की वर्गीय विशेषता को भी स्वीकार किया कि समाजवाद वह आन्दोलन है जो न केवल मजदूरो के आवश्यक अधिकारो को प्राप्त करने और उनकी आर्थिक एव सामाजिक दशा के सुधार के प्रयत्नशील है, बल्कि जो मजदूरो को उनका स्वाभाविक स्थान भी प्रदान करता है। बर्नस्टाइन ने यह स्पष्ट कहा कि इस बात पर किसी को कोई आपत्ति नहीं है कि सरकार पर मजदूरों का अधिकार होना ही चाहिए। सर्वहारा वर्ग के समाजवादी दल का निर्माण लोकतन्त्र की ओर पहला अनिवार्य कदम है। बर्नस्टाइन ने यह स्वीकार किया कि जहाँ राजनीतिक प्रजातन्त्र का अस्तित्व न हो और पूँजीपतियो के हाथ में पूर्ण नियन्त्रण हो, वहाँ क्रान्ति ही एकमात्र ऐसा उपाय हो सकता है जिसके द्वारा पूँजीविहीन विशाल जनता राजनीतिक सत्ता पर अधिकार स्थापित कर ले। जोरेस ने साधारण समाजवादी आन्दोलन मे सामान्य हड़ताल (General Strike) को एक साधन के रूप मे स्वीकार किया और यह माना कि जब निर्दयी पूँजीवादी सत्ता सुधारो को बार-बार टालती रहे तो श्रमिकों के हाथो मे हिंसात्मक सामान्य हड़ताल ही एकमात्र शक्तिशाली हथियार होगा। वास्तव मे सच्चाई यह है कि अधिकाँश सशोधनवादी क्रान्तिवादी और सुधारवादी दोनो होने का दावा करते थे। यदि जोरेस ने हिंसात्मक सामान्य हड़ताल को अन्तिम अपरिहार्य उपाय माना था तो बर्नस्टाइन ने क्रान्ति करने के अधिकार को ऐसे अधिकार के सामान्य अर्थ के रूप मे स्वीकार किया था जो कानून द्वारा छीना नहीं जा सकता और सुधार के मार्ग पर अग्रसर होने पर जिसकी उतनी ही आवश्यकता रह जाएगी जितनी आत्म रक्षा के अधिकार की उस समय रह जाती है जब स्वय अपने साम्पत्तिक तथा व्यक्तिगत विवादों का नियमन करने के लिए नियम बनाते हैं।

कार्ल कॉट्स्की
(Karl Kautsky, 1854-1938)

सन् 1895 में ऐंजिल्स की मृत्यु के बाद कार्ल कॉट्स्की प्रथम महायुद्ध के फलस्वरूप उत्पन्न परिवर्तनों तक मार्क्सवादी समाज का अग्रणी विचारक था। वह जर्मन समाजवादी-प्रजातान्त्रिक दल (German Social-Democratic Party) के क्रान्तिवादी पक्ष का सैद्धान्तिक नेता था जिसने अनेक ग्रन्थों और निबन्धों की रचना की। सन् 1885 में उसने प्रमुख जर्मन समाजवादी मासिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया और सन् 1916 तक वह उसका सम्पादक रहा।[1]

कॉट्स्की की तरह ही जर्मनी के फ्रांज मेहरिंग, विलियम लाइबक्नेक्ट, रूडाल्फ हिल्फरडिंग और रोजा लक्जेमबुर्ग, फ्रांस का जुल्स ग्वेस्दे, इंग्लैण्ड का हाइडमैन, रूस का जॉर्ज प्लेखनोव तथा संयुक्तराज्य अमेरिका का देनियल दि लियो आदि महानुभाव भी मार्क्सवाद के प्रामाणिक व्याख्याकार हुए। "इन क्रान्तिवादी समाजवादियों में से कुछ को मार्क्स के मूल्य सिद्धान्त के औचित्य मे सन्देह था और उनका विचार था कि *यह सिद्धान्त समाजवादी सिद्धान्त का मुख्य अंग नहीं था,* किन्तु वे सामान्यतया मार्क्स की इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या को पूर्णतया स्वीकार करते थे और एडवर्ड बर्नस्टाइन की आलोचना के विपरीत पूंजीवादी विकास के भविष्य के सम्बन्ध मे मार्क्स की भविष्यवाणियों का समर्थन करते थ। यह सत्य है कि कॉट्स्की (Kautsky) ने उन प्रमाणों को स्वीकार किया जो बर्नस्टाइन ने यह सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किए थे कि जिस समय कार्ल मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी उस समय से प्रमुख औद्योगिक देशों के मजदूरों की आर्थिक अवस्था मे बिगाड की अपेक्षा उत्तरोत्तर सुधार हुआ है और वे पूर्वापेक्षा अच्छी दशा म हैं, किन्तु इसके साथ ही उसने (Kautsky) यह भी कहा कि मार्क्स की भविष्यवाणी रूस तथा इटली जैसे औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए प्रदेशों और बल्कान प्रदेश के मजदूरों की शोचनीय स्थिति, सभ्य देशों में स्त्रियों तथा बालकों की नौकरी की अवस्था तथा *सर्वत्र मशीनों की कार्यकुशलता के कारण श्रमिकों के श्रम की बढती हुई वैचित्र्यहीनता* की दृष्टि से सत्य सिद्ध हुई है। कॉट्स्की का कथन था कि यदि मजदूरों की अवस्था पर व्यापक रूप से तथा सापेक्ष दृष्टि से विचार किया जाए तो प्रकट होगा कि उनकी स्थिति पहले से अधिक दयनीय होती जा रही है।" इस प्रकार कॉट्स्की जैसे क्रान्तिवादी समाजवादी यह मानते थे कि आधुनिक समाज की प्रमुख विशेषता अब भी वही है जो वर्गों में सामञ्जस्य स्थापित करने के बजाय उन्हें पृथक् करती है। देनियल दि लियो का कथन था कि वर्गों की सापेक्ष स्थिति मे कोई भी महत्वपूर्ण परिवर्तन, सुधार द्वारा या बाह्य परिवर्तन द्वारा न होकर आन्तरिक परिवर्तन या क्रान्ति द्वारा होना चाहिए, चाहे वह क्रान्ति शान्तिपूर्ण हो या रक्तपातपूर्ण। जहाँ तक इस समस्या के सार से सम्बन्ध है *शान्तिपूर्णता या रक्तपातपूर्णता* का विचार

1 *Coker* Recent Political Thought (Hindi) p 74

निरर्थक है। कॉट्स्की ने स्पष्ट किया कि पूँजीपतियों तथा मजदूरों के हितो में सामञ्जस्य नही हो सकता और प्रवृत्ति वर्ग-भेद के तीव्रतर होने की ओर है। संघर्ष के आर्थिक क्षेत्र से राजनीतिक क्षेत्र मे पहुँच जाने के कारण वह समस्त आशा विनष्ट हो गई है कि वर्तमान समाज पूँजीवादी समाज से शनै-शनै प्रजातान्त्रिक या सर्वहारा समाज मे परिवर्तित हो जाएगा। इस प्रकार एक समाजवादी दल को सदा श्रमजीवी वर्ग का क्रान्तिकारी संगठन होना चाहिए।

समाजवादी प्रजातान्त्रिक दल का उत्थान जर्मनी के राजनीतिक जीवन मे विलियम द्वितीय के शासनकाल की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इस दल ने जर्मन संसद 'राइशस्टाग' (Reichstag) मे प्रमुख विरोधी दल का स्थान प्राप्त किया और सामाजिक सुधार की निरन्तर माँग करता रहा। इस दल के क्रान्तिवादी पक्ष के सैद्धान्तिक नेता कॉट्स्की ने क्रान्तिकारी नीति द्वारा शासन-परिवर्तन की माँग की। मेहरिंग, कॉट्स्की, रोजा लक्जेमबर्ग आदि नेता जर्मनी मे गणतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे तथा जर्मनी की तत्कालीन संघवादी और साम्राज्यवादी नीति के विरोधी थे। विलियम केसर ने समाजवाद के प्रभाव को रोकने की चेष्टा की, किन्तु उसके मन्त्री समाजवादियों के विरुद्ध दमनकारी कानून पारित कराने मे सफल नहीं हो सके और सन् 1914 मे प्रथम महायुद्ध का विस्फोट हो जाने से समाजवाद तथा शासन के बीच संघर्ष टल गया।

कॉट्स्की ने स्पष्ट रूप से कहा कि पूँजीवादियों और श्रमिको के हितों में सामञ्जस्य नही हो सकता--"वर्गयुद्ध की भूमि पर हम अजेय हैं और यदि हम उस भूमि को त्याग देंगे तो हम कहीं के न रहेंगे, क्योंकि हम फिर समाजवादी नही कहला सकते। हमे अपने शत्रुओं पर समझौता करने के बजाय विजय प्राप्त कर सत्ता पर अधिकार करना चाहिए।" पर यह उल्लेखनीय है कि क्रान्तिकारी मार्क्सवादियो के इस प्रकार के कथनों का आशय यह नही था कि समाजवादी सदैव विद्रोह करते रहेंगे। साधारणतया वे यह भी नहीं मानते थे कि क्रान्ति का प्रयोग वर्तमान या निकट भविष्य मे सफलता की आशा से किया जा सकता है। इसी कारण सन् 1880 के बाद के दशक मे जर्मन समाजवादी जनता मे बढती जा रही हिंसात्मक भावना का दमन करने के लिए क्रान्तिवादी ऐंजिल्स ने सुधारवादी-समाजवादी बर्नस्टाइन के साथ सहयोग किया।

क्रान्तिकारी और सुधारवादी समाजवादियों में विवाद मुख्यत संसद् मे काम करने के ढग पर रहा। समाजवादी संसद् मे गैर-समाजवादियो द्वारा मजदूरो के हित मे प्रस्तुत किए गए विधेयको का समर्थन करें या न करें, पूँजीवादी व्यवस्था के समर्थको द्वारा नियन्त्रित शासन के अधीन सार्वजनिक स्वामित्व के विस्तार के कार्यक्रम मे सहयोग दें या न दें, समाजवादी लोग असमाजवादी मन्त्रिमण्डल मे पद-ग्रहण करें या न करें, युद्ध आरम्भ होने पर जिसमे पूँजीवादियों द्वारा नियन्त्रित राज्य का राष्ट्रीय अस्तित्व संकट में हो समाजवादी लोग सर्वहारा संगठन के सर्वोच्च दायित्वो को स्वीकार कर युद्ध मे भाग लेने से इंकार करदें या राज्य की रक्षा का कर्त्तव्य स्वीकार कर सेना मे भर्ती हो जाएँ, आदि व्यावहारिक प्रश्नों पर दोनो पक्षो में तीव्र

मतभेद थे। इन मतभेदों पर कोकर ने सुव्यवस्थित रूप में प्रकाश डाला है और उनके इस वर्णन से कार्ल कॉट्स्की के विचारों का स्पष्टीकरण होता है।

क्रान्तिवादी समाजवादी प्रवृत्ति तात्कालिक सुधारों की निन्दा करने और कई मामलों में उन्हें समाजवाद के लिए घातक समझने की थी तथा वह उनका महत्व गौण समझती थी। उसने साम्यवादी घोषणा-पत्र में उल्लिखित नीति की ओर निर्देश किया कि मजदूरों में सुधार तथा पूँजीपतियों के दमन के लिए उसी समय कार्य करना चाहिए जब सर्वहारावर्ग ने राजनीतिक सत्ता हस्तगत करली हो। कॉट्स्की का विचार था पूँजीपतियों द्वारा मजदूरों को दिए गए किसी भी सुधार की ओर क्या रुख होना चाहिए, इसका निर्णय यह देखकर होना चाहिए कि समाजवाद के मौलिक कार्यक्रम पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा और इसीलिए समाजवादियों को मजदूर-सम्बन्धी कानूनों का समर्थन वहीं तक करना चाहिए जहाँ तक कि उससे मजदूरों को न केवल भौतिक या शारीरिक सुख सुविधा ही मिलती हो वरन् पूँजीपतियों के मुकाबले में उसकी अवस्था में भी सुधार होता हो और वह सुधार समाजवादी सिद्धान्तों के आधार पर हो। फ्रांसीसी क्रान्तिवादी समाजवादियों ने सुधारवादी जोरेस की घोर निन्दा की जिसने सरकार की वृद्धावस्था-पेंशन की योजना का समर्थन किया था क्योंकि पेंशन के फण्ड का निर्माण मजदूरों से अनिवार्य रूप में लिए जाने वाले चन्दे से होना था। क्रान्तिवादी समाजवादी सामान्यतया इस बात पर जोर देते थे कि असमाजवादी समाज में जो सुधार हों उन्हें समाजवाद की किश्तें कभी नहीं समझना चाहिए। असमाजवादी समाज में उद्योगों पर बढ़ते हुए राजकीय नियन्त्रण के साथ-साथ शासन पर पूँजीपतियों के नियन्त्रण की वृद्धि भी होती है। ऐसी अवस्था में जो परिवर्तन होते हैं उनसे मजदूरों के लाभ के अनुपात में वृद्धि नहीं होती। इसके अतिरिक्त वर्तमान व्यवस्था में सुधार हो जाने से वर्ग-संघर्ष शिथिल पड़ जाता है और मजदूरों का क्रान्ति की वांछनीयता और सफलता से विश्वास भी क्षीण हो जाता है।

यह सहयोग की भावना राज्य-समाजवाद के प्रसंग में कई बार स्पष्ट हो गई थी। क्रान्तिवादी समाजवादियों का विचार तो यह था कि शासन पर अधिकार स्वयं समाजवाद नहीं है और वह उस दिशा में सम्भवत एक कदम भी नहीं हो सकता। मजदूरों का मन्त्रों तथा कच्चे माल के साथ जो सम्बन्ध है, समाजवाद उसमें आधारभूत परिवर्तन कर देता है। व्यक्तिगत स्वामित्व से राज्य-स्वामित्व की दिशा में परिवर्तन से वह परिवर्तन नहीं हो सकता जब तक कि स्वयं राज्य में ही मौलिक परिवर्तन न हो जाए। कॉट्स्की का कथन था कि "आधुनिक राज्य के आर्थिक कार्यों से ही स्वाभाविक रूप से उस विकास का आरम्भ होता है जो सहकारी सार्वजनिक कल्याणकारी समाज की ओर अग्रसर करता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि किसी उद्योग या आर्थिक कार्य का राष्ट्रीयकरण इस प्रकार के सहकारी सार्वजनिक कल्याणकारी समाज की ओर एक कदम है और राज्य के सामान्य राष्ट्रीयकरण द्वारा ही ऐसे समाज की स्थापना हो सकती है।"

सहानुभूतिपूर्ण असमाजवादियों के साथ समाजवादियों के सामान्य राजनीतिक सहयोग के सम्बन्ध में क्रान्तिवादी समाजवादियों का विचार था कि किसी विशेष सुधार या कानून के पक्ष में मत देना समाजवादियों के लिए कितना ही उपयुक्त या आवश्यक क्यों न हो, उन्हें असमाजवादी मन्त्रिमण्डल में पद ग्रहण कदापि नहीं करना चाहिए तथा किसी विशेष संकटकाल को छोड़कर उन्हें वार्षिक बजट भी स्वीकार नहीं करना चाहिए। जब सन् 1899 में फ्रांस में जोरेस ने यह प्रस्ताव किया कि समाजवादियों को वाल्डेक-रूसो के प्रगतिशील मन्त्रिमण्डल में एलेक्जेण्डर मिलरां के, जो स जवादी था, सम्मिलित होने पर अपनी स्वीकृति दे देनी चा हए तो ग्वेस्दे ने कहा कि इस प्रकार के कार्य का अर्थ होगा वर्गयुद्ध का बिल्कुल परित्याग कर देना। ग्वेस्दे ने इस प्रश्न को द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस के समक्ष प्रस्तुत किया और सन् 1900 की कांग्रेस ने कॉट्स्की द्वारा प्रस्तुत एक प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया जिसका सारांश यह था कि "समाजवादियों का पूँजीवादी मन्त्रिमण्डल में पद-ग्रहण करना एक 'खतरनाक प्रयोग' है। यह प्रयोग उसी समय किया जाना चाहिए जब सम्पूर्ण समाजवादी दल इससे सहमत हो और यह स्वीकार किया जाए कि समाजवादी मन्त्री अपने दल का प्रतिनिधि है और बना रहेगा।"

समाजवादियों के लिए एक नीति के रूप में संशोधनवाद (Revisionism) की निन्दा के बावजूद क्रान्तिवादी समाजवादियों ने उदारपंथी मन्त्रिमण्डलों द्वारा मजदूरों के सुधारों और सार्वजनिक स्वामित्व के सम्बन्ध में प्रस्तुत विधेयकों पर मत देने वाले समाजवादियों के कार्य का समर्थन किया। उनका कहना था कि इस प्रकार के कानूनों से समाजवादी व्यवस्था की नींव की ईंटें बिखर जाती हैं और उस व्यवस्था का समर्थन करने वाले प्रतिक्रियावादी समुदाय निर्बल होते हैं। ऐसे मामलों में, उनके विचारानुसार, समाजवादी सहयोग क्रान्तिवादी सिद्धान्त के अनुकूल था। अनुदार जर्मन सरकार ने जो सुधार कानून पारित किए, उनमें से बहुत के समर्थन को कॉट्स्की (Kautsky) ने पसन्द किया। उसने कहा कि, "दूसरे राजनीतिक दलों से समाजवादी मेल की भिन्नता उसकी समस्त व्यावहारिक माँगों में तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट लक्ष्यों में है।" उदाहरणार्थ मजदूरों के लिए आठ घण्टे के दिन की माँग स्वयं कोई क्रान्तिकारी माँग नहीं है, किन्तु समाजवादी कार्यक्रम के अन्तर्गत यह वहाँ तक क्रान्तिकारी माँग है जहाँ तक वह मजदूर वर्ग को ऊँचा उठाने का, उसकी राजनीतिक एवं आर्थिक परिपक्वता की प्राप्ति में सहायता देने का तथा मुक्ति एवं पुनर्निर्माण के कार्य को अपने हाथों में ले लेने की शक्ति का एक साधन है। यही आठ घण्टे की माँग सामाजिक सुधारवादी दल के कार्यक्रम में अनुदार माँग हो सकती है जो सदैव इस भ्रान्ति में रहता है कि इस प्रकार की सुविधाएँ देकर वह मजदूर वर्ग तथा वर्तमान व्यवस्था में सामञ्जस्य स्थापित कर सकता है। जब राजनीतिक दलों को महान् ऐतिहासिक कार्य करने पड़ते हैं, तब उन्हें जो तत्त्व संगठित रखते हैं, वे उनके अन्तिम लक्ष्य ही हैं, उनकी सामयिक माँगें नहीं।

"क्रान्तिवादी (सिद्धान्त) समाजवादी, सच्चे समाजवादी और प्रजातन्त्रवादियो व उदारवादियो के तीव्र मतभेदो पर जोर देते रहे। उनका मत था कि समाजवाद की प्रगति, अपनी समस्त स्थितियो में, प्रजातन्त्र के अधीन एक पूंजीवादी राज्य से समाजवादी राज्य की ओर शनै-शनै क्रमिक रूप मे नहीं हो सकती। इस परिवर्तन-प्रक्रिया मे किसी न किसी अवस्था में उथल-पुथल किसी न किसी प्रकार का क्रान्तिकारी कार्य होना चाहिए। प्रजातन्त्र ही पर्याप्त नहीं है और इसके द्वारा 'शान्तिपूर्ण तथा क्रान्तिहीन विकास' सम्भव नहीं है और न यह वर्तमान समाज के विनाश को ही रोक सकता है। किन्तु इन क्रान्तिवादी विचारों के होते हुए भी, प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व, व्यावहारिक समाजवादी नीति के विकास मे प्रचलित प्रवृत्तियाँ सुधारवादी और जनतन्त्रात्मक थी। समाजवादी राजनीतिज्ञ वर्तमान राज्य के प्रति अधिक सहिष्णु बनते जा रहे थे और वर्गीय हितो एव विभाजनो से भिन्न राष्ट्रीय हितो एव विभाजनो के प्रति भी अधिक सचेत होते जा रहे थे। समाजवादी दल दूसरे दलो से पृथक् रहते थे जिससे कही उन्हें भी सुधारवादी दलो की कोटि मे न समझ लिया जाए। किन्तु वे पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत परम्परागत उपायो द्वारा प्राप्त तत्कालीन सुधारो मे इतने व्यस्त हो गए थे कि उन्हे क्रान्तिवादी समाजवादी नही कहा जा सकता था। वस्तुत समाजवादी दलो की व्यावहारिक नीतियो के आधारभूत सामान्य सिद्धान्त मार्क्स के ग्रन्थों में नहीं, दूसरे समाजवादी लेखको की कृतियो मे प्राप्त होते हैं जो अपने सामाजिक दर्शन के लिए अधिक व्यापक और विशद् होने का दावा करते थे तथा प्रजातन्त्रवादी, शान्तिप्रिय तथा आंशिक क्रान्तिकारी उपायो के प्रति अपनी निरन्तर अभिरुचि को निसकोच स्वीकार करते थे।"

साम्यवाद
(Communism)

लेनिन, स्टालिन, 'स्टालिन के बाद' तथा माओ
(Lenin, Stalin 'After Stalin' and Mao)

फेब्रियनवादी, समष्टिवादी, श्रमिक सघवादी, श्रेणी समाजवादी विचारधाराएँ निश्चित रूप से अपने स्वरूप मे समाजवादी तो हैं, पर उन्हें मार्क्सवादी परम्परा मे सम्मिलित नहीं किया जा सकता। मार्क्स के अलावा इनके और भी प्रेरणा-स्रोत हैं तथा मार्क्स के अनेक मौलिक सिद्धान्तों से इनमे पूर्ण असहमति भी व्यक्त की गई है। एक ऐसे समाजवादी आन्दोलन और विचार-दर्शन के लिए, जिसे निश्चित रूप से मार्क्सवादी कहा जा सके, हमे सोवियत रूस की ओर देखना होगा जहाँ मार्क्स के अनुयायी लेनिन के नेतृत्व मे मार्क्सवाद के अनुसरण से उस समाजवादी आन्दोलन का विकास हुआ जिसे हम 'साम्यवाद' कहते हैं। कार्ल मार्क्स ने अपने समाजवादी दर्शन और सामाजिक क्रान्ति के कार्यक्रम को 'साम्यवाद' नाम दिया था और रूस मे नए राज्य का सगठन करते समय लेनिन ने इस नाम को स्वीकार कर लिया था। रूसी साम्यवाद का सैद्धान्तिक आधार लेनिन के ग्रन्थों तथा साम्यवादी दल के दूसरे

नेताओं की पुस्तकों में उपलब्ध है जो मार्क्स को अपना आचार्य और 'Communist Manifesto' तथा 'Das Capital' को पवित्र ग्रन्थ मानते हैं। यह श्रेय लेनिन को प्राप्त है कि उसने मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी व्याख्या को अपनी शिक्षाओं में चरम सीमा तक पहुँचा दिया और उसे पक्के क्रान्तिकारियों के युद्धप्रिय संगठन के लिए अनुकरणीय सिद्धान्त बनाया। इसलिए ग्रे ने लेनिन को मार्क्सवादी धर्म का संरक्षक कहा है। मार्क्स के लेनिनवादी क्रान्तिकारी प्रवचन में ट्रॉट्स्की ने भी बहुत सहायता की। लेनिन की मृत्यु और ट्रॉट्स्की के निर्वासन के बाद इस दिशा में स्टालिन ने अपना योग दिया। स्टालिन के जीवन के अन्तिम भाग में आधुनिक साम्यवादी चीन का उदय हुआ जो माओ के नेतृत्व में मार्क्सवाद का चीनी संस्करण स्थापित करने की दिशा में प्रयत्नशील रहा। रूस में स्टालिन के बाद ख्रुश्चेववादी परम्परा ने एक मोड़ लिया और साम्यवादी दल की कुछ नवीन मान्यताएँ प्रस्फुटित हुईं। प्रस्तुत अध्याय में इन सभी की समीक्षा की जाएगी।

लेनिन
(Lenin)

आधुनिक इतिहास के महान् और व्यावहारिक क्रान्तिकारी लेनिन का जन्म 9 अप्रेल, 1870 को रूस के आधुनिक उलियानुवस्क नगर में हुआ। लेनिन के पाँच और भाई थे तथा सभी ने रूसी क्रान्ति में भाग लिया। सन् 1891 में पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय की अन्तिम परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद लेनिन ने वकालत शुरू की। यह धन्धा छोड़ कर सन् 1895 में वह रूस से बाहर चला गया और रूस में चोरी-छिपे क्रान्तिकारी साहित्य भेजने की व्यवस्था करता रहा। उसने इस अपराध के लिए कारावास दण्ड भी भोगा। 3 वर्ष के लिए उसे साइबेरिया में भी निष्कासित किया गया जहाँ उसे अपने समाजवादी विचारों को स्पष्ट तथा क्रमबद्ध करने, अनेक विदेशी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने तथा अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक तैयार करने का सुयोग मिला। सन् 1898 में रूस के समाजवादी प्रजातान्त्रिक दल की स्थापना के बाद से दो दशाब्दियों तक वह यूरोपीय देशों में निर्वासित अवस्था में रहा। उसने बोल्शेविकों में सर्वप्रमुख स्थान प्राप्त किया तथा उनके सिद्धान्तों का निर्माण और रणनीति का निर्देशन किया। अन्त में सन् 1917 में बोलशेविकों को राजसत्ता प्राप्त कराने में भी वही सबसे आगे रहा। सन् 1924 में अपनी मृत्यु तक वह सोवियत शासन की प्रधान निर्देशक शक्ति बना रहा। अपने जीवनकाल में उसने विश्व-इतिहास की धारा को मोड़ने में नैपोलियन के बाद किसी भी राजनीतिज्ञ से अधिक कार्य किया।

लेनिनवाद का मार्क्सवाद से सम्बन्ध
(The Relation of Leninism to Marxism)

लेनिन अपनी युवावस्था से ही मार्क्स का अनुयायी बन गया था। सन् 1917 में उसने 'State and Revolution' नामक पुस्तक लिखी। "इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य मार्क्स एवं ऐंजिल्स की रचनाओं के विस्तृत अवतरणों के माध्यम से यह

प्रकट करता था कि आयोजित क्रान्ति और उसके उपरान्त स्थापित होने वाला साम्यवादी शासन बिलकुल मार्क्स की कल्पना के अनुकूल होगा, यद्यपि वह पश्चिमी समजवादियो की कल्पना से भिन्न होगा। रूस मे नई व्यवस्था की स्थापना के बाद कुछ वर्षों तक एक ओर लेनिन तथा ट्रॉट्स्की और दूसरी ओर मार्क्स के बाद कट्टर समाजवादियो के मुख्य सैद्धान्तिक कॉट्स्की (Kautsky) के बीच जो लम्बा वाद-विवाद चला, उसमे मुख्य प्रश्न साम्यवादी कार्यक्रम के औचित्य अथवा समयानुकूलता का नही था, वरन् इस बात का था कि कार्यक्रम मार्क्स के विचारो को कार्यान्वित करने के लिए उचित था या नही।[1] यद्यपि मार्क्स के अनुमान के अनुसार रूस एक ऐसा देश था जो समाजवादी क्रान्ति के लिए सबसे कम उपयुक्त था और यह भी ठीक है कि रूस मे नवम्बर, 1917 मे होने वाली क्रान्ति ने न तो उन सामान्य शर्तों को जिनका मार्क्स ने उल्लेख किया है और न उन विशेष शर्तों को ही पूरा किया जिनकी सम्भावना उसने रूस के सम्बन्ध मे व्यक्त की थी। रूस मे क्रान्ति सामाजिक-आर्थिक विकास की दीर्घ प्रक्रिया के फलस्वरूप नही हुई थी, तथापि लेनिन की मान्यता थी कि "रूसी क्रान्ति मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार ही हुई है, क्योंकि सन् 1917 से पूर्व औद्योगिक क्षेत्र मे जो आर्थिक एव राजनीतिक विकास हुए उन्होने किसी एक विशेष देश मे, जहाँ पूँजीवादी शासन अत्यन्त अस्थिर दशा में था सफल समाजवादी क्रान्ति के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया था।" इस प्रकार लेनिन का सिद्धान्त इस सामान्य अर्थ मे मार्क्स के 'समाजवाद के विकासवादी' रूप के अनुकूल है कि समाजवादी क्रान्ति उसी समय हो सकती है जब राजनीतिक एव आर्थिक विकास ने उसके लिए मार्ग तैयार कर दिया हो। लेकिन इस बात मे मार्क्स से सहमत था कि यद्यपि पूँजीवाद के स्वाभाविक विकास से उसके विनाश की अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं तथापि उसका वास्तविक पतन मजदूरो के निश्चयपूर्वक किए गए कार्यों द्वारा होना चाहिए और उनका कार्य राजनीतिक साधनो द्वारा होना चाहिए। लेनिन का कहना था कि यह कार्य बल-प्रयोग द्वारा ही हो सकता है।

सेबाइन के अनुसार "घोषणा की दृष्टि से लेनिन का मार्क्सवाद पूर्णत रूढिवादी तथा कट्टर था। वह मार्क्स के सभी वचनो को वेद-वाक्य मानता था और व्याख्या तदनुसार उनकी ही करता था। अपने विरोधियो पर उसका सबसे बडा आक्षेप यह रहता था कि वे मार्क्स के अर्थ को कम-बढ करते हैं, लेकिन इसके साथ ही लेनिन सिद्धान्त को सदैव ही कार्य का पथ-प्रदर्शक मानता था। उसके अनुसार वह (सिद्धान्त) कुछ गतिहीन नियमो का सकलन न होकर प्रेरणाप्रद विचारो का सकलन है। वह यथार्थ परिस्थितियो के मूल्यांकन मे प्रयुक्त होता है तथा व्यवहार मे आवश्यकतानुसार उसे सशोधित किया जा सकता है। मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्त के सम्बन्ध मे लेनिन का अपने अनुयायियो से अनेक बार तीव्र मतभेद हुआ और हुड उन्हे ऐसे मार्ग पर ले गया जो मार्क्सवादी सिद्धान्तों की दृष्टि से न्यूनाधिक सहा था। लेनिन का रूढिवाद करनी की अपेक्षा कथनी मे अधिक था।" "अम्मतंत्र द

ने लेनिन के चिन्तन मे दो भूमिकाएँ अदा कीं और साम्यवाद के क्षेत्र मे उसकी ये भूमिकाएँ अब भी विद्यमान हैं। एक ओर तो यह एक रूढि, एक निरपेक्ष और अकाट्य सिद्धान्त अथवा अर्द्ध-धार्मिक प्रतीक था, दूसरी ओर वह व्याख्याओ तथा उपकल्पनाओ का सकलन था और उसका उद्देश्य राजनीति को दिशा देना था। अनुभवों के आधार पर उसमें आवश्यकतानुसार अवश्य सशोधन हो सकता था। इन दो अतियो के बीच लेनिन यह व्याख्या प्रस्तुत करता था कि कोई भी नीति, चाहे वह कितनी ही अप्रत्याशित क्यों न हो, वास्तव मे मार्क्सवाद से पृथक् नहीं होती। वह सदैव ही मार्क्सवाद के वास्तविक अभिप्राय को ज्यादा अच्छी तरह प्रकट करती है।'[1]

सेबाइन के विचार से प्रकट है कि यद्यपि लेनिन मार्क्स के कथनों को 'ईश्वरीय' मानकर सम्मान देता था,[2] तथापि उसने मार्क्स की विचारधारा में परिवर्तन किए। लेनिन को केवल मार्क्स की पुनरावृत्ति अथवा उसका पुनर्कथन (Re-statement of Marx) मात्र कहना अनुचित होगा। मार्क्स के प्रति अपनी भक्ति के बावजूद लेनिन ने मार्क्सवाद मे सशोधन किया और वह इसलिए किया कि वह उसे एक स्थिर एव अखण्ड सिद्धान्त न मानकर एक जीवित और विकासशील दर्शन मानता था। मार्क्सवाद के लेनिन द्वारा सशोधित रूप को 'लेनिनवाद' के नाम से सम्बोधित किया जाता है और इसे साम्यवाद भी कहा जाता है।

मार्क्सवाद को सर्वप्रथम व्यावहारिक रूप देने का श्रेय लेनिन को ही है। लेनिनवाद को मार्क्सवाद का रूसी सस्करण कहा जाता है। लेनिनवाद का मार्क्सवाद स कहाँ तक सम्बन्ध है इसे अधिक स्पष्ट करने के लिए यह उपयुक्त होगा कि लेनिनवाद की उन तीन परिभाषाओं पर एक-एक करके विचार किया जाए जिनमे प्रत्येक मे सत्य का कुछ न कुछ अश विद्यमान है। ये तीन परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

(1) लेनिनवाद मार्क्सवाद के उन सिद्धान्तो का नाम है जिन्हे रूस की तत्कालीन विशेष परिस्थितियों के अनुकूल ढाल लिया गया है।

(2) लेनिनवाद मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी पक्ष का पुनरुत्थान है जिसका अग्रेज व जर्मन विचारको ने नामकरण किया था।

(3) लेनिनवाद साम्राज्यवाद एव श्रमजीवी क्रान्ति के युग का मार्क्सवाद है।

लेनिनवाद के बारे मे यह कहना कि रूस की तत्कालीन विशेष परिस्थितियों अनुकूल ढले हुए मार्क्सवाद का एक रूप है, इस सीमा तक सही है कि अपने समय की रूस की परिस्थितियो के अनुरूप लेनिन ने मार्क्सवादी सिद्धान्तो को मूलत स्वीकार कर उन्हें परिस्थितियों के अनुकूल ढालने और सशोधित करने का प्रयास किया। किन्तु लेनिन एक व्यावहारिक क्रान्तिकारी था और रूस मे श्रमिक वर्ग की क्रान्ति लाना चाहता था। उसका उद्देश्य क्रान्ति के किसी दर्शन को पुष्ट करना नहीं था। अत क्रान्तिकारी मार्क्सवाद की अपनी व्याख्या मे उसने किसी क्रमबद्ध

1 सेबाइन राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 749

2 *Alexander Gray* The Socialist Tradition, p 460

सिद्धान्त की दृष्टि से नही वल्कि परिस्थितियो, की आवश्यकता के अनुरूप सशोधन किए। साथ ही उसके लिए बोलशेविक क्रान्ति केवल रूसी क्रान्ति ही नहीं, बल्कि "पूँजीवादी साम्राज्यवाद के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी सघर्ष का आरम्भ था।" उसका विश्वास था कि पूँजीवाद से साम्राज्यवाद की ओर परिवर्तन शान्तिपूर्ण साधनो द्वारा नही लाया जा सकता। वह क्रान्ति मे विश्वास करता था, न कि इस बात मे कि घटनाएँ अपने रूप का स्वय निर्माण कर लेंगी। लेनिन ने विकासवादी पक्ष पर बल न देकर साम्यवाद के क्रान्तिकारी पक्ष पर बल दिया। प्रथम महायुद्ध के आरम्भ से ही लेनिन यूरोप व्यापी क्रान्ति के विषय मे सोचने लगा था। उसका विचार था कि युद्ध छिड़ने से पूँजीवाद के अन्तर्विरोध उस बिन्दु पर आ पहुँचे हैं जो सर्वत्र समाजवाद की मांग करते हैं। लेनिन और उसके मित्र को विश्व-क्रान्ति की अपेक्षा थी और रूस मे उनकी नीति के निर्धारण मे अखिल यूरोपीय क्रान्ति की सम्भावना निहित थी। लेनिन ने स्वय इस विचार की पुष्टि की कि "मार्क्स के अनुसार समाजवादी प्रगति के उपयुक्त अवसर का निर्धारण विश्व पूँजीवाद के विकास की सामान्य अवस्था द्वारा होना था, किसी विशेष देश की किसी विशेष अवस्था द्वारा नही।" लेनिन और उसके साथियो ने एक देश मे ही एक समय में क्रान्ति लाने के लक्ष्य को तभी अपनाया जब उनकी विश्व-क्रान्ति की आशा धूमिल हो गई। अत लेनिनवाद को केवल मात्र रूस की परिस्थितियो पर आरोपित मार्क्सवाद की सज्ञा देना केवल आंशिक सत्य का उद्घाटन करना है। साथ ही इसका अभिप्राय लेनिनवाद को पूर्णत एक राष्ट्रीय सिद्धान्त की परिधि मे बाँध देना है जो अनुचित है। यदि केवल यही मान लिया जाए कि लेनिनवाद विशुद्ध रूप से एक राष्ट्रीय सिद्धान्त था तो फिर 'दुनिया के मजदूरों एक हो' के नारे का कोई मूल्य नही रहता, अन्य साम्यवादियो से लगाव की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

लेनिनवाद को दूसरी परिभाषा मे कहा जा सकता है कि यह मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी पक्ष का पुनरुत्थान है जिसे पश्चिमी यूरोप के देशों के विकासवादी समाज ने दबा दिया था। यह सही है कि लेनिन ने मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी पक्ष पर ध्यान केन्द्रित कर उसके विकासवादी पहलू की पूर्ण उपेक्षा की। लेकिन लेनिनवाद का यह मूल तत्त्व नहीं है। लेनिनवाद एकाधिकारी पूँजीवाद अथवा साम्राज्यवाद द्वारा उत्पन्न नवीन परिस्थितियो के अन्तर्गत मार्क्सवाद के विकास की दिशा मे एक अग्रगामी कदम भी है। सन् 1848 मे साम्यवादी घोषणा-पत्र (Communist Manifesto) के प्रकाशित होने की तिथि तथा सन् 1917 मे बोलशेविक क्रान्ति द्वारा लेनिन के हाथो मे सत्ता आ जाने के बीच के वर्षों मे ससार मे अनेक ऐसी घटनाएँ घटित हुई जिन्होंने मार्क्सवाद मे सशोधन आवश्यक बना दिया। इस अवधि मे पूँजीवाद का तीव्रगति से विकास हुआ और उसमे अन्तर्निहित विरोध अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर यूरोपीय राष्ट्रों मे मतभेद उत्पन्न करने लगे। सन् 1914 का प्रथम महायुद्ध पूँजीवादी साम्राज्यवाद के विकास का ही भीषण परिणाम था। ऐसे समय मे श्रमिक वर्ग की क्रान्ति, जिसका मार्क्स ने उल्लेख किया था, एक ज्वलत प्रश्न बन गया।

मार्क्स की शिक्षाओं का प्रतिपादन एकाधिकारी प्रवृत्ति के पूँजीवादी साम्राज्यवाद तथा श्रमिक-वर्गीय क्रान्ति के युग से पूर्व हुआ था, अत. उसे समय के अनुसार ढालना था। इसके अतिरिक्त मार्क्स ने मजदूर-वर्ग की क्रान्ति का उल्लेख मात्र किया था, उसके क्रियान्वयन की क्रान्तिकारी रणनीति के विषय में वह मौन था। लेनिन ने इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति की। उसने मार्क्सवाद में उपलब्ध क्रान्तिकारी तत्त्वों का पुनरुत्थान किया जिन्हें द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय (International) के अवसरवादियों एवं संशोधनवादियों ने धूमिल कर दिया था और साथ ही तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल उसे श्रमजीवी वर्ग की तानाशाही को मार्क्स के राज्य-सिद्धान्त में केन्द्रीय स्थान देना पड़ा। चूँकि "मार्क्स को समय के अनुसार ढालना और साम्राज्यवाद तथा श्रमजीवी क्रान्ति की स्थितियों के अन्तर्गत उसकी पुनर्व्याख्या करने का कार्य लेनिन का ही था," अत स्टालिन द्वारा अपने ग्रन्थ *'Foundations of Leninism'* (1924) में लेनिन के दर्शन की यह अधिकृत परिभाषा सर्वथा उपयुक्त थी कि "लेनिनवाद साम्राज्यवाद तथा सर्वहारा क्रान्ति के युग का मार्क्सवाद है।"[1] सेबाइन के शब्दों में, "इस परिभाषा का अभिप्राय यह है कि लेनिन ने मार्क्सवाद को आधुनिक रूप दिया. उसने मार्क्स के बाद के पूँजीवादी समाज के विकास पर ध्यान दिया और इन प्रवृत्तियों को ध्यान में रख कर जिनको मार्क्स ने केवल प्रारम्भ ही देखा था, उसकी नीति तथा सिद्धान्तों की पुनर्व्याख्या की।"[2] सेबाइन ने ही आगे लिखा है कि "लेनिन का मार्क्सवाद व्यवहार में बहुत लचीला रहता था और वह बड़ी आसानी से ऐसी दिशा ग्रहण कर लेता था जिसे रूसी मैन्शेविकवादी मार्क्सवाद के बिलकुल विपरीत समझते थे।"

लेनिन का साम्राज्यवादी पूँजीवाद
(Lenin's Imperialist Capitalism)

लेनिन ने मार्क्सवाद का सैद्धान्तिक पृष्ठ-पोषण और आलोचनाओं से बचाव की चेष्टा की। मार्क्स ने जो भविष्यवाणियाँ की थीं, समय ने उनमें से अनेक को गलत सिद्ध कर दिया था। पूँजी में केन्द्रीकरण और व्यापार वृहदाकार होने की प्रवृत्ति दिखाई दे रही थी, मध्यम वर्ग का लोप नहीं हुआ था और न ही वर्ग-संघर्ष तीव्र हुआ था। इतना ही नहीं, मजदूर पूँजीपतियों की बढ़ती हुई समृद्धि में भागीदार बन रहे थे। समाजवादी स्थापना के आधार पर प्रवृत्ति साम्राज्यवाद की ओर थी। प्रथम महायुद्ध के समय दुनिया भर के श्रमिक और समाजवादी दल यह भूल गए थे कि "श्रमिकों का कोई देश नहीं होता।" उन्होंने श्रमिकों की 'अन्तर्राष्ट्रीय एकता' को विस्मृत कर राष्ट्रीय भावनाओं का परिचय दिया था। केवल लेनिन और कुछ मुट्ठीभर समाजवादी ही इस बात पर दृढ़ थे कि यह युद्ध साम्राज्यवादी है जिसमें श्रमिकों को योग नहीं देना चाहिए।

1 *'Leninism is Marxism of the epoch of Imperialism and Proletarian Revolution.'*

2 सेबाइन राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 750

उपर्युक्त परिस्थितियों में यह आवश्यक था कि मार्क्स की भविष्यवाणियों के अपवादों का स्पष्टीकरण देने के लिए मार्क्सवादी संविधान में संशोधन किया जाता लेनिन ने यही किया। मार्क्स का औचित्य सिद्ध करने के लिए उसने उन सब घटनाओं की पुनर्व्याख्या की जो उसकी भविष्यवाणी के विपरीत प्रतीत हुई। यह कार्य लेनिन ने जिस सिद्धान्त द्वारा किया, उसे पूँजीवाद की उच्चतम अवस्था अर्थात् 'साम्राज्यवादी पूँजीवाद' कहा जाता है। वेपर (Wayper) के अनुसार—

"अपनी पुस्तक 'साम्राज्यवाद–पूँजीवाद की सर्वोच्च अवस्था' (Imperialism-The Highest Stage of Capitalism) में लेनिन ने कहा है कि *निम्न-मध्य-वर्ग* तथा विकासपूर्ण औद्योगिक देशों के प्रशिक्षित श्रमिकों की सुरक्षा मार्क्स ने ही की थी। वर्गयुद्ध से रक्षा केवल औपनिवेशिक प्रदेशों के कारण हो सकी थी क्योंकि ये उन पर शासन करते थे। औपनिवेशिक जनता के सम्बन्ध पूँजीवादियों और श्रमिकों के सम्बन्ध थे। जो साम्राज्यवाद के अभाव में श्रमिक थे, वे साम्राज्य की उपलब्धि होते ही पूँजीपति बन गए। वास्तविक श्रमिक दुखों और शोषण की खाई में पड़े हुए वहाँ के निकृष्ट निवासी बने रहे। लेनिन के मतानुसार यह स्थिति मार्क्स विरोधी नहीं, वरन् उसकी पूरक थी, यद्यपि मार्क्स ने इसका अवलोकन पूरी तरह नहीं किया था। मार्क्स कहता है कि जैसे-जैसे पूँजीवाद व्यापक होगा वैसे-वैसे उत्पादन में वृद्धि होगी और अन्त में एकाधिकारपूर्ण पूँजीवाद स्थापित हो जाएगा। यही प्रक्रिया आर्थिक जगत् में भी होगी। बैंक उस पूँजी के मालिक हो जाएँगे जिसे उद्योगपति प्रयोग में लाते हैं, अतः एकाधिकारपूर्ण पूँजीवाद (Monopoly Capitalism) आर्थिक पूँजीवाद (Finance Capitalism) का रूप ले लेगा। इस प्रकार एकाधिकारी आर्थिक पूँजीवाद विस्तृत होता जाएगा। इसके तीन परिणाम होंगे—(i) यह औपनिवेशिक जनता का शोषण करेगा, (ii) *यह उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर उसके दुःखों में वृद्धि करेगा,* और (iii) *यह राष्ट्रों के बीच पारस्परिक युद्ध की स्थिति उत्पन्न करेगा क्योंकि राष्ट्रीय प्रतियोगिता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता उत्पन्न होगी और राष्ट्र अपने लिए अन्तर्राष्ट्रीय बाजार खोजेगा, तो* युद्ध आवश्यक हो जाएगा। अन्त में एकाधिकारपूर्ण आर्थिक पूँजीवाद का अन्त सन्निकट आएगा और एक नवीन व्यवस्था की स्थापना होगी।"[1]

वेपर ने लेनिन के उपर्युक्त विचार व्यक्त करने के बाद लिखा है कि "अतः मार्क्स लेनिन के मतानुसार गलत नहीं था। उसने केवल इस दिशा की ओर कुछ कम ध्यान दिया था।" पर वेपर ने ही पुनः आगे अपने विवेचन में स्वीकार किया है कि यद्यपि "लेनिन का साम्राज्यवादी सिद्धान्त मार्क्स की आलोचना के विरुद्ध एक रक्षा-कवच था, परन्तु वह कहीं-कहीं सत्यता का अतिक्रमण भी कर गया है।"

लेनिन ने अपने स्पष्टीकरण का कार्य असंदिग्ध ऐतिहासिक तथ्यों से प्रारम्भ किया। उसने सर्वप्रथम सन् 1871 के बाद के युग की पूँजीवादी विशेषताओं के साथ

1 *Wayper* : Political Thought (Hindi) pp 224-25.

वर्ग संघर्ष को सम्बद्ध किया और तत्पश्चात् यह बतलाने का प्रयास किया कि इस युग में पूँजीवाद पूँजीवादी व्यवस्था के सम्पूर्ण विकास से किस तरह मेल खाता था। लेनिन ने पूँजीवाद के साम्राज्यवादी चरण का जो विवरण दिया, वह वास्तव मे मार्क्स के पूँजीवादी सचयन के सिद्धान्त का विकास था। लेनिन ने यह प्रदर्शित करने की चेष्टा की कि मार्क्स को पूँजीवाद से जिन परिणामो की प्राप्ति की आशा थी वे वास्तव मे कुछ घटनाओ के कारण प्राप्त हुए जिनकी वह कल्पना नहीं कर सका था। ये घटनाएँ थी—एकाधिकार, वित्त-पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का जन्म। लेनिन ने यह स्वीकार किया कि "सन् 1914 का साम्राज्यवादी युद्ध जर्मन पूँजीपतियो के सिण्डीकेटों और फ्रांस तथा इगलैण्ड के सिण्डीकेटो के बीच अफ्रीका के नियन्त्रण के लिए संघर्ष था। एकाधिकार और वित्त-पूँजीवाद स्वतन्त्र प्रतियोगितापूर्ण पूँजीवाद का स्वाभाविक परिणाम था। राजनीतिक साम्राज्यवाद एकाधिकारपूर्ण पूँजीवाद का स्वाभाविक फल था और युद्ध पूँजीवाद का स्वाभाविक प्रतिफल था। साम्राज्यवाद पूँजीवादी विकास की उच्चतम व्यवस्था है। वह उस प्रक्रिया का एक भाग है जिसके द्वारा एक अधिक उच्च पूँजीवाद विहीन अथवा साम्यवादी समाज तथा अर्थ-व्यवस्था का निर्माण हो रहा है।"[1] लेनिन का निष्कर्ष था कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद का ही एक रूप और उसकी अन्तिम मंजिल है जिसका अन्त होते ही समाजवाद का युग आएगा। पूँजी के कुछ ही हाथो मे केन्द्रीभूत होने तथा साम्राज्यवादी समाज के अन्य विरोधो के कारण युद्ध होंगे और उनके परिणामस्वरूप पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का अन्त होगा। आज विश्व मे दो विरोधी शक्तियाँ हैं—एक ओर साम्राज्यवादी शक्तियाँ तथा दूसरी ओर क्रान्तिकारी सर्वहारा-वर्ग। इस समय साधनो की दृष्टि से पूँजीवादी और साम्राज्यवादी आगे हैं, किन्तु इनमे एकता नही रह सकती। इसके विपरीत सर्वहारा-वर्ग क्षीण है किन्तु उसमे एकता स्थापित हो जाएगी। सर्वहारा-वर्ग के पास मार्क्सवादी सिद्धान्तो की प्रेरणा तथा साम्यवादी दल का नेतृत्व है। अतः अन्त मे साम्राज्यवाद का विनाश और समाजवाद की प्रस्थापना अवश्यम्भावी है।

अपने विश्लेषण मे लेनिन ने साम्राज्यवाद के पाँच प्रमुख लक्षणो का उल्लेख किया था—

प्रथम, इसम उत्पादन का केन्द्रीकरण और पूँजी का विस्तार इस अवस्था तक पहुँच जाता है कि एकाधिकार का विकास होता है और आर्थिक जीवन मे इसका निश्चयात्मक महत्त्व हो जाता है।

द्वितीय, औद्योगिक पूँजी के साथ बैंक की पूँजी का मिश्रण होने से वित्तीय पूँजीवाद और पूँजीपतियो का विस्तार होता है।

तृतीय, पहले तो सिर्फ उत्पादित वस्तुओ का निर्यात होता है, बाद मे पूँजी निर्यात प्रारम्भ हो जाता है।

1 सेबाइन राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृ 770-71.

चतुर्थ, अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादी एकाधिकार-सम्पन्न पूँजीपति अपनी मुनाफाखोरी के लिए विश्व को विभाजित कर लेते हैं और अन्तत शक्तिशाली पूँजीवादी राज्य सम्पूर्ण विश्व का क्षेत्रीय विभाजन कर डालते है।

पचम, पूँजीवाद का असमान विस्तार होता है जिससे प्रतिस्पर्द्धाएँ बढती हैं और उस आशा पर तुषारापात होता है कि पूँजीवादी देश शान्तिपूर्वक परस्पर मिलकर ससार के पदार्थों का आर्थिक उपभोग करेंगे। इसमे एक दूसरा महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि सर्वहारा क्रान्ति का आरम्भ उन्ही देशो से हो सकता है जहाँ पूँजीवाद ठीक से विकसित नही हो सका हो। अन्त मे लेनिन का विश्वास था कि साम्राज्यवादी पारस्परिक फूट के कारण कमजोर हो जाएँगे जबकि सर्वहारा वर्ग एक होकर साम्राज्यवाद का उन्मूलन और साम्यवाद की स्थापना कर देंगे।

लेनिन के साम्राज्यवादी विश्लेषण से इसके तीन प्रमुख अन्तर्विरोधो की अभिव्यक्ति होती है। पहला अन्तर्विरोध श्रम और पूँजी का है। साम्राज्यवाद ... एकाधिकारपूर्ण ट्रस्टो, सिण्डीकेटो, बैंको आदि का प्रमुत्व रहता है, अत मजदूरो ... पास दो ही उपाय शेष रह जाते हैं कि या तो वे अपनी दारुण स्थिति मे सन्तोष ... या विद्रोह की ओर अग्रसर हो। द्वन्द्ववाद विद्रोह की माँग करता है। दू... अन्तर्विरोध यह है कि साम्राज्यवाद के अन्तर्गत विभिन्न औद्योगिक देशो के म... अपने हितो के लिए सघर्ष पाया जाता है जो युद्धो को जन्म देता है। श्रमिक क्र... द्वारा पूँजीवाद का विनाश करके ही इन युद्धों से बचा जा सकता है। युद्धो से ... निर्बल हो जाते हैं तथा श्रमिक क्रान्ति की सम्भावना बढ जाती है। तीसरा अन्तर्वि... यह है कि शोषक और शोषित राष्ट्रो के बीच सघर्ष पैदा हो जाता है। पराधी... देशो की जनता शासक देशो द्वारा अपना निर्मम शोषण सहन नही कर पाती अधीनस्थ देशो का शोषण करने के लिए साम्राज्यवादी वहाँ यातायात के साथ और व्यापारिक केन्द्रो की स्थापना करते हैं जिससे एक बुद्धिजीवी वर्ग का उ... होता है, सुषुप्त राष्ट्रीय चेतना जाग्रत हो जाती है और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की ... जोर पकडने लगती है। साम्यवादी साम्राज्यवाद के इस अन्तर्विरोध का पराधीन दे... मे श्रमजीवी क्रान्ति लाने के लिए सुचारु प्रयोग करते हैं।

सारांश यह है कि लेनिन ने यह बतलाना चाहा कि साम्राज्यवाद स्थितियो का जनक है जो पूँजीवादी दुर्ग पर हमला बोलने के लिए सर्वाधिक अन... होती हैं। साम्राज्यवाद अन्तर्राष्ट्रीय युद्धो को जन्म देता है और वर्ग-सघर्ष ... ज... कर श्रमिको को यह उद्बोधन देता है कि वे अपना कल्याण एक अन्तर्राष्ट्... सामाजिक क्रान्ति द्वारा ही कर सकते हैं।

आलोचना

1 मार्क्सवादी विश्लेषण की पुनर्व्याख्या के अनुसार श्रमिक वर्ग की क्रान्ति ब्रिटेन जैसे औद्योगिक देश मे होनी चाहिए थी न कि रूस मे जो औद्योगिक दृष्टि से एक पिछडा हुआ देश था। इस आपत्ति का उत्तर देते हुए स्टालिन ने 'Foundations of Leninism' मे लिखा है कि "रूस पूँजीवादी, साम्राज्यवादी और सैनिक सभी

विरोधों का केन्द्रबिन्दु था तथा रूसी साम्राज्यवाद पश्चिमी साम्राज्यवाद से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित था। साथ ही साम्राज्यवादी शृंखला में सबसे कमजोर कड़ी भी यह रूस ही था, अतः यह स्वाभाविक था कि रूस ही सर्वप्रथम क्रान्ति की जन्मभूमि बनता।"

2 लेनिन ने अपने साम्राज्यवादी सिद्धान्त में ऐतिहासिक तत्वों की अवहेलना की है। लेनिन के अनुसार जब पूँजी एकाधिकारपूर्ण हो जाती है और पूल, कार्टेल आदि औद्योगिक संगठन बन जाते हैं तब साम्राज्यवाद का विस्तार हो जाता है। लेकिन यह कथन ऐतिहासिक तथ्यों के विपरीत है क्योंकि इगलैण्ड, फ्रांस आदि में पूल कार्टेल, ट्रस्ट जैसे औद्योगिक और वित्तीय संगठनों की स्थापना तो बीसवीं शताब्दी में आरम्भ हुई जबकि साम्राज्य विस्तार उन्नीसवीं शताब्दी में ही कर लिया गया था। ब्रिटेन, फ्रांस हॉलैण्ड जैसे राष्ट्रों में अफ्रीका का विभाजन सन् 1880 के बाद शुरू हुआ और बीसवीं सदी के उस समय से पहले ही पूर्ण हो गया जबकि औद्योगिक संगठनों का युग (बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक से) शुरू हुआ। इसी प्रकार भारत में वित्तीय पूँजी का उदय तो बाद में हुआ, लेकिन ब्रिटेन बहुत पहले ही यहाँ अपना साम्राज्य स्थापित कर चुका था।

3 लेनिन का कथन था कि "व्यावहारिक रूप में ससार के बाजारों में साम्राज्यवादी राज्यों का भाग सैनिक शक्ति द्वारा निर्धारित होता है। सबल निर्बलों को समान साझीदार नहीं बनाना चाहते। लेनिन के इस कथन में आंशिक सत्य अवश्य है, लेकिन यह धारणा उस मार्क्सवादी मान्यता के विपरीत है जिसके अनुसार आर्थिक शक्ति राजनीतिक दशाओं को निर्धारित करती है।

4 लेनिन के अनुसार पूँजीपति अपनी सरकार को युद्ध और विस्तारवाद के लिए उकसाते हैं ताकि उनके माल की खपत बढ़े। राजनीतिज्ञ सरकार को खतरनाक परिस्थितियों में नहीं ढकेलते लेकिन व्यवहार में हम देखते हैं कि घटनाएँ बहुधा विपरीत होती हैं। पूँजीपति नहीं, बल्कि राजनीतिज्ञ मानवता को सकट में डालते हैं।

5 कुछ अन्य रूपों में भी लेनिन के तथ्य मिथ्या हैं। उसने कहा था कि पूँजी के निर्यात की विधि 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक विकसित नहीं होगी, परन्तु यह बात भी गलत सिद्ध हुई। उसने कहा था कि पूँजी के निर्यात तथा साम्राज्य के बीच सम्बन्ध होना बहुत आवश्यक है परन्तु स्विस साम्राज्य पर यह नियम लागू नहीं होता। लेनिन का विचार था कि उपनिवेशों की प्राप्ति से श्रमिक कुलीनतन्त्र का उदय होता है और फिर साम्राज्यवादी राज्य औपनिवेशिक श्रमिकों का शोषण कर अपना जीवन स्तर ऊँचा बना लेते हैं परन्तु स्वीडन तथा डेनमार्क उपनिवेशों के स्वामी न होने पर भी जीवन स्तर की दृष्टि से उपनिवेश रखने वाले फ्रांस तथा बेल्जियम से ऊँचे हैं। लेनिन ने यह भी कहा था कि जब पूँजी बाहर जाती है तो देश में दासता तथा निर्धनता उत्पन्न हो जाती है। यह तथ्य कुछ देशों के विषय में तो सत्य है परन्तु प्रत्येक देश के विषय में नहीं। अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया

तथा न्यूजीलैण्ड एक लम्बे अर्से तक पूँजी का निर्यात तो करते रहे, पर दासता अथवा निर्धनता से दूर रहे। निर्धनता वही देखने को मिलेगी जहाँ पूँजी का आयात कम होगा, जैसे ब्रिटिश, पश्चिमी अफ्रीका, भारत तथा चीन मे। अत लेनिन का साम्राज्यवाद यदि मार्क्सवाद का सरक्षक है तो यह असत्य एव बेईमानी है और यदि यह सत्य है तो साम्राज्यवाद मार्क्सवाद का सरक्षक नही है।"[1]

6 लेनिन का यह कथन भी पूर्ण सत्य नही है कि जिन देशो से पूँजी का निर्यात होता है, वहाँ गरीबी फैलती है। अमेरिका मे काफी समय से पूँजी का निर्यात हो रहा है, पर वहाँ गरीबी नही आई है।

वेपर का निष्कर्ष है कि मार्क्सवाद की पुष्टि के रूप मे लेनिन का सिद्धान्त असत्य और ईमानदारी से दूर है तथा जहाँ तक वह सत्य है वह मार्क्सवाद का खण्डन करता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के बारे मे लेनिन के विचार
(Lenin on Dialectical Materialism)

लेनिन ने सन् 1909 मे प्रकाशित अपने ग्रन्थ 'Materialism and Empiric Criticism' मे ऊपरी तौर से सामान्य दार्शनिक समस्याओं पर विचार किया है जैसे द्वन्द्वात्मक पद्धति का स्वरूप क्या है ? उसका प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञान से क्या सम्बन्ध है ? भौतिकवाद, आदर्शवाद तथा वैज्ञानिक भावनावाद दार्शनिक पद्धतियो के रूप मे कहाँ तक ठीक हैं ? आदि। इस पुस्तक मे लेनिन ने मार्क्सवाद के शुद्ध सिद्धान्त को अत्यन्त रूढ़िवादी ढग से प्रतिपादित किया है। लेनिन के अनुसार, "मार्क्सवाद का दर्शन फौलाद के एक ठोस पिण्ड की भाँति है जिसमे से एक भी मूलभूत धारणा एव एक भी सारभूत अश पृथक् नही किया जा सकता और यदि ऐसा करने का प्रयत्न किया जाता है तो इसका अर्थ वस्तुनिष्ठ सत्य को त्याग देना तथा पूँजीवादी प्रतिक्रियावादी असत्य के चगुल म पड़ जाना होगा।"

ऐंजिल्स के इस मत से लेनिन सहमत था कि प्रत्येक दर्शन या तो आदर्शवादी होता है या भौतिकवादी। आदर्शवादिता धर्मप्रधान लोगो की खोज है। यह आम जनता को धोखे मे डालने वाली हीन सामाजिक व्यवस्था की हीन उपज है। दूसरी ओर वैज्ञानिक भावनावाद 'आदर्शवाद और भौतिकवाद से परे जाने का एक विद्वत्तापूर्ण बहाना', 'गुप्त धर्मवाद और 'रूढ़ियो की पूँजीवादी अशिष्ट तथा कायरतापूर्ण सहिष्णुता' है। लेनिन 'भावनावाद को बर्कले के आदर्शवाद का सशोधित रूप या आत्मवाद का समानार्थक' मानता था जिसके अनुसार वस्तुपरक सत्य अथवा वास्तविकता का अस्तित्व केवल चेतना की परतो मे ही होता है, अन्यत्र नहीं।

लेनिन ने द्वन्द्वात्मक पद्धति की व्याख्या भी ऐंजिल्स की भाँति ही की थी। उसने बतलाया कि सत्य सापेक्ष भी है और निरपेक्ष भी अर्थात् जा आंशिक रूप मे सत्य है वह पूर्ण सत्य नही है, बल्कि केवल सत्य के निकट है। हीगल के मतानुसार

1 Wayper, op cit, p. 225-26

मार्क्स की धारणा थी कि द्वन्द्ववाद सामाजिक विषयों के अध्ययन के लिए उपयुक्त तरीका है क्योंकि इन विषयो का सम्बन्ध ऐसी बातो से होता है जिनमे विकास मुख्य होता है। वे विज्ञान, जिनका सम्बन्ध निर्जीव पदार्थों से है जैसे रसायनशास्त्र और भौतिकशास्त्र, अद्वन्द्वात्मक भौतिक तरीके से अच्छी प्रकार समझे जाते हैं। किन्तु लेनिन ने असहमति प्रकट करते हुए बतलाया कि यूक्लिडियन ज्यामिति एव भौतिकी इसलिए जटिल होती है क्योंकि भौतिकशास्त्रियों तथा गणितज्ञों ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को समझने की चेष्टा नही की। लेनिन का विचार था कि द्वन्द्वात्मक पद्धति का प्रयोग एक ऐसा सार्वभौमिक साधन है जिसका प्रयोग प्रत्येक विज्ञान के अध्ययन मे किया जा सकता है। सेबाइन के मतानुसार, लेनिन के इस दृष्टिकोण ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को एक उच्चतर विज्ञान का रूप दे दिया जो समस्त विज्ञानो के गहनतम प्रश्नो का निर्णय कर सकता था।

लेनिन का कहना था कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सामाजिक विज्ञानों को अपेक्षा प्राकृतिक विज्ञानो से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। दर्शन और सामाजिक शास्त्र एक-पक्षीय होते हैं। अर्थशास्त्र के अध्यापक केवल पूँजीवादी वर्ग के वैज्ञानिक विक्रेता हैं तो दर्शन के अध्यापक धर्मशास्त्र के। अधिक से अधिक जो समाज का कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त निरूपित कर सकता है वह है आर्थिक एव ऐतिहासिक विकास की खोज। यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद द्वारा किया जा सकता है। दर्शन, अर्थशास्त्र एव राजनीति मे निष्पक्षता अथवा वैज्ञानिक यथार्थता केवल एक बहाना है जिसके द्वारा सुरक्षित हितो की पूर्ति होती है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अन्तर्गत सामाजिक विज्ञान की दो प्रणालियाँ हैं—एक तो मध्यम वर्ग के हित के लिए और दूसरी श्रमजीवियो के हित के लिए। श्रमजीवियों की श्रेष्ठता इस बात मे है कि द्वन्द्ववाद यह सिद्ध करता है कि श्रमजीवी वर्ग एक उर्ध्वगामी या जाग्रत वर्ग है और सामाजिक प्रगति मे अग्रणी है। मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति उसे एक उदीयमान वर्ग घोषित करती है। इसके विपरीत मध्यम वर्ग ऐसे कार्यों मे लगा रहता है जिनके द्वारा वह पूँजीवाद को समाजवाद मे परिणत होने से रोकता है, अत उसका विज्ञान गतिहीन, पतनोन्मुख एव प्रतिक्रियावादी है।

लेनिन के समान ही ट्रॉट्स्की का भी विचार था कि द्वन्द्वात्मक पद्धति अनिवार्यत वर्ग सघर्ष के शाश्वत् तत्त्व का सृजन करती है और यह पद्धति समाज एव प्रकृति मे अनिवार्य रूप से निहित है। अभिप्राय यह है कि प्रगति अन्तर्विरोधो के माध्यम से होती है। सन् 1938 मे स्टालिन ने भी द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद का अधिकृत विवरण प्रस्तुत किया था जिसमे ऐंजिल्स और लेनिन के पदचिह्नो पर चलते हुए उसने द्वन्द्वात्मक पद्धति एव नैतिक सम्बन्धो पर बल दिया था। स्टालिन का विवरण इस प्रकार था—

"द्वन्द्वात्मक पद्धति का अभिप्राय यह है कि निम्न स्तर से उच्च स्तर का विकास सगठनो के एक समरसतापूर्ण प्रस्फुटन के रूप मे नही होता, वह वस्तुओ तथा सगठनों में निहित अन्तर्विरोधों के उद्घाटन, स्वरूप विरोधी प्रवृत्तियो के सघर्ष के

रूप मे होता है। अत. नीति-विषयक गलती से बचने के लिए व्यक्ति को श्रमिक-वर्ग तथा पूँजीपति-वर्ग के हितो के समन्वय की सुधारवादी नीति एव पूँजीवाद तथा समाजवाद के विकास की समझौतावादी नीति का अनुसरण न कर समझौता न करने की सर्वहारा-वर्ग की नीति का ही सदैव अनुसरण करना चाहिए।"

लेनिन की क्रान्ति सम्बन्धी धारणा
(Lenin on Revolution)

लेनिन द्वारा मार्क्सवाद को क्रान्तिकारी बनाना—लेनिन ने मार्क्सवाद को मूलतः और तत्वत एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त प्रमाणित किया। उसने 'State and Revolution' मे स्पष्टत लिखा है कि "आजकल पूँजीपति अथवा श्रमिक आन्दोलन के अन्तर्गत अवसरवादी लोग मार्क्सवाद मे मिलावट करने मे सहयोग कर रहे हैं। वे मार्क्सवादी सिद्धान्तो के क्रान्तिकारी पक्ष को, उसकी क्रान्तिकारी आत्मा को या तो भुला देते हैं या धूमिल कर देते हैं अथवा उसे नष्ट कर देते हैं।" ऐसी परिस्थितियो मे जबकि मार्क्सवाद को इतने व्यापक रूप मे भ्रष्ट किया जा रहा है, राज्य के सम्बन्ध मे मार्क्स की वास्तविक शिक्षाओ को पुन प्रतिष्ठित करना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है।" लेनिन ने मार्क्स और ऐंजिल्स की कृतियो के उद्धरणो से यह सिद्ध किया कि आयोजित क्रान्ति और उसके उपरान्त स्थापित होने वाला साम्यवादी शासन बिलकुल मार्क्स की कल्पना के अनुकूल किन्तु पश्चिमी समाजवादियो की कल्पना से भिन्न होगा।

कुछ लोगो ने राज्य के शनैः-शनैः समाप्त हो जाने (Withering Away) के सिद्धान्त का यह अर्थ निकाला कि मार्क्स के अनुसार वर्तमान पूँजीवादी राज्य धीरे-धीरे शान्तिपूर्ण ढग से भविष्य मे समाजवादी राज्य मे परिवर्तित हो जाएगा। पर लेनिन मार्क्सवाद को मौलिक रूप से क्रान्तिकारी सिद्धान्त सिद्ध करना चाहता था, अत विकासवादी समाजवादियो के विपरीत उसने यह घोषित किया कि मार्क्स का विश्वास पूँजीवादी राज्य के शनैः-शनैः क्रमिक अन्त मे नहीं वरन् श्रमजीवी तानाशाही के समाप्त होने मे था। ऐंजिल्स ने यह कहा कि पूँजीवादी राज्य को धीरे धीरे नही वरन् क्रान्ति द्वारा बलपूर्वक नष्ट किया जाना था। लेनिन ने कहा कि मार्क्स की शिक्षाओ की सही व्याख्या यही है कि राज्य क्रान्ति द्वारा समाप्त होगा। समाजवादोन्मुख प्रगति का एकमात्र उपाय क्रान्तिकारी मार्ग ही है।

लेनिन का उपर्युक्त विचार इस दृष्टि से आपत्तिजनक है कि मार्क्स सभी देशो मे क्रान्ति को अपरिहार्य नही मानता था। उसकी धारणा थी कि लोकतन्त्रात्मक पद्धति वाले देशो मे क्रान्ति आवश्यक नही थी। ब्रिटेन, सयुक्तराज्य अमेरिका आदि देश सुदृढ लोकतान्त्रिक परम्परावादी थे, जहाँ क्रान्ति के बिना भी काम चल सकता था। किन्तु लेनिन ने कहा कि एकाधिकारपूर्ण पूँजी, साम्राज्यवाद एव महायुद्ध ने परिस्थितियो को बदल दिया है तथा ब्रिटेन और अमेरिका लोकतान्त्रिक देश न रहकर साम्राज्यवादी एव सैनिकवादी राज्य बन गए हैं, अत इन देशो के श्रमिको के समक्ष केवल यही उपाय है कि वे क्रान्ति की ओर उन्मुख हो। सौभाग्यवश इतिहास ने

लेनिन की धारणा गलत सिद्ध कर दी और यह दिखा दिया कि उसने इगलैण्ड की स्थिति का गलत अध्ययन किया था। प्रथम महायुद्ध के बाद के निर्वाचनों के फलस्वरूप वहाँ श्रमदलीय सरकार स्थापित हुई और द्वितीय महायुद्ध के बाद उसके हाथ मे वास्तविक शक्ति भी आई। यह सब कुछ किसी क्रान्ति द्वारा न होकर वैधानिक तरीके से हुआ।

यह स्मरणीय है कि मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी स्वरूप के बारे मे कोई सन्देह नही किया जा सकता, लेकिन लेनिन की अपेक्षा मार्क्स अधिक सतर्क था। मार्क्स ने क्रान्तिकारी सिद्धान्त का आरोपण अवश्य किया पर इस सिद्धान्त को सीमित और स्थितिबद्ध रखा। लेनिन ने मार्क्स द्वारा प्रस्थापित सीमाओ के बाँध को तोड फेंका तथा क्रान्तिकारी सिद्धान्त को सार्वभौमिक रूप देने की चेष्टा की। इस प्रयास मे उसे मार्क्स की शिक्षाओ मे 'निर्णयवादी तत्त्व' के महत्त्व को कम करना पडा तथा 'ऐच्छिक तत्त्व' पर विशेष बल देना पडा। लेनिन ने विश्वास प्रकट किया कि जो कोई समाजवादी क्रान्ति के परिपक्व होने की प्रतीक्षा करता है, वह अवसर खो बैठता है। उसे यह प्रतीक्षा नही करनी चाहिए कि द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया स्वत क्रान्ति लाएगी। लेनिन का यह दृढ निश्चय था कि आवश्यक सगठन होने पर वह रूस मे जारशाही का तख्ता पलट कर श्रमजीवी तानाशाही स्थापित कर सकता था। इसलिए उसने मार्क्सवाद की ऐसी व्याख्या की जिसमे क्रान्तिकारी पक्ष पर आद्योपान्त बल था। मार्क्स और ऐंजिल्स ने अपनी रचनाओ मे श्रमजीवी तानाशाही को वह केन्द्रीय स्थान प्रदान नहीं किया था जो लेनिन ने दिया। उसने यही घोषित किया कि सच्चा मार्क्सवादी वही है जो वर्ग-सघर्ष को श्रमिको की तानाशाही तक ले आता है।

लेनिन की क्रान्ति की टेकनीक—लेनिन ने ससार की क्रान्तियो का गहन अध्ययन कर इनकी सफलता के सम्बन्ध मे कुछ नियम निर्धारित किए। प्रथम, क्रान्ति को खेल-तमाशा समझकर अथवा कोरे जोश मे आकर नही करना चाहिए वरन् खूब सोच विचार कर शुरू करना चाहिए तथा सफल न होने पर शान्त नही बैठना चाहिए। द्वितीय, निश्चित समय पर और निश्चित स्थल पर अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देनी चाहिए ताकि शत्रु सगठित होकर विद्रोह को कुचलने की शक्ति न जुटा सकें। तृतीय, शत्रु पर उस समय अप्रत्याशित आक्रमण करना चाहिए जब उसकी शक्ति विभिन्न स्थानो पर बिखरी हुई हो। लेनिन ने व्यावसायिक क्रान्तियो के सगठन पर बल दिया। व्यावसायिक क्रान्तिकारियो से उसका आशय उन व्यक्तियो से था जिन्होंने क्रान्ति करना और उसे सफल बनाना ही अपने जीवन का अध्यवसाय बना लिया हो तथा जो क्रान्तिशास्त्र मे पारगत हो। लेनिन का स्पष्ट मत था कि हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा ही श्रमिको को राजनीतिक शक्ति मिल सकती है।

तत्कालीन जारशाही के रूप मे जो परिस्थितियाँ क्रियाशील थी, उनसे लेनिन की धारणा को बल मिला था। सन् 1917 मे अपने निर्वासन से जब लेनिन स्वदेश लौटा तो उसका विचार था कि रूस आर्थिक दृष्टि से पूर्ण समाजवाद के लिए प्रस्तुत नहीं है तथापि राजनीतिक दृष्टि से वह श्रमिको को सत्ता हस्तातरण करने के योग्य

है और इस प्रकार की क्रान्ति के लिए सोवियतें (Soviets) उपयुक्त साधन हैं। रूस लौटने के कुछ महीनों बाद तक लेनिन इस बात पर जोर देता रहा कि अल्पसंख्यक वर्ग को सत्ता नहीं हथियानी चाहिए और शासन में तब तक परिवर्तन नहीं होना चाहिए जब तक उसके पक्ष में प्रबल बहुमत न हो। यदि क्रान्ति द्वारा सत्ता हथियानी है तो केवल सोवियतें ही इस कार्य को कर सकती हैं। अत. क्रान्तिकारी दल का एकमात्र नारा यही होना चाहिए कि 'सोवियतें पूर्ण शक्ति-सम्पन्न हों।' पर लेनिन की दृष्टि में यह भी एक कठिन समस्या थी। उनके सदस्यों में मार्क्सवादी अल्पसंख्या में थे और मार्क्सवादियों में भी बोलशेविक अल्पसंख्यक थे। इसके अतिरिक्त मेनशेविकों के विचारकों को अधिक समर्थन प्राप्त था। अत लेनिन ने सैद्धान्तिक कठिनाइयों का समाधान मार्क्सवादी सिद्धान्त को त्याग कर अथवा उसकी पुनर्व्याख्या द्वारा किया। मार्क्सवादियों के अनुसार श्रमवर्गीय क्रान्ति के लिए मध्यमवर्गीय क्रान्ति आवश्यक है। सन् 1905 और मार्च, 1917 की क्रान्तियाँ इसी प्रकार की थीं। मार्क्स ने कहा था कि किसी देश मे श्रमिक क्रान्ति तभी आ सकती है जब समुचित राजनीतिक और आर्थिक विकास द्वारा उसके लिए मार्ग प्रशस्त हो जाए। मेनशेविक, जिन्होंने मार्च, 1917 की क्रान्ति मे भाग लिया था, मार्क्स के सिद्धान्त को मानते थे और यह कर्त्तव्य समझते थे कि जारशाही के स्थान पर पहले एक उदार जनतन्त्रीय सरकार स्थापित की जाए जो द्रुत गति से देश का औद्योगीकरण करे। उनका विश्वास था कि मध्यवर्गीय और श्रमिकवर्गीय क्रान्तियों के बीच मे समय का काफी अन्तर होगा। लेकिन निर्वासन से लौटने के बाद अप्रेल, 1917 मे लेनिन ने घोषणा कर दी कि अन्तरिम सरकार के साथ कोई सहयोग न किया जाए और जब उसने अपने साथियों और श्रमिक अधिनायकत्व स्थापित करने को भी नहीं कहा तो मेनशेविकों को बड़ा आश्चर्य हुआ। लेनिन ने स्पष्ट किया कि संविधानिक अथवा लोकतन्त्रात्मक सूत्रों से क्रान्ति की किसी भी स्थिति का समाधान नहीं होता। क्रान्ति अनिवार्य रूप से विधिग्राह्य है, अत अधिनायकवादी व्यवस्था से ही समाप्त होती है। रूस के तत्कालीन भावनात्मक ज्ञान ने लेनिन मे यह विश्वास पैदा कर दिया कि मार्क्सवादी सिद्धान्तवेत्ता कुछ भी सोचें, समझें या कहें, लेकिन क्रान्ति के लिए एक छोटा रास्ता सम्भव था और रूस को उस समय क्रान्ति के पथ पर मोड़ा जा सकता था। लेनिन ने इसी दिशा में पहल की और क्रान्ति का बिगुल फूँक दिया। मेनशेविकों तथा सामाजिक क्रान्तिकारियो को करारी मात देते हुए उसने अक्तूबर में क्रान्ति का श्रीगणेश किया और प्राय एक रक्तहीन क्रान्ति के फलस्वरूप तत्कालीन करेंस्की सरकार का अन्त कर दिया। मार्क्स ने जिस देश को समाजवादी क्रान्ति के लिए सबसे कम तैयार समझा था, उसी देश मे सबसे पहले साम्यवादी शासन की स्थापना हुई। इस पर भी लेनिन का कहना यही था कि रूसी क्रान्ति मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार ही हुई है क्योंकि सन् 1917 से पूर्व औद्योगिक ससार में जो आर्थिक और राजनीतिक विकास हुए उन्होने किसी एक विशेष देश मे, जहाँ पूँजीवादी शासन बहुत अस्थिर दशा मे था, सफल समाजवादी क्रान्ति के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

रूसी क्रान्ति स्वयं मार्क्स तथा बोल्शेविकों की अपेक्षित अवस्थाओं से भिन्न अवस्थाओं में हुई तथापि बोल्शेविकों ने यही घोषित किया कि क्रान्ति ने मार्क्स की भविष्यवाणी को सत्य सिद्ध कर दिया है। सन् 1919 में तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय परिषद (The Congress of the Third International, 1919) के घोषणा-पत्र में कहा गया कि हम एक ऐसे लक्ष्य को मानने वाले और उसके लिए कार्य करने वाले हैं जिसके लिए आज से 72 वर्ष पूर्व कार्यक्रम तैयार किया गया था। लेनिन ने स्पष्ट घोषित किया कि पूँजीवादी राज्य के स्थान पर सर्वहारा राज्य की स्थापना हिंसात्मक क्रान्ति के बिना असम्भव है। यदि आज साम्यवाद को हिंसा के समरूप समझा जाता है तो इसका सम्पूर्ण यश या अपयश लेनिन को मिलना चाहिए।

लेनिन की दल सम्बन्धी धारणा
(Lenin on Party)

लेनिन ने मार्क्सवाद में संशोधन कर रूसी क्रान्ति में जिस मार्ग का अनुसरण किया उसका आधार दलीय सिद्धान्त था। दल के विषय में लेनिन के विचार बड़े संयवादी और कठोर थे। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि क्रान्ति की सफलता के लिए साम्यवादी दल का लौह-संगठन अपेक्षित है जिसका प्रधान कार्य मजदूरों में राजनीतिक चेतना भरना और उन्हें संघर्ष के लिए तैयार करना होगा। दल के दृढ़ और साहसपूर्ण संगठन के बिना क्रान्ति लाना सम्भव नहीं और सत्ता के संघर्ष के लिए मजदूर वर्ग के पास संगठन के अतिरिक्त कोई अस्त्र नहीं होता। लगातार पूर्ण निर्धनता से ग्रस्त मजदूर आर्थिक माँगों की पूर्ति के लिए संघर्ष हेतु शीघ्र तैयार हो जाते हैं, किन्तु उनमें यह भावना भी भरनी है कि वे राजनीतिक सत्ता को छीनने के लिए प्रस्तुत हों। यह राजनीतिक भावना उनमें स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकती, प्रत्युत् इसे तो उनमें पुष्ट करना होता है। यह उन अग्रगामी लोगों का कार्य है जो इतिहास का द्वन्द्वात्मक अध्ययन कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पूँजीवादी समाज की घोर असंगतियाँ और निरन्तर चलने वाली विपदाएँ साम्यवादी दल के नेतृत्व में आयोजित सर्वहारा क्रान्ति से ही सुलझ सकती हैं और उसी से समृद्ध एवं उन्नत स्वतन्त्र समाज की रचना हो सकती है। लेनिन ने देखा कि महान् संघर्ष करना है तथा इस संघर्ष को जनता अपने ही बल पर नहीं चला सकती। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए सेना के अग्रिम दस्तों (हरावलों) की अधिक आवश्यकता है। साम्यवादी दल को लेनिन ने हरावल (Vanguard) की संज्ञा दी। उसने कहा कि आवश्यकता इस बात की है कि प्रचार और प्रशिक्षण द्वारा बहुसंख्यक जनता को इन अग्रिम दस्तों के निकट सम्पर्क में लाया जाए।

लेनिन ने दल की अपनी विशिष्ट परिभाषा की। सबाइन के शब्दों में लेनिन के अनुसार "दल कुछ विशिष्ट बुद्धिजीवियों और नीतिज्ञ पुरुषों का एक सुसंगठित गुट होता है। यह चुने हुए बुद्धिजीवियों का गुट इस अर्थ में है कि उसका मार्क्सवाद विषयक विशेष ज्ञान मार्क्स के सिद्धान्त की शुद्धता को कायम रखता है तथा इसके द्वारा दल की नीति का पथ प्रदर्शन होता है। जब दल शक्ति प्राप्त कर लेता है तब

राज्य की नीति का पथ-प्रदर्शन करता है। वह चुने हुए नीति-निपुण पुरुषो का सगठन इस अर्थ मे है कि चुनाव और कठोर दलगत प्रशिक्षण के कारण ये लोग दल तथा क्रान्ति के प्रति पूरी तरह निष्ठावान हो जाते हैं।"

लेनिन का यह मत था कि दल सदैव ही मजदूर आन्दोलनो से सलग्न रहता है तथा इन आन्दोलनो को नेतृत्व व पथ-प्रदर्शन प्रदान करता है। दल क्रान्ति के विचारो का प्रसारण करता है, क्रान्ति की तकनीक का शिक्षण देता है और मजदूरो को अपने उद्देश्य की पूर्ति मे सफल बनाता है। शक्तिशाली दलीय सगठन के कारण मजदूर वर्ग एक अजेय शक्ति बन जाता है। दल की अनिवार्यता न केवल क्रान्ति से पूर्व ही होती है, बल्कि यह पूँजीवादी राज्य का विनाश करने एव श्रमजीवी अधिनायकत्व की स्थापना करने के लिए भी आवश्यक है। लेनिन ने कहा था कि यदि दल को वास्तव मे हरावल या अग्रिम दस्ते के रूप मे कार्य करना है तो यह सर्वथा अपेक्षित है कि उसे क्रान्तिकारी सिद्धान्त और क्रान्ति के नियमो का भी पूरा ज्ञान हो। दल का प्रयोजन सर्वहारा वर्ग एव सम्पूर्ण जनता की भलाई करना है, किन्तु उनके लिए क्या अच्छा है और क्या नही, इसका एकमात्र निर्णय करना भी दल के ही हाथ मे है। अभिप्राय यह है कि "सर्वहारा वर्ग की शक्ति प्राप्त करने और प्राप्त शक्ति को सजोये रखने के सघर्ष मे दल की स्थिति एक सैनिक सगठन जैसी है। दल सर्वहारा वर्ग की एक वह अग्रिम सैनिक पक्ति है जो न केवल वर्ग-चेतना मे सर्वोपरि होती है वरन् मजदूर वर्ग के लिए त्याग करने मे भी सबसे आगे रहती है। मार्क्सवाद का सिद्धान्त उसे एकता के सूत्र मे बाँधे रखता है और सगठन उसे शक्तिशाली बनाता है।"

लेनिन ने क्रान्ति की बागडोर अपने हाथ मे सम्हालने के समय से ही क्रान्तिकारी आन्दोलन को दो सुदृढ आधारशिलाओ पर प्रस्थापित करने की चेष्टा की। पहली आधारशिला दल के लोगों मे मार्क्स के क्रान्तिकारी विचारो मे अटूट विश्वास एव भक्ति की थी ताकि आदर्श एकता कायम रहे। दूसरी आधारशिला दल मे कठोर अनुशासन एव सगठन की थी—ऐसा अनुशासन कि दलीय नीति मे विश्वास न रखने वाला कोई भी व्यक्ति दल मे प्रवेश न पा सके और न कोई व्यक्ति दल के विरुद्ध कोई कार्य कर सके। सेबाइन ने इन दो आधारशिलाओ को मार्क्सवादी सिद्धान्त के आधार पर आदर्श एकता तथा कठोर सगठन एव अनुशासन के आधार पर भौतिक एकता कहा है। सन् 1920 में तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय के एक प्रस्ताव मे कहा गया था—"साम्यवादी दल मजदूर-वर्ग का एक अग है। वह उसका सर्वाधिक प्रगतिशील, सर्वाधिक वर्ग-चेतनापूर्ण और इसीलिए सर्वाधिक क्रान्तिकारी अग है। साम्यवादी दल का जन्म ऐसे कार्यकर्त्ताओं के चुनाव द्वारा होता है जो सबसे अच्छे सबसे बुद्धिमान, सबसे अधिक आत्मत्यागी, सबसे अधिक वर्ग-चेतनायुक्त और दूरदर्शी होते हैं। साम्यवादी दल वह सगठित राजनीतिक व्यवस्था है जिसके द्वारा श्रमिक वर्ग का अधिक उन्नत भाग समस्त मजदूरो और अर्द्ध-मजदूरो को सही दिशा प्रदान करता है।" तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय (1920) मे स्वीकृत प्रस्ताव का यह उद्धरण ही

सन् 1934 के चार्टर मे और फिर सन् 1936 के सविधान मे दल के विवरण का आधार बना था। सन् 1936 के सविधान ने दल को पहली बार वैधानिक स्थिति प्रदान की।

लेनिन दल को एक गिर्जा अथवा धर्मसंघ के समान समझता था। वह नहीं चाहता था कि सदस्यो को दल की आलोचना करने का अधिकार प्राप्त हो। उसका विश्वास काय करने मे था, व्यर्थ के वाद-विवाद में नहीं। उसका कहना था कि दल के सदस्य स्वेच्छा से एक दूसरे के साथी बनते हैं और उनका विशेष उद्देश्य शत्रु से सघर्ष करना है अत लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रयत्न होना चाहिए, बहस के लिए नहीं। थका देने वाली बौद्धिक चर्चाओ से उसे घृणा थी। वस्तुत लेनिन की दलीय धारणा उसकी मार्क्सवाद सम्बन्धी दार्शनिक विचारधारा का ही अश थी। मार्क्सवाद अधिकतम भक्ति और गहन निष्ठा की माँग करता है तथा लेनिन ने भी कहा कि दल की माँग केवल असदिग्ध भक्ति है। *दल में लौह-अनुशासन अनिवार्य है। निम्न अगों का एकमात्र कर्तव्य दल के उच्च अगों द्वारा निर्धारित नीति का बिना तर्क-वितर्क के अनुसरण करना है। लेनिन ने सन् 1904 मे दल की जिस विचारधारा का निर्माण किया था, वही अब तक विद्यमान है। क्रान्ति की सफलता के साथ-साथ* दल शासन का मुख्य प्रेरणा स्रोत भी बन गया है। लेनिन दलीय सगठन में लोकतन्त्रवाद को एक व्यर्थ और हानिकारक खिलौना मानता था। उसने जीवन-पर्यन्त दलीय सगठन का विकेन्द्रीकरण करने वाले सभी प्रयत्नो का दृढतापूर्वक विरोध किया।

मार्क्सवादी लेनिनवादी धारणा के अनुसार दल का कार्य है कि वह मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त के प्रकाश में नीति-विषयक प्रश्नो को तय करे और उन पर अपनी सही राय दे। दल के इस दोहरे कार्य मे स्पष्ट ही दो बातों का समावेश है—स्वतन्त्र विचार एव गुप्त निर्णय। दल के इस दुहरे कार्य ने पाश्चात्य आलोचको को विशेष भ्रम में डाल दिया है। सेबाइन ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा है—"पश्चिमी आलोचको को रूसी राजनीति का यह तत्त्व (स्वतन्त्र चिन्तन और गुप्त निर्णय का) बडा रहस्य प्रतीत होता है। जब कभी कोई विचारधारा *निर्माण की प्रक्रिया में होती है उस समय कुछ प्रश्नों पर* विचार हो सकता है और *उनके बारे में आलोचना की गुँजाइश रहती है। अन्य प्रश्न* ऐसे होते हैं जिनके बारे में निर्णय हो चुकता है और फिर उन पर *आलोचना की गुँजाइश नहीं रहती।* पश्चिमी यूरोप के चिन्तन में निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत स्थिर सिद्धान्तों तथा मुक्त वाद-विवाद के समन्वय का कोई सादृश्य नहीं मिलता। वहाँ यदि हमें इसके नजदीक की कोई चीज दिखाई देती है, तो मध्य युग की स्वानुभूति तथा विवेक का अन्तर है। इस दृष्टि से साम्यवाद एक प्रकार का राजनीतिक धर्मवाद (Political Clericalism) है और उसका दर्शन एक प्रकार का लौकिक पाण्डित्यवाद (Secular Scholasticism) है। मार्क्सवाद कितना ही बदल सकता है, लेकिन इन परिवर्तनों का आधार मार्क्सवाद के अपरिवर्तनशील सिद्धान्तों की जटिल पुनर्व्याख्या होनी

चाहिए। दल की वाणी देववाणी के समान पावन होती है और वह कभी गलत नहीं होती।"[2] दल इस तरह एक प्रकार से शुद्ध वैज्ञानिक भविष्यवाणियाँ करने की क्षमता रखता है, वह राजनीति को एक तरह की इन्जीनियरी बना देता है। सोवियत साम्यवादी दल के इतिहास (History of the Communist Party of the Soviet Union) में उल्लिखित है—

"मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त की शक्ति यह है कि वह दल को हर स्थिति मे सही दिशा प्रदान करता है, वर्तमान घटनाओं के आन्तरिक अर्थ का बोध कराता है, उनके प्रवाह को समझ लेता है और केवल यह नही जान लेता कि वे वर्तमान में किस प्रकार तथा किस दिशा मे अग्रसर हो रहे हैं बल्कि यह भी जान लेता है कि वे भविष्य मे किस प्रकार और किस दशा मे अग्रसर होगे।"

इसमे कोई सन्देह नहीं कि लेनिन के दल ने क्रान्ति को और लेनिन के दलीय सिद्धान्त ने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवादी राजनीतिक दर्शन को निश्चित किया।

लेनिन के दल सम्बन्धी विचार कहाँ तक मार्क्स के विचारो से टकराते हैं और उनमे क्या त्रुटियाँ हैं, इसे वेपर ने निम्नानुसार स्पष्ट किया है—

"लेनिन का क्रान्तिकारी दल-सम्बन्धी विचार मार्क्स के व्यावसायिक समूहों से सम्बन्धित विचार का सूक्ष्म रूप है। वह मार्क्स के इस विचार को उचित नहीं समझता कि कम्युनिस्ट पार्टी को मजदूरों का मालिक नहीं अपितु उनकी सरक्षिका शक्ति होना चाहिए। लेनिन बुद्धिमानों के कर्त्तव्यो के विषय मे एक अमार्क्सवादी सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। स्वतन्त्रता-अर्जन उसके लिए बुद्धिमानो का कार्य है जबकि मार्क्स के लिए श्रमिकों का। उसका कथन है कि श्रमिक स्वय समाजवादी नहीं हो सकते, व्यापारिक सघवाद तथा क्रान्तिकारी सिद्धान्त उनके बीच मध्यम वर्ग के विवेकशील लोगों द्वारा ही लाए जा सकते हैं।"

लेनिन के दल सम्बन्धी विचार में अनेक त्रुटियाँ हैं। पहली तो यह कि क्रान्ति का कारण विचार हैं, उत्पादन की भौतिक स्थितियाँ नहीं। यह विचार मार्क्स के विचारों के बिलकुल विरुद्ध है। दूसरे यह कि शक्ति उसमे भी अधिक प्रभावशाली हो सकती है जितनी कि मार्क्स तथा एँजिल्स ने कल्पना की है। तीसरे, क्रान्ति सदैव सम्पूर्ण होगी, जबकि मार्क्स के मतानुसार उसे हिंसापूर्ण नहीं होना चाहिए। जहाँ कभी-कभी यह प्रतीत होता है कि लेनिन अमार्क्सवादी है, वहाँ प्राय यह भी दृष्टिगोचर होता है कि वह रूढिवादी मार्क्सवादी है। उसका विचार ऐसे दल को तैयार करने का नही था जो क्रान्ति कर सके, वरन् वह ऐसे दल की स्थापना करना चाहता था जो समाजवादी क्रान्ति पैदा कर सके। उसने ट्रॉट्स्की के इस विचार का विरोध किया कि पूँजीवादी क्रान्ति से ही एकदम समाजवादी क्रान्ति का विकास होगा। यह प्रेरित अवसरवाद ही था, सैद्धान्तिक दोष-सिद्धि नही जिसने सन् 1917 की द्वितीय क्रान्ति मे उसे

1 सेबाइन राजनीतिक दर्शन का इतिहास, प. 761

अपनी स्थिति परिवर्तित करने के लिए बाध्य कर दिया था। अत यह विचार कि पूंजीपतियो तथा श्रमिको को क्रान्ति के लिए समय दिया जाना चाहिए एव ऐसी गुत्थी है जो उसके सिद्धान्त तथा उसके दल से सम्बन्धित विचार से सम्बद्ध है।[1]

श्रमजीवी अधिनायकवाद के विषय में लेनिन के विचार
(Lenin on Dictatorship of the Proletariat)

मार्क्स की कृतियो मे सर्वहारा के 'अधिनायकत्व' शब्दो का दो या तीन बार उल्लेख है, किन्तु लेनिन के अपने क्रान्ति सम्बन्धी विचारो ने इसे मूल तत्त्व बना दिया। रूस की जारवादी और शक्तिवादी परम्पराओ मे पले हुए लेनिन की मान्यता थी कि एक ऐसा सुसगठित साम्यवादी दल (सर्वहारा वर्ग) तैयार होना चाहिए जो पूंजीवाद का अन्त कर विजय प्राप्त करे और उसके बाद क्रान्ति के परिणाम को ठोस रूप दे। वास्तव म लेनिन के दल ने क्रान्ति को और लेनिन के दलीय सिद्धान्त ने *सर्वहारा वर्गीय अधिनायकवाद के राजनीतिक दर्शन को निश्चित किया।*

लेनिन की *श्रमजीवी तानाशाही का अध्ययन निम्नलिखित दो शीर्षको मे* लिया जा सकता है—

(1) श्रमजीवी क्रान्ति के यन्त्र के रूप मे, एव
(2) सक्रमण-कालीन राज्य के रूप मे।

श्रमजीवी क्रान्ति के यन्त्र के रूप में—श्रमजीवी तानाशाही क्रान्ति की प्रगति एव सफलताओ को साकार बनाती है। "यह श्रमजीवी क्रान्ति का यन्त्र है जिसकी स्थापना का प्रथम उद्देश्य तो परास्त शोषणकर्त्ताओं के प्रतिरोध का दमन करना और *श्रमजीवी क्रान्ति की सफलताओ को सुदृढ बनाना है तथा दूसरा उद्देश्य श्रमजीवी क्रान्ति को पूर्ण बनाना है।*"

किन्हीं परिस्थितियो मे यह सम्भव है कि श्रमिक वर्ग तानाशाही के बिना ही पूंजीपति वर्ग को पराजित कर दे, किन्तु यह निश्चित है कि तानाशाही के अभाव मे अपनी विजय को बनाए रखना श्रमिक वर्ग के लिए सम्भव न होगा। क्रान्ति का पूरा प्रतिफल तभी प्राप्त हो सकेगा जबकि विजय क्षणिक सिद्ध न हो। क्रान्ति के तुरन्त बाद शान्ति की प्रस्थापना नही होती। पूंजीपतियो, जमींदारो और भू-स्वामियो की अवशिष्ट शक्तियाँ, जो पर्याप्त बलशाली होती हैं, अपना प्रतिरोध जारी रखती हैं। वे सदैव ऐसे अवसर की ताक मे रहती हैं जिससे उनके पक्ष मे पासा पलट जाए। अत क्रान्ति क परिणामों को सुदृढ बनाने एव प्रतिक्रियावादी शक्तियो को कुचलने के लिए सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व होना आवश्यक है। कैरेंस्की सरकार को समाप्त करने के बाद यदि लेनिन् तानाशाही की स्थापना न करता तो यह सम्भव था कि *विदेशी पूंजीपतियो द्वारा प्रच्छन्न सहायता प्राप्त क्रान्ति के शत्रु लेनिन शासन को* उखाड कर पुन पुराने पूंजीवादी शासन की स्थापना कर देते। श्रमजीवी तानाशाही न केवल श्रमजीवी क्रान्ति के साधन के रूप मे कार्य करती है बल्कि उसका (श्रमजीवी

1 *Boyper op cit*, pp 229-30

तानाशाही का) कार्य यह भी है,कि श्रमिक वर्ग अपने बलवान् शत्रु पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध एक अत्यन्त भीषण एवं सकल्पबद्ध युद्ध के लिए प्रेरित हो। लेनिन के शब्दो मे श्रमजीवी तानाशाही पुराने समाज की शक्तियों और परम्पराओ के विरुद्ध एक अविरल सघर्ष है। यह एक ऐसा सघर्ष है जो रक्तपूर्ण भी है और रक्तहीन भी, हिंसापूर्ण भी है और अहिंसक भी, आर्थिक भी है और सैनिक भी तथा शिक्षात्मक भी है और प्रशासकीय भी।

श्रमजीवी तानाशाही का कोई अल्पकालीन युग नही होगा। यह क्रान्तिकारी अधिनियमो और अध्यादेशो का अल्पकालीन जीवन नही होगा। यह तो एक सम्पूर्ण ऐतिहासिक युग होगा जिसमे पूँजीवाद के समूल विनाश और साम्यवाद की स्थापना की प्रक्रियाओ की पूर्ति होगी। यह भी सम्भव है कि श्रमजीवी तानाशाही का यह ऐतिहासिक युग सघर्ष का युग बना रहे। इस युद्ध मे गृह-युद्ध और बाह्य सघर्ष होगे तथा सगठनात्मक एवं आर्थिक पुनर्निर्माण का कार्य होगा। यह युग ऐसा भी नही होगा जिसमे निरन्तर प्रगति होती रहे। इसमें यदि आगे बढा जाएगा तो ऐसे भी अवसर आएँगे जब पीछे हटना पडे। उत्कर्ष-अपकर्ष के युग मे विजय और पराजय दोनो ही न्यूनाधिक अपना खेल खेलती रहेगी। श्रमजीवी तानाशाही के युग की प्रकृति अधिकांश मे इसी ढग की होगी। आज रूस सन् 1917 की क्रान्ति के उपरान्त 65 वर्ष पूरे कर चुका है। इस अवधि मे अनेक परिवर्तन हुए हैं और भविष्य मे भी होगे। क्रान्ति के सुपरिणामो का उपभोग करने के लिए मजदूर वर्ग जिस नवीन समाज की स्थापना करना चाहता है, उसके लिए एक लम्बे समय का होना आवश्यक है।

संक्रमणकालीन राज्य के रूप मे—श्रमजीवी तानाशाही का दूसरा पक्ष वह है जिसमे मजदूर वर्ग पूँजीवादी वर्ग पर शासन करता है। श्रमजीवी तानाशाही श्रमजीवी क्रान्ति के परिणामो की सुदृढता का साधन ही नही होगी, वरन् यह एक प्रकार की सक्रमणकालीन राज्य-व्यवस्था होगी जिसमे श्रमजीवी वर्ग पूँजीपति वर्ग के नियन्त्रण मे न होकर उसके नियन्ता के रूप मे होगा और अपनी विशाल शक्ति से अन्त मे उसका समूल नाश करके ही दम लेगा। श्रमजीवी तानाशाही एक ऐसे सगठन के रूप में होती है जिसमे एक वर्ग का दूसरे वर्ग द्वारा नियन्त्रण और शोषण किया जाता है। इस प्रकार यह पूँजीवादी व्यवस्था के ही समान है। दोनो मे अन्तर यह है कि जहाँ पुरानी अर्थात् पूँजीवादी व्यवस्था मे बहुसख्यक वर्ग का (पूँजीपतियो के अतिरिक्त अन्य लोग) अल्पसख्यक वर्ग (पूँजीपति) के द्वारा शोषण होता था वहाँ इस नवीन व्यवस्था मे अर्थात् श्रमजीवी तानाशाही के अन्तर्गत अल्पसख्यक वर्ग का (पूँजीपति) बहुसख्यक वर्ग (श्रमिक) द्वारा शोषण होता है। इस नीति मे राज्य सदैव पददलित वर्ग को ऊँचा उठाता है और विशेष अधिकारयुक्त वर्ग को नीचे गिराता है। अन पूँजीवादी नीति के विपरीत साम्यवादी नीति दोनो वर्गों के भेदभाव को हटाने के स्थान पर क्रमश वह करती है और इस प्रकार उन दोनो को सम्मिलित कर एक समाज का रूप दे देती है। वास्तव म साम्यवादी

कार्यक्रम अन्त में उन सब समुदायों का अन्त कर देना चाहता है जो एक पृथक् वर्ग के रूप में कायम रहना चाहते हैं। जब वर्गों का अन्त हो जाएगा, तब दमनकारी सामाजिक शासन भी समाप्त हो जाएगा। स्पष्ट है कि जहाँ तक राज्य-सिद्धान्त का सम्बन्ध है, राज्य का चाहे कैसा भी रूप हो, वह संघर्ष को प्रकट करता है। उसकी समाप्ति वर्ग-विहीन समाज में ही हो सकती है। ऐंजिल्स ने कहा था कि समाजवाद के अन्तर्गत राज्य का लोप हो जाएगा। लेनिन ने ऐंजिल्स के सूत्र का विकास किया और बताया कि इसे गलती से ही विकास अथवा धीमी नीति के पक्ष में प्रस्तुत किया गया था। इस सूत्र का वास्तविक अर्थ यह है कि श्रमिक वर्ग क्रान्ति द्वारा पूँजीवादी राज्य को उखाड़ फेंकेगा। इसके बाद वह संक्रमणकालीन राज्य की स्थापना करेगा जो सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवादी राज्य होगा। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों श्रमिक वर्ग सच्चे साम्यवाद की परिस्थितियाँ उत्पन्न करता जाएगा, त्यों त्यों वह राज्य अथवा अर्द्ध राज्य शनैः-शनैः लुप्त होता जाएगा।[1]

संक्रमणकालीन राज्य के रूप में श्रमजीवी तानाशाही अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने हेतु प्रतिरोधी शक्तियों को बलपूर्वक कुचल देने के लिए विवश हो जाती है। पराजित पूँजीपति की मनोदशा वापस सर्व-जैसी हो जाती है। वह विदेशी सहायता से अपनी खोई हुई शक्ति पुनः प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है अतः श्रमिक वर्ग शासन-सत्ता प्राप्ति और विशुद्ध साम्यवाद की स्थापना के बीच की संक्रमणकालीन अवस्था में पूँजीपतियों की अवशिष्ट किन्तु पर्याप्त शक्ति का दमन और नवीन समाज की रचना करने में लग जाता है। लेनिन एवं उसके अन्य साथियों की यह मान्यता थी कि संक्रमणकालीन अवस्था में यह संघर्ष बहुत लम्बा और कटु होगा। चूँकि श्रमिक-वर्ग अपने शत्रुओं के दमन के लिए और समस्त प्रतिरोधों के उन्मूलन के लिए शक्ति का निरंकुश प्रयोग करेगा, इसलिए इस नवीन राज्य को तानाशाही अथवा अधिनायकवाद कहा गया है। लेनिन के कथनानुसार "तानाशाही एक ऐसी सत्ता है जो प्रत्यक्ष रूप से शक्ति पर आधारित है और कानून की सीमा से परे है।" श्रमजीवी तानाशाही एक ऐसी सत्ता है जिसे हिंसा द्वारा प्राप्त किया जाता है तथा पूँजीवादी वर्ग के विनाश हेतु कायम रखा जाता है।

शक्ति पर आधारित एवं कानूनों के अंकुश से परे श्रमजीवी तानाशाही का स्वरूप लोकतन्त्र नहीं हो सकता। इसके अन्तर्गत पूँजीवादी एवं लघु पूँजीवादी वर्ग स्वतन्त्रता से वंचित रहते हैं। प्रशासनिक कार्यों में भी इनका कोई भाग नहीं होता। स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के लिए तो उस दिन की प्रतीक्षा करनी होगी जब तानाशाही समाप्त हो जाने पर विशुद्ध साम्यवाद की स्थापना हो जाएगी। विशुद्ध साम्यवाद की स्थापना कब तक अथवा कितनी अवधि में हो सकेगी, यह कुछ नहीं कहा जा सकता। इसकी स्थापना तभी सम्भव होगी जब वर्ग-संघर्ष की सभी परिस्थितियों का अन्त हो जाएगा और सच्चे साम्यवाद की परिस्थितियाँ निर्विवाद

1 सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 784.

रूप से स्थापित हो जाएँगी। ऐसा होने पर ही राज्य का लोप हो सकेगा, किन्तु जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक इस सक्रमणकालीन श्रमजीवी अधिनायकवादी काल मे राज्य वर्ग-शोषण का एक यन्त्र बना रहेगा और पूँजीपतियों तथा अन्य प्रतिरोधी शक्तियों के समूल विनाश के लिए अपना दमन चक्र चलाता रहेगा। ट्रॉट्स्की ने कहा था कि लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता का अस्तित्व तो पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत भी नहीं होता। इनकी बात करना पूँजीवादियो का कोरा भुलावा है।

सक्रमणकालीन राज्य के रूप मे श्रमवर्गीय तानाशाही की एक अन्य विशेषता यह है कि इसका उद्देश्य शासकों का परिवर्तन ही नहीं, अपितु प्राचीन व्यवस्था के स्थान पर नवीन व्यवस्था की स्थापना करना है। श्रमजीवी तानाशाही का उदय तभी सम्भव है जब पुराने पूँजीवादी राज्य के सम्पूर्ण तन्त्र को ध्वस्त कर दिया जाए, अर्थात् पुरानी पूँजीवादी सेना नौकरशाही, पुलिस आदि को एकदम निष्प्राण कर दिया जाए। साम्यवादियो का कहना है कि श्रमिक पुराने भवन की एक भी ईंट नहीं लगी रहने देना चाहते। लेनिन और उनके साथी सदैव पुराने पूँजीवादी यन्त्र को ध्वस्त करने की बात करते थे।

जैसा कि कहा जा चुका है कि मजदूर अधिनायकवाद लोकतन्त्रात्मक नहीं हो सकता। यह एक नवीन प्रकार का वर्ग-सघर्ष है। इसमें ससदीय प्रणाली को कोई स्थान नहीं है। लेनिन की दृष्टि में ससदीय व्यवस्था पूँजीवादी शासन का एक यन्त्र है जिसका श्रमिक वर्ग के लिए कोई मूल्य नहीं है। चूँकि मार्क्स के अनुसार श्रमिक वर्ग के अधिनायकत्व का उद्देश्य राजनीतिक लोकतन्त्र की प्राप्ति है अत लेनिन ने भी यह कहा कि श्रमिक लोग सोवियत नामक सगठन के नवीन रूप द्वारा लोकतन्त्र का उपभोग करेंगे। साम्यवादियों का दावा है कि उनका राज्य एक उच्चतर लोकतन्त्रात्मक श्रमजीवी राज्य है। स्टालिन ने भी कहा था कि सोवियतें (Soviets) मजदूर-वर्ग की सर्वाधिक व्यापक जन-सगठन हैं और राज्य की सम्पूर्ण शक्ति का स्थायी आधार हैं।

श्रमजीवी तानाशाही का व्यावहारिक रूप—निष्पक्ष रूप से विचार करने पर विदित होगा कि श्रमजीवी तानाशाही जैसी सिद्धान्त में है वैसी व्यवहार में नहीं। लेनिन दावा करता था कि मजदूर लोग एक नए रूप में जनतन्त्र का उपभोग करेंगे। साम्यवादी अपने राज्य को श्रमजीवी लोकतन्त्र का नाम देते हैं किन्तु यह सब केवल सैद्धान्तिक है। व्यवहारत तानाशाही मजदूरी वर्ग की नहीं, बल्कि मजदूर दल पर है। सिद्धान्तत मजदूर वर्ग स्वतन्त्र है और उसमें सम्पूर्ण शक्ति निहित है किन्तु व्यवहार में मजदूर वर्ग दल के अधीन और सम्पूर्ण शक्ति दल मे ही निहित है। मजदूर वर्ग के अधिनायकत्व का व्यावहारिक अर्थ है विचार स्वातन्त्र्य का अपहरण मतभेद रखने वालो का दमन और सामाजिक जीवन पर पूर्ण नियन्त्रण। मजदूर वर्ग द्वारा, सचालित समाजवादी सरकार के स्थान पर मजदूर वर्ग का अधिनायकत्व मजदूरों में इनेगिने समाजवादियों का शासन बन गया है। श्रमजीवी तानाशाही मुट्ठी भर समाजवादियों का निरकुश शासन मात्र है। सेबाइन ने श्रमजीवी तानाशाही

अथवा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद के प्रयोजनों और इसके व्यावहारिक स्वरूप को निम्नलिखित शब्दों में चित्रित किया है—

"सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद के दो प्रयोजन होते हैं। प्रथम, जब पूँजीपति वर्ग को सत्ताच्युत् कर दिया जाता है तब उसकी प्रतिरोध शक्ति दस गुना बढ़ जाती है अतः इस वर्ग को नियन्त्रण में रखकर इसकी क्रान्ति-विरोधी चेष्टाओं को रोकना। दूसरे, *नई आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का सगठन करना। दूसरा* काम विशेष रूप से दल का है। दल उन समस्त शोषित वर्गों का, जिनमें अभी तक वर्ग भावना का विकास नहीं हुआ है शिक्षक, पथ प्रदर्शक और नेता होता है। यद्यपि लेनिन का यह कथन नहीं था, लेकिन स्टालिन के अनुसार लेनिन का मन्तव्य यही था कि यह सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद है। दल समस्त मजदूर-सगठनों के लिए एक आधार बन जाता है। लेनिन ने इस बात को स्पष्टता से सिद्ध किया कि मजदूर वर्ग का अधिनायकवाद एक राज्य है, वह एक वर्ग का उपकरण है और दमन का साधन है। वह शोषकों का ही दमन नहीं करता, प्रत्युत् मजदूरों और सम्पूर्ण जनता *पर भी कठोर अनुशासन लागू करता है। सक्षिप्त में लेनिन का मन्तव्य यह था कि* कोई भी राज्य चाहे पूँजीपतियों का राज्य हो, चाहे मजदूरों का, वर्ग-प्रभुत्व का साधन होता है। जहाँ-कहीं प्रभुत्व होता है वहाँ न स्वतन्त्रता होती है और न लोकतन्त्र। इसलिए राजनीतिक स्वतन्त्रता को उस समय तक के लिए स्थगित किया जा सकता है जब तक साम्यवाद की स्थापना न हो जाए और वर्ग संघर्ष लुप्त न हो जाए। वर्तमान काल में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद एक राज्य होने के कारण न स्वतन्त्र होता है और न लोकतन्त्रात्मक ही। इस सम्बन्ध में ट्रॉट्स्की का मत था कि 'लोकतन्त्र पूँजीवादी समाज व्यवस्था का आडम्बर मात्र है।" शिखर पर *गिने चुने मुट्ठी भर व्यक्तियों का निरकुश शासन साम्यवादी दल के अत्यन्त केन्द्रित* और अनुशासित स्वरूप एवं लोकतन्त्रीय केन्द्रवाद (Democratic Centralism) के सिद्धान्त का स्वाभाविक परिणाम है। लेनिन का विचार था कि दल का सगठन अधिक केन्द्रीकृत अथवा सोपानबद्ध होना चाहिए जिसमें सत्ता का प्रसार ऊपर से नीचे की ओर हो। लेनिन ने ऐसे विकेन्द्रीकरण अथवा संघवाद का सदैव ही विरोध किया था जो स्थानीय समुदायों को स्वतन्त्रता प्रदान करता हो अथवा दल के अवयवी तत्त्वों को स्वायत्तता देता था। इस विषय में होने वाले वाद विवाद में अपनी स्थिति के विवेचन के लिए लेनिन ने 'लोकतन्त्रात्मक केन्द्रवाद' शब्द का प्रयोग किया था और *इस 'लोकतन्त्रात्मक केन्द्रवाद' के लोकतन्त्र को वही समझ सकता था।* सन् 1904 में 'एक कदम आगे, दो कदम पीछे' (One Step Forward, Two Steps Back) में उसने इस प्रश्न को इस भाँति प्रस्तुत किया था—

"नौकरशाही बनाम लोकतन्त्र वही चीज है जो केन्द्रवाद बनाम स्वायत्तता (Automatism) है। वह सामाजिक लोकतन्त्र (Social Democracy) के अवसरवादियों के सगठनात्मक सिद्धान्त के विरोध में क्रान्तिकारी राजनीतिक लोकतन्त्र का सगठनात्मक सिद्धान्त है। सामाजिक लोकतन्त्र के अवसरवादी नीचे से ऊपर की

ओर जाना चाहते हैं और इसलिए जहाँ-कहीं सम्भव होता है तथा जिस सीमा तक सम्भव होता है, वे स्वायत्तता तथा लोकतन्त्र का समर्थन करते हैं। क्रान्तिकारी राजनीतिक लोकतन्त्र के समर्थक ऊपर से चलते हैं और अंगों की तुलना में केन्द्र के अधिकारों और शक्तियों को संगठित करते हैं।'[1]

ट्रॉट्स्की ने बताया था कि लोकतन्त्रात्मक केन्द्रवाद का परिणाम यह होना है कि दल का संगठन दल के स्थान में, दल की केन्द्रीय समिति दल के संगठन के स्थान में और अन्त में तानाशाह या अधिनायक केन्द्रीय समिति के स्थान में प्रस्थापित हो जाता है। इस तरह श्रमिक वर्ग का अधिनायकत्व नेताओं के अधिनायकत्व का रूप धारण कर लेता है। यह एक ऐसा विकास है जिसकी क्रूरता को कोमल शब्दों के आवरण में छिपाने का प्रयास किया जाता है और जो मार्क्स के उद्देश्य से बहुत दूर है। रोजा लक्जेम्बर्ग (Luxemburg) जैसी उग्र समाजवादी महिला लेखिका ने भी सन् 1918 में लिखित अपने एक निबन्ध में अधिनायकतन्त्र की साम्यवादी संकुचित कल्पना की आलोचना करते हुए यह मत प्रकट किया था कि अधिनायकतन्त्र सर्वहारा वर्ग का होना चाहिए, उसके किसी एक समुदाय या दल का नहीं और उसका संचालन प्रकट रूप में होना चाहिए, गुप्त ढंग से नहीं, तथा जनता को उसमें भाग लेने, अपने विचार व्यक्त करने एवं आलोचना करने के लिए निमन्त्रित किया जाना चाहिए एवं इसके लिए उसे पूर्ण अवसर प्राप्त होना चाहिए। लेनिन ने भी पहले अनेक बार अपने भाषणों में भावी साम्यवादी समाज की ऐसी ही कल्पना प्रस्तुत की थी, किन्तु मई, 1917 में उसने घोषणा की कि यदि सोवियतें शासन को हस्तगत करने में सफल हुईं तो वे साधारण अर्थ में राज्य की स्थापना नहीं करेंगी वरन् एक अधिनायकतन्त्र की स्थापना करेंगी जो न तो कानून पर आधारित होगा और न बहुमत की इच्छा पर, बल्कि खुल्लम-खुल्ला बल प्रयोग पर स्थापित होगा। वह एक ऐसा राज्य होगा जिसका रूप के विशाल बहुमत मजदूरों और कृषकों के हित में होगा, किन्तु जिस पर उनकी इच्छा का नियन्त्रण केवल अन्तिम रूप में ही होगा, तात्कालिक रूप में नहीं। उसने बाद में यह भी स्पष्ट किया कि व्यावहारिक अवस्थाओं के कारण साम्यवादी शासकों को बाध्य होकर एक दल के अल्पमत के शासन को अपनाना पड़ा जो सर्वहारा वर्ग की ओर से शासन करता है, उनकी प्रेरणा अथवा उसके ऐच्छिक सहयोग पर नहीं। वह स्वयं अपने (उप-अल्पमत के) ही उत्साहपूर्ण निर्देशन पर निर्भर रहता है।

मार्क्स, ऐंजिल्स और लेनिन तीनों ही श्रमिक वर्ग के अधिनायकत्व को पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच की सक्रमणकालीन अवस्था मानते थे। उनका कहना था कि पूर्ण समाजवाद में वर्ग एवं राज्य का पूरी तरह अभाव होगा और प्रत्येक को उसकी योग्यतानुसार तथा आवश्यकतानुसार वस्तुएँ प्राप्त होंगी। लेकिन पूर्ण समाजवाद की स्थापना से पूर्व की श्रमजीवी तानाशाही के संक्रमणकाल में इन लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। साम्यवादी स्वीकार करते हैं कि इन में

1 कोकर आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 185-86

अभी तक केवल समाजवाद ही स्थापित हो पाया है, पूर्ण समाजवाद नहीं। रूस में आर्थिक समानता और स्वतन्त्रता आज भी स्वप्नलोकीय अवस्थाएँ हैं। वहाँ 'प्रत्येक से उसकी योग्यतानुसार, प्रत्येक को उसके कार्यानुसार' का सिद्धान्त प्रचलित है। अतः विषमताओं का होना सर्वथा स्वाभाविक है। रूस की परिस्थिति को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि श्रमिक वर्ग के अधिनायकत्व की यह संक्रमणकालीन अवस्था कभी समाप्त भी होगी या नहीं। एक राज्यहीन और वर्गहीन समाज का सुन्दर स्वप्न पूरा होने के बारे में कोई भी आशान्वित दिखाई नहीं देता। प्लेटो के आदर्श राज्य की भाँति साम्यवादी समाज भी स्वप्नलोकीय ही प्रतीत होता है। लेकिन प्लेटो का आदर्श राज्य फिर भी अच्छा है क्योंकि उसके दार्शनिक शासक अपनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं करेंगे जबकि इस पर रोक नहीं है अतः बहुत सम्भव है कि शासक पूर्णरूप से भ्रष्ट हो जाएँ। लेनिन की श्रमजीवी तानाशाही शक्ति को मर्यादित करने वाला वह तत्त्व भी नहीं है जो लोकतन्त्र मे होता है अर्थात् जनता की अपने शासकों को चुनने की शक्ति।

मार्क्स के अनुयायी के रूप में लेनिन का मूल्यांकन
(Lenin's Estimate as a Follower of Marx)

लेनिन प्रारम्भ से अन्त तक स्वयं को मार्क्स का अनुयायी कहता था। उसने बार-बार कहा था कि मार्क्स के विचार-दर्शन की एक भी मूल धारणा का, उसके एक भी मूल अंग का परित्याग नहीं किया जा सकता। तब प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आखिर मार्क्स के इस अनुयायी ने मार्क्सवाद को क्या दिया ? इसके उत्तर में सेबाइन का कथन है—

"वास्तविकता यह है कि उसने मार्क्सवाद को विकृत कर दिया। मार्क्स का दावा था कि उसने हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को पैरों के बल खड़ा किया था। लेनिन के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसने मार्क्सवाद को सर के बल खड़ा कर दिया। प्रथम, मार्क्स का विचार था कि आर्थिक-व्यवस्था मनुष्य की इच्छा से स्वतन्त्र उत्पादन शक्तियों के आन्तरिक विकास द्वारा विकसित होगी। लेनिन ने कहा इसे मजदूरों की इच्छा और क्रमबद्ध आन्दोलन द्वारा यूरोप के सबसे कम औद्योगिक देश में स्थापित किया जा सकता है। दूसरे, मार्क्स का विश्वास था कि मजदूर वर्ग की विचारधारा औद्योगिक समाज में उसकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति से निर्धारित होती है और मजदूर-वर्ग अपने प्रयत्नों से ही मुक्ति प्राप्त करता है। लेनिन का मत था कि मजदूर-वर्ग अपनी विचारधारा बाहर के मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों की शिक्षा से प्राप्त करता है। तीसरे, मार्क्स के मत से समाजवादी दल में संसार भर के मजदूरों के शामिल होने का प्रावधान था। लेनिन ने साम्यवादी दल को पेशेवर क्रान्तिकारियों का गुप्त संगठन बना दिया जिसमें नेतृत्व कुछ चुने स्वयंभू नेताओं के हाथ में आ गया। चौथे, मार्क्स का विचार था कि पहले पूँजीवादी क्रान्ति होती है जो राजनीतिक लोकतन्त्र की संस्थाओं का निर्माण करती है और इसके बाद सर्वहारा क्रान्ति होती है, लेकिन रूस में सर्वहारा क्रान्ति पूँजीवादी क्रान्ति

के साथ ही हो गई और छः महीने में ही उसने पूँजीवादी क्रान्ति को आत्मसात् कर लिया। अन्त मे, मार्क्स का विचार था कि सफल क्रान्ति लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की नागरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रताओं को कायम रखेगी और उनका विकास करेगी। लेकिन लेनिन् के नेतृत्व मे रूस मे एक दल का अधिनायकवाद स्थापित हुआ और उसने किसी दूसरे दल का अस्तित्व तक सहन करना अस्वीकार कर दिया। स्पष्ट है और इसके लिए किसी द्वन्द्वात्मक व्याख्या की आवश्यकता नही है कि लेनिन मार्क्सवाद की शब्दावली को स्वीकार करता था, लेकिन इनको व्यावहारिक रूप देने मे बाधा उत्पन्न हुई तो लेनिन ने उन्हें त्याग दिया। लेनिन के सूत्र मार्क्स के सूत्र रहे, लेकिन लेनिनवाद का अर्थ मार्क्सवाद के अर्थ से बहुत दूर हट गया।"[1]

यद्यपि लेनिन मार्क्सवाद की अपनी पुनर्व्याख्या मे मार्क्सवाद के अर्थ से दूर चला गया, तथापि यह भी सत्य है कि बिना मार्क्सवादी सिद्धान्तो मे परिवर्तन किए लेनिन इनको रूसी क्रान्ति का दर्शन नहीं बना सकता था और इसीलिए उसने मार्क्सवाद मे क्रान्ति के अनुकूल समयानुसार, सशोधन किए। उसने मार्क्सवाद को एक जीवित एव विकासशील दर्शन के रूप मे ग्रहण किया और इसीलिए वह इसे समय के अनुसार ढाल सका। प्रो. वेपर (Wayper) के अनुसार, "लेनिन मार्क्सवाद का चाहे न्यायोचित व्याख्याकार न हो, तथापि रूप को उसने जो देन दी है, उसके लिए उसका अतुल महत्त्व है।" मार्क्सवादी सशोधन का मूल्यांकन करते हुए यह कहा जा सकता है कि—

1 लेनिन ने कभी-कभी मार्क्स के उद्देश्यो से भिन्न रास्ता अपनाया, फिर भी वह मार्क्स के द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद सम्बन्धी सिद्धान्त पर दृढ़ रहा।

2 मार्क्स की भाँति ही उसे वर्ग-युद्ध और सर्वहारा वर्ग की अन्तिम विजय पर विश्वास था तथापि उसने मार्क्सवाद की स्वतन्त्र व्याख्या भी की। लेनिन ने पार्टी को और पार्टी मे मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियो और उनके कार्यों को बहुत अधिक महत्त्व दिया।

3 लेनिन ने सम्भवतः रूस की परिस्थितियों मे मेल बैठाने के लिए 'एक देश मे समाजवाद' अर्थात् राष्ट्रीय समाजवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

4. लेनिन की प्रधान देन सिद्धान्त की बारीक व्याख्या मे उतनी नहीं है जितनी उस सक्रिय एव गतिशील नेतृत्व में है जो उसने अपने देश को उसके सकट-काल मे प्रदान किया। एक लेखक के अनुसार, "लेनिनवाद एक वैज्ञानिक विश्वास की अपेक्षा एक भावात्मक आह्वान है।"

लेनिन कोई मौलिक विचारक नहीं था। वह एक महान् नेता था जिसने मार्क्स ऐंजिल्स की कृतियो को अपनी व्याख्यानुसार निर्भ्रान्त मानकर एक सगठित

1 सेबाइन राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 790

दल की सहायता से रूसी क्रान्ति को सफलता प्रदान की। जिस प्रकार धार्मिक व्यक्ति वेद या बाइबिल या कुरान के प्रति आस्थावान रहता है उसी प्रकार का जोशीला अन्धविश्वास लेनिन ने मार्क्सवाद के प्रति प्रचारित किया।

ट्रॉट्स्की
(Trotsky, 1879–1940)

लिआन ट्रॉट्स्की एक यहूदी सफल कृषक का पुत्र था। वह रूस के मार्क्सवादी समाजवादियों के सक्रिय सम्पर्क में रहा। उसने सन् 1905 की क्रान्ति में प्रमुख भाग लिया और अन्य क्रान्तिकारियों की भाँति ही उसके जीवन का अधिकांश भाग निर्वासन में ही बीता। सन् 1917 से पूर्व उसका बोल्शेविकों से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। मार्च, 1917 की क्रान्ति के समय वह अमेरिका के न्यूयॉर्क नगर में था जहाँ उसने एक-रूसी क्रान्तिवादी पत्र का सम्पादन प्रारम्भ किया। वह शीघ्र ही स्वदेश वापस आया और जुलाई में बोल्शेविक दल में सम्मिलित हो गया। सितम्बर में वह पैट्रोग्राड सोवियत का अध्यक्ष बन गया और उसी समय से क्रान्ति के सगठन और सोवियत-शासन के सचालन में लेनिन की मृत्यु के बाद उत्पन्न होने वाली फूट तक उसने लेनिन के अलावा और सबसे अधिक कार्य किया। सन् 1917–18 में वह सोवियत सरकार का परराष्ट्र मन्त्री और सन् 1918 से 1925 तक नौसेना और सेना-विभाग का मन्त्री रहा। जर्मनी के साथ ब्रेस्ट लिटोवस्क की सन्धि-वार्ता भी उसी ने की थी। उसने नवीन सोवियत सेना का सगठन किया, रेल-विभाग का पुनर्गठन किया और सन् 1918–21 तक के उग्र साम्यवाद (Militant Communism) का निर्देशन किया। वह सामान्यतया बोल्शेविकों में सबसे प्रभावशाली वक्ता माना जाता था तथा उसने साम्यवादी सिद्धान्त की व्याख्या के सम्बन्ध में कई विद्वतापूर्ण ग्रन्थ लिखे।[1]

लेनिन और ट्रॉट्स्की में आरम्भ से ही सैद्धान्तिक मतभेद रहे थे, किन्तु रूस में क्रान्ति के सचालन और क्रान्ति को स्थायित्व प्रदान करने में दोनों ने एक दूसरे को सहयोग दिया। क्रान्ति के समर्थन में जनता को आकर्षित करने में दोनों का नारा था—'शान्ति, भूमि और रोटी (Peace, Land and Bread)। लेनिन की मृत्यु के बाद स्टालिन और ट्रॉट्स्की में व्यापक मतभेद उत्पन्न हो गया। यद्यपि ट्रॉट्स्की को लेनिन का उत्तराधिकारी समझा जाता था, तथापि सत्ता-सघर्ष में स्टालिन का प्रमुख हाथ रहा क्योंकि साम्यवादी दल का महामन्त्री होने के नाते उसका दल पर प्रभाव और नियन्त्रण था। सन् 1924 में लेनिन की मृत्यु के उपरान्त दल के जिस वर्ग के हाथ में नियन्त्रण आया उसने ट्रॉट्स्की को सेना तथा नौसेना विभाग के मत्रिपद तथा दल के अन्तरग मण्डल से निकाल दिया, क्योंकि उसने किसानों और पूँजीपतियों को दी गई सुविधाओं एव रियायतों की तीव्र आलोचना की थी और बार-बार यह आग्रह किया था कि विदेशों में बडे पैमाने पर क्रान्तिकारी प्रचार किया जाए। जॉर्ज बर्नादस्की

1 Coker : op cit , p 165

के अनुसार उस समय कोमेनेव, जिनोविएव और स्टॉलिन—यह 'त्रि-मूर्ति' बहुत प्रभावशाली थी। ये तीनो ही सुदीर्घ अनुभव प्राप्त बोल्शेविक थे जिन्होने ट्रॉट्स्की को सत्ता मे सहभागिता से वचित कर दिया।[1] इसके फलस्वरूप ट्रॉट्स्की ने शीघ्र ही एक विरोधी आन्दोलन आरम्भ कर दिया। उसकी नीति व्यक्तिगत उद्देश्यो और राजनीतिक सिद्धान्तो का जटिल सम्मिश्रण थी। शीघ्र ही गुटबन्दी का जोर बढ गया और ट्रॉट्स्की एक ऐसे समूह का नेता बन गया जिसके सदस्यो को 'ट्रॉट्स्की पथी' कहा जाने लगा। इन्होने दल को बुर्जुआ प्रवृत्तियो से सलग्न बतलाया और स्वय को लेनिन का सच्चा अनुयायी तथा विशुद्ध साम्यवाद का सरक्षक घोषित किया। कोमेनेव और जिनोविएव भी स्टालिन के साथ न रह सके। स्टालिन ने, जो लेनिन के बाद व्यवहार मे सत्ताधीश बन चुका था, यह चेतावनी दी कि 'दल को एकता की आवश्यकता है।' सन् 1926 के अक्तूबर और नवम्बर मे दल के 15वें सम्मेलन म स्टालिन ने विरोधियो की तीव्र आलोचना की और आरोप लगाया कि 'यद्यपि विरोधी नेता अपने इरादो को विशुद्ध साम्यवादी सिद्धान्तो की ओट म छिपा रहे थे, तथापि यथार्थ मे उनकी नीति अवसरवादी है और मध्यम वर्गीय शासन की पुन प्रतिष्ठा की समर्थक है।" सन् 1927 की ग्रीष्म ऋतु मे दलीय बहुमत और विरोधियो की स्थिति नाजुक हो गई और स्टालिन ने विरोधी नेताओ को दण्डित करने का निर्णय किया। "उसने यह घोषणा करते हुए कि वे दल मे फूट डाल रहे थे और सोवियत पद्धति के भविष्य को खतरा पहुँचा रहे थे, यह माँग की कि दो सर्वाधिक सक्रिय नेताओ—ट्रॉट्स्की और जिनोविएव को औपचारिक रूप से दल की सदस्यता से वचित कर दिया जाए।" यह निष्कासन नवम्बर, 1927 मे दल की केन्द्रीय समिति (जिस पर स्टालिन छाया हुआ था) के निर्णय द्वारा कार्यान्वित किया गया। इसके बाद ही सन् 1928 मे ट्रॉट्स्की को रूस से निष्कासित कर दिया गया। जबकि उसन धनी किसानो को सामूहिक कृषि मे सम्मिलित करन के सम्बन्ध म कठोर नीति ग्रहण करन का आग्रह कर दलीय अनुशासन को भग किया। कठोर अनुशासन क कारण अनक विद्रोही नेताओ को भी अपनी जिद छोडकर समझौता करना पडा जिनम कोमनव तथा जिनोविएव (जो कुछ समय तक ट्रॉट्स्की के अनुयायी रहे थे) और बुखारिन (जो दलीय नीति को नरम बनाना चाहता था) मुख्य थे। निष्कासन काल म भी ट्राट्स्की स्टालिन और उसके विचारो का उग्र प्रतिरोध करता रहा। सन् 1940 म सम्भवत स्टालिन के एजेण्टो ने मैक्सिको मे उसकी हत्या कर दी। ट्रॉट्स्की न साम्यवादी सिद्धान्तो की व्याख्या के सम्बन्ध मे अनक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे जिनमे मुख्य हैं—

1 Our Revolution, 1906
2 Terrorism & Communism A Reply to Karl Kautsky, 1920
3 Towards Socialism or Capitalism, 1925
4 In Defence of Marxism, 1939–40

ट्रॉट्स्की ने साम्यवाद के विभिन्न पक्षो पर अपने विचार प्रकट किए हैं, किन्तु

1 जार्ज वर्नाड्स्की : रूस का इतिहास, पृ 324

उसका 'स्थायी क्रान्ति का सिद्धान्त' (Theory of Permanent Revolution) विशेष महत्त्वपूर्ण है और यह कहने मे कोई अतिशयोक्ति नही होगी कि ट्रॉट्स्की के विचार स्थायी क्रान्ति के सिद्धान्त से सम्बद्ध हैं। सार रूप में, ट्रॉट्स्की के स्थायी क्रान्ति के सिद्धान्त का आशय उस क्रान्ति से है जिसके अन्तर्गत वर्गशासन के किसी भी स्वरूप को स्वीकार नहीं किया जाता और क्रान्ति केवल लोकतान्त्रिक व्यवस्था तक ही सीमित नहीं रहती वरन् उसका उद्देश्य समाजवादी क्रान्ति की उपलब्धि होता है। इसके अतिरिक्त मोर्चा देश के बाहर प्रतिक्रियावादियों के विरुद्ध भी गतिशील रहता है। दूसरे शब्दों में ट्रॉट्स्की का विश्वास था कि जब तक वर्गभेद का उन्मूलन नहीं हो जाता, रूस मे समाजवाद की पूर्ण स्थापना नहीं हो जाती, रूस की साम्यवादी क्रान्ति के विरोधियो को समाप्त कर उन्हें समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं लाया जाता, तब तक इन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए निरन्तर सघर्ष करना होगा। ट्रॉट्स्की के लिए क्रान्ति का अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष उसका दूसरे देशो में प्रसार था। ट्रॉट्स्की अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद का पोषक था जिसका कहना था कि साम्यवादी क्रान्ति को रूस तक ही सीमित नहीं रहना है, वरन् उसका प्रसार कर विश्व के अन्य भागो में भी समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करनी है। क्रान्ति के इस दूसरे पक्ष की पूर्ति के लिए अर्थात् विश्व क्रान्ति को साकार बनाने के लिए ट्रॉट्स्की 'तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय' (Third International) का उपयोग करना चाहता था। उसका विश्वास था कि विश्वव्यापी, निरन्तर और स्थायी क्रान्ति से ही रूसी क्रान्ति को सुरक्षा तथा स्थायित्व की प्राप्ति होगी। अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति से रूस की सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति को इसलिए सुरक्षा प्राप्त होगी क्योंकि रूस का सर्वहारा वर्ग विभाजित रहकर क्रान्ति को स्थायी नहीं बना सकता।[1]

जॉर्ज एच सेबाइन के अनुसार रूस मे मार्च, 1905 की क्रान्ति की सफलता के बाद ही रूसी मार्क्सवादियों मे सिद्धान्त तथा हथकण्डो के प्रश्नो पर वाद-विवाद प्रारम्भ हो गया। इसके फलस्वरूप दो विरोधी सिद्धान्तो का निर्माण हुआ जिन्होंने रूसी मार्क्सवादियो को सन् 1905 से 1917 तक दो शिविरों मे विभाजित रखा। मेनशेविक गुट मे इस विचार पर आग्रह था कि श्रमिक दल शक्ति प्राप्त करने की, आशा से उस समय तक नहीं कर सकता जब तक उचित समय न आ जाए। वह पहले बहुमत का निर्माण करता है। पूँजीवादी क्रान्ति द्वारा राजनीतिक स्वतन्त्रता स्थापित होने और श्रमिकों की सख्या मे वृद्धि होने पर ही वे सत्ता हस्तगत कर सकते हैं। श्रमिक-सघर्ष पूँजीपतियो की सामान्य सहायता कर सकते हैं, लेकिन जहाँ एक बार पूँजीवादी शासन की स्थापना हो जाती है तब श्रमिक दल वामपन्थी विरोधी दल के रूप में ही कार्य कर सकते हैं। मेनशेविकों का यह सिद्धान्त यद्यपि निश्चित रूप से मार्क्सवादी था, तथापि वह क्रान्तिकारी दल के उत्साह को भग कर सकता था।

1 See *Anderson, Thornton*: Masters of Russian Marxism pp 135—160 and 'Communism and Revolution' by *Black and Thornton*, pp 27—42.

मेनशेविकों के इस दृष्टिकोण के विरोध मे ट्रॉटस्की ने अपना सिद्धान्त विकसित किया जिसे 'स्थायी क्रान्ति के सिद्धान्त' की सज्ञा दी गई। भाग्य की यह विचित्र विडम्बना थी कि 20 वर्ष बाद यही सिद्धान्त उस पर लगाए गए आरोप का मुख्य आधार बना। उस पर यह आरोप लगाया गया कि ट्रॉट्स्की लेनिनवाद की कट्टरता को अस्वीकार करता है।[1]

सन् 1904 और 1906 के बीच के अपने अनेक निबन्धो मे ट्रॉट्स्की ने इस सिद्धान्त का विकास किया कि "यह सोचना कि श्रमिक वर्ग के अधिनायकत्व और देश के तकनीकी तथा उत्पादन-साधनो के बीच पारस्परिक निर्भरता होती है, आर्थिक नियतिवाद को बहुत आदिम रूप से समझता है। इस प्रकार की सकल्पना का मार्क्सवाद से कोई सम्बन्ध नही है।" ट्रॉट्स्की के विचरो को स्पष्ट करते हुए सेबाइन ने लिखा है कि—

"ट्रॉट्स्की का मत था कि रूस मे जो भी क्रान्ति होगी वह भूतकाल की समस्त क्रान्तियो से भिन्न होगी। इसके दो कारण हैं—पूँजीवाद का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विकास और रूसी बुद्धिजीवियो के बीच एक विचारधारा के रूप मे मार्क्सवाद का अस्तित्व। रूसी पूँजीपति डरपोक हैं और वे भूमि-स्वामित्व की पद्धति पर साहसपूर्वक आक्षेप नही कर सकेंगे। इसलिए, किसानो की सहायता से श्रमिक वर्ग को नेतृत्व ग्रहण करना चाहिए। यदि वह ऐसा करता है तो वह निश्चित रूप से राजनीतिक उदारवाद की सीमाओ से आगे बढ जाएगी। ट्राट्स्की ने इसको 'सयुक्त विकास का नियम' (The Law of Combined Development) नाम दिया था। इस प्रकार दो क्रान्तियाँ एक साथ होगी। श्रमिक वर्ग की शक्ति उसकी सख्या पर निर्भर नहीं है, प्रत्युत् राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था मे उसकी स्थिति पर निर्भर है। रूस मे क्रान्ति का परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद की दिशा पर निर्भर है। इसलिए पूँजीवादी प्रतिक्रिया से बचने का एकमात्र उपाय यह है कि रूस के बाहर बडे पूँजीवादी देशो में श्रमिक क्रान्तियाँ की जाएँ। सन् 1905 मे इस सिद्धान्त का विवादास्पद भाग दो क्रान्तियो का एक साथ होना था। उस समय इस बात को कोई अस्वीकार नही करता था कि रूस की क्रान्ति अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर निभर रहेगी। ट्रॉटस्की ने हथकण्डो के प्रश्न को भी साहस के साथ सुलझाया। उसने कहा कि सैनिक विद्रोह अथवा आम हडताल की तुरन्त आवश्यकता है। क्रान्ति की सफलता के पश्चात् राजनीतिक शक्ति श्रमिक-वर्ग के हाथ मे आ जाएगी क्योंकि वही ऐसा वर्ग है जो सघर्ष मे सबसे बढकर भाग लेता है। दूसरे शब्दो मे शासन श्रमिक वर्ग के अधिनायकवाद का रूप धारण कर लेता है। इसमे किसानो पर भी सर्वोच्च सत्ता स्थापित हो जाती है। व्यवहार मे इसका अर्थ क्रान्ति मे नेतृत्व करने वाले दल का अधिनायकवाद होता है।"

1 सेबाइन राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 777

सन् 1917 तक लेनिन ने इन विरोधी सिद्धान्तो मे से किसी को स्वीकार नही किया बल्कि बीच का मार्ग, अपनाया, किन्तु सन् 1917 की क्रान्ति मे दोनो व्यक्तियो ने सहयोग किया। अप्रेल, 1917 मे रूस से लौटने पर लेनिन ने अपने इस पुराने सिद्धान्त को त्याग दिया कि पूँजीवादी क्रान्ति और श्रमिक क्रान्ति के बीच तैयारी का कुछ समय बीतना चाहिए। उसने समझ लिया कि जो समाजवादी क्रान्ति के परिपक्व होने की प्रतीक्षा करता है, वह अवसर को हाथ से निकाल देता है। लेनिन इस समय 'संयुक्त विकास के नियम' से काफी साम्य रखता था जिसे सन् 1905 मे ट्रॉट्स्की ने अपने स्थायी क्रान्ति का सिद्धान्त का आधार बनाया था। सेबाइन का कथन है कि "जब लेनिन ने सन् 1917 मे इस सिद्धान्त को स्वीकार किया, उस समय उसका भी यही विचार था कि शीघ्र ही ससारव्यापी श्रमिक क्रान्ति होगी और रूस की क्रान्तिकारी सरकार केवल कुछ समय के लिए ही एकाकी रहेगी। यही कारण था कि इस सिद्धान्त को मार्क्सवाद का निषेध नही, प्रत्युत् उसका सशोधन माना जा सकता था। लेनिन और ट्रॉट्स्की मे से कोई भी यह नही चाहता था कि उनका दल 'पूँजीवादी क्रान्ति के ऊपर से कूद जाने के लिए' वचनबद्ध हो जाए। उन्होने केवल अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की ओर तथा इस तथ्य की ओर ही ध्यान दिया कि रूस मे मार्क्स की क्रान्तिकारी विचारधारा से अनुप्राणित एक अल्पसख्यक वर्ग है। सन् 1917 मे महत्त्वपूर्ण स्थिति यह थी कि लेनिन और ट्रॉट्स्की दोनो उस नीति के बारे मे सहमत हो गए थे जो सन् 1905 मे ट्रॉट्स्की की नीति थी।" सन् 1917 की क्रान्ति के बाद रूस मे सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद स्थापित हुआ और यह मान्यता प्रस्थापित हुई कि "अधिक सगठित, अधिक वर्ग-चेतन, अधिक सशस्त्र अल्पसख्यक वर्ग बहुमत पर अपनी इच्छा आरोपित कर देता है।" ट्रॉट्स्की ने इसी मत का प्रतिपादन सन् 1905 मे किया था। इस व्यवस्था मे श्रमिक वर्ग किसानो पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है। सविधान सभा के विघटन पर ट्रॉट्स्की की टिप्पणी थी कि इन कदम ने "औपचारिक लोकतन्त्र पर ऐसा आघात किया कि वह फिर कभी अपना सर नही उठा सका।" ट्रॉट्स्की के अनुसार, "लोकतन्त्र पूँजीवादी समाज-व्यवस्था का आडम्बर मात्र है।"

ट्रॉट्स्की का मत था कि "सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिवादी सर्वोच्चता स्वय सर्वहारा वर्ग मे एकदलीय राजनीतिक सर्वोच्चता की पूर्व-कल्पना है, जिसका एक स्पष्ट कार्यक्रम और दोषमुक्त आन्तरिक अनुशासन है। दल के सदस्य केवल वही होते हैं जो सबसे अधिक वर्ग चेतनापूर्ण एव पूर्ण निष्ठावान होते हैं और दल बहुत सावधानी से सदस्यो का चुनाव करके अपना विस्तार करता है।"[1] इस प्रकार जैसा कि कोकर की टिप्पणी है—"सर्वहारा वर्ग की सामान्य इच्छा (General Will) का प्रतिनिधित्व तथा उसका कार्यान्वयन हीगल के ढग से होना चाहिए अर्थात् निर्णय तथा सत्ता ऐसे व्यक्तियो के हाथ मे होनी चाहिए जो समस्त सर्वहारा की 'वास्तविक

1 *Coker* : op cit , p 182.

[illegible] इसे कार्यान्वित करने के लिए बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से सर्वथा यो[illegible] ऐसे व्यक्तियो के हाथो मे सत्ता होनी चाहिए जो उन अव्यवस्थाओ के कारणो को जिनसे जनता मुक्ति चाहती है, निदान करने मे और उनका समुचित उपचार करने मे सबसे अधिक निपुण हैं।"

ट्रॉट्स्की सम सैन्यीकरण का पोषक था। जब क्रान्ति के बाद यौद्धिक साम्यवाद (War Communism) कार्यक्रम की स्थिति से निकाल कर रूस को सामान्य साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत लाने की बात की जाने लगी तो ट्रॉट्स्की का सुझाव था कि यौद्धिक साम्यवाद का विकल्प भी उग्र होना चाहिए। उत्पादन, आर्थिक नियोजन, श्रमिक सगठन आदि चाहे सेना के अधिकार मे न रखे जाएँ तथापि इन्हे युद्ध स्तर पर अवश्य लाया जाए। ट्रॉट्स्की ने ट्रेड यूनियनो के सैन्यीकरण का सुझाव दिया जिसके अनुसार 'प्रत्येक श्रमिक एक श्रम-सैनिक है' (Every worker is a soldier of labour)। ट्रॉट्स्की का कहना था कि प्रत्येक श्रमिक से अनिवार्य रूप से श्रम लिया जाना चाहिए। 'मनुष्य को श्रम करना चाहिए ताकि वह जीवित रह सके" यह ट्रॉटस्की का नारा था। उसने ट्रेड यूनियनो की स्वायत्तता का विरोध किया और दल के अन्तर्गत लोकतन्त्र का कभी समर्थन नही किया।

लेनिन के बाद ट्रॉट्स्की साम्यवादी सिद्धान्तो का अग्रणी टीकाकार माना जाता था और लेनिन के उत्तराधिकारी के रूप मे उसका नाम लिया जाता था, पर स्टालिन के साथ सैद्धान्तिक और सत्ता सम्बन्धी सघर्ष मे असफल रहा। दोनो के बीच मतभेद इस बात पर था कि स्टालिन राज्य के अन्तर्गत समाजवाद स्थापित करने की बात कहता था जबकि ट्रॉटस्की इसे मार्क्सवाद-लेनिनवाद के प्रति धोखा मानता था और विश्वव्यापी क्रान्ति और उसके फलस्वरूप समाजवाद की स्थापना का प्रतिपादन करता था।

स्टालिन
(Stalin, 1879–1953)

जोसेफ विसेरियविच स्टालिन (Joseph Vissariowitch Stalin) का जन्म सन् 1879 मे रूस के जार्जिया नामक प्रान्त मे हुआ था। एक मोची का पुत्र होते हुए भी वह अपनी असाधारण योग्यताओ के बल पर एक दिन रूस जैसे महान् राष्ट्र का सर्वेसर्वा बन गया। स्टालिन अपनी युवावस्था से ही क्रान्तिवादी था और सन् 1917 के कई वर्ष पूर्व से वह बोल्शेविको का नेता था। जनवरी, 1924 मे लेनिन की मृत्यु के बाद दल और शासन के नेतृत्व के प्रश्न पर स्टालिन द्वारा ट्रॉटस्की को रूस से निष्कासित कर दिया गया। इस समय तक स्टालिन ने दल मे अपनी सर्वोच्चता स्थापित करली थी।

अपने जीवन काल मे स्टालिन एक ऐसी शक्ति बन गया जिससे विश्व के राष्ट्र भयभीत रहते थे और जिसकी प्रत्येक चाल को विश्व के राजनीतिज्ञ बडी बारीकी से देखते थे। स्टालिन ने शासन और दल दोनो पर अपना कठोर नियन्त्रण स्थापित कर लिया। सोवियत रूस की सम्पूर्ण सत्ता एक प्रकार से उसके हाथो में

केन्द्रित हो गई। उसने एक तरह का स्टालिन सम्प्रदाय (The Stalin Cult) रच लिया और उसकी पूजा देवता की भाँति होने लगी। ससार के किसी सार्वजनिक नेता ने शायद ही कभी इतनी शक्ति अर्जित की हो जितनी स्टालिन ने सन् 1953 से मृत्युपर्यन्त की।

स्टालिनवाद (Stalinism)

अथवा

मार्क्सवाद-लेनिनवाद को स्टालिन की देन
(Stalin's Contribution to Marxism-Leninism)

लेनिनवाद ने मार्क्सवाद को विकृत करके भी स्वय को मार्क्स का सच्चा अनुयायी और मार्क्सवाद का सच्चा प्रवक्ता सिद्ध करने की चेष्टा की। स्टालिन ने भी कुछ ऐसा ही किया। मार्क्सवाद-लेनिनवाद से बहुत कुछ भिन्न रुख अपनाते हुए भी उसने स्वय को उनका अनुयायी बतलाया और अपनी इससे भिन्न नीतियो की रक्षा यह कहकर की कि परिस्थितियाँ इन नीतियो की माँग करती हैं।

मार्क्सवाद-लेनिनवाद को स्टालिन ने जो नवीन दिशा दी अथवा उसका जो विकास किया, उसे इन मुख्य शीर्षको मे व्यक्त किया जा सकता है—

(1) एकदेशीय समाजवाद का सिद्धान्त, एव
(2) स्टालिन का क्रान्ति-सिद्धान्त।

स्टालिन का एकदेशीय समाजवाद का सिद्धान्त
(Stalin's Theory of Socialism in One Country)

मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विकास मे स्टालिन का प्रमुख योग यह है कि सन् 1924 मे उसने अचानक ही घोषणा की कि समाजवाद एक देश मे ही सम्भव है। मार्क्स ने साम्यवादी सघ के समक्ष अपने एक भाषण मे कहा था कि "पूँजीपति वर्ग सदैव ही शीघ्रातिशीघ्र क्रान्ति का अन्त करना चाहेगा, अत. श्रमिक वर्ग का हित क्रान्ति को स्थायी बनाने मे है अर्थात् क्रान्ति तब तक जारी रहनी चाहिए जब तक सारे ससार के प्रमुख देशो मे शासन-तन्त्र श्रमजीवी वर्ग के हाथ मे न आ जाए। अप्रेल, 1924 तक स्टालिन ने भी स्वीकार किया था कि समाजवाद की अन्तिम विजय हेतु समाजवादी आन्दोलन के सगठन के लिए एक देश के, विशेषकर रूस जैसे निर्धन देश के प्रयत्न अपर्याप्त हैं।" लेकिन ट्रॉट्स्की के साथ शक्ति-परीक्षण में स्टालिन ने अकस्मात् ही रग बदल दिया। ट्रॉट्स्की ने स्थायी क्रान्ति के सिद्धान्त की वकालत की जबकि स्टालिन ने अपना पक्ष सुदृढ करने के लिए इस सिद्धान्त पर सामयिक प्रहार करना उचित समझा।

स्टालिन ने तर्क दिया कि परिवर्तित परिस्थितियो मे, जबकि रूस के चारो ओर पूँजीवादी घेरा (Capitalist Encirclement) विद्यमान है, विश्व-क्रान्ति के कार्यक्रम को अस्थायी रूप से छोड देना चाहिए और रूस मे समाजवाद को सुदृढ करने पर ही सारी शक्ति केन्द्रित की जानी चाहिए। अब वह प्रत्येक देश मे स्वतन्त्र रूप से समाजवाद की स्थापना होने के पक्ष में था बशर्ते कि सम्बन्धित देश का

आकार बड़ा हो, उसकी जनसंख्या भी बड़ी हो और उसके प्राकृतिक साधन विशाल हों। ट्रॉट्स्की पर स्टालिन की विजय के फलस्वरूप साम्यवादी दल ने भी 'एकदेशीय समाजवाद' (Socialism in One Country) के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जिसके अनुसार पहले सोवियत संघ मे समाजवाद को सुदृढ किया जाना था।

सन् 1924 मे *'Problems of Leninism'* नामक पुस्तक प्रकाशित कर स्टालिन ने स्पष्ट रूप से व्यक्त किया कि शेष ससार मे पूँजीवाद के रहते हुए भी एक देश मे समाजवाद की स्थापना हो सकती है। रूस अपनी क्षमता के बल पर पूँजीवादी विश्व में भी अपना समाजवादी रूप कायम रख सकता है और अपनी बहुमुखी उन्नति भी कर सकता है। रूस को विश्व के समाजवादी बनने की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है लेनिन ने यह नहीं कहा था कि एक देश मे भी समाजवाद की स्थापना हो सकती है जबकि शेष विश्व पूँजीवादी हो। ट्रॉट्स्की का आरोप था कि स्टालिन का नीति-परिवर्तन अर्थात् यह कहना कि एकदेशीय समाजवाद सम्भव है, लेनिन की नीति का परित्याग है और यह क्रान्ति-विरोधी प्रतिक्रिया का आरम्भ है, लेकिन स्टालिन ने स्थायी क्रान्ति के सिद्धान्त को लेनिनवाद के विरुद्ध घोषित करते हुए अपने विचार को लेनिनवादी बतलाया और स्वय को लेनिनवाद का सच्चा प्रवक्ता सिद्ध करने की चेष्टा की। इस सम्बन्ध मे सेबाइन का मत है कि "यह निश्चित नहीं है कि यदि लेनिन जीवित रहता तो क्या वह भी स्टालिन के समान ही अपनी नीति मे परिवर्तन कर लेता। लेनिन ने अपने जीवन के आखिरी काल मे जो लिखा था उससे यह प्रतीत होता है कि उसका भी बहुत कुछ यही दृष्टिकोण था। लेनिन यह समझने लगा था कि रूस मे समाजवाद का विकास देश की आन्तरिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियो पर निर्भर है, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर नहीं। यदि लेनिन यह परिवर्तन करता तो सम्भवत वह अधिक बारीकी से होता। स्टालिन ने यह नीति-विषयक परिवर्तन बड़े स्थूल ढग से किया और यहाँ तक कहा कि कोई परिवर्तन हुआ ही नहीं है।" आगे चलकर सेबाइन ने लिखा है कि "श्रमिक क्रान्ति अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के विकास पर कहाँ तक निर्भर है, स्टालिन ने इस गम्भीर समस्या को पीछे छोड दिया। लेनिन ने अपने साम्राज्यवाद के सिद्धान्त का जिस ढग से विकास किया था, उसे देखते हुए यह निश्चित मालूम पड़ता था कि वह इस विचार को कभी पसन्द नहीं करता कि साम्यवाद स्वय को अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से पृथक् कर दे। लेकिन पूँजीवादी घेरे की स्थिति मे स्टालिन के एकदेशीय समाजवादी सिद्धान्तो ने आर्थिक सम्बन्धो की अपेक्षा राजनीतिक सम्बन्धो पर अधिक जोर दिया। इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह था कि रूस की समाजवादी अर्थव्यवस्था परिस्थितियो के अनुसार ही कभी सहयोग और कभी हस्तक्षेप का मार्ग ग्रहण कर सकती थी और साथ ही इस बात की प्रतीक्षा कर सकती थी कि पूँजीवाद का विनाश हो। इस तरह की नीति रूसी राष्ट्रवाद या साम्राज्यवाद से बिल्कुल भिन्न थी और उसका मार्क्सवाद से कोई युक्तियुक्त सम्बन्ध नहीं था।"

विचार को निश्चित रूप से आघात पहुँचा। स्टॉलिन के कारण ही सन् 1929 के बाद से कामिंटर्न की नीति का निर्धारण भी रूस के हितों को ध्यान में रखकर ही किया जाने लगा। यह नीति अपनाई गई कि अन्य देशों के क्रान्तिकारी आन्दोलनों को रूस के हितों की तराजू मे तोला जाए और उसी दृष्टि से उनके प्रति व्यवहार किया जाए। दूसरे शब्दों मे, रूस के हितों को ध्यान मे रखकर ही अन्य देशों के क्रान्तिकारी आन्दोलनों को प्रोत्साहित अथवा हतोत्साहित किया जाए।

(ii) एक व्यक्ति की तानाशाही स्थापित—स्टालिन की नीति का दूसरा महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि रूस मे सर्वहारा राज्य का विकास हुआ जिसमें एक व्यक्ति के अधिनायकत्व को बल मिला। एक व्यक्ति की अर्थात् स्टालिन की ऐसी तानाशाही स्थापित हुई जो एक विशाल नौकरशाही द्वारा सचालित होती थी और जिसका प्रमुख आधार पाशविक बल था। साम्यवादी दल के 20वें अधिवेशन के अवसर पर स्टालिन के सम्बन्ध मे जो विचार व्यक्त किए गए वे स्टालिन को नृशंस सत्ता का भूखा और शक्ति का दुरुपयोग करने वाले व्यक्ति सिद्ध करते हैं। इतिहास साक्षी है कि स्टालिन ने लेनिन के अधिकांश पुराने साथियों को अपने स्वार्थ की बलिवेदी पर चढ़ा दिया।

(क) आर्थिक नियोजन और नौकरशाही तन्त्र का विकास—एकदेशीय समाजवाद के सिद्धान्त का यह अन्तर्निहित परिणाम था कि समाजवादी देश आर्थिक रूप से पूर्ण आत्मनिर्भर होने की दिशा मे अग्रसर हो। वह अपने साधनों को इतना विकसित अथवा उन्नत कर लें कि आर्थिक दृष्टि से दूसरे देशों पर अपनी निर्भरता समाप्त कर विश्व-क्रान्ति का निर्देशन करने के लिए सक्षम हो जाएँ। इसके लिए प्रभावशाली औद्योगीकरण की नीति अपनाकर दीर्घकालीन योजनाओं द्वारा अपने साधनों को समृद्ध बनाना आवश्यक था। स्टालिन के नेतृत्व मे सोवियत रूस गृहनीति में आर्थिक विकास के पथ पर अग्रसर हुआ और विशेष रूप से सारा ध्यान पचवर्षीय योजनाओं को सफल बनाकर देश मे आर्थिक समृद्धि लाने की ओर केन्द्रित किया गया।

(ख) केन्द्रीकृत नौकरशाही का विकास—स्टालिन ने अधिकाधिक शक्ति हस्तगत करने के लिए ऐसी नीति अपनाई कि दल कम श्रमजीवी और कम लोकतन्त्रीय होता चला गया तथा उसने एक केन्द्रीभूत नौकरशाही का रूप धारण कर लिया। लेनिन के जीवनकाल मे वाद विवाद की पर्याप्त स्वतन्त्रता थी, किन्तु स्टालिन न सहयोगवादी था और न समझौतावादी। सन् 1925 मे उसने 'शिखरोन्मुखी अनुशासन' का सिद्धान्त अपनाया जिसके अन्तर्गत एक स्तर के दल का अंग अपने से नीचे के अंगों को आदेश दे सकता था। इस नीति के फलस्वरूप दल के सदस्यों का महत्त्व कम होने लगा और दल केन्द्रीभूत सरकार के हाथों का खिलौना बन गया। स्टालिन ने दल से परामर्श लेने की आवश्यकता की भी उपेक्षा की। सन् 1925 के बाद तो दल के वार्षिक अधिवेशन भी अनियमित तथा अधिक कालान्तर मे होने लगे। अधिवेशन की सदस्यता के स्वरूप मे भी धीरे धीरे परिवर्तन होता गया।

स्टालिन की नीति का क्रान्तिकारी परिणाम यह हुआ कि शक्ति दल के हाथों से निकलकर केन्द्रीय समिति (Central Committee) के विभिन्न अंगों में केन्द्रित हो गई जिनमे पॉलिट ब्यूरो (Polit Bureau) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। कालान्तर मे इस नीति के कारण दल कम श्रमजीवी और कम लोकतन्त्रीय होता चला गया। स्टालिन ने दल को सकुचित बनाए रखने का यथाशक्ति प्रयत्न किया और दल को खुला रखने के हर प्रयास को सफलतापूर्वक दबाया।

दल के नामकरण मे भी परिवतन कर दिया गया। सन् 1925 में जो 19वाँ अधिवेशन हुआ उसमे दल का नाम 'अखिल सघीय साम्यवादी दल' (बोल्शेविक) से बदलकर 'सोवियत सघ का साम्यवादी दल' कर दिया गया। इसके अतिरिक्त दल को 'मजदूर-वर्ग का सगठित अग्रवाहक तथा उनके वर्ग-सगठन का श्रेष्ठतम रूप' के बजाय 'सह विचार साम्यवादियो का ऐच्छिक समुदाय' कहा जाने लगा। इस ऐच्छिक समुदाय मे श्रमिक, कृषक और बुद्धिजीवी वर्ग सम्मिलित थे। रूस मे कुछ अन्य बातो ने भी सर्वहारावाद की वृद्धि मे सहायता पहुँचाई, जैसे श्रमिक सघो की कार्य-स्वतन्त्रता का अपहरण एव स्टालिन का दैवीकरण। स्टालिन ने, जो आत्म प्रशसा और सत्ता का भूखा था, अपने चारो ओर एक तरह का स्टालिन-सम्प्रदाय कायम कर लिया था। उसने पाशविक शक्ति का इतना अधिक प्रयोग किया कि वह लेनिन को लांघकर मार्क्स की इस धारणा से और भी अधिक दूर हो गया कि समाजवाद की स्थापना मे अथवा पूँजीवाद से समाजवाद के आवर्तन मे शक्ति का प्रयोग सामाजिक एव आर्थिक प्रक्रियाओ की तुलना मे अपेक्षाकृत कम होगा।

(iii) स्टालिन द्वारा राज्य-सिद्धान्त में परिवर्तन—स्टालिन का 'एकदेशीय समाजवाद' का सिद्धान्त मार्क्सवादी लेनिनवादी सिद्धान्त से स्पष्टतः इस रूप मे भिन्न था कि वह राज्य के सम्बन्ध मे एक सशोधित विचारधारा थी। 'एकदेशीय समाजवाद'* के सिद्धान्त को अपनाने के कारण स्टालिन को मार्क्स के राज्य-सिद्धान्त का व्यवहारत परित्याग करना पडा। कठोर मार्क्सवादियों के दृष्टिकोण से राज्य वर्ग सघर्ष की उपज है और राज्य का अस्तित्व तभी तक रहता है जब तक समाज म वर्ग विद्यमान हैं। ज्योही उत्पादन के साधनो पर से व्यक्तिगत स्वामित्व हट जाता है, त्योही वर्ग-भेद समाप्त हो जाते हैं और वर्ग भेद के समाप्त होते ही राज्य भी समाप्त होने लगता है। लेकिन स्टालिन ने इस मार्क्स-लेनिनवादी धारणा में सशोधन किया। वह राज्य के विलोप के सिद्धान्त को शब्दो मे तो स्वीकार करता रहा, पर साथ ही राज्य का अस्तित्व कायम रखने के कारणों पर जोर देता रहा।

दल के सन् 1939 के 18वें अधिवेशन मे स्टालिन ने कुछ सैद्धान्तिक प्रश्नो पर विचार विनिमय किया। स्टालिन ने कहा कि कुछ लोग यह प्रश्न करते हैं कि "हमारे देश मे शोषक वर्ग समाप्त हो गए हैं समाजवाद की काफी हद तक स्थापना हो चुकी है हम साम्यवाद की ओर बढ रहे हैं, फिर हम अपने समाजवादी राज्य को समाप्त क्यो नहीं होने देते ?" स्टालिन ने कहा कि यह प्रश्न करने वाले लोग मार्क्स और ऐंजिल्स के सिद्धान्तो को तोते की तरह रटने वाले लोग हैं और ये वास्तविक

अर्थ को नहीं समझ सके हैं। उन्होंने यह नहीं समझा है कि इस सिद्धान्त की विभिन्न स्थापनाओं को किन विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में स्पष्ट किया गया था। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को नहीं समझते। वे यह नहीं समझते कि हमारा समाजवादी देश चारो ओर से पूँजीवादी देशों से घिरा हुआ है और इस कारण उसे अनेक खतरो का सामना करना पड़ रहा है।"

स्टालिन ने स्पष्ट किया कि "मार्क्स और लेनिन के साम्यवादी राष्ट्र-मण्डल के विचारो और वर्तमान सोवियत राज्य के ढाँचे मे जो अन्तर दिखाई देता है उसका कारण यह है कि पूँजीवादी देशो ने रूस के चारो ओर गुप्तचरो का जाल बिछा रखा है। वे भेदियो और विध्वंसकों को अनवरत भेज रहे हैं और रूस का विनाश करना चाहते हैं, अतः इन विदेशी गुप्त आक्रामक कार्यवाहियो से देश को बचाने के लिए राज्य को सशक्त बनाए रखना आवश्यक है। ऐंजिल्स ने ऐसे किसी एक राज्य के बारे में कभी कुछ नहीं कहा जो चारो ओर से पूँजीवादी शत्रु-राज्यो से घिरा हो। ऐंजिल्स का सिद्धान्त उसी समय सही हो सकता है जब अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो की ओर से आँखें बन्द कर ली जाएँ और देश के केवल आन्तरिक विकास की ओर ही ध्यान दिया जाए अथवा यह मान लिया जाए कि ससार के सभी देशो मे समाजवाद विजयी हो गया है।" स्टालिन की इस व्याख्या का अभिप्राय यह था कि ऐंजिल्स की भविष्यवाणी का कोई ठोस आधार नहीं था। ऐंजिल्स ने या तो भविष्य के ऐसे समाजवादी राज्य के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत की थी जिस पर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो का कोई प्रभाव पडने वाला नही था या उसने यह मान लिया था कि सभी या अधिकांश राज्यो मे समाजवाद की विजय होगी। सेबाइन ने इस सम्बन्ध मे लेनिन के बारे मे समीक्षात्मक टिप्पणी देते हुए कहा कि जहाँ तक लेनिन का सम्बन्ध है, यदि वह अपने राज्य और क्रान्ति (State and Revolution) ग्रन्थ को पूरा करता तो वह इस प्रश्न का अवश्य विवेचन करता। यह नही मालूम कि लेनिन अपनी पुस्तक के दूसरे भाग मे क्या विचार व्यक्त करता। किन्तु वह अवश्य ही सन् 1905 और 1917 की क्रान्तियो का विवेचन करता, अतः स्टालिन ने अपने वक्तव्य में लेनिन के प्रमाण का तो उपयोग किया, लेकिन उसने यह नही बताया कि यदि लेनिन इस तरह तर्क करता तो उसका क्या आधार होता। इस स्थिति मे स्टालिन का राष्ट्रीयकरण काफी हद तक काल्पनिक है। स्टालिन के अनुसार साम्यवादी राज्य के दो कार्य हैं—विदेशी हस्तक्षेप से रक्षा और देश का आर्थिक सगठन तथा सांस्कृतिक उत्थान। ये दोनो कार्य शाश्वत् हैं। जब तक सारे ससार मे वर्गहीन समाज की स्थापना नहीं हो जाती, तब तक इन कार्यों की आवश्यकता रहेगी अतः जब तक पूँजीवादी घेरा (Capitalist Encirclement) समाप्त नही हो जाता, तब तक साम्यवाद की अवस्था मे भी राज्य का अस्तित्व रहेगा।[1]

1 सेबाइन राजनीतिक दर्शन का इतिहास पृष्ठ 792

इस प्रकार स्टालिन ने मार्क्सवादी-लेनिनवादी धारणा के विपरीत इस विचार का प्रतिपादन किया कि राज्य के विनाश के लिए राज्य की शक्ति को कमजोर करना उचित नहीं है। राज्य को अत्यधिक सशक्त बनाकर भी राज्य का विनाश हो सकता है, लेकिन राज्य का विनाश सम्भव तभी है जब पूँजीवादी घेरे का सम्पूर्ण विनाश हो जाए। इस धारणा का स्वाभाविक अभिप्राय यह था कि चूँकि इस पूँजीवादी घेरे के समाप्त होने की सम्भावना दिखाई नहीं देती, अत: रूस में श्रमजीवी अधिनायकवाद चलता रहेगा। द्वन्द्ववाद की सही व्याख्या के अनुसार यह श्रमजीवी अधिनायकवाद तब तक समाप्त नहीं होगा जब तक पहले उसकी शक्ति का इतना विकास न हो जाए कि विश्व-क्रान्ति को उभाड़ कर समाजवाद की अन्तिम विजय अर्जित की जा सके। स्टालिन ने यह बलपूर्वक कहा कि "गृहनीति और विदेशी-नीति में ज्यों-ज्यों सुधार होता जाएगा त्यों-त्यों राज्य के स्वरूप में परिवर्तन आता जाएगा' 'हम राज्य को हटा भी देंगे बशर्ते कि रूस के पास-पड़ौस के बुर्जुआ राज्यों का पूँजीवादी ढाँचा समाप्त हो जाए और उसके स्थान पर इन देशों में समाजवादी शासन की स्थापना हो जाए।" जब तक ऐसा नहीं होता तब तक रूस राज्य को इतना शक्तिशाली रखेगा कि वह समाजवादी शासन-व्यवस्था का पोषण करता रहे और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक अनैतिकता का मुकाबला करता रहे।

(iv) रूस में राष्ट्रवाद का उदय—स्टालिन के 'एकदेशीय समाजवाद' के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय साम्यवाद का उदय हुआ। स्टालिन ने जिस राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहन दिया और जिस नवीन कृषि-नीति को अपनाया वह लेनिन की शिक्षाओं के विपरीत थी। 'एकदेशीय समाजवाद' के विचार ने रूस की क्रान्ति को विश्व-क्रान्ति के लिए साधन न बनाकर स्वयं में एक साध्य (End) बना दिया। राष्ट्रवाद और साम्यवाद के संयोग से रूस एक राष्ट्रवादी देश बन गया। रूस की यह राष्ट्र-भावना मार्क्स, ऐंजिल्स और लेनिन की अवहेलना थी, क्योंकि उनका समाजवाद सम्बन्धी दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय था। सन् 1934 तक स्टालिन ने राष्ट्रवाद का स्पष्ट पक्षपोषण नहीं किया, लेकिन जब सन् 1935 के बाद उसे विश्वास हो गया कि हिटलर रूस पर आक्रमण करेगा तो उसने अपनी नीति में परिवर्तन कर दिया और वह राष्ट्रवाद की ओर झुक गया। अब रूस के बाहर के देशों में स्थानीय साम्यवादी दलों को भी राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलनों में राष्ट्रीय तत्त्वों से मिलने के लिए प्रोत्साहन दिया गया।

(v) आय की समानता के विचार का त्याग—स्टालिन ने आय के सम्बन्ध में भी मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं किया। लेनिन ने कहा था कि राज्य कर्मचारियों को कुशल मजदूरों से अधिक वेतन नहीं लेना चाहिए, किन्तु स्टालिन ने घोषित किया कि समानता के मार्क्सवादी सिद्धान्त का उद्देश्य आय की समानता न होकर वर्ग विशेष के विशेषाधिकारों का उल्लंघन है। समाजवादी व्यवस्था में मनुष्यों को कार्यानुसार वेतन मिलेगा। केवल साम्यवाद में ही व्यक्ति की आवश्यकतानुसार वस्तुओं का वितरण होगा। स्टालिन ने कहा कि व्यक्ति को

लुप्त होने के विचार का परित्याग कर दिया और लोकतन्त्र तथा समानता के सिद्धान्त को तिलांजलि दे दी लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से उसने रूस को, जिसका संसार के प्रथम साम्यवादी देश के रूप में उदय हुआ था, औद्योगिक और सैनिक दृष्टि से सुदृढ़ तथा शक्तिशाली बनाया। स्टालिन ने अपने उद्देश्य की पूर्ति में किसी भी विरोध को सहन नहीं किया। सम्भवतः संसार के किसी अन्य शासन ने स्टालिन से अधिक अपनी प्रजा का खून नहीं बहाया होगा।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्टालिन ने निर्मम निरकुशता, कठोरता और दमन का परिचय दिया, लेकिन यदि वह ऐसा न करता तो सम्भवतः शक्तिशाली रूस का निर्माण न हो पाता। अतः यद्यपि समाजवाद के संस्थापकों में सैद्धान्तिक दृष्टि से स्टालिन का स्थान गौण है, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से उसका स्थान मुख्य है। वास्तव में लेनिन और स्टालिन दोनों ने ही रूस में समाजवादी राज्य को स्थापित करने और सशक्त बनाने हेतु मार्क्स के सिद्धान्तों में आवश्यकतानुसार संशोधन किए। *शक्तिशाली साम्यवादी देश के निर्माण के लिए और रूस में हुई बोल्शेविक क्रान्ति को* सफल बनाने के लिए लेनिन द्वारा मार्क्सवाद में परिवर्तन किए गए। स्टालिन ने भी लेनिन के पद चिह्नों का अनुसरण किया। उसने भी लेनिन द्वारा स्थापित राज्य को सुदृढ़ और शक्तिशाली बनाने के लिए मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों में परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तन किए। स्टालिन रूस को और रूस में साम्यवादी क्रान्ति को अल्प अवधि में ही अत्यन्त प्रबल तथा अजेय बना देना चाहता था। उसके मार्ग में दो बड़ी बाधाएँ थीं—पूँजीपति राज्यों के विरोध में अपनी सत्ता सुदृढ़ करना तथा किसानों को साम्यवादी क्रान्ति के अनुकूल बनाना। इन दोनों समस्याओं के समाधान के लिए उसे कुछ रियायतें देनी पड़ीं लेकिन उसने साम्यवादी दल के अधिनायकत्व के स्थान पर अपना व्यक्तिगत अधिनायकत्व स्थापित किया। उसने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए क्रूर दमन और भीषण अत्याचार का आश्रय लिया। उसे निश्चित रूप से सफलता प्राप्त हुई, किन्तु यह सफलता साम्यवादी सिद्धान्तों में महत्त्वपूर्ण संशोधन तथा रूसी प्रजाजन में भय, आतंक, हिंसा और कष्ट के द्वारा ही प्राप्त हुई।

स्टालिन के बाद
(After Stalin)

स्टालिन युग एक व्यक्ति के नेतृत्व का युग था। उसकी मृत्यु के बाद 'सामूहिक नेतृत्व' का विकास हुआ जो ख्रुश्चेव के समय से ठोकरें खाता हुआ अभी तक किसी न किसी रूप में विद्यमान है। ख्रुश्चेव के साथ ही रूस में उदारवादी साम्यवाद शनैः शनैः पनपने लगा। ख्रुश्चेव ने स्टालिन की नीतियों का बहिष्कार किया। उसकी कब्र को पूरी तरह खोद डाला गया और व्यक्ति-पूजा का दृढ़ता से विरोध किया गया। ख्रुश्चेव के समय 'विस्टालिनीकरण' (De-Stalinization) और शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व (Peaceful Co existence) ये दोनों मुख्य नीति सम्बन्धी तत्त्व उभरे। 20वीं कांग्रेस में साम्यवादियों ने सम्पूर्ण विश्व में साम्यवादी राष्ट्र-मण्डल की स्थापना के सम्बन्ध में अपने विचारों में संशोधन किया। यह स्वीकार

किया गया, कि पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच युद्ध अनिवार्य नहीं है। यह भी कहा गया कि साम्यवादी पूँजीवादी व्यवस्था को सशस्त्र क्रान्ति द्वारा उलटना नहीं चाहते। लेनिन और स्टालिन के सर्वथा विपरीत ख्रुश्चेव ने विरोधी गुटों में शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का समर्थन किया। उसने कहा कि मार्क्स और लेनिन की संघर्षवादी धारणा उस समय बनी थी जब साम्राज्यवाद एक विश्वव्यापी व्यवस्था थी तथा अन्य शक्तियाँ निर्बल थीं। उस समय साम्राज्यवाद को युद्ध का परित्याग करने के लिए बाध्य करना दुष्कर कार्य था परन्तु आज इसको रोकने योग्य शक्ति सम्भव है। आज विरोधी शक्तियाँ इतनी प्रबल हैं कि साम्राज्यवादी युद्धों पर सरलता से अंकुश लगा सकती हैं। ख्रुश्चेव ने अणुशक्ति के युग में यह विवेकपूर्ण तर्क दिया कि युद्ध की अनिवार्यता का अभाव किसी भी प्रकार की क्रान्ति की प्रक्रिया को सीमा नहीं करता। ख्रुश्चेव के वर्तमान उत्तराधिकारी भी इसी नीति में बहुत कुछ विश्वास करते हैं। वर्तमान परिस्थितियों और तृतीय महायुद्ध की विभीषिका को ध्यान में रखते हुए रूसी नेता युद्ध की अनिवार्यता के स्थान पर शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के लिए उत्सुक हैं। स्टालिन के बाद रूसी नीतियाँ पश्चिमी राष्ट्रों और पड़ौसी राज्यों के प्रति अपेक्षाकृत शक्ति का व्यवहार कम करने लगी हैं। कहा जाता है कि शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व में विश्वास सोवियत नीति की एक चाल तथा अवसरवादिता है। लेकिन रूसी नेताओं का दावा है कि सोवियत रूस शक्ति-सम्पन्नता के कारण ही शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के लिए दृढ़ता से कायम है। यह आज रूसी विदेशी नीति का आधारभूत सिद्धान्त है। यहाँ हमारा उद्देश्य रूसी राजनीति की विवेचना करना नहीं है, अतः इतना ही लिखना पर्याप्त है कि मार्क्स के उत्तराधिकारियों के हाथों में मार्क्सवाद अपने विशुद्ध रूप में नहीं रह सका है और उसी प्रकार बदल गया है जिस प्रकार कोई नई वस्तु अनेक हाथों में जाकर अपना प्रारम्भिक स्वरूप खो बैठती है।

माओ-त्से-तुंग
(Mao-tse-Tung)

माओ-त्से-तुंग का जीवन परिचय

अपने जीवनकाल में ही पुराण-पुरुष बन जाने वालों की संख्या अँगुलियों पर गिनी जा सकती है। निश्चय ही माओ-त्से-तुंग इन्हीं में से एक थे। मध्य चीन के दक्षिण में स्थित हूनान प्रान्त के शाओशान गाँव में चीन और जापान के बीच 50 साल पहले छिड़ने के एक वर्ष पहले 26 दिसम्बर, 1893 को माओ का एक किसान परिवार में जन्म हुआ। उनके पिता माओ शुन चेङ् लम्बे, तगड़े किसान थे जो कर्जदारों से मुक्ति पाने के लिए सेना में भरती हो गए किन्तु एक साल की नौकरी के बाद वह घर लौट आए और सूअरों और चावल के व्यापार से उन्होंने नया जीवन आरम्भ किया। कुछ ही वर्षों में वह एक सम्पन्न किसान बन गए। माओ के पिता का स्वभाव कठोर था जबकि उनकी माता वेन ची मेई ममता और दया की मूर्ति थी। माओ त्से-तुंग पिता की अपेक्षा अपनी माता के अधिक नजदीक थे।

लिए ऐतिहासिक अभियान सचालित किया। माओ की दूसरी पत्नी को कॉमिटांग ने मृत्यु-दण्ड दिया। च्यांग की सेना का दबाव इतना अधिक बढ गया कि कम्युनिस्टो को लम्बे कूच का निर्णय करना पडा। अक्तूबर, 1934 मे कोई 90,000 स्त्री पुरुष तथा बच्चो ने शस्त्रास्त्रो और रसद सहित माओ के नेतृत्व मे 6,000 मील लम्बी यात्रा आरम्भ की। इनमे से केवल 8,000 ही सन् 1935 मे येनान स्थित माओ की अपेक्षा सुरक्षित अड्डे तक पहुँच पाए। अनेको की मृत्यु हो गई और अन्य साथ छोड गए। स्वय माओ को किसानो के सरक्षण मे अपने बच्चे छोडने पडे जिनसे वह फिर कभी नही मिल सका किन्तु इस अभियान से माओ को ठोस अनुभव प्राप्त हुआ। उसे किसानो की कठिनाइयो का बोध हो गया और वह यह भी जान गया कि उनके असन्तोष से किस प्रकार लाभ उठाया जा सकता है। सन् 1946 मे चीन मे व्यापक गृहयुद्ध छिड गया।

च्यांग के पास यद्यपि विशाल सेना थी, किन्तु वह माओ के सैनिको के छापामार युद्ध का मुकाबला नही कर सका। जनवरी, 1949 मे कम्युनिस्टो का पीकिंग पर अधिकार हो गया। उसके बाद नानकिंग का पतन हुआ और अक्तूबर, 1949 मे माओ ने चीनी जनवादी गणराज्य की स्थापना की घोषणा की। उसी वर्ष वह अपनी प्रथम विदेश-यात्रा पर मास्को गया। उसने दूसरी और अन्तिम विदेश-यात्रा सन् 1957 मे की। यह यात्रा भी मास्को की ही थी। गणराज्य की स्थापना के बाद माओ चीनी कम्युनिस्ट पार्टी का अध्यक्ष और राष्ट्राध्यक्ष बना। सन् 1958 मे उसने राष्ट्राध्यक्ष का पद ल्यू शाओ ची के पक्ष मे छोड दिया। सन् 1959 के बाद शेष विश्व के प्रति चीन का रुख उत्तरोत्तर आक्रामक होता गया जो इस बात का प्रतीक था कि माओ की नीति आन्तरिक मामलो की ओर से अन्तर्राष्ट्रीय मामलो की ओर झुक रही थी। सन् 1963 से अध्यक्ष माओ अपनी क्रान्ति की धारणा का एशियाई, अफ्रीकी और लेटिन अमेरिकी देशो के मुक्ति-आन्दोलनों के लिए निर्यात करने लगा। सोवियत सघ से चीन के सम्बन्ध उत्तरोत्तर बिगडते गए और इस बिगाड का प्रभाव चीनी नेतृत्व पर भी पडा। यद्यपि सन् 1961 मे माओ ने लॉर्ड मौंटगोमरी से कहा था कि वह 73 वर्ष से अधिक जीना नहीं चाहता किन्तु वह यह सहन नही कर सका कि उसके नेतृत्व को कोई चुनौती दे और 73 वर्ष पूरा करने के ठीक पहले उसने एक और क्रान्ति का नेतृत्व किया। यह थी सन् 1966 की महान् सांस्कृतिक क्रान्ति जिसमे माओ के लाल रक्षको ने माओ विरोधियों को धुन-चुनकर मौत के घाट उतार दिया। उसके बाद मृत्युपर्यन्त (रात्रि 8 9 सितम्बर, 1976) वह अपनी लगातार बीमारी के बावजूद चीन का नेतृत्व करता रहा।[1]

चीनी मार्क्सवाद (माओवाद) के प्रमुख सिद्धान्त

सन् 1949 मे अपने जन्म के कुछ समय बाद से ही लाल चीन साम्यवादी जगत् मे सोवियत सघ के नेतृत्व को चुनौती देने वाली महान् शक्ति बना हुआ है।

1 दिनमान : सितम्बर, 1976

चीन की साम्यवादी विचारधारा के सूत्रधार और चीनी साम्यवादी दल के कर्णधार माओ-त्से-तुंग ने मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों को चीन की परिस्थितियों के अनुसार संशोधित किया। जिस प्रकार लेनिनवाद मार्क्सवाद का रूसी संस्करण था उसी प्रकार माओवाद (Maoism) भी मार्क्सवाद का प्रकारान्तर है। माओ ने इस परिवर्तन को मार्क्स के सिद्धान्त के अनुकूल ही माना और कहा कि यदि हम चीन की परिस्थितियों, आवश्यकताओं तथा प्रकृति के अनुरूप सिद्धान्तों का निरूपण नहीं करेंगे तो हम अपने आपको मार्क्सवादी विचारक कहलाने के उत्तरदायित्व से विमुख होंगे।

आधुनिक चीनी साम्यवाद का निर्माण मुख्यतः चार प्रकार की विचारधाराओं के योग से हुआ है। पहली विचारधारा मार्क्स की है जिसमें ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, विश्वव्यापी वर्ग-युद्ध, सर्वहारा वर्ग द्वारा पूँजीवाद के सुनिश्चित विनाश आदि पर बल दिया गया है। दूसरी विचारधारा लेनिन की है जिसमें यह माना गया है कि साम्राज्यवाद पतनोन्मुख पूँजीवाद की अन्तिम अवस्था है, पूँजीवादी देशों के विरुद्ध संघर्ष में उपनिवेशवादी देशों के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती तथा विश्व-क्रान्ति में साम्राज्यवाद का विरोध महत्त्वपूर्ण है। सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति का नेतृत्व एक अनुशासित तथा लोकतन्त्रात्मक केन्द्रवाद में निष्ठा रखने वाले दल द्वारा किया जाता है, कृषक वर्ग के क्रान्तिकारी महत्त्व को स्वीकार करना होगा तथा यह स्वीकार करना होगा कि कम विकसित देश में समाजवादी व्यवस्था में प्रवेश करने से पूर्व क्रान्ति बुर्जुआ लोकतन्त्रीय अवस्था से गुजरती है। तीसरी विचारधारा स्टालिन-वाद की है जिसमें राज्य के सर्वाधिकारवादी संगठन, राज्य द्वारा योजनाबद्ध रूप में आर्थिक विकास के संचालन, राष्ट्र के अल्पसंख्यकों के साथ उदार व्यवहार की नीति के पालन आदि पर विशेष बल दिया गया था। चौथी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विचार-धारा माओवाद की है और व्यवहारतः चीन में माओ-त्से-तुंग के विचारों का ही बोलबाला है।

माओवाद चीन की परिस्थितियों के अनुकूल मार्क्सवाद-लेनिनवाद का माओवादी चीनी संस्करण है। माओ ने अपने मनचाहे ढंग से मार्क्सवाद-लेनिनवाद को प्रतिपादित किया और उसे चीन में ऐसी व्यावहारिक दशा प्रदान की जिससे न केवल पूँजीवादी विश्व को बल्कि स्वयं साम्यवादी जगत् को भी खतरा पैदा हो गया है। चीन में माओ को देवता तुल्य माना जाता है। उसे वर्तमान शताब्दी का सर्वाधिक प्रतिभाशाली व्यक्ति और मार्क्सवाद-लेनिनवाद का सर्वोत्तम प्रवक्ता माना जाता है। माओ के विचारों का रत्तमात्र विरोध भी पाप और अपराध है। माओ के प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

1 सशस्त्र क्रान्ति आज भी उतनी ही आवश्यक है जितनी मार्क्स या लेनिन के समय में थी। माओ का मार्ग है—क्रान्ति द्वारा गृह-युद्ध भड़काना और चोट पर

चोट करते हुए अन्ततोगत्वा साम्यवादियों द्वारा सत्ता पर अधिकार जमा लेना। माओ की दृष्टि मे सर्वहारा वर्ग क्रान्ति की सचालक शक्ति है और इस वर्ग को शक्ति-प्रयोग के लिए छापामार युद्धो का आश्रय लेना चाहिए। चीन के गृह-युद्ध अर्थात् च्यांगकाई शेक के विरुद्ध सघर्ष मे माओ ने छापामार युद्धो की प्रभावशीलता को सिद्ध कर दिखाया और आज यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण युद्ध-प्रणाली के रूप मे सुप्रतिष्ठित है। माओ ने स्टालिनोत्तर रूसी शासकों पर सशोधनवादी होने का आरोप लगाया और कहा कि वे क्रान्ति के पथ से विचलित हो गए हैं। माओ की एक बडी देन यह मानी जा सकती है कि उसने क्रान्ति के नेतृत्व मे किसानो को भी सम्मिलित किया। यद्यपि रूसी क्रान्ति मे भी किसान सम्मिलित थे, लेकिन नेतृत्व केवल श्रमिको के हाथ मे था। माओवाद की दृष्टि मे निर्धन किसानो का नेतृत्व मे योग अनिवार्य है क्योकि उनके बिना कोई वास्तविक क्रान्ति नही हो सकती। किसानो के अपमान का अर्थ है क्रान्ति का अपमान; किसानो पर प्रहार का मतलब है क्रान्ति पर प्रहार। विशालकाय चीन एक कृषि-प्रधान देश है, अत. किसानो की भूमिका को स्वीकार करके माओ ने चीन की परिस्थितियो का सही मूल्यांकन किया।

2 माओवाद, सामन्तवाद पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का घोर विरोधी है। वह पूँजीवाद के शव पर साम्यवाद का महल खडा करना चाहता है। माओ की मान्यता के अनुसार दो महायुद्ध पाश्चात्य पूँजीवाद को जर्जरित कर चुके हैं, अब उसे एक और प्रबल धक्का देना है और फिर यह लडखडाती हुई दीवार अपने आप गिर जाएगी। साम्यवादियो को चाहिए कि वे पूँजीवादी देशो मे क्रान्तियो, युद्धो और सघर्षों को भडकाएँ। माओ के अनुसार यद्यपि पूँजीवादी और समाजवादी दोनो ही व्यवस्थाओ मे अन्तर्विरोध हैं, लेकिन इनमे एक आधारभूत अन्तर यह है कि जहाँ पूँजीवाद के अन्तर्विरोधो का अन्त केवल युद्ध और शान्ति द्वारा ही हो सकता है, वहाँ समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्विरोध शान्तिपूर्वक दूर किए जा सकते हैं।

3. माओवाद शक्ति का दर्शन (Philosophy of Power) है। राजनीतिक शक्ति के सम्पूर्ण प्रयोग से मनुष्यो के हृदय परिवर्तन कर सभी सामाजिक शक्तियों को नियन्त्रित किया जा सकता है। माओ का शक्तिवादी विचार मार्क्स की इस मौलिक धारणा के प्रतिकूल था कि आर्थिक परिस्थितियाँ मानव-विचारो और सस्थाओं का निर्माण करती हैं। माओ का कहना था कि विचारो से समाज का निर्माण होता है और विचारो के बाद सैनिक शक्ति का महत्त्व है। सैनिक शक्ति तथा राजनीतिक शक्ति मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजनीतिक शक्ति बन्दूक की नली से उत्पन्न होती है और बन्दूक से कोई भी वस्तु उत्पन्न की जा सकती है।

4. माओवाद युद्ध की अनिवार्यता और शक्ति के प्रयोग का सन्देश देता है। माओ के लिए शान्ति तथा सहअस्तित्व की धारणा का कोई महत्त्व नही है। माओ के अनुसार अगला महायुद्ध सम्पूर्ण साम्राज्यवादी पूँजीवाद का पूर्ण रूप से विध्वंस करने वाला होगा। प्रथम महायुद्ध ने सोवियत क्रान्ति की भूमिका का निर्माण किया,

द्वितीय महायुद्ध के बाद चीन की क्रान्ति सम्पन्न हुई और अब तृतीय महायुद्ध सम्पूर्ण विश्व मे समाजवाद के प्रादुर्भाव के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण कर देगा।

5 इस समय विश्व विरोधी शिविरो मे विभाजित है। एक ओर साम्राज्यवादियो का शिविर है जिसमे अमेरिका और उसके साथी तथा अन्य प्रतिक्रियावादी देश हैं। दूसरा शिविर साम्राज्य-विरोधियो का है जिसमे साम्यवादी जगत् और चीन हैं। इन दोनो शिविरो से पृथक् तटस्थ राष्ट्रो का कोई स्थान नही है। तटस्थता केवल धोखे की टट्टी है। काश[1] भारत ने माओ के इस विचार का सही मूल्यांकन किया होता तो वह चीन के निर्लज्ज आक्रमण के प्रति प्रारम्भ से ही धोखे मे न रहता।

6 माओवाद लोकतन्त्रात्मक अधिनायकवाद (Democratic Dictatorship) का पक्षपोषण करता है। उसकी रचनाओ 'New Democracy', 'On Coalition Government', 'The Present Position and Task Ahead', 'The Peoples Democratic Dictatorship' आदि के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि माओवाद साम्यवादियो के लिए लोकतन्त्र और गैर-साम्यवादियो के लिए अधिनायकतन्त्र है और इस प्रकार यह मिलकर लोकतन्त्रात्मक अधिनायकवाद हो जाता है। *दूसरे शब्दो मे, माओवाद लोकतन्त्रात्मक तो इसलिए है कि यह 'जनता' के* हितो की पूर्ति के लिए शासन करता है और अधिनायकवादी इसलिए है कि यह क्रान्ति विरोधी शक्तियो का दमन करने के लिए निरकुश शक्ति का प्रयोग करता है। माओ को उदारवाद, सहअस्तित्व जैसे शब्दो से घृणा है। माओ के दर्शन मे प्रतिक्रियावादियो और गैर-साम्यवादियो के प्रति उदारता के लिए कोई स्थान नही है। उन्हे विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता नही दी जा सकती।

माओ की दृष्टि मे राज्य एक विशेष वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर शासन करने का साधन है अत राज्य का कर्त्तव्य है कि वह श्रमिक वर्ग के हितो के विरोधी तत्त्वो को निर्ममतापूर्वक कुचल दे। माओ का कहना है कि साम्यवादी दल शक्ति प्राप्त करने के बाद राज्य की शक्ति का प्रयोग पूंजीपतियो का नाश करने के लिए करेगा। साम्यवादियो को ही अधिकार प्राप्त होगे, गैर साम्यवादियो को नही।

7 माओ व्यक्ति-पूजा का प्रतिष्ठापक है। लेनिन ने यह स्वीकार किया था कि दल के उच्च सिद्धान्तो का प्रतिपादन केवल उच्च स्तर के व्यक्ति ही कर सकते हैं, किन्तु उसने व्यक्ति-पूजा की बात कभी नही की पर माओ की 'कथनी और करनी' मे बडा अन्तर था। माओ ने एक ओर तो 'सैंकडो फूलो के एक साथ खिलने' की बात कही, पर दूसरी ओर अपने कठोर अधिनायकवाद की इस प्रकार स्थापना की कि चीन मे माओ सबसे बडा देवता अर्थात् भगवान बन गया। केवल एक व्यक्ति माओ की तानाशाही रही जिसका एक-एक शब्द अन्तिम सत्य का उद्बोधक था। माओ ने अपने विरोधियो को सांस्कृतिक क्रान्ति के नाम पर खत्म कर देने मे कोई कसर नहीं रखी। साधारण जनता की बात ही क्या है, चीनी गणराज्य के अध्यक्ष लिया शाओ ची और चीन के सुरक्षा मन्त्री लिनपियाओ जैसे शक्तिशाली व्यक्ति भी इस सांस्कृतिक क्रान्ति के शिकार हुए। माओ ने चीन का 'माओकरण' करने का

पूरा प्रयत्न किया और 'माओ-गीता' का पाठ घर-घर मे किया जाना अनिवार्य-सा बना दिया। माओ-गीता या माओ-दैनन्दिनी के कुछ नियम सक्षेप मे इस प्रकार हैं–(1) युद्ध मे मनुष्य और शस्त्र की तुलना मे मनुष्य का महत्त्व अधिक है क्योंकि निर्णायक वस्तु मनुष्य है न कि शस्त्र, (2) सेना मे राजनीति को अन्य सैनिक कार्यों की तुलना में प्राथमिकता दी जानी चाहिए, (3) माओवाद ही सच्ची राजनीति तथा सच्चा अर्थशास्त्र है अत इसे ही सर्वोपरि महत्त्व दिया जाना चाहिए, (4) माओवाद ही सच्चा आदर्शवाद है, (5) जीवन्त विचारो और रचनात्मक व्यावहारिकता को कोरे किताबी, काल्पनिक तथा सिद्धान्तवादी विचारो की अपेक्षा प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

माओ के अनुसार प्रत्येक चीनी साम्यवादी को इन चार इच्छाओं को स्वीकार करना चाहिए।

(1) सबसे अच्छा साथी वह है जो राजनीतिक तथा वैचारिक दृष्टि से श्रेष्ठ है। (2) उसी साथी को श्रेष्ठ मानना चाहिए जो तीन-आठ (त्रि-अष्टक्) की कार्य प्रणाली के लिए उत्तम हो। इस त्रि-अष्टक् का अभिप्राय तीन प्रवृत्तियो और आठ चारित्रिक गुणो से है—(अ) अपनी सही राजनीतिक प्रवृत्ति को पकडे रखना, (आ) अपने कर्त्तव्य-पालन मे श्रम और सादगी का परिचय देना, एव (इ) अपनी युक्तियों में लचीलापन कायम रखना। आठ चारित्रिक गुणों मे एकता, सतर्कता, निश्चयात्मकता और सक्रियता सम्मिलित है, (ई) वह साथी श्रेष्ठ है जो सैनिक प्रशिक्षण की दृष्टि से उत्तम हो, एव (उ) जो सैनिको के लिए जीवन्त व्यवस्था करने मे निपुण हो।

8 माओ ने समाजवादी क्रान्ति के लिए जिस पद्धति को विकसित किया उसे 'टुन, टुन (Fight, Fight), टा, टा, टा, टा, (Talk, Talk, Talk, Talk)' सिद्धान्त कहते हैं। इसका अभिप्राय है कि सर्वप्रथम विरोधी पर आक्रमण कर उसे इतना निर्बल बना देना चाहिए कि वह लडने की बात छोडकर मेज पर बातचीत के लिए तैयार हो जाए। कुछ दिनों तक समझौता वार्ता चलानी चाहिए, लेकिन समझौते की शर्तें ऐसी रखी जानी चाहिए कि शत्रु उन्हे स्वीकार करने को तत्पर न हो। उसके ऐसा करने पर उस पर शान्ति भग का आरोप लगाना चाहिए और फिर इस आरोप का जबर्दस्त प्रचार करना चाहिए। लगभग इसी समय शत्रु पर पुन भयकर आक्रमण कर उसके प्रदेशो पर अधिकार कर लेना चाहिए। सक्षेप मे, पहले लडो, फिर निर्बल बनाकर बात-चीत करो, और तब वार्ता भग करके पुन लडो और अधिकार जमा लो।

माओ के कुछ अन्य विचार

ज्ञान—अपने सामाजिक व्यवहार में मनुष्य विभिन्न प्रकार के सघर्षों मे व्यस्त रहता है और अपनी सफलताओ और असफलताओ से प्रचुर अनुभव
मनुष्य की पाँच ज्ञानेन्द्रियो—आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा—

मस्तिष्क पर वस्तुगत बाह्य जगत् की असंख्य घटनाओं का प्रतिबिम्ब पड़ता है। ज्ञान शुरू मे इन्द्रिय-ग्राह्य होता है। धारणात्मक ज्ञान अर्थात् विचारों की स्थिति में तब पहुँचा जा सकता है जब इन्द्रिय-ग्राह्य ज्ञान काफी मात्रा मे प्राप्त कर लिया जाता है। यह ज्ञान-प्राप्ति की एक प्रक्रिया है तथा ज्ञान-प्राप्ति की समूची प्रक्रिया की पहली मजिल है—एक ऐसी मजिल जो हमें वस्तुगत पदार्थ से मनोगत चेतना की ओर ले जाती है, अर्थात् अस्तित्व से विचारों की ओर ले जाती है। किसी व्यक्ति की चेतना या विचार (जिनमे सिद्धान्त, नीतियाँ, योजनाएँ अथवा उपाय शामिल हैं) वस्तुगत बाह्य जगत् के नियमों को सही ढग से प्रतिबिम्बित करते हैं अथवा नहीं यह इस स्तर पर सिद्ध नहीं हो सकता तथा इस स्तर पर यह निश्चित करना भी सम्भव नहीं है कि वे सही हैं अथवा नहीं। इसके बाद ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया का दूसरा स्तर आता है, एक ऐसा स्तर जो हमें *चेतना से पदार्थ की तरफ वापस ले जाता है अर्थात् हम* विचारों से अस्तित्व की ओर वापस आते हैं तथा जिसमें पहली मजिल के दौरान प्राप्त ज्ञान को सामाजिक व्यवहार में उतारा जाता है ताकि इस बात का पता लगाया जा सके कि ये *सिद्धान्त, नीतियाँ, योजनाएँ अथवा उपाय प्रत्याशित सफलता प्राप्त* कर सकेंगे अथवा नहीं। आम तौर पर इनमें से जो सफल हो जाते हैं, वे सही माने जाते हैं और जो असफल हो जाते हैं वे गलत। यह बात प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य के सघर्ष के बारे में विशेष रूप से सत्य सिद्ध होती है। सामाजिक सघर्ष मे कभी-कभी आगे बढे हुए वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली शक्तियों को पराजय का मुँह देखना पड़ता है, इसलिए नहीं कि उनके विचार गलत हैं बल्कि इसलिए कि सघर्षरत शक्तियों के तुलनात्मक बल की दृष्टि से उस समय वे शक्तियाँ उतनी अधिक बलशाली नहीं होती हैं जितनी प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ। इसलिए उन्हें अस्थायी तौर पर पराजय का मुँह देखना पड़ता है, लेकिन देर-सबेर *विजय अवश्य उन्हीं को प्राप्त होती है।* मनुष्य का ज्ञान व्यवहार की कसौटी के जरिए छलाँग भर कर एक नई मजिल पर पहुँच जाता है। यह छलाँग पूर्ववर्ती छलाँग से अधिक महत्त्वपूर्ण होती है क्योंकि केवल यही छलाँग ज्ञान-प्राप्ति की पहली छलाँग अर्थात् वस्तुगत बाह्य जगत् को प्रतिबिबित करने के बीच बनने वाले विचारों, सिद्धान्तों, नीतियों, योजनाओं अथवा उपायों का सही अथवा गलत होना साबित करती है। सच्चाई को परखने का दूसरा कोई तरीका नहीं है।

अक्सर सही ज्ञान की प्राप्ति केवल पदार्थ से चेतना की तरफ जाने और फिर *चेतना से पदार्थ की तरफ लौटने की प्रक्रिया को, अर्थात् व्यवहार से ज्ञान की ओर,* और फिर ज्ञान से व्यवहार की ओर जाने की प्रक्रिया को बार-बार दोहराने से ही होती है। यही मार्क्सवाद का ज्ञान-सिद्धान्त अथवा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का ज्ञान-*सिद्धान्त है।*

आध्यात्म—आदर्शवाद और आध्यात्मवाद दुनिया में सबसे सुगम चीजें हैं क्योंकि इन्हें मानने वाले लोग वस्तुगत यथार्थ को आधार बनाए बिना अथवा वस्तुगत *यथार्थ की कसौटी पर परखे बिना चाहे जितनी अनर्गल बातें कर सकते हैं।* दूसरी

तरफ भौतिकवाद और द्वन्द्ववाद वास्तव में प्रयत्न साध्य चीजें हैं। इनमे वस्तुगत यथार्थ को आधार बनाना और उसे कसौटी पर परखना जरूरी है। यदि कोई प्रयत्न नहीं करेगा तो उसके लिए आदर्शवाद और आध्यात्मवाद के गड्ढे मे गिरने की सम्भावना बनी रहेगी।

विश्लेषण—जब भी हम किसी चीज का अध्ययन करें, तो हमे उसकी अन्तर्वस्तु की परीक्षा करनी चाहिए, उसके बाह्य रूप को अन्तर्वस्तु की देहरी तक पहुँचने देने के लिए मार्गदर्शक भर मानना चाहिए तथा एक बार देहरी पार कर लेने पर हमें उस चीज की अन्तर्वस्तु को दृढ़ता से पकड़ लेना चाहिए। विश्लेषण की यही पद्धति एक विश्वसनीय और वैज्ञानिक पद्धति है।

अन्तर्विरोध—किसी वस्तु के विकास का मूल कारण उसके बाहर नहीं बल्कि उसके भीतर होता है, उसके आन्तरिक अन्तर्विरोधों मे निहित होता है। ये आन्तरिक अन्तर्विरोध हर वस्तु में निहित होते हैं तथा इसलिए हर वस्तु गतिमान और विकासशील होती है। किसी वस्तु के भीतर विद्यमान अन्तर्विरोध ही उसके विकास का मूल कारण होता है जबकि उसके और अन्य वस्तुओं के बीच के पारस्परिक सम्बन्ध और पारस्परिक प्रभाव उसके विकास के गौण कारण होते हैं।

अनुशासन—जनता की बातों के अन्दर जनवाद केन्द्रीयता से जुड़ा रहता है और आजादी अनुशासन से। ये दोनो एक ही वस्तु के दो विपरीत पहलू हैं जो परस्पर विरोधी भी हैं और एकताबद्ध भी, तथा हमे इनमें से एक को ठुकरा कर दूसरे पर एकपक्षीय जोर नहीं देना चाहिए। जनता की बातो के अन्दर न तो आजादी के बिना हमारा काम चल सकता है और न अनुशासन के बिना; न जनवाद के बिना हमारा काम चल सकता है और न केन्द्रीयता के बिना। हमारी जनवादी केन्द्रीयता जनवाद और केन्द्रीयता की एकता तथा आजादी और अनुशासन की एकता से ही बनती है। इस व्यवस्था में जनता व्यापक जनवाद और आजादी का उपभोग करती है, लेकिन उसे समाजवादी अनुशासन की सीमाओं के अन्तर्गत रहना पड़ता है।

नौजवान—यह दुनिया तुम्हारी है, यह हमारी है, लेकिन अन्ततोगत्वा यह तुम्हारी ही होगी। तुम नौजवान लोग ओजस्विता और जीवन शक्ति से भरपूर सुबह या नौ बजे के सूरज की तरह अपनी जिन्दगी की पुरबहार मंजिल में हो। हमारी आशाएँ तुम पर लगी हुई हैं।

हमें इस बात को समझने में अपने तमाम नौजवानों की मदद करनी चाहिए कि हमारा देश अब भी बहुत गरीब है। हम थोड़े से समय में ही इस स्थिति को बुनियादी रूप मे नहीं बदल सकते तथा केवल मात्र अपनी युवा पीढ़ी और समस्त जनता के सयुक्त प्रयत्नों द्वारा और स्वय अपने भुजबल के भरोसे काम करके ही कुछ दशाब्दियों मे हम अपने देश को मजबूत और समृद्ध बना सकते हैं। समाजवादी व्यवस्था कायम होने से भविष्य के एक आदर्श समाज तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त हो गया है, किन्तु इस आदर्श को वास्तविक रूप देने के लिए हमें कठिन परिश्रम करना होगा।

स्त्रियाँ—काम करने लायक हर स्त्री को समान कार्य के लिए समान वेतन के सिद्धान्त के अन्तर्गत श्रम के मोर्चे पर तैनात होने का मौका दो। वह कार्य शीघ्रातिशीघ्र हो जाना चाहिए।

साहित्य—कला व साहित्य की समालोचना के दो मापदण्ड होते हैं—एक राजनीतिक मापदण्ड और एक कलात्मक। इन दोनों के बीच क्या सम्बन्ध है? कला को राजनीति के समकक्ष नहीं रखा जा सकता और न कलात्मक सृजन व समालोचना की किसी एक पद्धति को ही विश्वव्यापी दृष्टिकोण के समकक्ष रखा जा सकता है। हम न सिर्फ एक अमूर्त और बिलकुल अपरिवर्तनीय राजनीतिक मापदण्ड के अस्तित्व को मानने से इन्कार करते हैं, बल्कि एक अमूर्त और अपरिवर्तनीय कलात्मक मापदण्ड के अस्तित्व को मानने से भी इकार करते हैं। सभी वर्ग-समाजों मे हर वर्ग के अपने स्वय के राजनीतिक और कलात्मक मापदण्ड होते हैं, लेकिन सभी समाजों मे सभी वर्ग हमेशा राजनीतिक मापमण्ड को प्रमुख स्थान देते हैं और कलात्मक मापदण्ड को गौण। हम जिस चीज की माँग करते हैं वह है राजनीनि और कला की एकता, विषयवस्तु और रूप की एकता, क्रान्तिकारी राजनीतिक विषयवस्तु और यथासम्भव अधिक पूर्ण कलात्मक रूप की एकता। वे कलाकृतियाँ जिनमे कलात्मक प्रतिभा का अभाव होता है, बिलकुल शक्तिहीन होती हैं चाहे राजनीतिक दृष्टि से वे कितनी ही प्रगतिशील क्यों न हो। इसीलिए हम ऐसी कलाकृतियो के सृजन का जिनका राजनीतिक दृष्टिकोण गलत होता है, तथा पोस्टरबाजी व नारेबाजी जैसी शैली की उन कलाकृतियों का, जिनका राजनीतिक दृष्टिकोण तो सही होता है, किन्तु जिनमें कलात्मकता का अभाव होता है, विरोध करते हैं। साहित्य और कला के प्रश्न पर हमे इन दोनों मोर्चों पर सघर्ष करना चाहिए।

'सौ फूल खिलने दो और सौ विचार-शाखाओं में होड होने दो' की नीति कला व विज्ञान की प्रगति को प्रोत्साहन देने तथा हमारे देश में समाजवादी सस्कृति की समृद्धि को बढाने की नीति है। कला के क्षेत्र में विभिन्न रूपों और शैलियों का स्वतन्त्रता से विकास होना चाहिए और विज्ञान के क्षेत्र में विभिन्न विचार-शाखाओं में स्वतन्त्रतापूर्वक होड होनी चाहिए। हमारे विचार से अगर किसी शैली विशेष या विचार-शाखा विशेष को लादने और दूसरी शैली विशेष या विचार-शाखा विशेष पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए प्रशासकीय कार्यवाही की जाती है तो वह कला और विज्ञान के विकास के लिए हानिकारक सिद्ध होगी। कला और विज्ञान जगत् में सही और गलत के प्रश्न को कला और विज्ञान के क्षेत्र में स्वतत्र वाद-विवाद तथा व्यावहारिक कार्य द्वारा हल करना चाहिए। उनका जल्दबाजी से समाधान नहीं होना चाहिए।

अध्ययन—ज्ञान एक वैज्ञानिक वस्तु है और इस मामले में जरा भी बेईमानी या घमण्ड की अनुमति नहीं दी जा सकती। इससे बिलकुल उल्टा ईमानदारी और नम्रता का दृष्टिकोण निश्चित रूप से आवश्यक है।

आत्मतुष्टि अध्ययन की शत्रु है। जब तक हम आत्मतुष्टि से नाता नहीं तोड़ लेंगे, तब तक हम सचमुच कुछ भी नहीं सीख पाएँगे। हमें स्वय सीखने के लिए लालायित रहने का रवैया और दूसरों को सिखाने की अथक् कोशिश करने का रवैया अपनाना चाहिए।

संस्कृति और समन्वय—मूलभूत सिद्धान्तो की दृष्टि से ससार के सभी राष्ट्रो की कला एक है, लेकिन हर देश की कला का एक विशेष राष्ट्रीय रूप और उसकी राष्ट्रीय शैली होती किन्तु कुछ लोग इस बात को नही समझते। वे अपनी कला के राष्ट्रीय गुणो को अस्वीकार करते हैं और पश्चिम की अन्धभक्ति यह सोचकर करते हैं कि पश्चिम हर प्रकार से उत्तम है। इतना ही नहीं वे पूर्ण पश्चिमीकरण की वकालत करते हैं· चीनी कला, चीनी संगीत, चित्रकला, नाटक, गान और नृत्य और साहित्य सबका अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। चीनी चीजो को अस्वीकार करके जो लोग पूर्ण पश्चिमीकरण का आग्रह करते हैं उनका कहना है कि चीनी चीजो के अपने नियम नहीं हैं और इसलिए वे उनका अध्ययन करने या उनका विकास करने के लिए प्रस्तुत नही हैं। यह चीनी कला के प्रति राष्ट्रीय नकारात्मकता की प्रवृत्ति है''''हमे अन्य देशो की बहुत-सी चीजें सीखनी चाहिए और उनमे दक्षता प्राप्त करनी चाहिए। हमारे लिए विशेष रूप से यह आवश्यक है कि मूलभूत सिद्धान्त मे निपुणता प्राप्त करें मार्क्सवाद एक मूलभूत सिद्धान्त है जिसका जन्म पश्चिम मे हुआ है। इस सम्बन्ध मे हम यह अन्तर कैसे करेंगे कि क्या चीनी है क्या पश्चिम? हमे यह स्वीकार करना चाहिए। मार्क्सवाद एक सामान्य सत्य है जो सार्वभौमिक रूप से लागू होता है, लेकिन इस सामान्य सत्य को हर राष्ट्र की क्रान्ति के ठोस कार्य से सम्बद्ध करना चाहिए · हमें सभी आधुनिक विज्ञानो का अध्ययन करना चाहिए लेकिन जिन कुछ लोगो ने पश्चिमी औषधियो के बारे मे अध्ययन किया है उन्हे चीनी औषधियो का भी अध्ययन करना चाहिए और अपने आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान तथा पद्धति को व्यवस्थित कर अपनी प्राचीन चीनी चिकित्सा-पद्धति और उपकरणो का अध्ययन करना चाहिए। चीन के नव-सगठित चिकित्सा और औषधि विज्ञान के निर्माण के लिए उन्हें चीनी और पश्चिमी औषधि और औषधि विज्ञान को समन्वित करना चाहिए।

हमे यह स्वीकार करना चाहिए कि जहाँ तक आधुनिक संस्कृति का प्रश्न है, पश्चिम का मानदण्ड हमसे ऊँचा है। हम पीछे छूट गए हैं।

क्या कला के सन्दर्भ मे भी यही स्थिति है? कला मे हमारी अपनी शक्ति और हमारी अपनी कमियाँ हैं। अपनी कमियो को गुणों मे परिवर्तित करने के लिए हमे अन्य देशो की अच्छी बातो को अपने मे सजो लेना चाहिए। यदि हम अपनी प्रारम्भिक पद्धति से चिपके रहे और हमने विदेशी साहित्य का अध्ययन नहीं किया और इसे चीन मे शुरू नही किया, यदि हम यह नहीं जान पाए कि विदेशी संगीत कैसे सुना और सराहा जाता है तथा उसे कैसे गाया और बजाया जाता है, तो यह अच्छी बात नहीं है विदेशी बातों का अन्धा होकर अस्वीकार करना अन्धो की तरह उसकी पूजा करने जैसा ही है दोनो ही बातें गलत और हानिकारक हैं। हम सू सूं से सीखना चाहिए अपनी रचना मे उसके गुणो का प्रदर्शन करना चाहिए। चीनी और विदेशी कला के अच्छे तत्वो को एक दूसरे मे आत्मसात् कर एक नई कला को जन्म देना चाहिए जिसका चरित्र रूप और शैली मे राष्ट्रीय हो। उदाहरण

के लिए उपन्यास लिखते समय भाषा, चरित्र, पृष्ठभूमि निश्चय ही चीनी हों, लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि वे चीनी किस्तवादी रूप मे लिखे गए हो। आप कुछ ऐसा रच सकते हैं जो न चीनी हो और न पश्चिमी। यदि परिणाम यह भी निकले कि वह न तो गदहा हो न घोडा बल्कि खच्चर हो, तब भी वह बुरी बात नहीं होगी"" हमे विदेशी चीजो की विवेकात्मक स्वीकृति की ओर ध्यान देना चाहिए और विशेष तौर पर तब जब हम समाजवादी ससार तथा पूँजीवादी ससार की प्रगतिशील जनता से कुछ ग्रहण कर रहे हो""इसे अर्पित करने के लिए हमे प्रयोगो से मुँह नहीं मोडना चाहिए।[1]

मूल्यांकन

माओ ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद का चीनी सस्करण प्रस्तुत किया और सोते हुए चीन को जाग्रत एक विश्व-शक्ति के रूप मे परिणत कर दिखाया, इसलिए उसे आधुनिक चीन का निर्माता कहा जाए तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी। 8–9 सितम्बर, 1976 की रात्रि को मृत्यु के उपरान्त चीन ने 18 सितम्बर को अपने महान् नेता की अन्त्येष्टि की सार्वजनिक रस्म पूरी की। उस दिन 80 करोड चीनियो ने अपने घुटनो के बल बैठकर स्मृतिशेष माओ को अपनी अन्तिम श्रद्धांजलि अर्पित की। चीन की जनता माओ को कभी नही भुला सकती। आधुनिक युग के समस्त क्रान्तिकारियो, स्वप्नद्रष्टाओ, प्रशासको और राजनयिकों की जमात मे माओ ही सम्भवत: एकमात्र ऐसा व्यक्ति सिद्ध हुआ है जो एक विशाल परम्परावादी समाज मे जीते-जी अपने सपनो को तथा सिद्धान्तो को व्यावहारिक रूप दे सका। इसके लिए उन्हें सन् 1949 के बाद भी बराबर सघर्ष करते रहना पडा, क्योंकि उन्हे यह सहन नहीं था कि समतावादी समाज की धारणा किसी एक तन्त्र, व्यवस्था या प्रणाली मे बँध कर रह जाए क्योंकि तब वह स्वभावत धीरे-धीरे रूढ होकर जड हो जाएगी। इसलिए वह लम्बी कूद, सांस्कृतिक क्रान्ति आदि आन्दोलनो द्वारा सरकार, दल और सैनिक तन्त्र को ऐसी विकट स्थितियो मे डालते रहे जिससे नीचे की मिट्टी ऊपर उठ आई, नया नेतृत्व उभरा—भले ही इसके कारण अस्थायी रूप से उत्पादन मे कमी आई हो अथवा स्कूल-कॉलेज कुछ समय के लिए बन्द हो गए हो। माओ की बराबर उथल-पुथल वाली यह रणनीति तात्कालिक लाभ की अपेक्षा गन्तव्य को व बुनियादी बातो को अधिक महत्त्व देती थी जिससे अनेक विरोधाभासो और सैद्धान्तिक बहसों का जन्म होता है, जो चीन के राजनीतिक जीवन का और सत्ता की होड का भी प्रमुख अग बन चुका है। माओ एक और तरह से भी सौभाग्यशाली रहे कि मरने के पहले सांस्कृतिक क्रान्तिकाल मे और उसके बाद हुई टूट-फूट और विकृतियो को ठीक कर सन् 1975 मे एक नया सविधान और सरकार, दल व सेना का एक ऐसा सन्तुलन कायम कर गए कि मध्यमार्गी और उग्रवादी पारस्परिक तालमेल बैठाकर आगे बढ सकें।

1 दिनमान : सितम्बर, 1976.

माओ-त्से-तुंग क्रान्तिदृष्टा और क्रान्तिकारी किसान थे। यह कहना कुछ विलक्षण भले ही लगे पर यह सही है कि यदि माओ न होते तो चीनी क्रान्ति भी न होती। चीनी भाषा मे 'क्रान्ति' शब्द का विचित्र अर्थ है। अंग्रेजी या हिन्दी मे रिवोल्यूशन या क्रान्ति का जो अर्थ है, चीनी मे ग-मिग शब्द का उससे भिन्न अर्थ है—शासक वंश को शासन करने के दैवी अधिकार से वंचित कर देना। यह शुद्ध राजनीतिक अर्थ है। शताब्दियो से चीनी किसान दबा हुआ था। उसे समाज मे कोई अधिकार प्राप्त न था सिवाय इसके कि वह अपमान और गरीबी का दण्ड भोगे, समय-समय पर उसने राजवंशो को गद्दी से उतार भी दिया था, परन्तु इससे कोई परिवर्तन नही आया था, कम से कम चीनी किसान के लिए तो कुछ भी नही। सभी चतुर सिद्धान्तवादियो की भाँति चीनी सिद्धान्तवादियो ने भी राजवंशो के पतन को लेकर एक सिद्धान्त गढ रखा था। यह था 'ईश्वरेच्छा' सिद्धान्त, अर्थात् यह ईश्वर की इच्छा थी कि अमुक राजवंश का पतन हो, सो वह हुआ। इस सिद्धान्त से अपने को सन्तुष्ट कर चीन का ब्राह्मण वर्ग निश्चिन्त हो जाता था, परन्तु किसान पिसता रहता था और बार-बार ऐसा होता था। माओ और उसकी कम्युनिस्ट पार्टी ने यह स्थिति बदल दी। सन् 1926 मे उसने सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि किसान ही आगामी क्रान्ति का वाहक होगा। उन्होने किसान को बताया कि साम्राज्यवादी, भूपति और बुर्जुआ वर्ग चीन को बेच खाने पर उतारू हैं। चीन मे किसान को मजदूर के साथ मिलकर (जो उस समय केवल बीस लाख थे) क्रान्ति करनी होगी। बाकी सब लोग साम्राज्यवादियो की पूजा करते रहेंगे। राजवंशो को नष्ट करने से कुछ काम नही बनेगा। आवश्यक यह है कि राज्य की पुरानी व्यवस्था को तोड दिया जाए। चीनी किसान ने माओ के सन्देह को समझा और उसका अनुसरण किया। माओ का विलक्षण योगदान यही है कि उसने विशाल चीनी किसान-समाज मे जनवादी चेतना उत्पन्न की। 28 वर्ष के भीतर साठ करोड चीनी किसानो ने जनशक्ति का रूप ग्रहण कर लिया और समाज की इस तरह काया पलट दी, जैसा चीनी इतिहास मे पहले कभी नही हुआ था।

माओ ने क्रान्ति को दो अर्थ दिए—प्रथम, क्रान्ति शासकवंश को शासनाधिकार से वंचित करती है, द्वितीय क्रान्ति शासक के विचारो और मूल्यो को भी अमान्य करती है। माओ इस बात के लिए बहुत उत्सुक था कि चीनी क्रान्ति का दूसरा विच्छेद पुराने विचारो, पुरानी आदतो, पुरानी रीतियो और पुरानी संस्कृति से सम्बन्ध करे। माओ का प्रमुख योगदान अधिरचना के मार्क्सवादी सिद्धान्त को पहली बार ठीक-ठीक समझ कर व्यवहार मे परिणत करना था। वह पहला कम्युनिस्ट था जिसने ऐसा किया। उसके जीवन के अन्तिम वर्ष पुराने ढाँचे के खिलाफ क्रान्तिकारी संघर्ष का संगठन करने मे बीते। उसके निरन्तर क्रान्ति के प्रयोग, उसके जन-अभियान अधिरचना पर आक्रमण जारी रखने के लिए उसके पार्टी के परे जाने के प्रयत्न इसी 'दूसरे विच्छेद' के उद्देश्य थे। उन्होंने बहुत स्पष्ट रूप से देखा था कि दूसरा विच्छेद कायम रह सकता है।[1]

1 गोविन्द पुरुषोत्तम देशपाण्डे—दिनमान सितम्बर, 1976

दुर्भाग्यवश माम्रो के अतिशय क्रान्तिकारी और विस्तारवादी विचार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव व्यवस्था के लिए घातक सिद्ध हुए हैं। आज के आणविक युग मे माम्रोवाद जैसी शक्ति, हिंसा और वर्ग-सघर्ष को अत्यधिक प्रोत्साहन देने वाली विचारधारा मानवता को कभी भी महाविनाश के कगार पर ला सकती है। हिटलर और मुसोलिनी की तरह 'युद्ध और शक्ति के गीत गाना' निश्चय ही भयोत्पादक है। माम्रो ने सम्भवतः इस तथ्य की उपेक्षा कर दी कि मार्क्सवादी-साम्यवाद की जन्म भूमि सोवियत रूस तक समय की गति को पहचान कर सहअस्तित्व की बात करने लगा है और 'युद्ध की अनिवार्यता' में उसका विश्वास शिथिल पडने लगा है। माम्रो भूल गए कि आणविक युद्ध मे विजेता और विजित दोनो का महाविनाश होगा—ऐसा महाविनाश जिसमे यह कहना मुश्किल होगा कि कौन हारा और कौन जीता। शक्ति प्रदर्शन, चाहे वह माम्रोवादी हो या कोई अन्य वादी, निश्चित रूप से सम्पूर्ण मानवता के लिए घातक है और मार्क्स की इस मौलिक धारणा के विरुद्ध है कि आर्थिक शक्तियाँ मानव-विचारो और सस्थाम्रो का निर्माण करती हैं।

3 फ्राँसीसी श्रमिक संघवाद, श्रेणी समाजवाद, फेबियन समाजवाद, समष्टिवाद, अराजकतावाद : क्रान्तिकारी और दार्शनिक

(French Syndicalism, Guild Socialism, Fabian Socialism, Collectivism, Anarchism : Revolutionary and Philosophical)

श्रमिक संघवाद
(Syndicalism)

19वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में फ्रांस के श्रमिक आन्दोलन से श्रमजीवी वर्गों के लिए एक नवीन सामाजिक सिद्धान्त का सूत्रपात हुआ जो श्रमिक संघवाद (Syndicalism) के नाम से प्रसिद्ध है। यह एक क्रान्तिकारी विचारधारा है जो शान्ति और विकासवाद दोनों सिद्धान्तों को अस्वीकार कर मजदूरों को तुरन्त सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त कराना चाहती है। यह आन्दोलन औद्योगिक क्षेत्र में उद्योगपतियों के अधिकार के विरुद्ध ही नहीं, बल्कि राजनीतिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप के विरुद्ध भी है। अपने सारे सिद्धान्तों में यह समूहवादी व्यवस्था तथा समूहवादी राज्य दोनों का बिलकुल उल्टा है। समाजवाद और संघवाद में मुख्य भेद यह है कि जहाँ समाजवाद व्यवसायों का संचालन एवं स्वत्व राज्य को सौंप देना चाहता है वहाँ संघवाद इसे मजदूर के हाथ में रखना चाहता है।

'सिण्डीकलिज्म' शब्द की उत्पत्ति फ्राँसीसी शब्द 'सिण्डीकेट' से हुई जिसका अर्थ है श्रमसंघ (Labour Union)। "जब 19वीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दी में फ्रांस के श्रम-संघों के प्रमुख राष्ट्रीय संगठन में उग्रपंथियों तथा नरमपंथियों के दो भाग हो गए तब उन दोनों की विरोधी नीतियों के लिए 'क्रान्तिवादी सिण्डीकलिज्म' (Revolutionary Syndicalism) तथा 'सुधारवादी सिण्डीकलिज्म' (Reformist Syndicalism) शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा। जब उस संगठन पर क्रान्तिवादी सिण्डकलिस्टों का अधिकार हो गया, तो मजदूर-संघ की नीति केवल 'सिण्डीकलिज्म'

के नाम से प्रसिद्ध हुई।" आगे जहाँ कहीं भी सिण्डीकलिज्म या सघवाद शब्द का प्रयोग किया जाएगा वहाँ उसका आशय क्रान्तिवादी सिण्डीकलिज्म से ही लिया जाना चाहिए। यद्यपि फ्रांस मे आज भी 'सिण्डीकलिज्म' शब्द साधारण ट्रेड यूनियन आन्दोलन के लिए प्रयोग में आता है, किन्तु क्रान्तिकारी ट्रेड यूनियन आन्दोलन को ही 'सघवाद' (Syndicalism) कहना अधिक उपयुक्त होगा। सिद्धान्त रूप मे इसे प्रेरणा देने वाले प्रोधों तथा कार्ल मार्क्स थे और अराजकतावादी दर्शन के कुछ-कुछ निकट होने के कारण इसे अराजकतावादी सघवाद (Anarchy Syndicalism) भी कहते हैं। वस्तुत इस विचारधारा का जन्म कुछ ऐसी परिस्थितियों मे हुआ जो फ्रांस के इतिहास मे भ्रष्टाचार, अन्याय, शोषण तथा उत्पीडन का युग कहा जाता है। भ्रष्ट प्रजातन्त्र के विरुद्ध अपनी आवाज उठाने के कारण इसे 'पतित प्रजातन्त्र का प्रतिशोधपूर्ण न्याय' (Anemisis of Corrupt Democracy) भी कहते हैं। सघवाद आदि से अन्त तक उग्र एव क्रान्तिकारी है और आरम्भ से ही एक अराजनीतिक आन्दोलन होने के कारण यह राजनीति के सब रूपों तथा सब प्रकारों का खुले शब्दो मे विरोध करता है।

श्रमिक सघवाद की विचारधारा वर्तमान काल में निष्प्राण है, परन्तु विभिन्न देशों के श्रमिक तथा अन्य क्रान्तिकारी दर्शन इसके प्रभाव से मुक्त नहीं रह सके हैं। सघवादी आन्दोलन फ्रांस मे सर्वप्रथम सन् 1887 मे शुरू हुआ और प्रथम महायुद्ध के पूर्व ही फ्रांस की लगभग आधे से अधिक ट्रेड यूनियनें ,इस आन्दोलन के अधिकार क्षेत्र मे आ गई। सन् 1887 तक बहुत से अराजकतावादी तत्त्व इन सघो मे प्रवेश कर गए। लगभग 6 वर्ष बाद नगर मजदूर सघ (Federation de Bourses du Travail de France) नामक सस्था की स्थापना की गई जो बहुत शीघ्र ही फ्रांस मे मजदूर आन्दोलन का केन्द्र बन गई। दो वर्ष बाद सन् 1895 में सब सिण्डीकेटो ने अपना एक सघ बनाया जो केन्द्रीय श्रम सघ (Confederation Generale du Travail) अथवा C G T के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसने श्रमिकों की मुक्ति के लिए उन्हें सगठित करने और सघवादी विचारधारा को सारे देश मे उत्साहपूर्वक फैलाने का बीडा उठाया। इसने एक सघवादी नीति निर्धारित की जिसका अनुसरण कर सघवादी व्यवस्था का निर्माण करना सघवादियों का ध्येय था। यह सघ दो प्रकार की सस्थाओं का एक सम्मिलित रूप था जो सन् 1902 में मिलकर एक हो गई थीं। प्रथम प्रकार की सस्था मे मजदूरों के अलग-अलग मजदूर सघो (Labour Syndicates) का समावेश था जिनकी सख्या फ्रांस में 100 के लगभग थी तथा दूसरी सस्था 'Bourse du Travail' थी जिसे सन् 1893 में मजदूरों के सार्वजनिक हितों की रक्षा करने के लिए अनेकों प्रकार के मजदूरों ने मिलकर स्थापित किया था। इस प्रकार सघवादी *सिद्धान्त की* सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता सबको छोटी से छोटी औद्योगिक इकाइयों में विभाजित करना था ताकि सत्ता विकेन्द्रित हो सके। इस केन्द्रीय मजदूर-सघ ने फ्रांस के मजदूरो का नेतृत्व किया और उन्हें वह ठोस कार्यक्रम दिया कि वे आम हडताल (General Strike) द्वारा समहवादी वैधानिक

उपायो (Collectivist Constitutional Methods) को त्यागकर राज्य को उखाड फेंकने के लिए भीषण क्रान्ति करें। वस्तुत यह सघ सारे फ्रांस की एक राष्ट्रीय सस्था (National Organisation) थी जिसके नेतृत्व मे फ्रांसीसी मजदूर सघो ने शान्तिपूर्ण साधनो के स्थान पर वर्ग-सघर्ष का क्रान्तिकारी मार्ग अपना कर ब्रिटिश मजदूरो के विपरीत मार्ग पकडा ।

श्रमिक सघवादी दर्शन

प्रथम, श्रमिक सघवाद एक मजदूर आन्दोलन है जिसे राजनीति मे सक्रिय बनाने वाले भी मजदूर हैं। यह राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, औद्योगिक सभी क्षेत्रों मे मजदूरों को सम्पूर्ण सत्ता सौंपने का समर्थक है। यह एक ऐसा जन-आन्दोलन है जिसका मध्यमवर्गीय नेतृत्व और मध्यमवर्गीय समाजवाद दोनों से विरोध है। इसका आरोप है कि मध्यम वर्ग के लोगो का पूँजीपतियो से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और वे स्वय पूँजीपति बनने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। समाजवाद के सभी रूप चालाक मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियो की देन हैं। इनका नेतृत्व श्रमिक वर्ग को पथ-भ्रष्ट कर सकता है।

दूसरे, राज्य अमीरों की सस्था (A Bourgeois Institution) है जो वर्ग-सहयोग का झूठा नारा लगा कर मजदूरो के हितो के प्रति उदासीन रहता है। राज्य पूँजीपतियों और सत्ताधारियो के हाथों का खिलौना बनकर अन्याय और शोषण को स्थायी बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह किसी भी रूप मे बहुलवादी समाज के विभिन्न हितो मे समन्वय स्थापित नहीं कर सकता। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से राज्य सदैव एकवर्गीय रहा है जिसने धनिको और शक्ति सम्पन्नो का पक्ष लिया है। राज्य इसलिए भी विरोध का पात्र है कि वह उपभोक्ताओ के हितो का प्रतिनिधित्व करता है, उत्पादको के हितो की चिन्ता नही करता। राज्य-कर्मचारी उन व्यक्तियों से घृणा करने लगते हैं जो उत्पादन-कार्यों मे लगे हैं। नौकरशाही (Bureaucracy) जन-साधारण की आवश्यकताओ को नहीं समझती और जनता तथा श्रमिकों की माँगों के प्रति उसमे कोई सहानुभूति नही होती। पुनश्च, राज्य मध्यमवर्गीय सस्था है जिसमे मुट्ठीभर नौसिखिए राजनीतिक अक्षमतापूर्ण ढग से शासन चलाते हैं। सघवादियो का राज्य के प्रति घोर विरोध का एक मौलिक कारण यह था कि राज्य का व्यवहार फ्रांसीसी मजदूरों के प्रति अत्यन्त शत्रुतापूर्ण और उद्योगतियो के साथ अधिक मैत्रीपूर्ण रहता था।

तीसरे, सघवाद उद्देश्य मे अराजकतावादी होते हुए भी अराजकतावाद की स्थापना करना नहीं चाहता। वह लक्ष्य की ओर बढने के लिए श्रमिको को राजनीतिक दलों तथा लोकतन्त्रात्मक सस्थाओ मे भाग लेने की अनुमति देता है। इस प्रकार यह अधिक उदार तथा सत्तावाद का विरोधी है। जहाँ अराजकतावाद केवल ऐच्छिक सघो की स्थापना चाहता है वहाँ सघवादी समाज राज्य के स्थान पर श्रमिक सघों द्वारा श्रमिको का शासन स्थापित करने के पक्ष मे है।

चौथे, जैसा कि पूर्व वर्णन से स्पष्ट है, सघवाद वर्ग-संघर्ष मे विश्वास करता

है। इसके अनुसार पूँजीपतियों और राज्य के विरुद्ध संघर्ष सदैव जारी रखना चाहिए ताकि श्रमिक जागरुक, चुस्त और सावधान रहें।

पाँचवें, संघवाद उद्देश्य की सिद्धि के लिए हिंसक क्रान्ति का समर्थक है। शान्तिपूर्ण और अहिंसक उपाय श्रमिक-चेतना को नष्ट करने वाले हैं। क्रान्ति और आम हड़ताल की पुष्टि करते हुए भी यह युद्ध का उपदेश नहीं देता। युद्ध के जन्मदाता तो केवल पूँजीपति ही हैं। उनके पारस्परिक स्वार्थों की टकराहट से युद्ध का जन्म होता है। विश्व के श्रमिकों के उद्देश्य समान होते हैं अतः यह अनुचित है कि वे परस्पर रक्तपात करें। इसीलिए संघवादियों का दृष्टिकोण सेना-विरोधी है। प्रारम्भ से ही सेना का मुख्य कार्य राष्ट्र की रक्षा करना न होकर राष्ट्र के पूँजीपति वर्ग को संरक्षण देना रहा है। युद्ध में सेना अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवादी हितों की पूर्ति करती है।

छठे, संघवाद के अनुसार संसदीय प्रणाली एक धोखा है, अमीरों के दिमाग की उपज है जिससे श्रमिकों का हित नहीं होता। यही एक ऐसी वैधानिक प्रणाली है जो श्रमिकों की वर्ग-चेतना को मन्द कर उनमें पूँजीवादी मनोवृत्ति पैदा करती है। अनेक समाजवादी मन्त्री बनने पर समाजवादी नहीं रहते।

सातवें, राजनीतिक दलबन्दी गलत है क्योंकि उससे श्रमिकों के हितों का हनन होता है। राजनीतिक दलों में वर्ग-विशेष के ही नहीं बल्कि सभी प्रकार के लोग सम्मिलित होते हैं, अतः दल का संचालन कुछ गिने-चुने चालाक लोगों के हाथों में आ जाता है जिन्हें श्रमिकों से कोई सहानुभूति नहीं होती। श्रमिकों को दल के आधार पर कार्य न कर, वर्ग के आधार पर कार्य करना चाहिए। संघवाद रूसी व्यवस्था को भी स्वीकार नहीं करता क्योंकि उसमें श्रमिकों का अधिनायकत्व वास्तव में एक दल का ही अधिनायकत्व है और इसीलिए जनता को सच्ची राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है।

आठवें, राष्ट्रीयता की भावना त्याज्य है क्योंकि यह तो पूँजीपतियों तथा राज्य द्वारा अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए उत्पन्न की जाती है। संसार के मजदूरों की लगभग समान समस्याएँ हैं। उनमें आपस में कोई विरोध नहीं है। 'मजदूरों की कोई मातृभूमि नहीं होती।' राष्ट्र-प्रेम की भावना एक मायाजाल है जो केवल एक ही वर्ग के हितों की रक्षा करता है।

नवें, प्रजातन्त्र हेय है क्योंकि यह वर्ग-संघर्ष के प्रतिकूल है, अक्षमतापूर्ण शासन को प्रोत्साहित करता है तथा बहुमत के नाम पर इसमें छल-कपट का बोलबाला होता है। पूँजीपति धन के बल पर मत खरीदते हैं, अपने पिट्ठुओं को संसद में निर्वाचित करा लेते हैं और बहुमत के नाम पर सार्वजनिक जनता का गला घोंटते हैं।

यह उल्लेखनीय है कि संघवादियों के अनुसार जब तक राज्य का अस्तित्व है तब तक अवसर आने पर उसकी सेवाओं से लाभ उठाने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। विशेष अवस्थाओं में श्रमिक अपने लिए हितकारी कानून बनाने के प्रयत्नों में भागीदार बन कर कानूनों के निर्माण के लिए कार्य कर सकते हैं ताकि उनकी

सभाओ को कानूनी स्वीकृति मिल जाए और उन्हें ऐसे कार्य सौंप दिए जाएँ जैसे सार्वजनिक रोजगार कार्यालयो का सचालन तथा कारखानो सम्बन्धी कानून के क्रियान्वयन का निरीक्षण।

अन्त मे, श्रमिक सघवाद को सार रूप मे प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि यह एक ऐसा आन्दोलन है जो मजदूर-सगठनो द्वारा चलाया जाता है और जिसका उद्देश्य एक ऐसे नवीन समाज की रचना करना है जिसमे उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली को कोई स्थान नही होगा, श्रमिक सघो का उत्पादन के साधनो पर अधिकार होगा और कुछ उद्योगो की प्रबन्ध-व्यवस्था उनके द्वारा ही होगी। वितरण और उपभोग का विनिमय भी उन्ही के द्वारा किया जाएगा। सघवाद की यह एक सकारात्मक व्यवस्था कही जा सकती है। नकारात्मक दृष्टि से सघवाद राज्य का, राष्ट्रीयता और राष्ट्र-प्रेम का, सैन्यवाद का, ससदीय प्रणाली का, राजनीतिक दलो का, मध्यम वर्ग का और यहाँ तक कि सोवियत सघ के समाजवाद का भी विरोधी है। लेकिन राज्य का विरोध करते हुए भी अवसर आने पर यह उद्देश्य-सिद्धि के लिए राज्य से लाभ उठाता है।

सघवाद के साधन (Methods)

श्रमिक सघवादी राजनीतिक और सांविधानिक तरीको मे विश्वास नही रखते। श्रमिको और पूँजीपतियो के हितो मे समन्वय के कोई भी प्रयास उनकी दृष्टि मे सफल नही हो सकते। राजनीतिक और सांविधानिक साधन श्रमिको की वर्ग-चेतना का नाश करते हैं। क्रान्तिकारी उपाय ही उन्हे स्फूर्ति और जागृति प्रदान करते हैं तथा भीषण सकटो मे डटे रहने के लिए प्रेरित करते हैं। हिंसक क्रान्ति मे साथी होने के कारण मजदूरो मे एकता बनी रहती है।

श्रमिक सघवादियो का विश्वास प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action) मे है। केवल श्रमिक सघ ही श्रमिक क्रान्ति के साधन बनने योग्य हैं। श्रमिक राजनीतिक दलो, ससदो आदि की सहायता के बिना ही स्वमेव हडताल द्वारा ही यदि मिल-मालिको को मजदूरी बढाने के लिए विवश करदें तो यह प्रत्यक्ष कायवाही होगी। श्रमिक सघवादियो के अनुसार श्रमिक सघ क्रान्ति के यन्त्र हैं और उनसे अपेक्षा की जाती है कि भविष्य मे वे स्वतन्त्र समुदायो के ढाँचे का कार्य करेंगे जिसकी रचना पूँजीवादी समाज के नष्ट हो जाने के बाद होगी।

श्रमिक सघवादी प्रत्यक्ष कार्यवाही की नीति मे हडताल (Strike), मन्द गति से काम करना (Cocauny), शान्तिपूर्ण तथा गुप्त ढग से काम बिगाडना, गुप्त तोड-फोड (Sabotage), बहिष्कार (Boycott), छाप (Label) आदि उपाय सम्मिलित हैं। हडताल पर सबसे अधिक बल दिया जाता है। इसका अर्थ मजदूरो का सगठित रूप से काम बन्द कर देना है। हडतालें दो प्रकार की होती हैं—विशिष्ट (Particular) अथवा छोटी हडतालें तथा आम या देश-व्यापी हडताल (General Strikes)। विशेष उद्योगो में तथा विशेष माँगो की पूर्ति के लिए प्राय. छोटी हडतालें की जाती हैं। इनका क्षेत्र और उद्देश्य सीमित होता है। इन हडतालो

का चरम उत्कर्ष देशव्यापी ग्राम हडताल मे होता है। श्रमिकों को अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अन्त मे ग्राम हडताल ही करनी पडेगी जिससे वर्तमान आर्थिक औद्योगिक ढांचा चकनाचूर हो जाएगा तथा पूँजीपति श्रमिकों के पक्ष मे सत्ता छोडने के लिए विवश हो जाएँगे। विशिष्ट अथवा छोटी हडतालें अन्तिम और व्यापक हडताल के लिए एक प्रकार की तैयारी और प्रशिक्षण है। श्रमिक सघवाद के अनुसार हडताल का मूल्य उसकी ऊपरी सफलता से नहीं आँकना चाहिए क्योंकि विफल हडताल भी श्रमिको की वर्ग-चेतना को सुदृढ बनाती है और पूँजीपतियो तथा राज्य के विरुद्ध तीव्र घृणा के भाव जाग्रत करती है।

श्रमिक सघवादियों ने मद गति से काम करने तथा गुप्त रूप से काम बिगाडने और गुप्त तोड-फोड को भी श्रमिको का प्रभावशाली हथियार माना है। जब तक ग्राम हडताल द्वारा पूँजीवाद और राज्य का विनाश न हो जाएँ। तब तक श्रमिको को ध्वस एव तोड-फोड की नीति अपनानी चाहिए। मिलों और कारखानो मे तथा अन्यत्र तोड-फोड और ध्वस का वही उद्देश्य है जो सैनिक युद्ध मे छापामार युद्ध (Gourilla Warfare) का होता है। लेबल तथा बहिष्कार (Label and Boycott) का महत्त्व हडताल और तोड फाड से कम है। लेबल यह सकेत करता है कि वस्तु एक ऐसे कारखाने मे बनाई गई है जिसमे श्रमिक सघ से काम लिया जाता है। जनता से यह अपील की जानी चाहिए कि केवल श्रमिको द्वारा सचालित अथवा नियन्त्रित कारखानो मे निर्मित सामान ही खरीदा जाए जिस पर तत्सम्बन्धी छाप अर्थात् लेबल लगा हो। इससे पूँजीपतियो को हानि पहुँचेगी और श्रमिकों का कल्याण होगा। बहिष्कार का उद्देश्य वस्तुओ का परित्याग कर अथवा उन्हें न खरीद कर मिल मालिकों को नुकसान पहुँचाना है।

सघवादी समाज का चित्र

श्रमिक सघवादियो ने राज्य के उन्मूलन और क्रान्ति के बाद स्थापित होने वाले समाज को चित्रित करने मे अधिक दिलचस्पी नही ली है। फिर भी पातोद (Patuad) तथा पुगे (Pouget) द्वारा लिखित पुस्तक 'How We Shall Bring About The Revolution' मे भावी सघवादी समाज का कुछ चित्रण उपलब्ध है। इसके अनुसार सघवादी क्रान्ति के उपरान्त सघवाद का स्थायी और रचनात्मक कार्य प्रारम्भ होगा। इस महान् काय को श्रमिक सगठन (Syndicates) ही पूर्ण कर सकेंगे। प्रबन्ध के साधारण काय औद्योगिक सघो के हाथों में रहेंगे, उन्हीं के अधिकार मे कारखानो के भवन, मशीनें और अन्य सामग्री रहेंगी, और वे ही उत्पादन का निर्देशन कार्य भी करेंगे। इस प्रकार उद्योगो के प्रबन्ध के लिए स्थानीय मजदूर सघ होंगे। नूतन समाज की सबसे छोटी इकाई (Cell) सिण्डीकेट होगी और एक ही व्यापार मे काम करने वाले सभी कर्मचारी उसके सदस्य होगे। कोई भी सिण्डीकेट अर्थात् श्रमिक सघ किसी भी सामूहिक सम्पत्ति का अनन्य स्वामी (Exclusive Owner) नहीं होगा। वास्तव मे यह समाज की सहमति से सम्पत्ति का प्रयोग करेगा। सिण्डीकेट का शेष समाज से सम्बन्ध बूर्स और केन्द्रीय सघ (C G T.)

द्वारा रहेगा। सिण्डीकेटो के ऊपर नगर मजदूर संघ (City Trade Union Council Brouse du Travail) होगा जो स्थानीय हितों एवं देश के बीच सम्बन्धों की स्थापना करेगा। यह अपने क्षेत्र के आर्थिक जीवन से सम्बन्धित सभी प्रकार के आवश्यक आँकड़े एकत्रित करेगा, स्वयं को स्थानीय क्षेत्रों की आवश्यकताओं और साधनों से अवगत रखेगा, उत्पादित वस्तुओं का वितरण करेगा, विभिन्न स्थानीय क्षेत्रों में उत्पादित वस्तुओं के विनिमय तथा बाहर से कच्चे माल के आयात का प्रबन्ध करेगा। इस प्रकार केन्द्रीय राजनीतिक पद्धति का नाश होगा और उद्योग के केन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों के दोष दूर होंगे।[1]

इसके अतिरिक्त डाकघरों, रेलों, राजमार्गों आदि जैसी राष्ट्रीय सेवाओं का कार्य श्रमिकों के राष्ट्रीय तथा केन्द्रीय संघों को सौंपा जाएगा। स्थानीय संस्थाओं को प्राविधिक सूचना (Technical Information) और कुशल परामर्श देने के लिए अन्य राष्ट्रीय या केन्द्रीय संघ होंगे। अन्ततः एक ऐसी राष्ट्रीय या केन्द्रीय संस्था होगी (जिसका स्वरूप विद्यमान 'C G T के समान होगा) जिसे सर्वमान्य व्यवहार के कार्यों का निर्णय करने का कार्य सौंपा जाएगा, जैसे वेतन तथा काम के घण्टों की संख्या का निर्धारण, बच्चों, बूढ़ों और बीमारों की देखभाल, आदि।

'पूर्वोक्त पुस्तक के लेखकों ने श्रमसंघवादी समाज के सदस्यों के मानव विरोधी और समाज विरोधी कार्यों के विरुद्ध कतिपय अनुशासन सम्बन्धी दण्डों की आवश्यकता को स्वीकार किया है। किन्तु ये दण्ड राज्य की प्रतिरोधक अधिकार शक्ति की तुलना में सर्वथा भिन्न होंगे। 'मुनाफाखोरों का बहिष्कार किया जाएगा और असामाजिक व्यक्तियों अथवा समाज की नयी व्यवस्था का विरोध करने वालों को निर्वासित कर दिया जाएगा।' अपने किसी सदस्य के 'मानव विरोधी-कार्यों' के सम्बन्ध में प्रत्येक स्थानीय संघ को अपना निर्णय देने का अधिकार होगा। वह 'नैतिक दण्ड' की आज्ञा दे सकेगा जो बहिष्कार के रूप में हो सकेगा। कुछ विशेष मामलों में अपराधी मजदूर संघों की सामान्य सभा (General Meeting) के सम्मुख प्रस्तुत किए जा सकेंगे जिसके द्वारा निर्वासन का दण्ड दिया जा सकता है। किन्तु अभियुक्त को राष्ट्रीय मजदूर संघ के समक्ष और अन्त में जनरल ट्रेड यूनियन कांग्रेस की केन्द्रीय समिति के समक्ष अपील करने का अधिकार होगा। कुछ भागों में अपराधों का निर्णय प्रत्यक्ष साक्षियों के आधार पर तात्कालिक न्याय द्वारा किया जाएगा। बन्दीगृह तथा न्यायालय समाप्त कर दिए जाएँगे—क्योंकि अपराध इस कारण बहुत कम हो जाएँगे कि दरिद्रता, असमानता तथा पूँजीवाद के दुष्कर्मों से उत्पन्न समाज विरोधी कार्यों के लिए कोई अवसर नहीं मिलेगा। सामाजिक वातावरण के श्रेष्ठ बन जाने से ऐसे अपराध भी बहुत कम हो जाएँगे जो प्रायः मनोवैज्ञानिक विकृतियों अथवा मानसिक रोगों के कारण होते हैं।'[2]

1 *Laidler* Social and Economic Movements, p. 293.

2 कोकर आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 256-57.

श्रम-संघवादी लेखक किसी प्रकार के विदेशी आक्रमण के विरुद्ध समुचित प्रतिरक्षा की आवश्यकता भी स्वीकार करते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि श्रम संघवादी नीति 'टॉलस्टाय द्वारा प्रचारित पद-त्याग और प्रतिरोधहीनता'[1] की नहीं है, किन्तु प्रतिरक्षा प्रबन्ध आधुनिक राज्यों के वर्तमान प्रबन्धों से मूलत भिन्न होंगे। न तो कोई वैतनिक सेना होगी और न ही आक्रमणकारी सशस्त्र सैन्य दल और न अधिक बड़े परिमाण में गोला-बारूद या बन्दूक आदि। श्रम संघवादी समाज के विविध सिण्डीकेटों के पास अपनी स्वयंसेवक सेनाएँ रहेंगी जो आवश्यकतानुसार स्थानीय क्षेत्रों में शान्ति एवं व्यवस्था कायम रखने का कार्य करेंगी और कभी आवश्यकतावश अधिक व्यापक रूप से भी उनका प्रयोग किया जा सकेगा। कार्यात्मक स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् जनता में इतना विवेक हो जाएगा कि वे अपनी अर्जित स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए यह भार स्वयं धारण करें।

श्रम संघवादी समाज के इस वर्णन के प्रसंग में यह नहीं भूलना चाहिए कि अधिकांश संघवादी लेखक समाज के भावी संगठन का चित्रण करना व्यर्थ और असामयिक मानते हैं। कुछ लेखकों ने स्थानीय मजदूर-संघों, रोजगार कार्यालयों और राष्ट्रीय मजदूर संघ के बीच विविध प्रकार के कार्यों का वितरण किया है। वह कार्य-विभाजन पातोद तथा पूगे के अनुसार ही है। अन्तर केवल इतना है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा अन्य उपयोगी सेवाओं के सम्बन्ध से मजदूर संघों के कार्य का अधिक स्पष्टता से उल्लेख किया गया है। बाह्य आक्रमणों, अपराधों तथा विद्रोह के दमन के सम्बन्ध में साधारणतया कुछ भी नहीं कहा गया है।

श्रमिक संघवाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन

यह अति संकीर्ण दर्शन है जो उत्पादकों के हितों की ही चिन्ता करता है, उपभोक्ताओं की नहीं। हिंसक और आकस्मिक क्रान्ति का पोषक होने के कारण यह एक विनाशकारी विचार है। यह इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि वर्तमान परिस्थितियों में श्रमिक वैधानिक उपायों द्वारा भी सत्ता प्राप्त कर सकते हैं। 'आम चुनाव' के अधिक दूर न रहने पर भी आम हड़ताल की बात सोचना एकदम अनावश्यक है फिर यह भी निश्चित नहीं है कि हड़ताल सफल ही होगी। हड़ताल द्वारा श्रमिक पूँजीवादी व्यवस्था को झकझोर सकते हैं, पर यह भी सम्भव है कि श्रमिकों में ही आपस में फूट पड़ जाए और आर्थिक संकट से बाध्य होकर वे हड़ताल तोड़ दें। राज्य भी अपनी शक्ति के बल पर बड़े से बड़ा आन्दोलन कुचल सकता है। संघवादी यह भी भूल जाते हैं कि असफल हड़ताल श्रमिकों में इतनी निराशा व्याप्त कर सकती है कि वे पूँजीपतियों के सामने आत्म-समर्पण करने में ही अपना भला समझें।

श्रमिक संघवाद अपने समाज का कोई स्पष्ट चित्रण नहीं करता। जब उद्देश्य ही अस्पष्ट है तो श्रमिकों की भावनाओं से खिलवाड़ कर उन्हें एक उद्देश्यहीन पथ पर ले जाना उचित नहीं कहा जा सकता। पूँजीवाद को समाप्त करने के लिए

1 *Joad* Introduction to Modern Political Theory, p 69

हडताल के अलावा जो दूसरे उपाय सुझाए गए हैं वे भी राष्ट्र के लिए घातक हैं। तोड फोड अथवा धीरे काम करने की नीति में राष्ट्र की आर्थिक हानि होगी। साथ ही पूंजीपतियो से अधिक उन मजदूरो का अहित होगा जिन्हें वस्तुओ के मूल्य बढ जाने पर अपनी ही निर्मित वस्तुओ के अधिक दाम चुकाने पडेंगे।

श्रमिक सघवाद का उद्देश्य समाज को छोटे छोटे सघो मे सगठित कर उत्पादक वर्ग को शासन सत्ता सौंपना है। यह कार्य केवल राज्य की सहायता से ही सरलता और कुशलतापूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है जबकि सघवादी दशन मे राज्य के लिए कोई स्थान नहीं है। राज्य के अभाव में जब पग पग पर सघो मे पारस्परिक सघर्ष होगा तो सवत्र अराजकता का बोलबाला हो जाएगा।

प्रजातान्त्रिक प्रणाली के विरोधी और अत्यधिक उग्र एव क्रान्तिकारी होने के कारण ही श्रमिक सघवाद अल्पकाल मे ही मृत हो गया। सघवाद का शीघ्र अन्त इसलिए हुआ क्योकि उसका 'दार्शनिक आधार स्पष्ट था उसके प्रतिपादको का बौद्धिक स्तर साधारण था और उसका कोई रचनात्मक कार्यक्रम नही था।"

श्रमिक सघवाद ग्राह्य न होने पर भी महत्त्व की दृष्टि से सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। इसने श्रमिक आन्दोलन को पुनर्जीवित करने और उन सिद्धान्तो की याद दिलाने के लिए बहुत कुछ किया जिनके भूल जाने का खतरा था। इसने स्वतन्त्रता की खोज को पुनर्जीवित किया जो ससदीय समाजवाद के शासन मे घूमिल पडती जा रही थी और बतलाया कि समाज के पुनर्निर्माण की आवश्यकता है, दमन के कारणो को मिटाना है मानव की रचना शक्ति को स्वतन्त्र करना है तथा उत्पादन और आर्थिक सम्बन्धो को विनियमित करने का नवीन उपाय खोजना है। लेडलर का मत है कि सघवादी आन्दोलन का समाजवादी विचारधारा पर महान् स्फूर्तिदायक प्रभाव पडा और इसके द्वारा ससदीय पद्धति की दुर्बलताओ पर प्रकाश डाला गया। सघवाद से एक नई समाजवादी विचारधारा के विकास को प्रेरणा मिली जिसे श्रेणी समाजवाद का नाम दिया जाता है।

फ्रांस मे नवीन श्रम सघवाद एव सघवाद का विदेशों मे प्रभाव
(New Syndicalism in France and Influence of Syndicalism in other Countries)

फ्रांस मे सकलित सघवाद के स्वरूप और उसकी नीति को प्रथम विश्वयुद्ध एव *युद्धोत्तर स्थिति ने पर्याप्त मात्रा मे प्रभावित किया और उसमे अनेक* क्रान्तिकारी परिवतन हुए। राष्ट्रीय श्रम सघ के अधिकांश सदस्यों ने अपनी सैनिक मनोवृत्ति को त्याग कर समाजवाद के साथ समझौता कर लिया और विभिन्न आर्थिक कार्यों मे सरकार को सहयोग दिया। युद्ध समाप्त होने पर सामाजिक एव आर्थिक सगठनो के कारण सघवाद के दो समूहो—नम्र दलीय राष्ट्रवादी बहुमत और उग्रपंथी अल्पमत मे द्वेष उत्पन्न हो जाने के कारण सम्बन्ध विच्छेद हो गया। दोनों मे मतभेद राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों के बारे में था। यद्यपि दोनो ही इस

बात पर एकमत थे कि राजबन्दियों की मुक्ति हो, यूरोप की अनुदार प्रतिक्रिया की आलोचना हो और रूसी प्रतिक्रान्तिवादियों की सहायता के लिए फ्रांसीसी हस्तक्षेप की निन्दा हो, किन्तु इस प्रश्न पर दोनों में तीव्र मतभेद था कि रूसी साम्यवादियों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाए। राष्ट्रीय मामलों मे मतभेद वैधानिक स्वतन्त्रता की पुन स्थापना एव जीवन-स्तर को उच्च बनाने की दृष्टि से उचित व्यवस्था करने के लिए सरकार पर दबाव डालने के उपायो के सम्बन्ध में थे। जनवरी, 1822 मे फेडरेशन के दोनो पक्ष पृथक् हो गए। उग्रवादी दल ने अल्पमत में होने के कारण एक नए सगठन की रचना की जो 'सयुक्त मजदूरों का सामान्य संघ (General Federation of United Labour—C G T U) के नाम से विख्यात हुआ। इस नवीन सघ ने साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय (Communist International) के क्रान्तिवादी सिद्धान्त को स्वीकार किया। अब उसका सम्बन्ध नियमित रूप से साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय में है। पुरानी सस्था ने हर प्रकार के क्रान्तिकारी तरीकों का परित्याग कर दिया है। पुराने राष्ट्रीय मजदूर सघ (C G T) की नवीन नीतियो पर जूहो (Jouhaux), पेरो (Perrot) एव अन्य *लोगों ने अपने व्याख्यानों तथा अखबारी लेखो में प्रकाश डाला है। इस नवीन* आन्दोलन के दर्शन का विस्तृत विवरण मेक्सिम लेरॉय (Maxime Leroy) ने अपनी पुस्तक 'Techniques Nouvelles du Syndicalism' मे दिया है। इन लेखकों और विचारको ने इस नवीन सिद्धान्त को प्राचीन सघवादी विचारों से अधिक व्यापक तथा रचनात्मक बतलाया है। नवीन सघवादी पुराने सघवादियों की निषेधात्मक और ध्वसात्मक नीतियों के स्थान पर रचनात्मक तथा सर्वाङ्गपूर्ण नीतियों की स्थापना करना चाहते हैं। ये हिंसा और अधिनायकतन्त्र की निन्दा करते हुए ही कहते हैं कि हिंसा मे कुछ भी सर्वहारापन नहीं है। हिंसा तो हर युग में उपद्रवकारियो के कार्यों का साधन रही है। हिंसा को विवेक स सीमित करना सम्भव नहीं है क्योंकि यह आवश्यक रूप मे विवेकहीन और अनुदार होती है।

"नवीन सघवादियों ने उद्योगो के सहकारी नियन्त्रण के लिए ठोस प्रस्ताव प्रस्तुत किए हैं। फेडरेशन की समितियो ने उपभोक्ताओ, सस्थाओ के प्रतिनिधियों तथा सरकारी कर्मचारियो के सगठनो के सहयोग से सार्वजनिक और व्यक्तिगत उद्योगों के प्रबन्ध के लिए योजनाएँ तैयार की हैं। प्रत्येक सावजनिक स्वामित्व के अधीनस्थ उद्योग के प्रबन्ध के लिए योजना मे तीन पक्षों का समान रूप से प्रतिनिधित्व स्वीकार किया गया है—(1) उत्पादनकर्त्ता अर्थात् समस्त हाथ से काम करने वाले तथा टैक्निकल श्रमिक, (2) उपभोक्ता एव (3) जनता। व्यक्तिगत उद्योगों के लिए उन्होंने उद्योगपतियों और मजदूरो के सयुक्त प्रबन्ध की व्यवस्था की है। *इन योजनाओं में सार्वजनिक और व्यक्तिगत दोनों प्रकार के उद्योगों में मजदूरों के हड़ताल के अधिकार को यथावत् रखा गया है। लेरॉय स्वीकार करता है कि प्रस्तावित योजना में हड़ताल का स्थान सैद्धान्तिक रूप से उचित नहीं है क्योंकि* इसका अर्थ है एक दल को उस निर्णय के विरोध का अधिकार देना जो किसी एक

स्वार्थी गुट ने नहीं बल्कि समस्त वर्गों के प्रतिनिधियों ने किया है। उसका कथन है कि इस योजना में हड़ताल उचित शक्ति के प्रयोग की रक्षा करने के बजाय इसलिए रखी गई है कि मजदूर वर्ग के, जो अपने को उस समय तक स्वतन्त्र नहीं मानता जब तक कि वह इस साधन के प्रयोग में स्वतन्त्र न हो, एक मौलिक विचार को सन्तोष प्राप्त हो।"[1]

"यह नवीन संघवाद 4 शताब्दी पूर्व के वाल्डेक रूसो के विचार से मिलता-जुलता है। जूहो और लेरॉय की योजना में राज्य से मजदूर-संगठनों के निरीक्षण और उनके साथ सहयोग की अपेक्षा की जाती है। इस योजना में एक ओर तो शान्ति-व्यवस्था तथा न्यायिक शासन-सगठन और दूसरी ओर राज्य की निरीक्षणात्मक आर्थिक तथा सांस्कृतिक एजेन्सियों के बीच कार्य-विभाजन किया गया है, यद्यपि विभाजन की विधि प्रकाशित योजनाओं मे स्पष्ट नहीं की गई है।..........इस प्रकार युद्धोत्तर सघवादी साधारण सामाजिक हितो और राजनीतिक सत्ता को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं जिनसे इन हितों की रक्षा और उनका प्रतिनिधित्व होता है।"

नवीन संघवादियों की योजना क्या है और भावी संघवादी राज्य कैसा होगा, इसको भी कोकर ने सक्षेप मे किन्तु अत्यन्त स्पष्टता से चित्रित किया है—

"सर्वप्रथम वे समस्त उद्योगो के ऊपर एक राष्ट्रीय तथा व्यापक रूप से प्रतिनिधि आर्थिक परिषद् (National Economic Council) की स्थापना करेंगे जिसका कार्य उत्पादन तथा वितरण की व्यवस्था के लिए सामान्य योजनाएँ तैयार करना और विविध उद्योगों की संचालन करने वाली संस्थाओं द्वारा प्रस्तावित प्रबन्ध सम्बन्धी नीतियों को स्वीकार या अस्वीकार करना होगा। दूसरे, वे राज्य का पुनर्गठन कर उसके कार्यों में सुधार करेंगे और आर्थिक सम्बन्धों मे परिवर्तन द्वारा बल-प्रयोग के अवसरो को भी कम से कम कर देंगे। वे यह स्वीकार करते हैं कि नागरिकों के हितों मे सघर्ष होगा और इसलिए उनके विवादों के निर्णय के लिए *न्याय-पचायतें (Tribunals) तथा उन निर्णयो को कार्यान्वित* करने के लिए दूसरी संस्थाएँ होंगी जो आवश्यकता पड़ने पर बल-प्रयोग कर सकेंगी। सैनिक सुरक्षा तथा वैदेशिक सम्बन्धो की व्यवस्था के लिए राज्य की भी आवश्यकता होगी, किन्तु भावी सघवादी राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य एक ओर तो सामूहिक हितों के प्रतिनिधियों को चुनकर उत्पादन की व्यवस्था मे योगदान देना होगा और दूसरी ओर जनता को कल्याण, कलात्मक अभिव्यक्ति एव शिक्षा के साधन प्रदान कर नाना प्रकार के अन्वेषण, अनुसन्धान आदि को प्रोत्साहन देना होगा। इस प्रकार राज्य अपने समस्त कानूनों एवं सेवाओं द्वारा नवीन कार्य आरम्भ करने, अन्वेषण करने तथा आर्थिक क्षेत्रों मे नवीन परम्परा स्थापित करने मे प्रोत्साहन देगा और इसमे वह उसी उत्साह से कार्य करेगा जिस उत्साह से परम्परागत राज्य स्वतन्त्रता तथा नवीनता के दमन के लिए कार्य करता है। वह प्रतिबन्ध लगाने के स्थान पर मार्गदर्शन करेगा

1 कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 268–69.

और उसका व्यवस्थापन (Legislation) आदेशात्मक होने के स्थान पर प्रबोधन का रूप लेगा।"

सघवादी विचारक (Syndicalist Thinkers)

वैसे तो सघवादी सिद्धान्तो तथा योजनाओ के प्रतिपादक अनेक विचारक हुए हैं और अनेक लोगो ने व्यावहारिक क्षेत्र (Practical Field) मे इस आन्दोलन का नेतृत्व किया है, किन्तु इनमे वे लोग जिन्हें इसकी सफलता का पूरा श्रेय है, सोरल (Sorel) और पिलोटेयर (Pelloutier) है। फ्रांस के बाहर भी सघवाद का प्रचार हुआ था और प्रसिद्ध विचारक लैंगार्डी (Lagarddie) तथा बर्थ (Berth) के अतिरिक्त इटली मे मालतसता (Malatasta), अमेरिका मे डेलियोन (Deleon), स्पेन में डुरुति (Durutti) तथा आयरलैण्ड मे कोनोल्ली (Conolly) आदि कुछ ऐसे विदेशी विचारक भी थे जिन्होंने सघवादी सिद्धान्त तथा आन्दोलन दोनों मे सक्रिय योग दिया था।

पिलोटेयर (Pelloutier)—यह सघवादी आन्दोलन के जन्मदाताओ में से था और सघवादी सिद्धान्त के विषय मे अधिक लिखने की अपेक्षा इसने सघवादी आन्दोलन को फ्रांस तथा यूरोप मे सबल बनाने के लिए जी-तोड प्रयत्न किया था। केन्द्रीय श्रमसघ (C G T) की स्थापना केवल इ ी के प्रयासो से हुई थी। पिलोटेयर किसी भी ससदीय प्रणाली मे विश्वास नहीं करता था। उसकी दृढ़ धारणा थी कि मजदूर लोग अपना भाग्य अपने सयुक्त श्रम तथा प्रयत्नो द्वारा ही उन्नत कर सकते हैं। इसके लिए उन्हें राष्ट्र के अन्य लोगो से मिलकर काम करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि देश की राजनीति मे भाग लेना उनके अपने ही हित मे अच्छा नहीं होगा। अत उन्हें चाहिए कि वे मिलकर मजदूर-सघ स्थापित करें और अपनी स्थिति को उन्नत बनाने के लिए पारस्परिक सहयोग करें।

सोरेल (Sorel, 1847–1922)—सोरल श्रमिक-वर्ग का लेखक होते हुए भी स्वय श्रमिक नही था। उसका शिक्षण एक पॉलिटेक्निक स्कूल मे हुआ और उसने 25 वर्ष तक एक सरकारी इन्जीनियर के रूप मे काय किया। वह इन्जीनियर से अधिक विचारक था और 25 वर्ष के लम्बे इन्जीनियरिंग जीवन मे तथाकथित उच्च वर्ग (So-called Bourgeoisie) के लोगो के सम्पर्क मे आने से उसमे उनके प्रति तीव्र आक्रोश और घृणा की भावना उत्पन्न हो गई। उसे कार्ल मार्क्स की विचारधारा के वैज्ञानिक स्वरूप के कारण मार्क्सवाद मे रुचि उत्पन्न हुई। किन्तु सन् 1899 मे उसने समाजवाद को त्याग दिया और वह एकदम सघवादी (Syndicalist) बन गया। यद्यपि सोरल ने सघवादी आन्दोलन मे कभी भाग नही लिया तथापि उसने लेगारडले (Lagardelle) के समान रूप से यह घोषणा की कि उन्हे श्रमिक वर्ग को कुछ सिखाना नहीं है बल्कि उनसे कुछ सीखना है, फिर भी सोरल और सघवाद को एक रूप मानने की एक प्रवृत्ति बन गई। सोम्बार्ट का यह कहना सही है कि यदि और कहीं नही तो सघवाद मे हमे 'सोरलवाद' के लक्षण उपलब्ध होते हैं। सोरल की प्रसिद्ध रचना 'Reflection of Violence' एक ऐसी पुस्तक है

जिसमे वह प्रजातन्त्र तथा मध्यम वर्ग के लोगो के प्रति अपनी उदासीनता प्रकट करता है। एक विचारक के रूप में वह बुद्धिवाद तथा विचारवाद दोनों का विरोधी था और इसी कारण मुसोलिनी ने उसे 'फासिज्म का उत्प्रेरक' कहा है।

सोरल का मत था कि मार्क्स के सिद्धान्त को सघवादी सिद्धान्त के बिना और सघवादी सिद्धान्त को मार्क्स के बिना नहीं समझा जा सकता। सोरल ने राज्य की पूर्ण रूप से अवहेलना की। वह राजनीतिक कार्यों से कोई लाभ नहीं समझता था चाहे उनके द्वारा श्रमिको का राज्य पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो जाए। उसका मुख्य उद्देश्य उद्योगो में स्वशासन स्थापित करने के लिए श्रमिक वर्ग का सगठन करना था। इस सगठन को वह राज्य से पृथक् रखना चाहता था जिसको राजनीतिक मामलो मे कोई भाग नहीं लेना था। वह राज्य को नष्ट कर एक नया सामाजिक ढांचा स्थापित करना चाहता था जिसमें स्वतन्त्र आर्थिक वर्गों का अस्तित्व होना था। कोकर के अनुसार, "सोरल के समस्त लेखो एव ग्रन्थो मे राजनीतिक कार्य की व्यर्थता तथा इस प्रजातान्त्रिक विश्वास की असत्यता प्रकट की गई है कि मानव हितों में ऐसी मौलिक एकता है जो पूँजीवादी समाज के विविध आर्थिक वर्गों के परस्पर विरोधी हितो मे सामजस्य स्थापित कर सकती है।"

सोरल का विश्वास था कि सामाजिक वर्गों मे सांस्कृतिक और आर्थिक भेद होते हैं। प्रत्येक वर्ग अपने स्वय की सामाजिक विशिष्टताओ, स्वय के नैतिक शास्त्रों तथा साधनों का विकास करता है। धनी वर्ग इस कार्य के लिए राज्य का प्रयोग करता है और सैनिक शक्ति तथा निर्वाचन के हथकण्डो द्वारा राज्य पर अपना नियन्त्रण कर राज्य के माध्यम से श्रमिक वग पर अपना नियन्त्रण स्थापित करता है। राज्याधिकार मध्यम वर्ग के हाथों से निकल कर मजदूर वग के हाथ मे आ जाने से मजदूर वर्ग को कोई लाभ नहीं होगा क्योकि राज्य मजदूर-वर्गीय शासन के तनिक भी उपयुक्त नही है। राज्य के स्थान पर एक ऐसा नया सामाजिक ढांचा प्रस्थापित करना उचित है जो मजदूर वर्ग के विशेष गुणो के अनुकूल हो। यह नवीन सामाजिक ढांचा आर्थिक कार्यों के अनुसार होना चाहिए। शासकीय मजदूर-सघों अथवा यूनियनो को प्रत्येक व्यवसाय के मजदूरों को मान्यता प्राप्त करनी चाहिए। मजदूरो को केवल अधिक मजदूरी, काम करने का कम समय और श्रेष्ठतर परिस्थितियों के लिए ही प्रयत्नशील नहीं होना चाहिए प्रत्युत् उद्योगो को अपना समझकर उनके प्रशासन और उनकी व्यवस्था मे भाग लेना चाहिए। इस तरह केन्द्रीय राजनीतिक ढांचा समाप्त हो जाएगा तथा समस्त उद्योगो के मालिक मजदूर स्वय हो जाएँगे जिससे मजदूरों को अपनी रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उजागर करने और उनका विकास करने का पूर्ण अवसर प्राप्त होगा।

उद्देश्य प्राप्ति के लिए हिंसा का रहस्यमय सिद्धान्त' (A Mystical Theory of Violence) तथा पूँजीवाद का उन्मूलन करने के लिए आम हड़ताल (General Strike) सोरल की शिक्षाओ का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। सोरल ने सघवादी हड़ताल के प्रेरणात्मक पक्ष की विशिष्ट व्याख्या की थी। उसने अपनी पुस्तक 'Reflection on

और उसका व्यवस्थापन (Legislation) आदेशात्मक होने के स्थान पर प्रबोधन का रूप लेगा।"

सघवादी विचारक (Syndicalist Thinkers)

वैसे तो सघवादी सिद्धान्तो तथा योजनाओ के प्रतिपादक अनेक विचारक हुए हैं और अनेक लोगो ने व्यावहारिक क्षेत्र (Practical Field) मे इस आन्दोलन का नेतृत्व किया है, किन्तु इनमे वे लोग जिन्हे इसकी सफलता का पूरा श्रेय है, सोरल (Sorel) और पिलोटेयर (Pelloutier) है। फ्रांस के बाहर भी सघवाद का प्रचार हुआ था और प्रसिद्ध विचारक लेगार्डी (Lagarddie) तथा बर्थ (Berth) के अतिरिक्त इटली मे मालत्सता (Malatasta), अमेरिका मे डेलियोन (Deleon), स्पेन मे डुरुति (Durutti) तथा आयरलैण्ड मे कोनोली (Conolly) आदि कुछ ऐसे विदेशी विचारक भी थे जिन्होंने सघवादी सिद्धान्त तथा आन्दोलन दोनो मे सक्रिय योग दिया था।

पिलोटेयर (Pelloutier)—यह सघवादी आन्दोलन के जन्मदाताओं मे से था और सघवादी सिद्धान्त के विषय मे अधिक लिखने की अपेक्षा इसने सघवादी आन्दोलन को फ्रांस तथा यूरोप मे सबल बनाने के लिए जी-तोड प्रयत्न किया था। केन्द्रीय श्रमसघ (C G T) की स्थापना केवल इ ी के प्रयासो से हुई थी। पिलोटेयर किसी भी ससदीय प्रणाली मे विश्वास नहीं करता था। उसकी दृढ धारणा थी कि मजदूर लोग अपना भाग्य अपने सयुक्त श्रम तथा प्रयत्नो द्वारा ही उन्नत कर सकते हैं। इसके लिए उन्हे राष्ट्र के अन्य लोगो से मिलकर काम करने की आवश्यकता नही क्योकि देश की राजनीति मे भाग लेना उनके अपने ही हित मे अच्छा नहीं होगा। अतः उन्हें चाहिए कि वे मिलकर मजदूर-सघ स्थापित करें और अपनी स्थिति को उन्नत बनाने के लिए पारस्परिक सहयोग करें।

सोरेल (Sorel, 1847–1922)—सोरल श्रमिक-वर्ग का लेखक होते हुए भी स्वय श्रमिक नही था। उसका शिक्षण एक पॉलिटेक्निक स्कूल मे हुआ और उसने 25 वर्ष तक एक सरकारी इन्जीनियर के रूप मे कार्य किया। वह इन्जीनियर से अधिक विचारक था और 25 वर्ष के लम्बे इन्जीनियरिंग जीवन मे तथाकथित उच्च वर्ग (So-called Bourgeoisie) के लोगो के सम्पर्क मे आने से उसमे उनके प्रति तीव्र आक्रोश और घृणा की भावना उत्पन्न हो, गई। उसे कार्ल मार्क्स की विचारधारा के वैज्ञानिक स्वरूप के कारण मार्क्सवाद मे रुचि उत्पन्न हुई। किन्तु सन् 1899 मे उसने समाजवाद को त्याग दिया और वह एकदम सघवादी (Syndicalist) बन गया। यद्यपि सोरल ने सघवादी आन्दोलन मे कभी भाग नही लिया तथापि उसने लेगारडेले (Lagardelle) के समान रूप से यह घोषणा की कि उन्हें श्रमिक वर्ग को कुछ सिखाना नहीं है बल्कि उनसे कुछ सीखना है, फिर भी सोरल और सघवाद को एक रूप मानने की एक प्रवृत्ति बन गई। सोम्बार्ट का यह कहना सही है कि यदि और कही नही तो सघवाद मे हमे 'सोरलवाद' के लक्षण उपलब्ध होते हैं। सोरल की प्रसिद्ध रचना 'Reflection of Violence' एक ऐसी पुस्तक है

जिसमें वह प्रजातन्त्र तथा मध्यम वर्ग के लोगों के प्रति अपनी उदासीनता प्रकट करता है। एक विचारक के रूप में वह बुद्धिवाद तथा विचारवाद दोनों का विरोधी था और इसी कारण मुसोलिनी ने उसे 'फासिज्म का उत्प्रेरक' कहा है।

सोरल का मत था कि मार्क्स के सिद्धान्त को संघवादी सिद्धान्त के बिना और संघवादी सिद्धान्त को मार्क्स के बिना नहीं समझा जा सकता। सोरल ने राज्य की पूर्ण रूप से अवहेलना की। वह राजनीतिक कार्यों से कोई लाभ नहीं समझता था चाहे उनके द्वारा श्रमिकों का राज्य पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो जाए। उसका मुख्य उद्देश्य उद्योगों में स्वशासन स्थापित करने के लिए श्रमिक वर्ग का संगठन करना था। इस संगठन को वह राज्य से पृथक् रखना चाहता था जिसको राजनीतिक मामलों में कोई भाग नहीं लेना था। वह राज्य को नष्ट कर एक नया सामाजिक ढांचा स्थापित करना चाहता था जिसमें स्वतन्त्र आर्थिक वर्गों का अस्तित्व होना था। कोकर के अनुसार, "सोरल के समस्त लेखों एवं ग्रन्थों में राजनीतिक कार्य की व्यर्थता तथा इस प्रजातान्त्रिक विश्वास की असत्यता प्रकट की गई है कि मानव हितों में ऐसी मौलिक एकता है जो पूँजीवादी समाज के विविध आर्थिक वर्गों के परस्पर विरोधी हितों में सामंजस्य स्थापित कर सकती है।"

सोरल का विश्वास था कि सामाजिक वर्गों में सांस्कृतिक और आर्थिक भेद होते हैं। प्रत्येक वर्ग अपने स्वयं की सामाजिक विशिष्टताओं, स्वयं के नैतिक शास्त्रों तथा साधनों का विकास करता है। धनी वर्ग इस कार्य के लिए राज्य का प्रयोग करता है और सैनिक शक्ति तथा निर्वाचन के हथकण्डों द्वारा राज्य पर अपना नियन्त्रण कर राज्य के माध्यम से श्रमिक वर्ग पर अपना नियन्त्रण स्थापित करता है। राज्याधिकार मध्यम वर्ग के हाथों से निकल कर मजदूर वर्ग के हाथ में आ जाने से मजदूर वर्ग को कोई लाभ नहीं होगा क्योंकि राज्य मजदूर-वर्गीय शासन के तनिक भी उपयुक्त नहीं है। राज्य के स्थान पर एक ऐसा नया सामाजिक ढांचा प्रस्थापित करना उचित है जो मजदूर-वर्ग के विशेष गुणों के अनुकूल हो। यह नवीन सामाजिक ढांचा आर्थिक कार्यों के अनुसार होना चाहिए। शासकीय मजदूर-संघों अथवा यूनियनों को प्रत्येक व्यवसाय के मजदूरों की मान्यता प्राप्त करनी चाहिए। मजदूरों को केवल अधिक मजदूरी, काम करने का कम समय और श्रेष्ठतर परिस्थितियों के लिए ही प्रयत्नशील नहीं होना चाहिए प्रत्युत् उद्योगों को अपना समझकर उनके प्रशासन और उनकी व्यवस्था में भाग लेना चाहिए। इस तरह केन्द्रीय राजनीतिक ढांचा समाप्त हो जाएगा तथा समस्त उद्योगों के मालिक मजदूर स्वयं ही जाएँगे जिससे मजदूरों को अपनी रचनात्मक प्रवृत्तियां उजागर करने और उनका विकास करने का पूर्ण अवसर प्राप्त होगा।

उद्देश्य प्राप्ति के लिए 'हिंसा का रहस्यमय सिद्धान्त' (A Mystical Theory of Violence) तथा पूँजीवाद का उन्मूलन करने के लिए आम हड़ताल (General Strike) सोरल की रचनाओं का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। सोरल ने संघवादी हड़ताल के प्रेरणात्मक पक्ष की विशिष्ट व्याख्या की थी। उसने अपनी पुस्तक 'Reflection on

समझता, बल्कि उनकी अन्तर्दृष्टि (Intuition) पर अधिक बल देता है। सोरल का यह अन्तर्दृष्टि सिद्धान्त (Theo.y of Intuition) बर्गसन (Bergson) से प्रभावित है और इस प्रकार 'मार्क्सवाद', 'फासिज्म' तथा 'वर्ग सोनियज्म' आदि के अनेक विचार जो 'उत्पादकों के साम्राज्यवाद' (Imperialism of the Producers) के समर्थक है, सोरल संघवादी सिद्धान्त में सम्मिलित हो गए हैं। डिवाइन (Devine) के अनुसार सोरल ने मार्क्स से आरम्भ करके बर्गसन पर अन्त किया है। अपने समस्त अन्तिम ग्रंथों में सोरल ने अपने विचारों को बर्गसन के दर्शन से समन्वित करने का प्रयत्न किया है किन्तु अपने समस्त जीवन में उसने मार्क्स की भावना को सही माना है। यह सन्देहास्पद है कि मार्क्स की भावना तथा बर्गसन की भावना में कोई सम्बन्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि सोरल ने मार्क्स की भावना का अर्थ मनमाने ढंग से लगाकर दोनों में सम्बन्ध स्थापित कर दिया है।

श्रेणी समाजवाद
(Guild Socialism)

श्रेणी समाजवाद, समाजवाद का अंग्रेजी संस्करण है। लन्दन की परम्पराओं के अनुकूल यह एक मध्यवर्गीय विचारधारा (Middleway current) है जो न अंग्रेजी फेबियनवाद की तरह आवश्यकता से अधिक उदार है और न फ्रांसीसी संघवाद की भाँति आवश्यकता से अधिक क्रान्तिकारी एवं उग्र है। श्रेणी समाजवाद को अंग्रेजी फेबियनवाद और फ्रांसीसी संघवाद का 'बुद्धिजीवी शिशु' कहा जाता है।[1] फेबियनवाद (Fabianism), जिसमें समष्टिवाद (Collectivism) के सिद्धान्तों का भी समावेश है, अनेक अंग्रेजों को आकर्षित करने में असफल रहा और श्रम संघवाद अंग्रेजों के स्वभाव के अनुकूल नहीं था। अतः अंग्रेजी राजनीतिक मनोवृत्ति ने पारस्परिक समष्टिवाद या समूहवाद और मजदूर-संघवाद के बीच का मार्ग अपनाया। समष्टिवाद और श्रम-संघवाद के मेल से एक नए सिद्धान्त की रचना की गई जो श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। श्रेणी समाजवादियों ने मजदूर संघों के आधार पर भविष्य में उद्योगों का संगठन करना निश्चित किया। उनका कथन था कि 'मजदूर संघ उसी प्रकार आधुनिक उद्योगों को अनुप्रेरित करेगा जिस प्रकार मध्यकालीन गुण कलाओं और दस्तकारियों की रक्षा करते थे। इस प्रकार श्रेणी समाजवाद का उद्देश्य उपभोक्ताओं और उत्पादकों की लोकतन्त्रात्मक अधिकार-शक्ति को राज्य-नियन्त्रण में सौंपना है।"[2] इस विचारधारा का प्रमुख उद्देश्य वस्तुतः मध्ययुगीन श्रेणी-संघों की व्यवस्था (Mediaeval Guild System) को वर्तमान समाज में पुनर्जीवित करना है।

श्रेणी समाजवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन अंग्रेज विद्वानों ने 20वीं शताब्दी की प्रथम तथा द्वितीय दशाब्दी में किया। इसके आधारभूत सिद्धान्तों का विवेचन

1 *Rockow* : Contemporary Politic l Thought in Old England, p 150.
2 *Joad* : op cit., p. 74

Violence' मे ग्राम हड़ताल के 'कल्पना (Myth) सम्बन्धी' मूल्य पर अधिक बल दिया था। उसका मत था कि प्रत्येक प्रभावकारी सामाजिक आन्दोलन की अपनी 'कल्पना' होती है। दृढ़ बने रहने तथा वीरोचित कार्यों को करने के लिए जनता को किसी वांछनीय लक्ष्य के व्यावहारिक अथवा वैज्ञानिक प्रदर्शन से प्रोत्साहन प्राप्त नही होता, यह केवल उसकी कल्पना को उत्तेजित करने होता है। सोरल ने इतिहास से उदाहरण देकर यह सिद्ध किया कि किस प्रकार सामाजिक कल्पनाओं (Myths) मे आदर्श अवस्थाओ का, जो कभी प्राप्त नहीं हो सकती, सुन्दर चित्र प्रस्तुत कर और लोगों की भावना पर प्रभाव डालकर अनेक महत्त्वपूर्ण परिणाम प्राप्त किए हैं और मानव आचार-विचार को एक नूतन दिशा दी गई है। सोरल ने सामान्य हड़ताल पर इस दृष्टि से विचार करने के प्रयत्न की निन्दा की कि वह भावी इतिहास का रूप कहाँ तक ले सकेगी और वह कहाँ तक सम्भव हो सकेगी। उसका कथन था कि उसके विरोधी जो कुछ भी सिद्ध करना चाहते हैं उसे हम मान सकते हैं, परन्तु इससे इस सिद्धान्त के महत्त्व मे किसी प्रकार की कमी नही आ सकती, हालांकि विरोधी समझते हैं कि उन्होने उसका खण्डन कर दिया है।[1] "ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश सघवादियो ने एक प्रभावशाली सामाजिक कल्पना (Myth) रूप मे सोरल के हड़ताल के विचार मे कोई मूल्यवान तथ्य नहीं रखा, किन्तु वे इस बात से सहमत थे कि हड़ताल का प्रभाव उसके तात्कालिक व्यावहारिक परिणामो से नहीं जाना जा सकता।"

सक्रिय सघवादियों के विचार मे तोड़-फोड़ अथवा ध्वंस (Sabotage), बहिष्कार और हिंसा औद्योगिक सघर्ष के उचित अस्त्र थे। सोरल एव अन्य व्यावहारिक नेताओ ने साधारणतया सर्वहारा-वर्ग के हिंसात्मक कार्यों का समर्थन किया जिनमें सम्पत्ति-विनाश भी शामिल है। उन्होंने बल प्रयोग के ऐसे समस्त रूपो को प्रोत्साहित किया जो क्रान्तिकारी ग्राम-हड़ताल के प्रति पूँजीपतियो अथवा सरकार के विरोध को नष्ट करने के लिए आवश्यक प्रतीत हो। उनकी मान्यता थी कि चूँकि मजदूरों और उद्योगपतियों के बीच सघर्ष चालू है, अत उन्हें युद्ध के नैतिक मानदडो का प्रयोग करना चाहिए। सोरल को प्रतीत होता था कि शारीरिक बल-प्रयोग मनुष्य को ऊँचा उठाता है और उनमे वीरता, साहस तथा आत्म-सम्मान उत्पन्न करता है।

सोरल का कहना था कि सघवादी समाज की व्यवस्था तथा स्वरूप की कल्पना किन्ही तर्कों अथवा सिद्धान्तो के आधार पर नहीं की जा सकती, बल्कि वह एक ऐसा समाज होगा जिसकी स्थापना मजदूर लोग बिना सोचे-विचारे अपने आप कर लेंगे। जब मजदूर लोग अपनी हड़ताल द्वारा राज्य का विनाश करेंगे, तब समाज की अन्तिम रूपरेखा निश्चित करने का अधिकार भी उन्हीं को होना चाहिए। इस कार्य के लिए वह मजदूरों में अधिक बुद्धि तथा विवेक का होना आवश्यक नही

1 कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 251.

सर्वप्रथम ए जी पेंटी (A G Penty) जो एक शिल्पी था, ए आर ओरेज (A R Orage) जो अध्यापक, पत्रकार तथा दार्शनिक निबन्धकार था और एस जी हॉब्सन (S G Hobson) जो पत्रकार तथा वक्ता था, के लेखो में मिलता है। ये तीनो सर्वप्रथम फेबियन सोसायटी और स्वतन्त्र मजदूर पार्टी के सदस्य थे। ये संस्थाएँ निरन्तर केन्द्रीभूत राजनीतिक समाजवाद पर बल देती रहीं, अत. इन विचारको ने उनसे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। श्रेणी समाजवाद का बुनियादी विकास पेंटी की पुस्तक 'The Restoration of the Guild System' की प्रेरणा से हुआ जिसका प्रकाशन सन् 1906 मे हुआ था। पेंटी का दृष्टिकोण मध्यकालीन था और वह आधुनिक औद्योगिक प्रणाली से बहुत घृणा करता था। उसका यह विश्वास था कि आधुनिक औद्योगिक प्रणाली ने हर प्रकार के कलात्मक और रचनात्मक कार्य को असम्भव कर दिया है। वह शीघ्र ही इस परिणाम पर पहुँच गया कि समाजवादियो के पास इसका कोई समाधान नही है क्योकि वे मजदूरो को आर्थिक लाभ पहुँचाने पर ही अधिक जोर दे रहे थे एव उस स्वाभाविक तथा रचनात्मक प्रवृत्ति को पुनर्जीवित करने के लिए उनके पास कोई योजना नही थी जिसे आधुनिक तरीको के प्रति सूक्ष्म श्रम विभाजन ने नष्ट कर दिया है। पेंटी ने अपनी पुस्तक मे यह स्पष्ट किया कि समाज मे सौन्दर्यात्मकता (Aesthetism) और भावुकता (Sentimentality) का भी विकास हो सकता है यदि आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था न रहे, अर्थात् वतमान शोषण की प्रवृत्ति समाप्त हो जाए और मजदूरो को उद्योगो मे स्वायत्तता प्राप्त हो जाए। उसने यह प्रतिपादित किया कि मध्यकालीन शिल्पकला को पुनर्जीवित किया जाए। यद्यपि आधुनिक उद्योगवाद के दोषो से इन्कार नहीं किया जा सकता था तथापि पेंटी द्वारा प्रस्तावित दस्तकारी की योजना को न तो सम्भव समझा गया और न वांछनीय ही। वह आधुनिक स्थितियो के अनुकूल नहीं थी। पेंटी के विचारो को ग्रेट ब्रिटेन की जनता आकर्षित अवश्य हुई, किन्तु अपनी अधिक आदर्शात्मकता के कारण उसके विचार लोकप्रियता अर्जित न कर सके। पेंटी के विचार जोड (Joad) के अनुसार श्रेणी-समाजवाद के प्रचार की कोरी आदर्शवादी अव्यवस्था का प्रतिनिधित्व करते हैं। वास्तव मे यह स्वाभाविक था कि गिल्ड की धारणा को जब तक व्यावहारिक रूप नही दिया जाता तब तक उसे कार्यान्वित करने की दिशा मे कोई कदम नहीं उठाए जा सकते थे।

पेंटी के विचारो को आधुनिक राजनीतिक एव आर्थिक स्थितियो के अनुकूल बनाने का श्रेय ओरेज के साथ साथ हॉब्सन ने प्राप्त किया। ओरेज व हॉब्सन ने 'न्यू एज' नामक पत्रिका द्वारा सन् 1912 मे प्रकाशित लेखो मे आधुनिक पूँजीवाद तथा अपने समय के राजकीय समाजवाद के केन्द्रीकरण का विरोध किया और राष्ट्रीय गिल्डो की विस्तृत योजना प्रस्तुत की जो आधुनिक काल की राजनीतिक और आर्थिक दशाओं के अनुसार बनाई गई। 'न्यू एज' मे जो लेख माला प्रकाशित हुई वह कालान्तर मे 'National Guilds An Enquiry into the Wage System and Way Out' नामक पुस्तक मे प्रकाशित हुई। गिल्ड सिद्धान्त का

क्रमबद्ध प्रतिपादन सर्वप्रथम इसी पुस्तक मे किया गया और यह पेंटो की पुस्तक के मध्यकालीन विचारो से मुक्त थी।[1]

इस आन्दोलन का समर्थन करने के लिए शीघ्र ही अनेक सुयोग्य व्यक्ति सामने आए जिनमे सबसे अधिक कर्मठ ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का नवीन स्नातक और ऑक्सफोर्ड के 'मेगडेलन' कॉलिज का फैलो जी डी एच कोल था। कोल ने अपनी एक दर्जन पुस्तक-पुस्तिकाओ मे श्रेणी समाजवाद के आलोचनात्मक और रचनात्मक विचारो का विस्तृत विवेचन किया और उसने श्रेणी समाजवादी आन्दोलन मे सबसे प्रमुख तथा प्रभावशाली स्थान प्राप्त कर लिया। प्रो आर एच टॉनी (R H Tawney), बर्ट्रेण्ड रसेल (Bertrand Russel) और आर डी मेजतू (R D Maeztu) ने सम्पत्ति के व्यावसायात्मक आधार (Functional Basis) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होने इस बात पर जोर दिया कि सम्पत्ति का नैतिक औचित्य तभी है और उसे सामाजिक सुरक्षा का उसी सीमा तक उचित अधिकार है जहाँ तक वह किसी सामाजिक सेवा से सम्बन्धित है। यह सिद्धान्त हॉब्सन तथा कोल के बाद एक मुख्य सिद्धान्त बन गया।

सन् 1915 तक श्रेणी (गिल्ड) आन्दोलन ने कोई सगठित रूप धारण नही किया। इस समय तक प्रचार करने एव गिल्डो को सगठित करने के लिए कोई स्थायी सस्था नही थी। इसका एक प्रमुख कारण यह था कि ओरेज किसी भी प्रकार की सस्था स्थापित करने का विरोधी था। वह चाहता था कि गिल्डो की धारणा का प्रसार शनैः शनैः उसके साप्ताहिक पत्र के माध्यम से ही हो, किन्तु उसके विरोध को अन्तत परास्त किया गया और ऑक्सफोर्ड के दो विद्वानो–विलियम मेलोर (W Mellor) तथा मोरिस रेकिट (M B Reckitt) ने, जिन्होने कोल के साथ सन् 1915 मे श्रेणी समाजवादी विचारधारा को अपनाया था तथा अन्य व्यक्तियो ने एक राष्ट्रीय गिल्ड सघ (National Guilds League) की स्थापना की जो श्रेणी समाजवादी प्रचार का मुख्य केन्द्र बन गया। इस राष्ट्रीय गिल्ड सघ के लक्ष्य थे—(1) श्रम पद्धति का उन्मूलन, (2) राज्य के साथ काम करते हुए उद्योगो मे गिल्डो द्वारा स्वशासन की स्थापना। आरम्भ मे इनका प्रजातन्त्रात्मक राज्य मे विश्वास था, किन्तु सन् 1920 से उन्होंने 'राज्य' को हटाकर उसके स्थान पर देश मे नए प्रजातन्त्रात्मक व्यावसायिक सगठन की स्थापना का ध्येय अपनाया। इस सघ मे सदस्य तो अल्पसख्या मे (अपनी चरमोत्कर्ष स्थिति मे भी इस सघ की सख्या 500 से अधिक नहीं थी) थे लेकिन अपने 6 वर्षो के अल्प जीवनकाल मे ही यह अत्यन्त कार्यशील एव प्रभावशाली बन गया। इसके सदस्यो म एक बडी सख्या प्रतिभाशाली लेखको और व्यक्तियो की थी जिनमे प्रमुख थे—टोनी रसेल, ब्रेल्स फोर्ड, ज्यॉर्ज लेंसबरी और कोल तथा उसके दो मित्र मेलोर एव रेकिट। इस सघ ने अनेक उच्चकोटि की पुस्तिकाएँ प्रकाशित की और तत्पश्चात् 'Guild Man' नामक एक मासिक पत्र निकाला जिसका नाम बाद मे 'Guild Socialist हो गया।

1 कोकर आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 277

युद्धकाल और उसके बाद का कुछ समय गिल्ड समाजवादी विचारों के प्रसार के लिए बहुत उपयुक्त सिद्ध हुआ।

सन् 1919 में व्याप्त औद्योगिक अवस्थाओं को देखकर कुछ गिल्ड समाजवादियों ने ऐसा अनुभव किया कि यह समय इस सिद्धान्त को एक महत्त्वपूर्ण उद्योग में ही प्रयोग करने के लिए अनुकूल था। उस समय औद्योगिक केन्द्रों में बड़ी संख्या में नवीन आवास-गृहों की आवश्यकता थी और व्यक्तिगत उद्योग इस आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर पा रहे थे। इस दिशा में राष्ट्रीय सरकार द्वारा भवन निर्माण करने वाले उद्योगपतियों और स्थानीय संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने तथा भाड़े में कमी करने से उद्देश्य पूरा नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में भवन-निर्माण करने वाले मजदूरों ने कहा कि यदि उन्हें स्थायी रोजगार और नियमित वेतन का आश्वासन दे दिया जाए तो वे बहुत कम वेतन पर सस्ते और मजबूत मकान बना सकते हैं। इसलिए सन् 1920 के आरम्भ में मैनचेस्टर जिले के अनेक भवन-निर्माण सम्बन्धी मजदूर-संघों ने एक भवन निर्माणकारी संघ (A Builder's Guild) स्थापित किया। हॉब्सन इस संघ का मन्त्री बना। इस संघ ने लगभग 22 नगरों में अधिकारियों से ठेके लिए और 10 हजार मकानों का निर्माण किया।[1] ये मकान लागत में उन मकानों से सस्ते थे जो व्यक्तिगत ठेकेदारों से बनवाए जाते थे और सभी लोग उन्हें अच्छा समझते थे, लेकिन शीघ्र ही किसी कारण सरकार ने आर्थिक सहायता देना बन्द कर दिया और स्थानीय अधिकारियों को यह निर्देश दिया कि इस प्रकार के भवन निर्माण कार्यों के लिए किसी भी प्रकार की आर्थिक सहायता न दी जाए। इससे इस आन्दोलन को बहुत आघात पहुँचा। मजदूरी की कमी और बेकारी में वृद्धि से 6 महीने में ही भवन निर्माण संघ समाप्त हो गया तथा गिल्ड-समाजवाद के सम्पूर्ण संगठित आन्दोलन का अन्त हो गया। राष्ट्रीय गिल्ड संघ (National Guilds League) सन् 1925 में भंग कर दिया गया और कोल (Cole) भी गिल्ड समाजवाद की अपेक्षा अन्य बातों की ओर अधिक ध्यान देने लगा। दूसरे लोग भी अन्य कार्यों में लग जाए। रूसी क्रान्ति के मतभेद तथा अन्य बातों ने भी गिल्ड समाजवादी आन्दोलन के विघटन में पर्याप्त योग दिया। सन् 1925 के बाद से लन्दन में कोई गिल्ड समाजवादी आन्दोलन नहीं हुआ है। यद्यपि इसकी कुछ धारणाओं को (जैसे कि समाजवाद की बहुलवादी धारणा और व्यावसायिक जनतन्त्र का सिद्धान्त) आज भी ब्रिटिश सामाजिक चिन्तन में समर्थन प्राप्त है।

श्रेणी समाजवादियों द्वारा वर्तमान समाज की आलोचना

श्रेणी समाजवादियों ने आर्थिक नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार पर वर्तमान औद्योगिक समाज की कटु आलोचना की है—

1 वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण उन पर लगे श्रम से होना है जबकि आज के पूँजीवादी समाज में उन्हें अपने श्रम का पूरा मूल्य नहीं मिलता। उनके परिश्रम का

1 बार्कर आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 279

अधिकांश भाग अतिरिक्त मूल्य के रूप मे भूमिपतियो, उद्योगपतियो और पूंजीपतियो की जेबो मे जाता है। अत उचित है कि वेतन-प्रणाली को तोड दिया जाए अथवा वेतन, लाभ, ब्याज और कार्य का विभाजन किसी भिन्न सिद्धान्त के आधार पर किया जाए।

2 मजदूर शिक्षा और अनुभव द्वारा अपनी स्थिति का मूल्यांकन कर चुके हैं, अत उनमे उत्पादन के लिए अभिरुचि और हडतालो की ओर झुकाव है जिसके फलस्वरूप वर्तमान समाज मे उत्पादन की स्थिति निरन्तर सदिग्ध बनी हुई है।

3 वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था मे उत्पादन मुनाफे की भावना से किया जाता है चाहे समाज को उससे हानि पहुंचे, अत इस व्यवस्था को बदलना आवश्यक है।

4 वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था मे श्रमिको के व्यक्तित्व, उनकी भावना और कलात्मकता पर कोई ध्यान नही दिया जाता। आधुनिक औद्योगिक प्रणाली ने उनके मानवीय गुणो को नष्ट कर उनका जीवन नीरस बना दिया है। वर्तमान समाज के आर्थिक जीवन का सम्पूर्ण संगठन कार्य-सम्पादन (Performance) के सिद्धान्त पर आधारित न होकर सम्पत्ति की प्राप्ति (Acquisition) के सिद्धान्त पर आधारित है। अत ऐसी व्यवस्था स्थापित करना आवश्यक है जिसमे श्रमिको मे न केवल कार्य-कुशलता का विकास हो बल्कि उन्हें काम के गौरव का भी ध्यान हो और वे उपार्जित धनराशि और उत्पादन के रूप व गुण मे पूरी रुचि लें।

5 आधुनिक अर्थव्यवस्था इस प्रकार की है जिसमे पूंजीपति कोई उपयोगी कार्य नहीं करते। वे सट्टेबाजी मे लगे हुए केवल अधिकाधिक मुनाफा कमाने को प्रयत्नशील रहते हैं। अत पूंजीपतियो को ही सब अधिकार और शक्तियाँ देने वाली व्यवस्था को बदलना होगा।

6 आर्थिक समानता के अभाव मे वर्तमान राजनीतिक लोकतन्त्र एक धोखा है। सरकारी कर्मचारियो के अधीन भी मजदूरों की दशा उससे श्रेष्ठतर नहीं हो सकती जैसी व्यक्तिगत पूंजीपतियों की अधीनता मे होती है, अत उद्योगो पर राजकीय प्रबन्ध और नियन्त्रण भी कोई अर्थ नही रखता।

7 आधुनिक राजनीतिक लोकतन्त्र व्यवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण है। इसमे समाज के विभिन्न हितो का सही प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता क्योकि प्रतिनिधियो का चुनाव प्रादेशिक और भौगोलिक आधार पर होता है। प्रादेशिक आधार पर निर्वाचित प्रतिनिधि अपने क्षेत्र के सभी मतदाताओ—मजदूरो, किसानो, वकीलो, अध्यापकों, डॉक्टरो आदि के हितो का प्रतिनिधित्व नही कर सकते। फिर यह भी गलत है कि प्रादेशिक आधार पर निर्वाचित प्रतिनिधियो को ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्नो के निर्णय का अधिकार दे दिया जाता है जिनका प्रादेशिक प्रश्नो से कोई सम्बन्ध नही होता। सच्चा प्रतिनिधित्व तो सदैव विशिष्ट और व्यावसायिक ही हो सकता है। आधुनिक राजनीतिक लोकतन्त्र इस दृष्टि से भी हेय है कि वह मजदूरो को उनके काम की अवस्थाओ को निर्धारित कर कार्य मे भाग दिलवाने की गारण्टी का दावा नहीं करता।

सारांशत श्रेणी समाजवादियो के अनुसार वर्तमान समाज लोकतन्त्रात्मक नहीं है। इसमे लोकतन्त्रीय सिद्धान्त राज्य के छोटे से क्षेत्र तक ही सीमित है। आज का लोकतन्त्र केवल ढोंग है।

श्रेणी समाजवादी दर्शन

श्रेणी समाजवाद का उद्देश्य उद्योग में सलग्न लोगो की स्वायत्तता की स्थापना करना, वतमान वेतन प्रथा का अन्त करना तथा ऐसी अवस्था का निर्माण करना है जिसमे श्रमिको की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उजगार हो सकें। इस उद्देश्य के लिए श्रेणी समाजवादी व्यक्तिगत पूंजी का विनाश और समाज के राजनीतिक सगठन मे आमूलचूल परिवतन चाहते हैं। वे समष्टिवादियो के इस मत से सहमत हैं कि राज्य अथवा समाज का उत्पादन के साधनों पर अधिकार होना चाहिए, लेकिन इस बारे मे उनका मतभेद है कि उद्योगो का वास्तविक सचालन सरकार के हाथ मे हो। श्रेणी समाजवाद इस वास्तविक सचालन को प्रत्येक उद्योग मे गिल्डो (Guilds) के रूप मे सगठित श्रमिको के हाथ मे रखना चाहता है। गिल्ड अथवा श्रेणी या सघ ऐसे व्यक्तियो की एक स्वशासित सस्था है जिसके सदस्य एक दूसरे पर आश्रित होते हैं, जो समाज के किसी विशिष्ट काय को करने के लिए सगठित होते हैं तथा इसके लिए समाज के प्रति उत्तरदायी होते हैं।"

गिल्डो अथवा श्रेणियो के स्वरूप सगठन आदि के सम्बन्ध मे श्रेणी-समाजवादियों में मतभेद है। यह निश्चित है कि इनका सगठन कायमूलक अथवा व्यावसायिक आधार (Functional Basis) पर होगा। कोल के अनुसार समाज मे जितने व्यवसाय एव काय हैं उनके लिए उतनी ही सख्या मे पृथक् रूप से निर्वाचित प्रतिनिधियो के गिल्ड होने चाहिए। गिल्ड अपना कार्य निर्धारित नीति के व्यापक नियन्त्रण मे रह कर करेगा जिसका निर्माण और क्रियान्वयन अधिकतम सम्भव प्रजातन्त्रीय ढग से होगा। गिल्ड अपने अपने उद्योगो का प्रबन्ध करने मे स्वशासी होंगे, लेकिन उन पर उच्चतर राष्ट्रीय गिल्डो का नियन्त्रण होगा। श्रेणी समाजवाद के अनुसार सारे देश मे फले विभिन्न गिल्डो को एक सूत्र मे बाँधे रखने के लिए वांछनीय है कि उनका एक उच्च-स्तरीय राष्ट्रीय सघ हो। श्रेणी समाजवादी इस बारे में एक मत नहीं थे कि प्रमुख गिल्ड इकाइयाँ स्थानीय होगी अथवा राष्ट्रीय। बहुसख्यक वग यही चाहता था कि शक्तिशाली राष्ट्रीय सगठन भी होने चाहिएँ क्योकि तभी वर्तमान मजदूर सघ आन्दोलन से लाभ उठाया जा सकता है और गिल्डो के ढाँचे को विशाल पैमाने पर होने वाले उत्पादन की अवस्थाओं के अनुकूल बनाया जा सकता है। श्रेणी समाजवाद मे स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय गिल्डो का वर्गीकरण क्षेत्रीय आधार पर किया जाता है, किन्तु एक दूसरे दृष्टिकोण से औद्योगिक, नागरिक और वितरणात्मक गिल्ड भी स्थापित किए जाते हैं। औद्योगिक गिल्डो में वे व्यवसाय सम्मिलित होंगे जो बडे-बडे कारखानो के रूप में चलाए जाते हैं, जैसे लोहा तथा इस्पात, कपड़ा, चीनी भवन निर्माण आदि से सम्बन्धित व्यवसाय। नागरिक गिल्ड व्यक्तिगत सेवाओं का काय करेंगे जैसे डॉक्टरी, अध्यापन, कानून

आदि। वितरणात्मक गिल्डों के हाथ मे छोटे व्यापार होंगे। उनमे उपभोक्ताओं, क्षेत्र की स्थानीय शासन-सस्थाओ तथा उन उत्पादक सस्थाओ के प्रतिनिधि सम्मिलित होगे जिनके द्वारा निर्मित सामान का वे वितरण करते हैं। राष्ट्रीय और स्थानीय गिल्डो के सम्बन्ध मे अधिकांश विचारको की मान्यता थी कि राष्ट्रीय स्वायत्तता (National Autonomy) स्थानीय स्वायत्तता (Local Autonomy) की विरोधी नही है।

गिल्डो के निर्माण के सम्बन्ध मे श्रेणी समाजवादियो की मोटी रूपरेखा यह थी कि एक गिल्ड मे एक उद्योग मे काम करने वाले सभी व्यक्ति सम्मिलित होंगे। प्रत्येक कारखाना अपने प्रबन्धक का चुनाव करने मे स्वतन्त्र होगा और राष्ट्रीय गिल्ड द्वारा किसी उद्योग के लिए निर्धारित नीति के अनुसार उत्पादन की पद्धतियो पर नियन्त्रण करने मे भी स्वतन्त्र होगा। प्रत्येक स्थानीय गिल्ड के प्रतिनिधि प्रादेशिक गिल्ड मे भेजे जाएँगे और प्रत्येक प्रादेशिक गिल्ड अपने प्रतिनिधि राष्ट्रीय गिल्ड के लिए चुनकर भेज सकेगा। विविध व्यवसायो के केन्द्रीय गिल्ड (श्रेणियाँ) परस्पर मिलकर राष्ट्रीय गिल्ड का निर्माण करेंगे। स्थानीय प्रादेशिक और राष्ट्रीय सभी गिल्डो का सगठन प्रजातान्त्रिक आधार पर होगा।

श्रेणी समाजवाद के कुछ आधारभूत सिद्धान्त हैं। इसका प्रथम मौलिक सिद्धान्त यह है कि वर्तमान मजदूरी प्रथा (Wage System) को समाप्त कर मजदूरो को वेतन (Payment) दिया जाए। उद्योग-धन्धो मे स्वशासन की जो व्यवस्था स्थापित की जाए वह इस आधार पर हो कि प्रत्येक श्रमिक को मानव होने के नाते वेतन मिले (श्रम बेचने की मजदूरी के नाते नहीं)। बेकारी और बीमारी की स्थिति मे भी व्यक्ति को वेतन दिया जाए, उत्पादन-व्यवस्था के प्रबन्ध और नियन्त्रण मे श्रमिको को अधिकार मिले तथा उत्पादक वस्तुओ पर भी उनका अधिकार हो।

दूसरा मौलिक सिद्धान्त औद्योगिक लोकतन्त्र (Industrial Democracy) का है जिसके माध्यम से उपर्युक्त बातो की व्यवस्था हो सकेगी। श्रेणी समाजवादियो के अनुसार लोकतन्त्र की वर्तमान पद्धति राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित होने के कारण बहुत दोषपूर्ण है। इसका उद्योग-धन्धो के क्षेत्र म विस्तार करके श्रमिको को उद्योगो के सचालन का उत्तरदायित्व और अधिकार सौंपना चाहिए ताकि उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सके और वे अपनी वस्तुओ के निर्माण का आनन्द ले सकें।

तीसरी मूल बात यह है कि सच्चा लोकतन्त्र तभी स्थापित हो सकता है जब प्रतिनिधित्व प्रादेशिक न होकर व्यवसायमूलक अथवा कार्यात्मक हो। कोल के अनुसार एक नागरिक को अपने क्षेत्र से ससद् के लिए प्रतिनिधि चुनने का अधिकार ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसे स्वय से सम्बन्धित और विभिन्न कार्यकारी सगठनो के लिए प्रतिनिधि चुनने का अधिकार भी होना चाहिए।

चौथी बात यह है कि जहाँ सघवाद राष्ट्र के आर्थिक जीवन मे केवल उत्पादको को ही प्रधानता देता है वहाँ श्रेणी समाजवाद उपभोक्ताओ को भी महत्

प्रदान करता है। आर्थिक जीवन के सचालन और नियन्त्रण में उपभोक्ताओ के हितो के सरक्षण की व्यवस्था न होने से उत्पादक अपने उत्पादनो का मनमाना मूल्य वसूल करते हैं जो सार्वजनिक दृष्टि से हानिकारक होता है। श्रेणी समाजवाद समस्त उपभोक्ताओ और उत्पादको की समान प्रतिनिधित्वपूर्ण एक सर्वोच्च सयुक्त समिति (Supreme Joint Committee) की स्थापना का समर्थन करता है जिसका काम होगा प्रत्येक गिल्ड के लिए कर निर्धारित करना (जो उसे राज्य को प्रदा करना पडेगा), वस्तुओ के मूल्य निर्धारित करना तथा यह निर्णय करना कि किसी गिल्ड ने स्वय के हितो को अधिक महत्व देकर समाज के हितो की उपेक्षा तो नहीं की।

श्रेणी समाजवाद मे व्यवस्था की दृष्टि से कोल तथा हॉब्सन का कथन है कि गिल्डो का सगठन आन्तरिक क्षेत्र मे प्रजातन्त्रात्मक होगा तथा बाह्य क्षेत्र मे स्वाधीनता मूलक। प्रत्येक गिल्ड-सभा का सगठन इस तरह होगा कि एक ओर तो राष्ट्रीय-स्तर पर उत्पादन का आवश्यक एकीकरण तथा समन्वय हो सके और दूसरी ओर विविध स्थानो तथा व्यवसायो मे उचित भेद कर उनकी रक्षा की जा सके तथा व्यक्तिगत पहल और आत्माभिव्यक्ति के लिए प्रोत्साहन मिल सके। अधिकांश लेखको के अनुसार गिल्ड स्वय ही सदस्यता की शर्तें तय करेगा, अधिकारियो का चयन करेगा और विभिन्न पदो के अधिकारियो का निर्णय करेगा। कोई भी सदस्य अकारण सेवाच्युत् नही किया जाएगा और इसका निर्णय बहुमत से होगा। स्थानीय गिल्डों के निर्णयो के विरुद्ध गिल्ड के समक्ष अपीलें की जा सकेंगी। कोल का तो यह भी कहना है कि जहां कुछ व्यक्तियो के समूह को किसी नेता या अधिकारी की देख-रेख में अधीन कार्य करना पडता है, उस व्यक्ति-समूह को उस अधिकारी या नेता के चुनाव का अधिकार हो और प्रत्येक समिति की नियुक्ति उन कर्मचारियो द्वारा हो जो इसके अधीन कार्य करें। अपनी 'Self Government in Industry' नामक पुस्तक मे उसने लिखा है कि प्रत्येक कारखाने के लिए एक समिति होगी जिसका चुनाव कारखाने के सभी कर्मचारी करेंगे। समिति का काम नियम निर्माण और उनके कार्यान्वयन के निरीक्षण द्वारा कारखाने की दक्षता और उसके हितो की देखरेख करना होगा। एक ही प्रकार के कारखानो के लिए प्रत्येक स्थान मे एक कारखाना समिति (Works Committee) होगी जिसमे सभी कारखानो के निर्वाचित प्रतिनिधि होगे। यह समिति उनके हितो और कार्यों मे समन्वय स्थापित करेगी। प्रत्येक जिले में एक समिति होगी जिसमें कुछ तो प्रत्येक कारखाने के प्रतिनिधि होगे जिनका निर्वाचन कारखाना समितियाँ करेंगी और कुछ प्रत्येक दस्तकारी (Craft) के प्रतिनिधि होंगे जिनका निर्वाचन उस जिले के विविध शिल्पी करेंगे। इसका कार्य उस जिले में उस उद्योग से सम्बन्धित सम्पूर्ण उत्पादन में समन्वय लाना, जिले के अन्य गिल्डो से उसके सम्बन्धों को निश्चित करना और स्थानीय सार्वजनिक अधिकारियो से सम्पर्क स्थापित करना होगा। प्रत्येक उद्योग में दो राष्ट्रीय गिल्ड सस्थाएँ होंगी, एक सभी प्रतिनिधियो की साधारण सभा जो गिल्ड की सामान्य नीति का निर्धारण करेगी, इसका काम माँग तथा पूर्ति में उचित

सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आवश्यक आँकडे सग्रह करना होगा। अन्त में, कारखाना समिति द्वारा नियुक्त कारखाना-विशेषज्ञ होगा, जिला कमेटी द्वारा नियुक्त जिला विशेषज्ञ और राष्ट्रीय कार्यकारिणी द्वारा नियुक्त 'राष्ट्रीय' और पयटक विशेषज्ञ होगे।

समाज मे प्रत्येक आवश्यक सेवा को एक राष्ट्रीय गिल्ड के रूप मे सगठित किया जाएगा। इस राष्ट्रीय गिल्ड के विधान मे उस सेवा से सम्बन्धित मजदूरो के आवश्यक हित निर्धारित होगे। लेकिन विविध राष्ट्रीय गिल्डो के लिए निर्मित यह योजना विभिन्न आर्थिक समुदायो की परस्पर निर्भर समस्याओ के समाधान के लिए कोई योजना प्रस्तुत नही करती। रेल तथा यन्त्र निर्माण करने वाले उद्योग प्रत्यक्षत लोहा, इस्पात और कोयला साधनो पर आश्रित होते हैं। इसी प्रकार माल उत्पादन करने वाले उद्योग वितरण के साधनो पर निर्भर होते हैं। इस पारस्परिक निर्भरता के कारण सामञ्जस्य की भीषण समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इनको गिल्ड-दूतो के आदान-प्रदान, विशेष सम्मिलित समितियो की स्थापना और अन्त मे राष्ट्रीय गिल्डो का प्रतिनिधित्व करने वाली राष्ट्रीय औद्योगिक गिल्ड द्वारा सुलझाया जाएगा कोल के अनुसार, "यह सस्था उसके औद्योगिक पक्ष मे गिल्ड-प्रणाली की अन्तिम प्रतिनिधि होगी और उसका प्रमुख कार्य गिल्ड-सगठन तथा व्यवहार के आवश्यक सिद्धान्तो का निश्चय करना और उनकी व्याख्या करना होगा। जिन मामलो मे केन्द्रीय समन्वय (Co-ordination) की आवश्यकता होगी, उनमे वह वास्तव मे गिल्ड व्यवस्थापिका का काम करेगी और वह स्वय अपनी किसी सस्था द्वारा गिल्ड सम्बन्धी विशुद्ध प्रश्नो के निर्णय के लिए अन्तिम अपील का न्यायालय होगी। " ' अपने बाहरी सम्बन्धो मे वह समस्त गिल्ड के प्रतिनिधि के रूप मे कार्य करेगी। उसका एक कार्य (जो किसी भी तरह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नही है) गिल्डो की पारस्परिक कठिनाइयो एव विवादो का निर्णय करना होगा। स्थानीय गिल्ड कौंसिलें ऐसे प्रश्नो के सम्बन्ध मे प्रथम न्यायालय होगी। उसका सबसे महत्त्वपूर्ण आन्तरिक कार्य सामान्य नियमो के रूप मे गिल्ड को कार्य करना होगा। वह गिल्डो के सामान्य उद्देश्यो की पूर्ति में होने वाले खर्च के लिए विविध गिल्डो पर टैक्स लगाएगी और समस्त समाज के लिए महत्त्वपूर्ण मामलो मे वह उपभोक्ताओ के दृष्टिकोण से वार्ता करते समय उत्पादनकर्त्ताओ के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करेगी।"

गिल्ड समाजवादी भावी समाज मे उपभोक्ताओ के हितो की रक्षा के लिए सहकारी समितियां भी होगी और इनका सृजन भी गिल्डो की भाँति ही स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय आधार पर होगा। स्थानीय उपभोक्ता समितियाँ खाद्य-सामग्री, कागज, जूता, तेल इत्यादि का नियन्त्रण करेंगी। प्रादेशिक उपभोक्ता समितियों का निर्माण स्थानीय उपभोक्ता समितियो द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियो द्वारा होगा और इनका प्रकाश, शिक्षा तथा यातायात आदि पर नियन्त्रण होगा। उत्पादक राष्ट्रीय गिल्ड के समान राष्ट्रीय उपभोक्ता समिति का निर्माण प्रादेशिक उपभोक्ता समितियो द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों से होगा। राष्ट्रीय समिति का नियन्त्रण-कार्य शिक्षा, यातायात आदि से सम्बन्धित होगा।

गिल्ड समाजवादियों का राजनीतिक सिद्धान्त—अपने उद्देश्यो मे गिल्ड समाजवाद मुख्यत एक ऐसी विचारधारा है जो औद्योगिक व्यवस्था से अधिक सम्बद्ध है और उद्योगो को राज्य के नियन्त्रण से मुक्त कराना चाहती है किन्तु वह राज्य की विरोधी नही है। यद्यपि उसकी मान्यता है कि राजकीय हस्तक्षेप शरारतपूर्ण (Mischievious) है और इस कारण गिल्डो को समाज मे अधिक महत्त्व मिलना चाहिए, तथापि सघवादी (Syndicalism) की भाँति वह न तो राज्य पर भीषण आक्रमण ही करती है और न उसका अस्तित्व ही मिटाना चाहती है। गिल्ड समाजवाद के अन्तर्गत राज्य एक प्रादेशिक सस्था (Regional Association) के रूप मे जीवित रहेगा और उत्पादक गिल्डो द्वारा न किए जाने वाले राजनीतिक कार्य करे । गिल्ड समाजवाद उत्पादको के विशिष्ट हितो के स वादी विचार और सार्वजनिक हितो के राजनीतिक विचार मे सामञ्जस्य स्थापित रने का प्रयास है। वह न तो प्रादेशिक समुदायो को पूर्ण मानता है और न व्याव ायिक समुदायों को ही। "कुछ सामान्य आवश्यकताओ की पूर्ति पहली से और कुछ की दूसरी से होती है। इस प्रकार राज्य समाज की एक अनिवार्य सस्था बना रहता है यद्यपि सार्वजनिक कार्य के ऐसे अनेक रूप भी हैं जिनमे राज्य का कोई हस्तक्षेप नहीं होता।"[1]

गिल्ड समाजवादी समाज मे राज्य का क्या स्वरूप होगा और इसके क्या कार्य होगे, इस विषय मे विचारक एकमत नही हैं। कुछ लोगों का मत है कि गिल्ड समाजवाद की आर्थिक व्यवस्था के साथ ही राज्य राजनीतिक सस्था के रूप में कार्य करेगा और इसके कार्य केवल अग्रलिखित क्षेत्रो तक ही सीमित होगे—

1 राज्य केवल उन्हीं विषयो पर अपना नियन्त्रण रखेगा जो आर्थिक नहीं हैं जैसे आन्तरिक नीति, विदेश-नीति आदि।

2 राज्य उपभोक्ताओ के हितो की रक्षा करेगा।

3 राज्य कही-कहीं थोड़े बहुत उत्पादक सघो (Producer's Guilds) के अनियन्त्रित कार्यों को भी बाधित करेगा।

इस सम्बन्ध मे हॉब्सन तथा कोल के विचारो मे भी अन्तर है। गिल्ड समाजवादी व्यवस्था मे राज्य का सही स्थान क्या रहेगा, इस पर गिल्ड समाजवाद के ये दो महारथी दो विभिन्न मतों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

(1) **हॉब्सन का मत (Hobson's View)**—हॉब्सन का मत है कि श्रेणी समाजवाद मे राज्य को समूचे समाज के प्रतिनिधि के रूप मे (A Representative of the Community as a Whole) जीवित रहना चाहिए। इसकी सत्ता गिल्डों को बाँटकर कुछ कम अवश्य करदी जाए, किन्तु अन्तिम सत्ता (Final Power) इसी के पास रहे। कम कार्यों का सम्पादन करने पर भी राज्य सत्ता मे किसी प्रकार कमी नही आनी चाहिए। "वह सत्ता के आदि स्रोत, अन्तिम न्यायकर्त्ता और उत्पादनकर्त्ता व उपभोक्ताओ का प्रतिनिधि बना रहे। उत्पादन के सारे यन्त्र तथा उपकरण राज्य के ही रहें और वह उन्हें श्रेणी समाजवादी गिल्डो को उध र दे।

1 कोकर . आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 289–90

यदि गिल्डो मे आपस मे झगडा हो जाए तो इसका निर्णय भी राज्य द्वारा ही होना चाहिए। आर्थिक नीति मे न्याय के प्रश्नो—जैसे विदेशो से सस्त मजदूरो के आयात के विरुद्ध शिकायत अथवा गिल्ड द्वारा वेतन-शोषण आदि पर राज्य ही विचार करे। राज्य गिल्ड-कांग्रेसो की अपील पर सार्वजनिक नीति सम्बन्धी अन्य मामलो पर भी अपना निर्णय दे। गिल्डो के पारस्परिक विवादो के निर्णय के लिए राज्य अन्तिम अपील का न्यायालय हो, लेकिन तभी जबकि गिल्ड कांग्रेस इस कार्य मे सफल न हो। राज्य चाहे तो गिल्डो पर भी कर लगाए तथा उचित समझे तो गिल्डो को अपनी अच्छी सेवाओ के बदले मे आर्थिक सहायता प्रदान करे। राज्य को इस तरह कर-निर्धारण का अधिकार होना चाहिए कि वह गिल्डो की आर्थिक नीति मे परिवर्तन कर सके। कर की मात्रा आर्थिक भाडे (Economic Rent) अर्थात् गिल्ड की ऐसी अर्जित रकम के बराबर होगी जिसके अवमूल्यन (Depreciation) की व्यवस्था अथवा बीमे के लिए आवश्यकता न हो।" राज्य ऐसे गिल्डो को आर्थिक सहायता देगा जो शिक्षा और स्वास्थ्य की नि शुल्क सेवा करते हो। इतना ही नही, व्यक्तियो की आन्तरिक तथा बाह्य दोनो प्रकार की सुरक्षा के लिए राज्य सेना और पुलिस का प्रबन्ध और न्यायालयो की भी व्यवस्था करेगा। हॉब्सन के अनुसार इन कार्यों के अतिरिक्त राज्य को अन्य कार्य भी प्रत्यक्ष रूप से करने होगे जैसे दीवानी तथा फौजदारी कानूनो का निर्माण और उन्हे क्रियान्वित करना। वास्तव मे हॉब्सन इतना काल्पनिक नही था कि वह यह सोचने लगता कि श्रेणी समाजवादी समाज मे समस्त अपराधजनक प्रवृत्तियो का विनाश हो जाएगा अथवा गिल्ड के सदस्यो के व्यक्तिगत अधिकारो की रक्षा के लिए किसी कानूनी दण्ड-व्यवस्था की आवश्यकता नही होगी। राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धो का भी नियन्त्रण करना होगा। हॉब्सन एक उदारवादी विचारक था जिसका श्रेणी समाजवाद का चित्र बहुत कुछ बहुलवाद (Pluralism) से मिलता है। राज्य को प्रभुसत्ता प्रदान करने मे हॉब्सन के विचार राज्य-साम्यवादियो के समान हैं। दोनो मे अन्तर केवल इतना है कि राज्य-समाजवादियो की अपेक्षा हॉब्सन ने राज्य को बहुत कम कार्य सौंपे हैं।

(ii) कोल का मत (Cole's View)—कोल कुछ अधिक उग्र विचारक है और कम से कम प्रकट रूप मे अधिक बहुलवादी (Pluralistic) है। वह राज्य को इतना अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान देना नहीं चाहता जितना हॉब्सन देता है। उसने राज्य को गिल्ड के स्तर पर रखने का और इस प्रकार सर्वशक्तिसम्पन्न राज्य से पूर्णतया मुक्ति पाने का स्पष्ट प्रयत्न किया है। उसकी दृष्टि मे राज्य एक आवश्यक सस्था है, जो उपभोक्ताओ का प्रतिनिधि है, परन्तु किसी प्रकार भी उसका उन सस्थाओ पर प्रभुत्व नही है जो उत्पादनकर्त्ताओ के समान धर्म वालो अथवा अन्य प्रकार के समान लोगो की प्रतिनिधि हैं। उसे अन्य सस्थाओ के समकक्ष ही स्थान मिलना चाहिए। अन्य सस्थाओ के समान उसके पास भी उतनी ही सत्ता होनी चाहिए जिससे वह समाज मे अपने विशिष्ट कार्यों को सुचारु रूप से सम्पन्न कर सके। कोल

चाहता है कि श्रेणी समाजवादी व्यवस्था मे राज्य का कार्यक्षेत्र अधिक व्यापक न होकर उसके अधिकार और कर्त्तव्य समान अनुपात मे हों।

कोकर के अनुसार, 'कोल की प्रारम्भिक कल्पना मे राज्य क ऐसी सस्था के रूप मे जिसमे मनुष्य अभिन्नता के आधार पर एक होते हैं, राजनीतिक कर्त्तव्य भी होगे, जैसे, समाज की रक्षा, विवाह तथा विवाह-विच्छेद का नियन्त्रण, बालको की रक्षा व उनकी शिक्षा, विकलांग तथा आश्रित व्यक्तियो की देख-रेख, अपराधो का प्रतिरोध और दण्ड, किन्तु इन कार्यों के सम्पादन मे भी वह (राज्य) एक प्रभुसत्ता के रूप मे कार्य नही करेगा। राज्य और गिल्डो के विविध कार्यों से सुस्पष्ट निर्धारण मे जो कठिनाई होती है उसके कारण हित एव समता के संघर्ष तथा प्रतियोगिता के अवसर उत्पन्न होते हैं। राज्य और गिल्ड के बीच विवादो के निर्णय के लिए दोनों के ऊपर एक सर्वोच्च सत्ता आवश्यक होगी और यह सत्ता समस्त सस्थाओ का प्रतिनिधित्व करने वाली एक सयुक्त-सस्था ही हो सकती है। सामान्यतया यह सस्था प्रशासिका या व्यवस्थापिका सस्था के रूप मे अथवा अपील के न्यायालय के रूप में कार्य आरम्भ करने वाली न होकर निर्णय करने वाली सस्था के रूप मे कार्य करेगी। यह व्यावसायिक न्याय की प्रजातान्त्रिक 'सर्वोच्च न्याय-सस्था' (Democratic Supreme Court of Functional Equity) समस्त सस्थाओ के सामान्य मामलो पर विचार करेगी। उसे बल-प्रयोग के सर्वोच्च अधिकार प्राप्त होगे और उसका पुलिस तथा कानून से सम्बन्धित समस्त व्यवस्था पर अन्तिम नियन्त्रण रहेगा। सामाजिक सगठन की ऐसी योजना मे प्रभुत्व सम्पन्न राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी, फिर भी इसमे राज्य तथा प्रभुत्व दोनों का अस्तित्व रहेगा यद्यपि सम्प्रभुता राज्य से भी ऊँची सस्था मे निहित होगा।"

कोल का कोकर के शब्दो म उद्धृत उपर्युक्त विचार उसकी प्रारम्भिक कल्पना थी। श्रेणी समाजवाद पर जो उसने अपना नवीनतम ग्रन्थ लिखा उसमे उसने हॉब्सन के इस दावे का ही पूर्ण खण्डन नहीं किया कि राज्य का सर्वोच्च कार्य समाज की आत्मा की अभिव्यक्ति और समाज के विभिन्न प्रकार के समुदायो के कार्यों के निर्देशन द्वारा उनमे सामजस्य स्थापित करना है, बल्कि उसने इस धारणा को भी अस्वीकार किया कि राज्य उपभोक्ताओ का प्रतिनिधित्व करता है। कोल ने आर्थिक एव नागरिक सेवाओ के नियन्त्रण मे भी राज्य को कोई स्थान नही दिया। बाद के इस विचार के अनुसार कोल राज्य का क्षेत्र अत्यधिक सकुचित कर देता है और एक सम्प्रभु राज्य की धारणा को पूर्णरूपेण ठुकरा देता है। मार्क्सवादी भावना के अनुसार राज्य को वर्ग-शोषण और वर्ग दमन का एक यन्त्र समझते हुए वह कहता है कि एक गिल्डवादी समाज मे, जो कि तत्वतः सामाजिक सहयोग का एक सगठन है, राज्य का कोई स्थान नही हो सकता। वह राज्य को अन्य समुदायो की भाँति ही एक समुदाय मानता है। जब राज्य अनेक समुदायों म न केवल एक समुदाय है और अन्य सब समुदायो के समान है, तो उसे विभिन्न व्यावसायिक समुदायों को क्रियाओ म सामजस्य स्थापित करने का अधिकार नहीं

दिया जा सकता, अत. वह सम्प्रभु भी नहीं हो सकता। कोल को यह आशा थी कि राज्य के कार्यक्षेत्र को एकदम सकुचित कर देने और उसे प्रभुत्वहीन बना देने से एक बडी सीमा तक राज्य क्षीण हो जाएगा और अन्त मे या तो सीधे आक्रमण के कारण या क्षीण हो जाने के कारण वह बिलकुल लुप्त हो जाएगा।

कोल यदि सामजस्य का कार्य राज्य को नही देना चाहता तो वह इसे किसी अन्य समुदाय को भी नही सौंपता। वह यह कार्य कम्यून-प्रणाली (Commune System) को सौंपता है जिसका ढांचा वर्तमान राज्य से तत्वत भिन्न होगा जिसके स्थान पर यह (कम्यून) स्थापित किया जाएगा। कोल का यह निश्चित मत है कि समूचे समाज की आत्मा को अभिव्यक्त करने वाली और समस्त सस्थाओ को आवश्यक एकीकरण करने वाली कम्यून' सस्था समाज की वर्तमान राजनीतिक सगठन से सर्वथा पृथक् होनी चाहिए और उसे किसी भी अर्थ मे वर्तमान राज्य की उत्तराधिकारिणी नही समझना चाहिए।

कोल के अनुसार 'कम्यून' का सगठन स्थानीय क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तरो पर होगा। प्रत्येक ऐसा सगठन अपने समानान्तर गिल्ड-सगठन से निकट सम्पर्क रखेगा। कोल के अनुसार 'कम्यून' राज्य का विस्तार नही होगा। उसकी यह मान्यता है कि वर्तमान राज्य का आधार प्रतिनिधि-शासन का गलत सिद्धान्त है, जिसके अनुसार यह माना जाता है कि एक व्यक्ति दूसरे का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व कर सकता है। वास्तव मे ऐसा है नही। कोई व्यक्ति किसी एक हित तथा हितो का प्रतिनिधित्व कर सकता है। इसीलिए कोल व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Functional Representation) का समर्थक है। व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के अनुसार ही स्थानीय, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय 'कम्यूनो' की रचना होगी।

'कम्यून' प्रत्येक स्तर पर उत्पादको और उपभोक्ताओ दोनो का पूर्ण प्रतिनिधित्व करेंगे। एक समाज विशेष के सदस्यो को उत्पादको के नाते विभिन्न औद्योगिक गिल्डो मे सगठित किया जाएगा जो स्थानीय गिल्ड-सभा मे अपने प्रतिनिधि भेजेंगे। विभिन्न नागरिक कार्यों को करने के लिए लोगो को बहुत से नागरिक गिल्डो मे सगठित किया जाएगा। वे उपभोक्ताओ की समस्याओ का निराकरण करने के लिए एक सहकारी परिषद्, शैक्षिक उद्देश्यो के लिए एक सांस्कृतिक परिषद, एक स्वास्थ्य परिषद्, एक सार्वजनिक उपयोगिता-परिषद् तथा सम्भवत ऐसी ही कुछ और परिषदो का निर्माण करेंगे। इन विभिन्न औद्योगिक एव नागरिक गिल्डो अथवा परिषदो के प्रतिनिधियो के योग से स्थानीय कम्यून की रचना होगी जो एक सामजस्यकारी सस्था और एक अपीलीय न्यायालय के रूप मे कार्य करेगा। प्रादेशिक औद्योगिक एव नागरिक गिल्डों के प्रतिनिधियो के योग से प्रादेशिक कम्यून स्थापित किए जाएँगे। इसी प्रकार एक राष्ट्रीय गिल्ड की स्थापना होगी जिसमे औद्योगिक, कृषि सम्बन्धी तथा नागरिक राष्ट्रीय गिल्डो, आर्थिक और नागरिक राष्ट्रीय परिषद् एव प्रादेशिक कम्यूनो के प्रतिनिधि सम्मिलित होगे। स्पष्ट है कि कम्यूनो का सदैव व्यावसायिक आधार होना चाहिए यद्यपि कुछ हद तक इसमे क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व का भी समावेश हो सकता है।

अब प्रश्न उठता है कि स्थानीय, प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय सगठनो के सम्बन्ध मे कम्यून के क्या कार्य होने चाहिएँ। इन कार्यों को कोकर के अनुसार मोटे रूप मे पाँच श्रेणियो मे विभाजित किया जा सकता है—

1 "कम्यून को राजस्व सम्बन्धी (Financial) मामलो मे व्यापक अधिकार होगे जिनमें *मूल्यो का अन्तिम नियन्त्रण भी शामिल है।* कोल ने दुग्ध-वितरण सम्बन्धी उदाहरण देकर इस नियन्त्रण-व्यवस्था पर प्रकाश डाला है। दुग्ध वितरण करने वाली गिल्ड-उपभोक्ता सहकारी-समिति दुग्ध की कीमत तय करेगी। यह कीमत इन बातो को ध्यान मे रखकर निश्चित की जाएगी कि दुग्ध-वितरक गिल्ड कृषि गिल्ड को दूध का क्या मूल्य देता है और वितरण मे क्या व्यय होता है? यदि दोनो सहमत हो जाते हैं तो कीमत अथवा मूल्य का निर्धारण हो जाता है। मतभेद की स्थिति मे यह प्रश्न कम्यून के पास निर्णय के लिए जाएगा। कम्यून को यह निर्बाध अधिकार होगा कि वह 'सामाजिक कारणो' से मूल्य को कम या अधिक कर दे और इसके परिणामस्वरूप होने वाला हानि या लाभ का उचित रूप से विभक्त कर दे। कम्यून को राजस्व-सम्बन्धी एक अन्य महत्त्वपूर्ण अधिकार यह होगा कि वह विविध उद्योगो और सेवाओ मे राजस्व के साधनो अर्थात् स्रोतो का वितरण करेगा। इस अधिकार का प्रयोग प्रमुखत विभिन्न गिल्डो के बजटो मे सशोधन करने की शक्ति के माध्यम से होगा। सम्बन्धित गिल्डो एव हितो को बजट सम्बन्धी बहस म भाग लेने और अपने विचार प्रकट करने का पूरा अवसर प्राप्त होगा। इन अधिकारो मे ये दो राजस्व अधिकार भी सम्मिलित होग (क) कर-निर्धारण—प्रत्येक गिल्ड पर कुछ कर लगाया जाएगा। गिल्ड को अपने सदस्यो पर व्यक्तिगत रूप से कर लगाने या नियत धन-राशि को अन्य प्रकार स एकत्र करने का अधिकार होगा, (ख) ऋण पर अन्तिम नियन्त्रण—चाहे बैंको का सचालन *विविध गिल्ड करे या गिल्ड कांग्रेस करे।*"[1]

2 'यदि व्यावसायिक सघों अथवा समुदायो के मध्य ऐसे नीति सम्बन्धी प्रश्न उपस्थित हो जिनका समाधान गिल्ड कांग्रेस या गिल्ड कौसिलें न कर सकें तो उनका निराकरण अथवा निर्णय कम्यून करेगा।"

3 "*विभिन्न व्यावसायिक सघों के बीच सत्ता विभाजन का अधिकार कम्यून* का होगा। यह कार्य वह वैधानिक कानूनो के निर्माण द्वारा करेगा जो इन सस्थाओ के क्षेत्र का निर्धारण करेंगे और अपनी न्याय-व्यवस्था द्वारा ऐसे कानूनो की व्याख्या और उनके कार्यान्वयन सम्बन्धी विवादो का निर्णय करेगा।'

4 'कम्यून ऐसे सामाजिक मामलो की भी व्यवस्था करेगा जो किसी भी व्यावसायिक सत्ता के अन्तर्गत नहीं आते, जैसे, युद्ध एव शान्ति की घोषणा, सशस्त्र सेनाओ का नियन्त्रण, वैदेशिक सम्बन्धो का नियन्त्रण, नगरो, कस्बो तथा प्रदेशों की सीमाओ का निर्धारण एव व्यक्तिगत सम्बन्धो व निजी सम्पत्ति के सम्बन्धो का नियन्त्रण।"

1 कोकर अर्वाचीन राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 295.

5 कम्यून के पास व्यक्तियो तथा व्यावसायिक संस्थाओं को अपने कानूनो एव निर्णयो का पालन करने के लिए बाध्य करने की सत्ता भी होगी। व्यक्तियो के विरुद्ध दमन का प्रयाग फौजदारी विधि के अनुसार किया जाएगा। समुदायो के विरुद्ध दमन का प्रयोग आर्थिक बहिष्कार का रूप ग्रहण करेगा। कोल का कथन है कि 'दमन का प्रयोग अन्तिम अस्त्र के रूप मे किया जाएगा।' उसे यह आशा थी कि गिल्ड समाज मे जहाँ मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण नही होगा, समृद्धि के साथ-साथ दमनकारी गरीबी नही होगी और जहाँ अधिकारो तथा कर्त्तव्यो की न्यायपूर्ण व्यवस्था और आत्माभिव्यक्ति के पर्याप्त अवसर मुकदमबाजी तथा अपराध की प्रवृत्ति को बहुत कम कर देंगे और बाध्यकारी शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता बहुत कम रह जाएगी।

स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय कम्यूनो के योग से एक एकल ढाँचा खडा कर जिसमे समाज की सामाजिक भावना अभिव्यक्त होती है कोल की व्यवस्था हॉब्सन के सगठन से बहुत भिन्न नही रह जाती यद्यपि वह उसे राज्य की सज्ञा नहीं देता तथा इस धारणा का खण्डन करता है कि राज्य समस्त अधिकारो का अन्तिम स्रोत है।

उत्पादन और वितरण के विभिन्न साधनो पर हॉब्सन और कोल दोनो सार्वजनिक अर्थात् राज्य का या समाज का स्वामित्व स्थापित करना चाहते थे, लेकिन उनके प्रबन्ध का काम, व्यक्तिगत उद्योगो की भाँति ही, विविध गिल्डो के कार्यकर्त्ताओ के हाथो मे ही रखने के समर्थक थे। राज्य (अथवा कम्यून) को व्यक्तिगत आर्थिक व्यवसायो पर कर-निर्धारण तथा मूल्य, वेतन और काम की शर्तों के विभिन्न प्रकार के नियमन द्वारा नियन्त्रण रखना होगा। कर-निर्धारण मे (हॉब्सन के अनुसार) राज्य या (कोल के अनुसार) कम्यून विभिन्न गिल्डो पर एकमुश्त रकम के रूप मे कर लगाएगा। वस्तुओ के मूल्य स्वय गिल्डो द्वारा अलग-अलग अथवा विविध गिल्डो के आपसी समझौते द्वारा निश्चित होगे, लेकिन जहाँ कोल सामाजिक हित मे मूल्य पर पुनर्विचार करने और मूल्य-निर्धारण का कार्य कम्यून का सौंपता है, वहाँ हॉब्सन का विचार है कि मूल्य नियन्त्रण पर राज्य की सत्ता कर के रूप मे अतिरिक्त आय को प्राप्त करने की नीति के फलस्वरूप अप्रत्यक्ष होगी।" काम के लिए पारिश्रमिक देन के बारे मे हॉब्सन और कोल दोनो ने जहाँ प्रारम्भिक निर्णय का अधिकार गिल्ड को दिया, वहाँ पुनर्विचार का अधिकार राज्य और कम्यून को दिया।

अन्त मे, यह कहा जा सकता है कि कोल का कम्यून हॉब्सन के परम्परागत राज्य से कुछ कम प्रभुत्वसम्पन्न प्रतीत नही होता। लेकिन दोनो विचारको को आशा थी कि श्रेणी समाजवादी समाज मे स्वेच्छाचारी अत्याचार एव दमनपूर्ण राजनीतिक सत्ता के प्रयोग की प्रवृत्ति अत्यन्त क्षीण होगी।

गिल्ड समाजवाद के साधन
(Methods of Guild Socialism)

श्रेणी समाजवादियो मे जिस तरह भावी सामाजिक व्यवस्था के विवरण पर

मतभेद हैं उसी तरह अपने उद्देश्य-सिद्धि के साधनो के विषय मे भी वे एकमत नहीं हो सकते, क्योकि (1) पूँजीवाद मे यह असम्भव नही होगा कि सभी श्रमिक वर्ग एक साथ मतदान करें अथवा उनमे वेर्गीय चेतनापूर्ण बहुमत कभी शासन पर नियन्त्रण प्राप्त करले, (2) यदि कभी ऐसे शासन की स्थापना हो भी जाए तो भी वाँछित परिवर्तन ससदीय तरीको द्वारा एक शताब्दी से पहले लाना शायद सम्भव नही होगा, (3) राज्य का वर्तमान सगठन किसी भी ऐसे कार्य को पूरा करने की दृष्टि से पर्याप्त नही है जिससे समाज की रचना मे आधारभूत परिवर्तन लाया जा सके, राजनीतिक उपायो द्वारा वाँछित परिवर्तन के लिए यदि प्रयास भी किए जाएँ तो उसके प्रत्युत्तर मे शासक-वर्ग क्रान्ति-विरोधी कार्यवाही करेगा, एव (5) वह मूलभूत कारण, जिसके परिणामस्वरूप राजनीतिक उपायो द्वारा समाज मे वाँछित परिवर्तन आ सकेंगे, यह है कि वाँछित परिवर्तन राजनीतिक न होकर आर्थिक हैं। परन्तु श्रेणी समाजवादी राजनीतिक साधन का पूर्णत बहिष्कार नहीं करते। श्रमिक वर्ग को शिक्षित करने और पूँजीवाद की गति को रोकने के लिए उसे एक उपयोगी साधन के रूप मे अपनाते है।

इग्लैण्ड मे उत्पन्न होने के कारण श्रेणी समाजवाद विकासवादी समाज की एक शाखा है जो कभी क्रान्तिकारी नही हो सकता। समूहवाद (Collectivism) की तरह वह शान्तिपूर्ण और अहिंसक उपायो द्वारा सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन मे विश्वास करता है और सघवादियो की रक्तरजित क्रान्ति तथा हडतालो की प्रणाली को राष्ट्र के लिए हानिकारक समझता है। श्रेणी समाजवाद वैधानिक उपायों (Constitutional Methods) मे विश्वास करता है और चाहता है कि श्रेणी समाजवादी लोकप्रिय बनकर सरकार मे पहुँचें और अपनी योजना को कार्य रूप मे परिणत करें। वह यह मानता है कि पूँजीपतियो स शनै-शनै सत्ता पूरी तरह छीनी जा सकती है। यह विकासवादी समाजवाद श्रमिको का कल्याण चाहता है और ऐसा कुछ भी नही करना चाहता जो उनके लिए अन्त मे हानिकारक सिद्ध हो। श्रेणी-समाजवादी तरीके के विषय मे प्रो कोल का कथन है कि "शीघ्रता से क्रान्ति लाना हमारा उद्देश्य नही है। हमारा उद्देश्य है कि विकासवाद के मार्ग द्वारा उन सब शक्तियो को दृढ करना जिससे भावी क्रान्ति एक की वर्ग न होकर समाज की क्रियाशील वृत्तियों का एक अन्तिम परिणाम व प्राप्त तथ्य-सी मालूम हो।"

गिल्ड समाजवादियो द्वारा अनुमोदित आर्थिक साधन उस प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action) से भिन्न हैं जो समाजवादी औद्योगिक क्षेत्र मे अपनाते हैं। इसमे तोड-फोड, हडताल आदि को स्थान नही है। यह मूलत विकासवादी है क्रान्तिकारी नही, यद्यपि श्रमिक ह्रास का विरोध करने पर कोल पूँजीवादियो से बलपूर्वक सम्पत्ति के हडपने की सम्भावनाओ से इकार नहीं करता। यह उल्लेखनीय है कि कुछ गिल्ड समाजवादियों ने वर्तमान व्यवस्था को क्रान्तिकारी ढग से समाप्त करने के प्रयत्न का भी अनुमोदन किया है, लेकिन कोल का तर्क है कि वर्तमान परिस्थिति म शक्ति के बल पर पूँजीवाद का विनाश करने से बहुत लम्बा समय लग

जाएगा, अत यही उचित है कि श्रमिक सघ आर्थिक शक्ति का प्रयोग करते हुए विभिन्न क्रमिक अधिकार प्राप्त करने की नीति का अनुसरण करें।

जिन उपायो से गिल्ड समाजवादी शनै शनै पूँजीवादी व्यवस्था को बदल कर गिल्ड समाजवादी-समाज की स्थापना करना चाहते हैं, वे इस प्रकार हैं—

1. क्रमशः अधिकार स्थापित करने की नीति (The Policy of Encroaching Control)—सामाजिक ढाँचे मे ट्रेड यूनियनो को उपयोगी बनाने के लिए उनके सगठन मे आमूलचूल परिवर्तन किए जाने चाहिए। उनका सगठन शिल्पकला की अपेक्षा उद्योग के आधार पर होना चाहिए और उनकी सदस्यता का पर्याप्त विस्तार होना चाहिए ताकि उनमे अधिकाँश असगठित और अकुशल श्रमिक, लिपिक, प्राविधिक कर्मचारी और प्रबन्धकगण सभी सम्मिलित हो सकें। समस्त ट्रेड यूनियनो को एक निकाय मे सगठित किया जाना चाहिए जिसमे विविध उद्योगो और सेवाओ के लिए आन्तरिक रूप से स्वतन्त्र संस्थाएँ हो। साथ ही ट्रेड यूनियनो का विस्तार इस सीमा तक किया जाना चाहिए कि श्रम-बाजार पर उनका एकाधिकार स्थापित हो जाए। अपने सगठन को शक्तिशाली बनाकर मजदूरो मे श्रमिक नियन्त्रण (Enc oaching Control) की नीति का अनुसरण करना चाहिए। श्रेणी व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक उद्योग के सब कर्मचारियो की, चाहे वे श्रमजीवी हो या बुद्धिजीवी, एक गिल्ड होगी जिसमे चपरासी से लेकर मैनेजर तक सभी सम्मिलित होगे। इस तरह इन समितियो का सगठन वर्तमान ट्रेड यूनियनो से अधिक व्यापक होगा, अत पूँजीपति सरलता से इनकी माँगो को ठुकरा नही सकेंगे। पूरे सगठन की शक्ति के बल पर ये श्रेणी-उद्योगो के प्रबन्ध में अधिकाधिक भाग माँगते जाएँगे। इस प्रकार क्रमश अधिकाधिक अधिकार प्राप्त करने की नीति द्वारा छोटे-छोटे गिल्ड उद्योग के प्रबन्ध एव सचालन सम्बन्धी सभी अधिकार अपने हाथ मे ले लेंगे और उद्योगो पर मजदूरो की स्वायत्तता स्थापित हो जाएगी। प्रो कोकर के अनुसार, 'शनै-शनै नियन्त्रण की इस पद्धति का अर्थ स्वामियो से अधिकारो को हस्तगत कर मजदूरो के हाथ मे सौंप देने से है।"

2 सामूहिक ठेका (Collective Contract)—उपर्युक्त पद्धति से मिलती-जुलती पद्धति ठेके की है। इसका उद्देश्य पहले मिल-मालिको से सामूहिक ठेके के रूप मे काम लेकर शीघ्रता से अल्प समय मे काम समाप्त कर मिल मालिको से अपने पूरे पैसे ले लेना है। सामूहिक ठेके व्यावसायिक श्रेणियो या गिल्डो द्वारा लिए जाएँगे। इस पद्धति का उत्तम लाभ यह है कि मजदूर स्वय अपना प्रबन्ध करेंगे और इस तरह उद्योगपतियो के अनुचित हस्तक्षेप से दूर रह सकेंगे। वस्तुओ के उत्पादन मे समय की बचत भी होगी तथा पूँजीपतियो से व्यर्थ का सघर्ष भी नही हो पाएगा।

3 औद्योगिक प्रतियोगिता (Industrial Competition)—मजदूर सघ सामूहिक सहयोग के आधार पर पूँजीपतियो की प्रतियोगिता मे स्वय उद्योगो की स्थापना करेंगे तथा स्वय गिल्ड सगठन जैसे उद्योगो का प्रबन्ध और सचालन करेंगे।

इन गिल्डो के सगठन द्वारा मजदूर उद्योगपतियों को अपने समक्ष झुकाने मे समर्थ हो सकेंगे। गिल्ड समाजवादी प्रचार और विज्ञान मे भी विश्वास करते हैं क्योकि इससे समाजवादी विचारधारा जनप्रिय बनती है और मजदूरो मे सगठन तथा स्वावलम्बन की भावना जाग्रत होती है।

श्रेणी-समाजवाद : आलोचनात्मक मूल्यांकन

श्रेणी-समाजवादी आन्दोलन लगभग 20 वर्ष तक अस्तित्व मे रहा। यह सन् 1906 मे पेंटी के ग्रथ 'Restoration of Guild System' के प्रकाशन से प्रारम्भ हुआ और सन् 1925 मे 'National Guild League' के विघटन के साथ ही समाप्त हो गया। 'National Guild League' की असफलता इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि सैद्धान्तिक दृष्टि मे बहुत कुछ उपयोगी और स्वस्थ होते हुए भी श्रेणी-समाजवाद अव्यावहारिक विचारधारा है जिसकी दुर्बलता इतिहास द्वारा सिद्ध हो चुकी है। फिर ऐसे आलोचको की भी कमी नही है जो इस मध्यममार्गी समाजवाद की सैद्धान्तिक दृष्टि से भी आलोचना करते हैं।

1 लेडलर (Laidler) के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक जटिल समाज मे मध्यकालीन श्रेणी-व्यवस्था को लागू करना असम्भव सा है। मध्य युग मे ही जब गुटबन्दियो के कारण श्रेणी-व्यवस्था का पतन हो गया तो आज के युग मे गड़े मुर्दे उखाड़ने से कोई लाभ नही।

2 उत्पादन पर अत्यधिक ध्यान देने का अर्थ अन्य महत्त्वपूर्ण मामलो मे अभिरुचि कम करना है।

3 उद्योगो के नियन्त्रण-मण्डलो मे उपभोक्ताओ को प्रतिनिधित्व न देना अलोकतान्त्रिक भावना और असमानता को प्रोत्साहन देना है।

4 समाज मे राजनीतिक प्रश्नो तथा आर्थिक प्रश्नो जैसा स्पष्ट और निश्चित विभाजन नही हो सकता। व्यवहारत दोनो मे चोली-दामन का साथ है।

5 ससदीय व्यवस्था सर्वथा अव्यावहारिक है। श्रेणी समाजवाद के अनुसार राजनीतिक ससद् का सगठन प्रादेशिक आधार पर और अनार्थिक ससद् का व्यावसायिक आधार पर होगा। पहली ससद् राज्य का अग होगी, दूसरी श्रेणी-व्यवस्था की। यह स्पष्ट नही है कि दोनो के बीच सघर्ष और विवाद किस प्रकार हल हो सकेंगे। अन्ततोगत्वा अन्तिम सत्ता राज्य को ही सौंपनी होगी जिसका अभिप्राय होगा श्रेणियो अथवा सघो की स्वाधीनता तथा स्वायत्तता पर अकुश। वस्तुतः श्रेणी-समाजवादी व्यवस्था एक परस्पर विरोधी व्यवस्था है जो एक ओर तो आर्थिक स्वायत्तता चाहती है और दूसरी ओर राजकीय हस्तक्षेप।

6 उत्पादन पर श्रमिक सघो का पूर्ण अधिकार होने से उनमे अनुशासन-हीनता, भ्रष्टाचार आदि दुर्गुण पनपेंगे और अन्त मे औद्योगिक क्षेत्र मे अनिहीनता छा जाएगी। कार्यात्मक प्रेरणा के अभाव के कारण श्रमिक कठोर परिश्रम से जी चुराएँगे और उत्पादक सघ स्वार्थ-भावना के वशीभूत होकर जनता का शोषण करने लगेंगे।

7. समाज मे सुख-शान्ति के लिए आवश्यक है कि संस्थाओ का अनावश्यक विस्तार न हो। संस्थाओं की बहुलता समाज मे व्यर्थ की प्रतियोगिता को जन्म देगी तथा राष्ट्रीय हित अनेक सघो के अधीन हो जाएँगे।

8 कम्यूनो के लिए गतिरोध और सन्तुलन का जो सिद्धान्त प्रस्तावित किया गया है उसके कारण वे बहुत से निर्णय लेने में असमर्थ रहेगे। गिल्ड कम्यून्स जनता को विभिन्न हितो के आधार पर सगठित करेंगे, एक कम्यून को दूसरे कम्यून पर हावी होने का अधिकार प्राप्त होगा और किसी भी व्यक्ति को अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार नही होगा। इसके अतिरिक्त सामान्य हितो को भी उचित महत्त्व नही मिल सकेगा।

9 क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व का खण्डन करके व्यावसायिक सिद्धान्त की पुष्टि की बात भी उचित प्रतीत नहीं होती। ससद सदस्यो का कार्य अपने निर्वाचको के विशिष्ट हितो की रक्षा करने के बजाय सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करना है। उन्हे व्यावसायिक आधार पर चुनने से ससद का राष्ट्रीय स्वरूप नष्ट हो जाएगा। वह विरोधी हितो के प्रतिनिधियो की एक विजातीय (Hetrogeneous) सभा मात्र बन जाएगी।

10 जब समाज के वास्तविक स्वरूप अर्थात् मूल उद्देश्य के बारे मे ही श्रेणी समाजवादी एकमत नही हैं तो अस्पष्ट और अनिश्चित मार्ग पर समाज को ढकेलने का प्रयत्न करना सर्वथा अनुचित है।

अपनी अव्यावहारिकता के कारण श्रेणी समाजवादी व्यवस्था मर चुकी है। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि 20वी शताब्दी के आरम्भ मे इसने ब्रिटेन और सयुक्तराज्य अमेरिका के सामाजिक तथा औद्योगिक जीवन मे भारी क्रान्ति की। इसके प्रभाव से दोनो देशो के राष्ट्रीय उद्योगो के प्रशासन मे काफी परिवर्तन हुए। मालिको और मजदूरो के सयुक्त प्रतिनिधियो को पर्याप्त अधिकार प्राप्त हुए। राजनीतिक दृष्टि से समाज मे अनेक सघो की आवश्यकता पर बल देकर श्रेणी समाजवाद ने आस्टीनियन विचार को आघात पहुँचाया और बहुलवादी सिद्धान्त को विकसित किया। श्रेणी समाजवादियो ने समष्टिवाद मे बढने वाली नौकरशाही के खतरो की ओर भी स्पष्ट सकेत दिया। विशेष महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इसने आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नो पर विद्वानो को एक साथ सोचने के लिए विवश कर दिया। मजदूर पद्धति के दोषो को प्रकट कर तथा लाभ के स्थान पर सामाजिक उपयोगिता के उत्पादन ध्येय पर बल देकर श्रेणी समाजवाद ने अत्यन्त उपयोगी कार्य किया। पुनश्च यह बात भी कम महत्त्वपूर्ण नही है कि श्रेणी समाजवादियो ने क्रमिक और मन्थर परिवर्तन का पक्ष लिया समाज को खतरे म डालने वाले आकस्मिक परिवर्तनो का नहीं। उन्होने यह भी स्पष्ट सकेत दिया कि राजनीतिक विचारधाराओ को कभी भी एकाँगी अथवा चरमपन्थवादी नही होना चाहिए। व्यावहारिक दृष्टि से सफल होने के लिए प्रत्येक राजनीतिक सिद्धान्त का समन्वयपूर्ण होना आवश्यक है।

फेबियन समाजवाद
(Fabian Socialism)

कार्ल मार्क्स ने अपने जीवन के अन्तिम 30 वर्ष लन्दन में बिताए और उसकी अधिकांश रचनाओं का प्रकाशन भी वहीं से हुआ, किन्तु उसके सिद्धान्त इंग्लैण्ड की भूमि में अपनी जड़ें नहीं जमा सके। ग्रे के शब्दों में रूस में सन् 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति और सोवियत पद्धति की स्थापना के बाद ही मार्क्स लेनिन के कन्धों पर सवार होकर, इंग्लैण्ड वापस आ सका।

इंग्लैण्ड में मार्क्सवादी सिद्धान्त अपनी जड़ें क्यों नहीं जमा सके और अंग्रेज जाति अग्रगामी समाजवाद से क्यों प्रभावित नहीं हो पाई, इसके अनेक कारण हैं। एक कारण तो यह है कि राष्ट्रीय विशेषताओं और ऐतिहासिक अनुभव के संयोग से अंग्रेजों का प्रधानतः व्यक्तिवादी दृष्टिकोण तथा व्यावहारिक एवं समझौतावादी स्वभाव बन गया है, किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि सन् 1865 से 1885 तक इंग्लैण्ड में महान् परिवर्तन हो चुके थे। यूरोप के अन्य देशों की अपेक्षा इंग्लैण्ड में श्रमिकों को अधिक वेतन मिलने लगा था। श्रमिकों की न केवल राष्ट्र की बढ़ती हुई सम्पन्नता में सहभागिता थी बल्कि पूर्वापेक्षा अधिक संगठित थे। उनके ट्रेड यूनियन संगठन को कानूनी मान्यता प्राप्त हो गई थी। सन् 1867 के अधिनियम द्वारा श्रमिकों को मताधिकार भी प्राप्त हो गया था। उन्हें भाषण तथा सभा आदि की स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई थी। इस तरह कुल मिलाकर श्रमिक अपनी वर्तमान दशा से अत्यधिक असन्तुष्ट नहीं थे। ओवन (Owen) के समय का वह इंग्लैण्ड, जो एक पीडक वर्गतन्त्र था अब जनतन्त्रवादी रूप ग्रहण करने लगा था। इन परिवर्तित परिस्थितियों में मार्क्सवाद का संशोधित स्वरूप ही अंग्रेजी जाति को कुछ प्रभावित कर सकता था। यह कहना उपयुक्त होगा कि कट्टर मार्क्सवाद की अपेक्षा प्रजातान्त्रिक एवं विकासवादी समाजवाद इंग्लैण्ड की भूमि के लिए अधिक उपयुक्त था।

सन् 1800 के बाद के वर्षों में इंग्लैण्ड में अनेक घटनाओं और परिस्थितियों से प्रेरणा एवं प्रोत्साहन प्राप्त कर नाना समाजवादी आन्दोलनों का उदय हुआ। विभिन्न समाजवादी विचारधाराओं के प्रचार एवं प्रसार के लिए अनेक संस्थाएँ स्थापित हुईं। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ थीं—समाजवादी प्रजातान्त्रिक संघ (Social Democratic Federation) समाजवादी परिषद् (Socialist League) स्वतन्त्र मजदूर संघ (Independent Labour Party) तथा फेबियन सोसाइटी (Fabian Society)। समाजवादी प्रजातान्त्रिक संघ इंग्लैण्ड की प्रथम मार्क्सवादी संस्था थी जिसकी स्थापना सन् 1881 में हुई। इसकी स्थापना करने वालों में प्रमुख थे—एच. एन. हिंडमैन, कवि और कलाकार विलियम मॉरिस, हेलेन टेलर (जॉन स्टुअर्ट मिल की पुत्री), कवि दार्शनिक और इतिहासकार बेलफोर्ट बैक्स, मार्क्स की सबसे छोटी पुत्री इलियानोर मार्क्स एवेलिंग तथा उसका पति एडवर्ड एवेलिंग। "यह संघ प्रारम्भ से ही समाजवादी लक्ष्य की प्राप्ति के एकमात्र

प्रभावकारी साधन के रूप में उत्साहयुक्त 'वर्ग-युद्ध' में अपना विश्वास प्रकट करता था, किन्तु उसकी ओर से यह कभी स्पष्ट नहीं किया गया कि उस वर्ग-युद्ध का स्वरूप क्या होगा। अपने उद्देश्यों की परिवर्ती घोषणाओं में यह संघ समस्त समाज के हित में सामूहिक अधिकारवादी प्रजातान्त्रिक समाजवादी आदर्श के निकट पहुँच गया। यह संघ अपने सिद्धान्त तथा व्यावहारिक कार्यक्रम में इतना सामंजस्य स्थापित नहीं कर सका कि विशुद्ध मार्क्सवादी तथा सुधारवादी अथवा राज्य-समाजवादी दोनों में से कोई भी सन्तुष्ट हो सकता। इस कारण इसके दक्षिणपक्षी (Right) तथा वामपक्षी (Left) सदस्य पृथक् हो गए। इस संघ ने समाजवाद के सम्बन्ध में सूचनात्मक साहित्य का प्रसार अवश्य किया और समाजवादियों के राजनीतिक संगठन के आन्दोलनों में सहायता दी किन्तु इस सब के सदस्य सदा थोड़े ही रहे और आज इसका प्रभाव भी अपेक्षाकृत कम है।'[1]

समाजवादी परिषद् (Socialist League) की स्थापना सन् 1884 में मॉरिस, एवलिंग बैक्स आदि ने की थी। ये व्यक्ति पहले समाजवादी प्रजातान्त्रिक संघ के सदस्य थे, परन्तु बाद में कुछ व्यक्तिगत विवादों एवं सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण उनसे पृथक् हो गए थे। इस छोटी और अल्पजीवी संस्था के सदस्यों के विचारों में एकता कभी नहीं रही। कुछ सदस्य संसदीय पद्धति के समर्थक थे तो कुछ इसके विरोधी, कुछ के विचार अराजकतावादी थे तो कुछ अराजकतावाद और सुधारवाद दोनों के विरोधी थे। इस संस्था के सर्वाधिक प्रभावशाली सदस्य मॉरिस ने सन् 1889 में अपनी सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया और कुछ वर्षों बाद यह संस्था ही समाप्त हो गई। स्वतन्त्र मजदूर दल (Independent Labour Party) की स्थापना उत्तरी इंग्लैंड और स्काटलैण्ड की स्थानीय मजदूर-पार्टियों के प्रतिनिधियों तथा समाजवादी प्रजातान्त्रिक संघ और फेबियन सोसायटी के कुछ प्रतिनिधियों के सहयोग से सन् 1893 में हुई। यह दल अन्य पूर्ववर्ती समाजवादी संस्थाओं की अपेक्षा सिद्धान्तों पर अड़ा रहने वाला कम और समझौतावादी अधिक है, किन्तु फेबियन सोसायटी की अपेक्षा यह अधिक प्रगतिशील समाजवादी रहा है। इस दल ने सन् 1900 में ब्रिटिश मजदूर दल की स्थापना में प्रमुख भाग लिया और उस दल के अधिकांश नेता इसी दल के रहे है।

इंग्लैण्ड में जिन उपर्युक्त संस्थाओं की स्थापना हुई, उन सबमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण संस्था 'फेबियन सोसायटी' है जिसका समाजवाद के पक्ष में व्यवस्थापन और जनमत पर भारी प्रभाव पड़ा है। इसके प्रभाव की तुलना सन् 1830 के बाद बेन्थमवाद के प्रभाव से की जा सकती है।

स्थापना एवं कार्यक्रम

फेबियन सोसायटी, जो कि फेबियनवाद की प्रवर्तक है, जनवरी सन् 1884 में कुछ ऐसे व्यक्तियों द्वारा स्थापित की गई जो वर्षों से सामाजिक नीतिशास्त्र की

1 कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 106-107

मौजूदा समस्याओं पर विचार करने तथा वाद-विवाद करने के लिए एकत्र होते थे। यह सोसायटी एक क्लब या गोष्ठी के रूप में स्थापित हुई जिसके सदस्य अवकाश के समय राष्ट्रीय और सार्वजनिक . बातों पर विचार-विनिमय किया करते थे। इसके सदस्य उच्चकोटि के प्रतिभाशाली विद्वान स्त्री-पुरुष थे जिन्होंने राजनीतिक अर्थशास्त्र भूमिकर-निर्धारण तथा समाजवाद आदि विषयों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया था। उन पर मुख्य रूप से हेनरी जॉर्ज के सिद्धान्त, मार्क्स के सिद्धान्तों की विविध ब्रिटिश व्याख्याओं और जॉन स्टुअर्ट मिल के व्यक्तिवाद के सिद्धान्त के अन्तर्गत विकसित समष्टिवाद (Collectivism) का प्रभाव पड़ा था। सितम्बर, 1884 में जॉर्ज बर्नार्डशा ने इस सोसायटी की सदस्यता स्वीकार की और कुछ समय पश्चात् सिडनी वैब (Sydney Webb) इसका सदस्य बन गया। ये दोनों ही सोसायटी के सबसे प्रभावशाली और सक्रिय सदस्य सिद्ध हुए। इस सोसायटी के अन्य प्रमुख सदस्य सिडनी ओलिवर (Sydney Oliver), ग्राहम वैलास (Graham Wallas), श्रीमती एनिबेसेंट (Mrs Annie Besant), श्रीमती सिडनी वैब (Mrs Sydney Webb), जे केम्पबेल (J. Campbell), हैडलाम (Headlam), जे आर. मैक्डोनाल्ड (J. R. Mac Donald), पीस (Pease), एच. जी वेल्स (H G. Wells), हेरोल्ड लास्की (Herold Laski) आदि थे।

प्रारम्भ मे फेबियन सोसायटी की प्रान्तीय नगरों मे अनेको शाखाएँ थी जिनके अधिकतर सदस्य मजदूर थे, परन्तु बाद मे जब समाजवादी मजदूर स्वतन्त्र मजदूर दल में सम्मिलित हो गए तो वे भग हो गई। कुछ वर्ष बाद उसकी शाखाएँ विश्वविद्यालयों मे खुलीं। इस सोसायटी मे सम्मिलित सुधारको का उद्देश्य यह था कि इंगलैण्ड मे समाजवाद का प्रचार किया जाए और ब्रिटेन की राष्ट्रीय तथा स्थानीय सरकारो पर समाजवादी कार्यक्रम अपनाने के लिए दबाव डाला जाए। सोसायटी ने अपने लिए जो फेबियन नाम चुना, वह रोम के उस फेबियस कक्टेटर (Fabius Conctator) नामक जनरल के नाम पर रखा गया जिसकी रण-नीति देरी करके या परेशान करके शत्रु को हराने की थी। इस नीति का सर्वोत्तम वर्णन सोसायटी द्वारा प्रकाशित कुछ प्रारम्भिक रचनाओं में पाया जाता है—

"आपको उसी प्रकार उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करनी चाहिए जिस प्रकार हैनीबाल से युद्ध करते समय फेबियस ने की थी यद्यपि कुछ लोगो ने देर करने के लिए उसकी निन्दा की थी। परन्तु जब अवसर आ जाए तो आपको फेबियस के समान जोरदार प्रहार करना चाहिए अन्यथा आपका प्रतीक्षा करना व्यर्थ एवं निष्फल होगा।"

स्पष्ट है कि फेबियन सोसायटी इस तरह अवसरवादी विचारधारा समझी जाती है। फेबियनवाद का प्रमुख तत्त्व क्रमिक विकास' (Gradualism) है, अर्थात् समाजवाद की प्राप्ति शनैः-शनैः और क्रमिक रूप से होती है। प्रो कोकर के शब्दो मे, "इस सोसायटी का उद्देश्य समस्त शिक्षित मध्यवर्गीय जनता मे अपनी समझ के अनुसार समाजवादी सिद्धान्त का प्रसार करना और ब्रिटेन मे समाजवादी

सिद्धान्त को शनैः-शनैः व्यावहारिक रूप देने के लिए राष्ट्रीय तथा स्थानीय सरकारो से अनुनय करना है।" फेबियनवादी वर्ग संघर्ष के क्रान्तिकारी सिद्धान्त के स्थान पर तर्कसम्मत युक्ति मे विश्वास रखते थे और यह सर्वथा स्वाभाविक है कि युक्ति और तर्क द्वारा काम करने मे अवश्य ही समय लगता है। व्याख्यानो और प्रकाशनो द्वारा प्रचार की पद्धति इसलिए अपनाई गई थी ताकि समाजवाद के बारे मे मध्यम वर्ग की शकाएँ दूर हो जाएँ और एक साधारण व सम्भ्रान्त अंग्रेज के लिए समाजवादी बनना उतना ही सरल एव स्वाभाविक हो जाए जितना एक उदारवादी अथवा रूढ़िवादी होना। फेबियनवादी एक अन्य प्रमुख कार्य यह करना चाहते थे कि समाजवाद मे दीक्षित हुए प्रधान मन्त्री द्वारा ससदीय कार्यक्रम रखा जाए। अपने इन उद्देश्यो मे उन्हें महान् सफलता मिली। यदि आज इगलैण्ड मे कोई भी व्यक्ति समाजवाद को एक ध्वसात्मक विद्रोह नही समझता तो इसका श्रेय निश्चित रूप से फेबियन सोसायटी को ही है।

शुरू के फेबियन समाजवादी यह मानते थे कि "प्रतियोगिता की प्रणाली से सुख-सुविधाएँ कम व्यक्तियो को मिलती हैं और अधिकांश जनता को कष्ट मिलता है, इसलिए समाज का पुनर्गठन इस प्रकार होना चाहिए जिससे समाज के समस्त व्यक्तियो का सुख एव कल्याण सुनिश्चित हो सके।" सितम्बर 1884 मे जॉर्ज बर्नार्डशा ने फेबियन समाज का घोषण-पत्र तैयार किया जिसमे निम्नलिखित कार्यक्रम घोषित किया गया था—

"फेबियन समाज चाहता है कि समाज का यथाशीघ्र पुनर्गठन हो। हम यथाशीघ्र भूमि और औद्योगिक पूँजी पर से व्यक्तियो या वर्ग-विशेष का स्वामित्व हटाना चाहते हैं। तदुपरान्त हम भूमि और पूँजी को समाज के अधिकार मे देने के पक्ष मे हैं। केवल इस प्रकार ही देश के प्राकृतिक साधनो से समाज को लाभ हो सकता है।"

"समाज की माँग है कि पूँजी और भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त हो। किसी व्यक्ति विशेष को भूमि का लगान या किराया लेने का अधिकार नही।"

पुन, "समाज की माँग है कि औद्योगिक पूँजी समाज को हस्तान्तरित कर दी जाए। चूँकि भूतकाल मे उत्पादन के समस्त साधनो पर एक वर्ग का अधिकार रहा था, इसलिए समस्त औद्योगिक अन्वेषणो और समस्त अधिक मूल्य (Surplus Value) का पूर्ण लाभ पूँजीपति वर्ग को ही प्राप्त हुआ जिसके फलस्वरूप श्रमिक वर्ग अपनी स्थिति के लिए पूँजीपति वर्ग पर पूर्णत आश्रित बन गया।"

"यदि उपर्युक्त सुधार क्रियान्वित हो जाएँ अर्थात् औद्योगिक पूँजी और उत्पादन के समस्त साधनो पर सम्पूर्ण समाज का अधिकार हो जाए तो श्रमिको की आय मे किराए और ब्याज की आय और बढ जाएगी। इस प्रकार शनैः-शनैः सुस्त और निकम्मा पूँजीपति वर्ग स्वय समाप्त हो जाएगा। उस वर्ग के स्थान पर सर्वहारा वर्ग का जन्म होगा। ऐसे स्वतन्त्र समाज मे कोई व्यक्ति किसी की स्वतन्त्रता का अपहरण नही कर सकेगा। किन्तु फेबियन समाज पूँजीपति वर्ग के साथ भी न्याय

करना चाहता है। समाज जो कुछ मुआवजा निश्चित करेगा, जमींदारों और पूंजीपतियों को उनसे छीने गए विशेषाधिकारों के उपलक्ष में दिया जाएगा।"

"इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए फेबियन समाज चाहता है कि समस्त समाज में समाजवादी विचारों का प्रचार हो जिसके फलस्वरूप सारे विश्व में तदनुरूप राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन हो। सभी जगह सभी स्त्री-पुरुषों को समान नागरिक अधिकार प्राप्त हो। इस प्रकार व्यक्ति और समाज के बीच आर्थिक समानता, नैतिक समानता और राजनीतिक समानता के आधार पर सम्बन्ध स्थापित हों।"

सन् 1887 में फेबियनवादियों ने अपने समाज का उद्देश्य इन शब्दों में व्यक्त किया—

"फेबियन समाज समाजवादियों का समाज है, अतः इसका उद्देश्य समाज का नव-गठन करना है। यह नव-गठन भूमि तथा उद्योग धन्धों को व्यक्तिगत तथा वर्ग-स्वामित्व से पृथक् कर समाज को उसका स्वामी बनाकर किया जाएगा जिससे *सामान्य लाभ के लिए कार्य हो। केवल इस रीति से ही प्राकृतिक तथा मानव अर्जित* लाभों का समस्त जनता में समानता के आधार पर वितरण किया जा सकेगा।"

फेबियनों के अनुसार समाजवाद का ऐतिहासिक आधार (Historical Basis of Socialism)—अपने सैद्धान्तिक लेखों में फेबियनों ने अपने समाजवादी सिद्धान्त के लिए ऐतिहासिक एवं आर्थिक आधार स्थापित करने में मार्क्सवादी परम्परा का अनुसरण किया, लेकिन उन्होंने जो सामग्री इतिहास तथा अर्थशास्त्र से ली वह मार्क्स द्वारा प्रयुक्त सामग्री से भिन्न थी। उनका विचार था कि इतिहास आज के समाजवाद की व्याख्या द्वारा यह सिद्ध नहीं करता कि प्रत्येक वस्तु पर आर्थिक अवस्थाओं का आधिपत्य रहता है, वरन् लोकतन्त्र और समाजवाद की ओर एक निरंतर प्रगति को प्रकट करता है। समूचा इतिहास यह इंगित करता है कि *समाज स्थिर न होकर गतिशील है।*

सिडनी वैब (Sydney Webb) ने कुछ विस्तार के साथ इस फेबियन विचार पर प्रकाश डाला है कि इतिहास 'लोकतन्त्र की अदम्य प्रगति' और 'समाजवाद की प्रायः निरन्तर प्रगति' को अबाध प्रकट करता है। लोकतन्त्र की प्रगति के विषय में उसने बतलाया कि 19वीं सदी के प्रारम्भ में इंग्लैण्ड में मध्यवर्गीय मताधिकार ने *कुलीनवर्गीय मताधिकार* पर विजय प्राप्त की और बाद के कानून द्वारा अन्य वर्गों को भी मताधिकार प्रदान किया। जहाँ मार्क्स को इतिहास में केवल शोषित वर्ग का शोषक वर्ग के विरुद्ध संघर्ष और उसके परिणामस्वरूप श्रमिक वर्ग की तानाशाही की स्थापना दिखाई दी, वहाँ सिडनी वैब इस परिणाम पर पहुँचा कि विगत 100 वर्षों से यूरोप में समाजवाद की जो धारा प्रवाहित हो रही है उससे *लोकतन्त्रवाद की अनवरत प्रगति हो रही है। इतिहास से वैब ने यह भी सिद्ध किया* कि न केवल लोकतन्त्रवाद की अनवरत प्रगति ही हो रही है बल्कि समाज का पुनर्गठन शनैः शनैः मानव-मस्तिष्क द्वारा नवीन सिद्धान्तों को ग्रहण कर लेने से ही हो सकता है। वैब के अनुसार इतिहास से यह सिद्ध हो जाता है—

1. महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन लोकतन्त्रात्मक पद्धति द्वारा ही किए जा सकते हैं। दूसरे शब्दों मे ऐसे परिवर्तन तभी सम्भव हैं जब सभी मनुष्य हृदय मे उन्हें स्वीकार कर लें।

2. सामाजिक परिवर्तन सदैव शनैः-शनैः किए जाने चाहिए ताकि उनसे कोई अव्यवस्था उत्पन्न न हो सके। प्रगति की गति की तीव्रता सामाजिक परिवर्तन की गति का मापदण्ड नहीं होनी चाहिए।

3. परिवर्तन जन-साधारण की दृष्टि से नैतिक होने चाहिए।

4. परिवर्तन संविधानिक एवं शान्तिपूर्ण ढग से होने चाहिए।

सारांश यह है कि वेब के अनुसार इतिहास ने हमें यह सिखाया है कि समाजवाद का आवर्तन शनैः-शनैः एवं शान्तिपूर्ण रीति से हुआ है और यह समाजवाद के लोकतन्त्रीय आदर्श का आर्थिक पहलू मात्र है। यह भावना दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है कि लोकतन्त्र के अनिवार्य परिणामस्वरूप केवल जनता का उनके राजनीतिक संगठन पर नियन्त्रण ही नहीं होगा वरन् राजनीतिक संगठन के द्वारा धन के उत्पादन के साधन भी जनता के अधीन हो जाएँगे। खुली प्रतिस्पर्द्धा की अराजकता के स्थान पर धीरे-धीरे संगठित सहयोग की भावनाएँ उत्पन्न हो जाएँगी जिससे उत्पादन द्वारा समाज के अधिकाधिक मनुष्य लाभान्वित होंगे।

वेब ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि समाजवाद समाज के विकास में केवल एक अगला कदम है जिसे अठारहवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति द्वारा हुए परिवर्तनों ने अपरिहार्य बना दिया है। औद्योगिक क्रान्ति का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह था कि उत्पादन के अधिकांश साधन व्यक्तिगत लाभ के लिए प्रयुक्त होने लगे थे जिसके कारण समाज का अधिकांश धन केवल थोड़े से व्यक्तियों के पास केन्द्रित हो गया था। इस उग्र व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया का जन्म होना स्वाभाविक था। दार्शनिकों और सुधारकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप यह स्थिति आई कि कारखानों, सार्वजनिक स्वास्थ्य, खानों आदि के विषय में अनेक नियम पारित किए गए जिनसे पूँजीपतियों के शोषण मे कमी आई। वेब (Webb) के ही शब्दों मे—"एक समय था जबकि प्रत्येक कार्य यहाँ तक कि सेना, जहाजीबेड़ा, पुलिस तथा न्यायालयों से सम्बन्धित कार्य भी व्यक्तिगत उद्योग-धन्धों के क्षेत्र मे थे और व्यक्तिगत पूँजी लगाने के लिए वैध क्षेत्र समझे जाते थे, शनैः-शनैः समाज ने आंशिक रूप से अथवा पूर्ण रूप से इनको अपने अधीन कर लिया है और व्यक्तिगत शोषण का क्षेत्र कम हो गया है।" अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण मे भी शनैः-शनैः अन्तर आया है और उन्हें यह प्रतीत होने लगा है कि स्वस्थ समाज के अभाव में कोई व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता। वेब के ही कथनानुसार—"तीस वर्ष पहले हर्बर्ट स्पेंसर ने यह स्पष्ट किया था कि वर्तमान लोकतन्त्रीय राज्य के साथ पूर्णरूप से व्यक्तिगत सम्पत्ति का मेल नहीं खाता। व्यक्तिगत उद्योगों मे राज्य के हस्तक्षेप की वृद्धि से म्युनिसिपल प्रशासन के विकास से तथा समान भाड़े (Rent) पर करों के बोझ की वृद्धि से राजनीतिज्ञ अनजाने ही व्यक्तिवादी सिद्धान्त को छोड़कर समाजवाद की

ओर अग्रसर होते जाते हैं। जब तक राजनीतिक प्रशासन में लोकतन्त्रीय व्यवस्था का विकास होता रहेगा तब तक उसका आर्थिक लक्ष्य अनिवार्य रूप से समाजवादी होगा।"

सिडनी वेब के कथन का सारांश यह था कि इंग्लैण्ड में समाजवाद किसी क्रान्ति के परिणामस्वरूप उन्नति नहीं कर रहा है, प्रत्युत् राजनीतिक लोकतन्त्र के विकास, अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन और म्युनिसिपैलिटीज में उद्योग-धन्धों तथा सामाजिक कर्त्तव्यों के केन्द्रीकरण के कारण प्रगतिशील है। इंग्लैण्ड का समाजवाद की ओर यह विकास लोकतान्त्रिक, क्रमिक, नैतिक, मन्थर गति एवं शान्तिपूर्ण प्रकृति का था।

फेबियनों के अनुसार समाजवाद का औद्योगिक आधार (Industrial B. sis of Socialism)—फेबियनों ने समाजवाद का औद्योगि आधार भी प्रस्तुत किया। विलियम क्लार्क नामक एक फेबियन ने अपने निबन्ध , इस बात पर बल दिया कि यदि पूँजीपतियों के शोषण से श्रमिकों की रक्षा करनी है तो कारखानों के लिए अधिक नियम बनाना अत्यावश्यक है। वेब (Webb) का कहना था कि औद्योगिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप कारखाना प्रणाली के विकास के कारण औद्योगिक सम्पत्ति के प्रबन्ध में जो विशुद्ध व्यक्तिगत तत्त्व था उसका लोप होता जा रहा है और व्यक्तिगत औद्योगिक प्रबन्ध का स्थान सयुक्त पूँजी वाली कम्पनियाँ लेती जा रही हैं। आज सम्पत्ति के स्वामी उत्पादन की घरेलू प्रणाली जैसे अपने उस उद्योग के प्रबन्धक नहीं रहे हैं जिसमें वे अपनी पूँजी लगाते हैं। आज पूँजीपति प्रमुख रूप में न तो उद्योग का व्यवस्थापक है और न निरीक्षणकर्त्ता। वह केवल उद्योग में पूँजी लगाने वाला तथा भाड़ा या लाभ प्राप्त करने वाला है। व्यवसाय-प्रबन्ध और व्यवसाय-स्वामित्व दोनों पृथक् पृथक हो गए हैं। विशाल पैमाने पर होने वाले व्यवसाय ने व्यक्तिगत उत्तरदायित्व को समाप्त कर दिया है। इस तरह अनियन्त्रित पूँजीवाद के विकास ने आर्थिक व्यक्तिवाद का अन्त कर दिया है। अत आधुनिक समाज यदि आर्थिक जगत् में प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता को कायम रखना चाहता है तो उसे या तो बड़े उद्योगों को समाप्त कर देना चाहिए और इस प्रकार इन लाभों को नष्ट कर देना चाहिए जो आज पूँजीपति प्राप्त करता है, अथवा इन उद्योगों को राजकीय स्वामित्व और नियन्त्रण में ले लेना चाहिए। विलियम क्लार्क (William Clark) के अनुसार—"व्यापार की स्वतन्त्रता, अपने सामान को दूसरे व्यक्तियों की दरों पर एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने की स्वतन्त्रता, किसी के अधीन न रहने की स्थिति, वास्तव में लोकतन्त्रीय सिद्धान्त हैं, परन्तु विशेष अधिकारों के कारण ये सब अधिकार या तो सीमित हो जाते हैं अथवा समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार पूँजीवाद का लोकतन्त्र से जैसा कि उसका अर्थ आजकल समझा जाता है, मेल नहीं खाता। पूँजीवाद तथा लोकतन्त्र का विकास साथ-साथ निर्विरोध नहीं चल सकता और ये दोनों ऐसी दो रेलगाड़ियों के समान हैं जो विपरीत दिशाओं से एक दूसरे की ओर बढ़ती हैं और जिनमें संघर्ष होना अनिवार्य दिखाई देता है।"

अत क्लार्क की मान्यता थी कि समस्त कारखानों, सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों, ट्रस्टों आदि को सार्वजनिक नियन्त्रण मे ले लेना चाहिए।

फेबियनों के अनुसार समाजवाद का आर्थिक आधार (Economic Basis of Socialism)—फबियनवादी लेखकों ने समाजवाद की अपरिहार्यता का न केवल ऐतिहासिक आधार पर घोषित किया, बल्कि उसे आर्थिक विकास के सिद्धान्त पर भी आधारित किया। उन्होंने मार्क्सवादियों और प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के श्रममूल्य सिद्धान्त को अस्वीकार कर समष्टिवादियों की भाँति यह स्वीकार किया कि वस्तु का मूल्य समाज द्वारा निश्चित होता है। श्रमिक स्वय अपने श्रममात्र से ही किसी वस्तु के मूल्य को प्रभावित नही करता। ऐसी दशा मे जो मूल्य समाज उत्पन्न करता है उस पर समाज का ही अधिकार होता है। पूँजीपतियों द्वारा उस मूल्य को हडप लेना चोरी है। फेबियनवादी मार्क्स के इस मत से सहमत हैं कि किसी उद्योग मे पूँजी लगाने मात्र से उसके द्वारा प्राप्त आय का उचित अधिकार प्राप्त नही हो जाता। जहाँ तक वर्तमान उत्पादन एव वितरण प्रणाली [illegible] मे हित सघर्ष उत्पन्न करती है, वह सघर्ष फेबियनों के अनुसार वेतनभोगियों तथा उनको काम पर लगाने वालों के बीच नहीं, वरन् एक ओर समाज तथा दूसरी [illegible] पूँजी लगाकर धनी बन जाने वालों के बीच है। उस वर्ग या उन व्यक्तियों ने [illegible] मे सामाजिक सत्ता होती है, सदा जाने अनजाने उस सत्ता का इस प्रकार प्रयोग किया है जिससे बहुसंख्यक व्यक्तियों के पास प्रचलित जीवन स्तर के अनुसार अपनी जीविका मात्र से अधिक कुछ प्राप्त नही हुआ है। यह उत्पादन, जो स्थान भूमि पूँजी निपुणता आदि की उत्पादक योग्यता के अन्तर के कारण सामान्य उत्पादन से अधिक होता है उन लोगों को प्राप्त होता है जिनका इन मूल्यवान परन्तु दुष्प्राप्य साधनों पर नियन्त्रण है।

अत फेबियनों के मतानुसार 'समाजवाद का उद्देश्य समाज के समस्त सदस्यों के लिए उन मूल्यों को प्राप्त कराना है जिनका वह निर्माण करता है और इस उद्देश्य की सिद्धि क्रमश भूमि तथा औद्योगिक पूँजी को समाज के अधिकार म लाने और साथ ही राज्य को समाज का पूर्ण प्रतिनिधि बनाने से होगी। फेबियनों ने पहले से ही कार्यरत प्रवृत्तियों से परिलक्षित बातों की व्याख्या करने का और यह व्यक्त करने का प्रयत्न किया कि किस रूप में इन प्रवृत्तियों का हितकारी ढग से विस्तार कर उनकी गति तीव्र की जा सकती है। उन्होंने दूसरे वर्गों पर आधिपत्य करने के लिए वेतनभोगी मजदूरों का एक पृथक् वर्ग बनाने का प्रयत्न नहीं किया। फेबियनों ने सदैव यह कहा कि हमने यह दावा नही किया है कि हम [illegible] मजदूर वर्ग के प्रतिनिधि हैं।' वस्तुत फेबियन समाज उन समस्त योजनाओं का दृढतापूर्वक अस्वीकार करता है जो समाज मे समस्त उत्पादन का किसी एक व्यक्ति या वर्ग को सौंपती है। उसका उद्देश्य उत्पादन के साधनों को मजदूरों को नहीं समाज को सौंपना है। यह हस्तान्तरण शनै-शनै होना चाहिए और उन्हीं उद्योगों का हस्तान्तरण एक समय म होना चाहिए जिनका समाज सफलता के साथ प्रबन्ध कर

सके। ऐसे उद्योगो को हस्तान्तरित करते समय यद्यपि उन लोगो को जिनकी सम्पत्ति छिन जाएगी पूर्ण क्षतिपूर्ति नही दी जाएगी, तथापि ऐसी सहायता दी जाएगी जो राजनीतिक ससद् उचित समझे।

प्रो लास्की (Laski) ने उद्योगो के नियन्त्रण के लिए फेबियन विचारो के पूर्णत अनुरूप एक योजना बनाई जिसमे उन्होने समस्त उद्योगो को तीन भागो मे विभक्त किया। प्रथम वे उद्योग हैं जो समाज के जीवन के लिए आवश्यक हैं अर्थात् जो समाज की मूल आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं। ऐसे उद्योगो का पूर्णत समाजीकरण होना चाहिए क्योकि उनका निजी स्वामित्व म रहना हानिप्रद है। दूसरे वे उद्योग हैं जो समाज के लिए उपयोगी तो हैं, किन्तु जिनके अभाव मे समाज को अधिक हानि नही होती, फिर भी सामाजिक जीवन के लिए इनकी आवश्यकता इसीलिए है कि वे व्यक्ति के जीवन को सुरुचिपूर्ण बनाते हैं। यद्यपि इन उद्योगो को निजी स्वामित्व मे रखा जा सकता है, किन्तु उन पर समाज का स्पष्ट नियमन आवश्यक है। अन्त मे, वे उद्योग हैं जो सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नही हैं, जैसे क्रीम, पाउडर आदि बनाने वाले उद्योग। ऐसे उद्योग पूर्णत निजी स्वामित्व मे ही रहेंगे और राज्य का उन पर विशेष नियन्त्रण नहीं रहेगा। लास्की इस पक्ष मे थे कि जिन लोगो के उद्योगो का समाजीकरण होता है उन्हें समाज की ओर से क्षतिपूर्ति के रूप मे कुछ सहायता प्राप्त होनी चाहिए ताकि उनका जीवन भी अच्छे नागरिको की भाँति व्यतीत हो सके और उन्हे भी आवश्यक वस्तुएँ और सुविधाएँ उपलब्ध हो सकें।

फेबियनवादी उद्योगो की भाँति ही भूमि का भी किसी न किसी रूप मे समाजीकरण चाहते हैं। बडे-बडे जमीदारो से, जो कि भाडे पर मजदूरो से खेती कराते हैं, जमीन लेकर उसे भूमिहीन किसानो को दे दी जानी चाहिए। इस प्रकार भूमिहीन किसानो को भूमि देकर उनका जीविकोपार्जन करने का अधिकार दिया जाएगा। जिन जमीदारो की जमीन अधिग्रहण की जाएगी उन्हें उद्योगपतियो की भाँति ही समाज की ओर से क्षतिपूर्ति दी जाएगी।

फेबियनवादियों का राज्य के प्रति विश्वास (Fabian's Faith in the State)—फेबियनवादियो को राज्य के कार्यो के औचित्य और प्रभावकारिता म पूर्ण विश्वास था। वे चाहते थे कि राज्य मे समाज का विश्वास होना चाहिए। उनकी मान्यता थी कि राज्य जनता का प्रतिनिधि, सरक्षक, अभिभावक, व्यवसायी प्रबन्धकर्त्ता, सचिव, यहाँ तक कि उसका साहूकार भी है। इन दशाओ मे वर्तमान राज्य को फेबियनो के अनुसार बिना किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन के यदि निर्दोष नहीं तो विश्वासपात्र अवश्य बनाया जा सकता है। फेबियनो ने जिन परिवर्तनो का समर्थन किया, वे थे मताधिकार का विस्तार, अधिक प्रशिक्षित सिविल सर्विस और सबके लिए शिक्षा के समान अवसर। इन सुधारों के अतिरिक्त वे राजनीतिक व्यवस्था मे और कोई मौलिक परिवर्तन करने के समर्थक नहीं थे। उनका कहना था कि "यदि प्रजातन्त्र के नागरिक प्राप्त अधिकारो का पर्याप्त रूप से उपभोग करें

तो वे अपनी राष्ट्रीय, प्रान्तीय एव स्थानीय सरकारो द्वारा शनै शनै भूमि तथा औद्योगिक पूँजी दोनो से प्राप्त होने वाले आर्थिक लगान के समस्त रूपो को समाज के हाथो मे सौंप सकेंगे।" स्पष्ट है कि फेबियनवादी शान्तिपूर्ण साधनो से धीरे-धीरे अपने सिद्धान्तो को राज्य द्वारा क्रियान्वित करना चाहते हैं।

फेबियन-विचारधारा की व्यावहारिक शाखा ब्रिटिश मजदूर दल ने सन् 1920 मे प्रकाशित 'Labour and the New Social Order' मे यह प्रतिपादित किया कि प्रजातान्त्रिक तरीके से चुनी हुई स्थानीय शासकीय सस्थाओ को काम करने का अधिकतम क्षेत्र प्रदान किया जाए। केन्द्रीय सरकार के विभाग स्थानीय सस्थाओ के अधिकारियो को अपेक्षित सूचनाएँ तथा अनुदान द्वारा उनकी सहायता करें। मजदूर दल ने उपर्युक्त प्रकाशन मे यह विचार व्यक्त किया कि स्थानीय सस्थाओ को एक न्यूनतम स्तर के अतिरिक्त, अपनी सेवाओ को विकसित करने और अपनी इच्छानुसार सचालित करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इनमे गैस, जल, बिजली, मकानो की व्यवस्था और स्थानीय यातायात के अतिरिक्त शिक्षा के प्रबन्ध की व्यवस्था, सफाई, पुलिस, पुस्तकालयो और पार्कों की योजना, मनोरजन की व्यवस्था तथा दूध वितरण आदि की व्यवस्था भी शामिल है। वास्तव मे सब मामले जो न केवल मनुष्यो के शारीरिक स्वास्थ्य बल्कि उनके आध्यात्मिक और मानसिक कल्याण के लिए भी आवश्यक हैं स्थानीय कर्मचारियो द्वारा सम्पादित होने चाहिए। फेबियन विचारो की व्यवहारवादी शाखा ब्रिटिश मजदूर दल द्वारा प्रस्तावित इन विचारो से फेबियनवादियो पर यह आरोप सही प्रतीत नही होता कि वे केन्द्रीकरण के समर्थक हैं।

उपर्युक्त पुस्तिका 'Labour and the New Social Order' मे श्रमिक दल ने यह विश्वास प्रकट किया कि नवीन सामाजिक व्यवस्था का प्रादुर्भाव सघर्ष पर आधारित न होकर सहकारिता पर आधारित होगा। उसका आधार जीवन मात्र के साधनो के लिए होने वाले प्रतियोगात्मक सघर्ष पर स्थित न होकर समझ बूझकर निर्मित उत्पादन व वितरण और उस आयोजित सहयोग पर निर्भर होगा जिससे शारीरिक और मानसिक श्रम करने वाले सभी व्यक्तियो को लाभ हो।

उल्लेखनीय है कि इग्लैण्ड में प्रथम विश्वयुद्ध के समय से ही फेबियन सोसायटी और श्रमिक दल मे गहरी आत्मीयता रही है। सन् 1925 मे इस सोसायटी के 5 सदस्य ब्रिटिश श्रमिक सरकार के सदस्य थे। इनमे दो 'Fabian Essays के रचयिता सिडनी वेब और सिडनी ओलिवर थे। सिडनी वेब सन् 1931 की मजदूर सरकार के उपनिवेश सचिव भी थे। कोकर के कथनानुसार, "सत्य यह है कि इगलैण्ड का श्रमिक दल फेबियन कार्यक्रम को पूर्णरूप से अपनाने को तैयार है, अत अब फेबियन समाज केवल सैद्धान्तिक वाद-विवाद के सिवाय और कुछ नही करता क्यो कि उसके कार्यक्रम को स्वय मजदूर दल पूरा करने के लिए कटिबद्ध है।"

फेबियनवाद और मार्क्सवाद मे अन्तर

दोनो ही वर्तमान आर्थिक विषमता को मिटा कर समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं, तथापि दोनो मे कई मौलिक अन्तर हैं—

1 फेबियनवाद शान्तिवादी है जो विकासवादी प्रक्रिया से लोकतान्त्रिक और अहिंसात्मक मार्ग द्वारा शनै-शनै समाजवाद की स्थापना करना चाहता है। इसके विपरीत मार्क्स वर्ग-संघर्ष, क्रान्ति, हिंसा आदि साधनो द्वारा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को थोप कर समाजवाद लाना चाहता है।

2 फेबियनवाद के अनुसार राज्य समाजवाद की स्थापना का मुख्य साधन है जबकि मार्क्सवाद की दृष्टि मे यह पूंजीपतियों का शोषण-यन्त्र है जिसका विनाश किया जाना आवश्यक है।

3 मार्क्सवाद ऐतिहासिक आधार पर वर्ग-संघर्ष, क्रान्ति और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को आवश्यक मानता है जबकि फेबियनवादियो के अनुसार इतिहास की प्रगति लोकतन्त्र और समाजवाद की दशा मे है। लोकतन्त्र का विकास समाजवाद की प्रगति मे सहायक सिद्ध होगा।

4 मार्क्स के श्रम सम्बन्धी और अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्तो के स्थान पर फेबियनवाद समाज को वस्तुओ का मूल्य उत्पन्न करने का प्रधान आधार मानता है। वस्तुओं का मूल्य सामाजिक उपयोगिता के आधार पर निश्चित होता है। मूल्य सामाजिक परिस्थितियो की उपज है, अत उसमे होने वाली वृद्धि का लाभ समाज को प्राप्त होना चाहिए।

5 फेबियनवाद वर्ग संघर्ष, भविष्य मे मध्यम वर्ग के लोप, पूंजीपति वर्ग के विनाश आदि मे आस्था नही रखता। वह तो समाज के सभी वर्गों को सामाजिक परिस्थितियो से प्राप्त मूल्य-वृद्धि का लाभ पहुंचाना चाहता है। फेबियनो के मत मे संघर्ष पूंजीपति और श्रमिक वर्ग मे नहीं बल्कि समाज तथा सामाजिक परिस्थितियो से अनुचित लाभ उठाने वाले व्यक्तियो मे है।

6 फेबियनो के लिए समाजवाद की प्रगति का आधार केवल शक्ति नही, बल्कि विवेकसम्मत विश्वास और सामाजिक न्याय को प्राप्त करने की नैतिक भावना द्वारा उत्प्रेरित शक्ति है। समाजवाद की यात्रा पूरी करने के लिए वे मताधिकार के विस्तार और मतदान-पत्रो पर अत्यधिक विश्वास करते हैं।

फेबियनवाद की आलोचना

मैलोक (Mallock) के अनुसार फेबियनो के विचार तथा उनकी भाषा स्पष्ट नही है। समाजवाद की परिभाषा करते समय वे उसका कुछ अर्थ बताते हैं (जैसे पूंजीवाद तथा जमीदारी प्रथा, व्यक्तिगत उद्योग-धन्धे तथा खुली प्रतियोगिता की समाप्ति) परन्तु उसके उदाहरण खोजते समय वे अपने परिभाषित अर्थ को बदल देते हैं (जैसे राज्य का अधिक नियन्त्रण, म्युनिसिपल उद्योग-धन्धे की वृद्धि)। बार्कर के मत मे "फेबियन समाज समाजवादी संगठन का सबसे कम स्पष्ट व अनिश्चित सिद्धान्त है। व्यावहारिक तथा सिद्धान्त रूप से यह एक झूठे झण्डे के नीचे है जो अपने उद्देश्यो के विषय मे कोई सन्देह प्रकट नही करना चाहता। फेबियन अपनी सफलता के लिए केवल हथकण्डों पर निर्भर करते हैं।" स्कैल्टन (Skelton) ने फेबियनो को 'अवसरवादी-समाजवादी' की संज्ञा दी है। डॉ. ऐंजिल्स के अनुसार

फेबियनों की योजना उदारवादियों के साथ सघर्ष करने की है किन्तु ऐसा शत्रुतापूर्ण ढग से न करके उनको समाजवादी परिणामों की ओर आकर्षित कर तथा उनके मानसिक विचारों को समाजवादी विचारों से प्रभावित करके करते हैं। इसके साथ ही उनका उद्देश्य उदारवादी सदस्यों के दल मे समाजवादी सदस्यों का विरोध करना नहीं, बल्कि उन पर कुछ दबाव डालकर अथवा उन्हें कुछ घूँस देकर उनके विचारों को प्रभावित करना है। वस्तुत उनके समस्त सिद्धान्त सड़े-गले हैं। चूँकि फेबियन समाज के समस्त वर्गों को प्रभावित करके यह सिद्ध करना चाहते थे कि ईसाई धर्म के सिद्धान्तों का व्यावहारिक रूप ही समाजवाद है, अत उनके समाजवाद को ईसामसीही समाजवाद (Jesuits Socialism) भी कहा जाता है।

फेबियन पूँजीवाद के अन्यायों को दूर करना चाहते थे, किन्तु उनके पास व्यावहारिक दृष्टि से पूँजीवाद की त्रुटियों को दूर करने का कोई प्रभावकारी और क्रान्तिकारी सुझाव नहीं था। यदि राज्य राष्ट्रीयकरण की नीति के अन्तर्गत भूमि और कारखानों पर नियन्त्रण करता है तो इससे पूँजीवाद को केवल कुछ शक्ति ही कम होनी है। राज्य पूँजीवाद को समाप्त नहीं करता बल्कि पूँजीपतियों से जो सम्पत्ति लेता है उसके लिए भी उचित मुआवजा देता है।

फेबियनवाद की सफलताएँ

फबियन विचारधारा चाहे कितनी भी अस्पष्ट एव कमजोर क्यों न हो, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि इसने श्रम आन्दोलन इसके इतिहास तथा साधारण व्यक्ति को बहुत प्रभावित किया है। फबियनों के महत्त्व और प्रभाव को स्पष्ट करते हुए प्रो कोकर ने लिखा है कि—

'फेबियन लोग विशिष्ट नीतियों के गुण-दोष देखते समय इस बात पर विचार करते हैं कि भौतिक कल्याण तथा सांस्कृतिक सुयोगों के व्यापक वितरण की दिशा मे क्या प्रभाव होगा। फबियनों का व्यावहारिक प्रभाव मुख्यत इगलैण्ड की गृह-नीति के क्षेत्र मे हुआ है। उन्होंने मजदूरों की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति का ऊँचा उठाने तथा सम्पत्ति के स्वामियों की सम्पत्ति को कम करके आधुनिक औद्योगिक सभ्यता के लाभों का न्यायपूर्वक विस्तार करने के लिए व्यावहारिक योजनाएँ बनाई और तर्क तथा तथ्यों द्वारा उनको शक्ति प्रदान की। उनकी शक्ति का मुख्य तत्त्व उनकी वह चतुरता रही है जो उन्होंने तात्कालिक प्रयोग के लिए व्यावहारिक योजनाएँ बनाने मे दिखलाई और जो कई प्रकार से काम मे लाई जा सकती है जैसे—(1) सामाजिक कानून-निर्माण द्वारा काम के घण्टों मे कमी, बेकारी से सरक्षण स्वास्थ्य सुरक्षा तथा वेतन के लिए न्यूनतम स्तर, शिक्षा के उन्नत सयोग (2) राष्ट्रीय तथा म्युनिसिपल सरकारों द्वारा सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं (Public Utilities) और स्वाभाविक एकाधिकारों पर सार्वजनिक स्वत्व तथा (3) उत्तराधिकार पर कर भूमिकर (Ground Rents) तथा पूँजी की आय पर कर। शायद पिछले दो क्षेत्रों को फेबियन समाजवादियों ने अधिक स्पष्ट रूप से प्रभावित किया है। इगलैण्ड तथा स्कॉटलैण्ड मे म्युनिसिपल

समाजीकरण के विस्तार को शीघ्रता से बढ़ाने में इनके प्रचार-साहित्य तथा व्याख्यानों से बहुत सहायता मिली है। उनके ऐसा लोकमत तैयार करने में भी काफी सहायता मिली है जिसने सम्पत्ति पर कर लगाने के नए तरीकों के कार्यान्वयन में राष्ट्रीय सरकार का समर्थन किया, जैसे पूँजी से होने वाली आय पर अपेक्षाकृत ऊँचा कर लगाना उत्तराधिकार में प्राप्त जायदादों पर भारी शुल्क लेना और 1910 के राजस्व कानून में काम में नहीं ली हुई भूमियों तथा काम में ली हुई भूमियों के मूल्यों में अनर्जित वृद्धि पर विशेष कर लगाना।'

"यह कहा जा सकता है कि फेबियन सोसायटी ने सैद्धान्तिक क्षेत्र में उतना योगदान नहीं दिया जितना व्यावहारिक क्षेत्र में। जिस प्रतिभा और बुद्धिमत्ता के साथ उन्होंने ग्रेट ब्रिटेन की आर्थिक एवं सामाजिक अवस्थाओं से सम्बन्धित तथ्य एकत्र कर उनकी व्याख्या की है उसी के कारण ब्रिटेन की राष्ट्रीय तथा स्थानीय सरकारें शनैः-शनैः और सावधानी के साथ समाजवाद के उदारवादी रूप को व्यवहार में ला सकी हैं।"[1]

प्रायः यह कहा जाता है कि फेबियनवाद की यह विशेष कमजोरी थी कि उसने पूँजीपतियों से लड़ने के लिए कार्ल मार्क्स की भाँति श्रमिकों का आह्वान नहीं किया, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से और साथ ही सैद्धान्तिक दृष्टि से भी यह फेबियनवाद की कमजोरी न होकर उसका एक प्रधान गुण है क्योंकि उसने इस बात पर बल दिया कि राष्ट्रीय धन का वितरण सम्पूर्ण समाज के हित को दृष्टि में रख कर होना चाहिए न कि श्रमिक वर्ग सरीखे किसी एक वर्ग विशेष के हितों के लिए।

समष्टिवाद अथवा राज्य-समाजवाद
(Collectivism or State Socialism)

समष्टिवाद विकासवादी समाजवाद का ही एक रूप है जिसे राज्य-समाजवाद, सघर्षवाद, समूहवाद आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। यह समाजवाद का वह परिष्कृत सम्प्रदाय है जो समाजवादी उद्देश्य की पूर्ति के लिए शान्तिपूर्ण उपायों पर बल देता है। इस प्रकार के समाजवादियों का उद्देश्य राज्य में समाजवादी क्रान्ति को बिना रक्तपात तथा हिंसा के धीरे-धीरे लाना है और इसीलिए यूरोप के कुछ देशों में इसे एक वैधानिक आन्दोलन (Constitutional Movement) भी कहा जाता है। समष्टिवाद परिवर्तन की क्रमिकता में विश्वास करता है। यह कोई उग्र क्रान्ति (Radical Revolution) या आकस्मिक परिवर्तन नहीं चाहता, बल्कि अपने दृष्टिकोण में यह पूर्णतः विकासवादी (Evolutionary or Progressive) है। इस विचारधारा के मौलिक आधार जर्मन समाजवाद तथा अंग्रेजी फेबियनवाद में निहित हैं। इनसे काफी प्रभावित होने के कारण यह मार्क्स के समाजवादी दर्शन से उद्देश्यों में समान होते हुए भी प्रणाली की दृष्टि से उसका उलटा है। यह राजकीय सत्ता द्वारा उत्पादन के स्रोतों को पूँजीवादी अधिनायकों से मुक्त कराकर सार्वजनिक सत्ता पर सर्वव्यापी मताधिकार द्वारा अधिकार स्थापित कर एक ऐसे वर्गहीन समाज

1 कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 113-14.

की रचना करना चाहता है जिसमे आर्थिक सकटो से मुक्त होकर प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक तथा राजनीतिक समता के स्वस्थ वातावरण मे श्वास ले सकेगा।

समष्टिवाद अथवा राज्य-समाजवाद पर कुछ प्रकाश एसाईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (Encyclopeadia Britannica) के 11वें सस्करण मे दी हुई समाजवाद की परिभाषा से पडता है। उसके अनुसार, "समाजवाद वह नीति या सिद्धान्त हैं जिसका लक्ष्य किसी केन्द्रीय प्रजातान्त्रिक शक्ति की कार्यवाही द्वारा अच्छे वितरण की व्यवस्था करना है और उसी शक्ति की अधीनता मे धन की उत्पत्ति की वर्तमान से अच्छी व्यवस्था करना है।"

एक फ्रांसीसी लेखक मिलरेंड (Millerand) की समाजवाद की यह परिभाषा समष्टिवाद पर अच्छी तरह लागू होती है—पूँजीवादी सम्पत्ति के स्थान पर सामाजिक सम्पत्ति को आवश्यक एव प्रगतिशील ढग से स्थापित करना समाजवाद है।" उसके अनुसार समाजवादी कार्यक्रम के ये आवश्यक अग हैं—(अ) विभिन्न प्रकार के उत्पादन-साधनो और विनिमय को, ज्योही वे सामाजिक स्वामित्व के लिए उपयुक्त हो जाएँ, पूँजीवादी अधिकार क्षेत्र से निकाल कर राष्ट्रीय अधिकार क्षेत्र मे ले आना, (आ) सर्वव्यापी मताधिकार द्वारा सार्वजनिक शक्ति पर अधिकार करना, और (इ) कर्मचारियों की अन्तर्राष्ट्रीय समझदारी।

समष्टिवाद की मान्यता है कि समाज के अधिकाँश व्यक्तियो के हितो की दृष्टि से यह आवश्यक है कि समाज के सदस्यो को निर्बाध रूप से स्वतन्त्रता न देकर समाज की ओर से उन पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए गए। समष्टिवाद मे समाजवादी विचारधारा के साथ अधिनायकवादी तत्त्व का भी समावेश है क्योकि वह व्यक्ति की तुलना मे राज्य को विशेष महत्त्व प्रदान करता है।

समष्टिवाद क्यो ? (Why Collectivism ?)

समष्टिवाद प्रमुख रूप से 20वी शताब्दी का वर्णन है यद्यपि इसकी परम्परा सन् 1889 से पाई जाती है।

आधुनिक युग मे समष्टिवाद के यूरोप मे विकास के कई कारण हैं। जोड (Joad) के मतानुसार समष्टिवाद के पूर्वगामी विचार (Antecedents), जिनके परिणामस्वरूप इस विचारधारा का उदय हुआ, दो हैं—प्रथम, मार्क्सवाद और दूसरा, व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया।[1] एक तीसरा कारण पूँजीवादी व्यवस्था के दोषो से मुक्ति का है।

1 समष्टिवाद का जन्म प्रधानत व्यक्तिवाद की प्रक्रिया के फलस्वरूप हुआ। 19वी शताब्दी के अन्त तक व्यक्तिवादी व्यवस्था के दोष चरम सीमा तक पहुँच गए थे। व्यक्तिवाद द्वारा दी गई असीम स्वतन्त्रता सभी क्षेत्रो मे सामाजिक जीवन के लिए एक समस्या बन गई थी। पूँजीवाद तथा साम्राज्यवाद का त्वरित विस्तार हो रहा था और चारो ओर शोषण, पतन अपव्यय तथा स्वार्थ का बोलबाला था।

1 *C. E M Joad* Introduction to Modern Political Theory p 40-50

अन्याय तथा अनाचारो से पूर्ण भ्रष्ट व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था । अत पूँजीवाद के बोझ से दबा हुआ पाश्चात्य समाज राज्य की सहायता तथा हस्तक्षेप की माँग करने लगा जिसके फलस्वरूप राजनीतिशास्त्र मे राजकीय समाजवाद अथवा समष्टिवाद की कल्पना हुई ।

2 समष्टिवाद को जन्म देने वाला दूसरा कारण था साम्यवाद अथवा मार्क्सवाद की आधुनिक समाज मे अनुपयुक्तता । यद्यपि मार्क्सवाद भी समाजवाद का एक अग है और उद्देश्यो की दृष्टि से अत्यन्त सबल विचारधारा है, तथापि अपने पवित्र उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इसके द्वारा चुना गया मार्ग अत्यन्त आपत्तिजनक है। हिंसा और रक्तपात सदैव विनाश के मार्ग हुआ करते हैं, सृजन के नही । इसी मार्क्स का दर्शन उसके अन्ध भक्तो के अनुसार आचारात्मक दृष्टि से दृढ तथा वैज्ञानिक दृष्टि से न्यायपूर्ण होते हुए भी बौद्धिक दृष्टि से बिलकुल खोखला और मात्र भावात्मक माना गया । मार्क्सवाद का आकस्मिक परिवर्तनों का सिद्धान्त अव्यावहारिक माना जाने लगा और लोग यह अनुभव करने लगे कि 'वर्तमान समय मे मार्क्सवाद समाज मे तुरन्त नहीं लाया जा सकता क्योकि विकास और पतन दो धीमी क्रियाएँ हैं, उन्हे न तो उल्टा ही जा सकता है और न रोका ही जा सकता है । यह भी स्वाभाविक नही है कि आकस्मिक तथा भीषण परिवर्तनों द्वारा उनकी गति को तेज किया जाए ।' अत साम्यवाद मे सशोधन की आवश्यकता महसूस हुई । साम्यवादी भविष्यवाणियो को झूठी होते देखकर उसके स्थान पर विकासवादी तथा वैज्ञानिक उपायो द्वारा समाजवाद लाने वाली विचारधारा की आवश्यकता अनुभव की गई और फलत साम्यवाद के सशोधनवाद या पुनर्विचारवाद (Revisionism) के रूप में समष्टिवाद का जन्म हुआ । बर्नस्टीन (Bernstien) उन प्रमुख समाजवादी विचारको मे था जिसने मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी पहलू की अपेक्षा विकासवादी पहलू पर बल दिया। बर्नस्टीन ने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त को तथ्य की दृष्टि से दोषी पाया । उसने देखा कि पूँजी का केन्द्रीकरण कुछ हाथो म होने के साथ-साथ मध्यमवर्गीय तथा लघु उद्योगो का लोप नहीं हो रहा था और श्रमिको की दशा गिरने की बजाय सुधर रही थी । इससे वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वतमान समय मे तथा बहुत समय तक भविष्य मे समाजवाद का कार्य मजदूर वर्गों का राजनीतिक सगठन करना, उनका प्रजातन्त्र के लिए विकास करना तथा ऐसे सभी सुधारो के लिए जिनसे उनका उत्थान हो राज्य द्वारा प्रयत्न करना होना चाहिए । इग्लैंड की फेबियन सोसायटी के विचारो और लेखो का भी इस दिशा मे पर्याप्त प्रभाव पडा ।

3 समष्टिवाद की उत्पत्ति का तीसरा कारण पूँजीवादी व्यवस्था के दोषो को सुधारना था । 20वी शताब्दी मे व्यक्तिवाद के कीटाणुओ ने समाज के शरीर मे पूँजीवाद रूपी रोग का रूप धारण कर लिया था जिसके कारण वह शोषण और अन्याय से क्षीण होता जा रहा था । यह रोग भीषणता की इस सीमा तक पहुँच गया था कि गरीब मजदूर के पास अपनी दरिद्रता के लिए रोने के अतिरिक्त और कोई चारा ही नही था । उत्पादन तथा वितरण पर कुछ गिने चुने पूँजीपतियो का

अधिकार था और इसलिए सब तरफ यह अनुभव किया जाने लगा था कि उत्पादन तथा वितरण के साधन पूँजीपतियों के हाथों से छीने जाकर किसी अन्य सार्वजनिक संस्था को सौंपे जाएँ। इसके लिए समष्टिवाद राज्य का समर्थन किया तथा उसके द्वारा वर्तमान पूँजीवाद के दोषों का अन्त करने के लिए आग्रह हुआ।

समष्टिवादी सिद्धान्त (Collectivism's Philosophy)

समष्टिवाद अपने व्यापक उद्देश्यों में समाजवाद के इन तीनों सिद्धान्तों को स्वीकार करता है कि समाज मे पूँजीवाद, *निजी उद्योग तथा प्रतियोगिता* (Capitalism, Private Enterprise and Competition) का जड़ से उन्मूलन कर दिया जाए। वह समाजवाद के साथ इस बात पर भी सहमत है कि समाज व्यक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण है तथा राज्य का कार्यक्षेत्र विस्तृत होना चाहिए। किन्तु इससे आगे वह नहीं जाता और समाजवाद के सारे आर्थिक सिद्धान्तों को अक्षरश मानने के लिए प्रस्तुत नहीं है। समष्टिवाद एक नई प्रणाली का जन्मदाता है जो इस सत्य को उजागर करता है कि 'आधुनिक उपयोगितापूर्ण व्यवस्था अनेकों के दुःख की कीमत पर कुछ *लोगों को सुख-सुविधा प्रदान करती है, अतः समाज का* पुनर्गठन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि सार्वजनिक कल्याण तथा सुख की प्राप्ति हो सके।' समष्टिवादियों के अनुसार क्रान्ति द्वारा समाजवाद लाने को तथा अन्ततः राज्य का विलाप हो जाने की धारणा से असहमति प्रकट करते हुए समष्टिवादियों का यह विचार है कि यदि जनता का विशाल समूह मजदूरों के स्तर से ऊँचा उठना चाहता है तो समाज की प्रतिनिधि सरकार को अधिकाधिक हस्तक्षेप और उद्योगों के पर्याप्त नियमन द्वारा स्वतन्त्र और निर्बाध प्रतियोगिता की बुराइयों से उनकी रक्षा करनी होगी। इस प्रकार *समष्टिवाद की सैद्धान्तिक और नैतिक व्याख्या के रूप मे* कहा जा सकता है कि इसका उद्देश्य केन्द्रीय प्रजातान्त्रिक अधिकार शक्ति द्वारा अधिक अच्छे वितरण और वर्तमान की अपेक्षा श्रेष्ठतर उत्पादन अर्जित करना है।' प्रो एली (Prof Ely) के अनुसार समाजवादी वह है जो राज्य मे संगठित समाज को आर्थिक वस्तुओं के अधिक उपयुक्त वितरण और मानव उत्कर्ष में सहयोग की दृष्टि से देखता है।' अत समष्टिवाद जो कुछ भी समाजवादी कार्य करना चाहते हैं *राज्य के द्वारा ही करना चाहते हैं।*

वास्तव में समष्टिवाद राज्य को आवश्यक *तथा एक धनात्मक* अच्छाई (Essential and a Positive Good) मानता है। समष्टिवादियों को सन्ताप है कि *राज्य के कार्यों का पूर्ण विस्तार होने से मनुष्य का कल्याण हो सकता है।* केवल इस प्रकार की नीति से ही समाज में न्याय सुविधा निष्पक्षता निष्कपटता आदि भावनाओं का विकास हो सकता है। इससे ही जनता के सामान्य आर्थिक बौद्धिक एवं नैतिक हितों को बल तथा प्रोत्साहन मिल सकता है। *राज्य-समाजवादी पुलिस* राज्य की विचारधारा से घृणा करते हैं और राज्य के क्षेत्र की वृद्धि का स्वागत करते हैं। राज्य-समाजवादियों अथवा समष्टिवादियों की मान्यता है कि 'राज्य का अस्तित्व केवल अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए ही नहीं होता क्योंकि इसका अर्थ तो कुछ

गिने-चुने राज्याधिकारियो का जीवित रहना हो जाता है वरन् राज्य का अस्तित्व इसलिए होता है कि उसके सदस्य करणीय कार्यों को कर सकें।"

समष्टिवादियो के अनुसार आधुनिक पूंजीवाद के दुर्गुणो से समाज का अधिकांश भाग दु खी है। केवल कुछ ही धनी लोग सुख के साधनों का उपभोग कर पाते हैं। *इसी प्रकार आधुनिक लोकतान्त्रिक राजनीतिक सस्याएँ राजनीतिक स्वतन्त्रता* तो देती हैं, परन्तु आर्थिक स्वतन्त्रता की ओर कोई ध्यान नहीं देती। आर्थिक स्वतन्त्रता के अभाव मे राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल धोखा है। भूखे व्यक्ति को पहले रोटी की आवश्यकता होती है, बाद मे स्वतन्त्रता की। परिणाम यह होता है कि गरीब व्यक्ति सदैव आर्थिक दासता की जजीरो मे जकडे रहते हैं। मैक्सी (Maxey) के शब्दो मे, 'आर्थिक दासता की अवस्था मे मनुष्य राजनीतिक स्वतन्त्रता को उसी प्रकार ग्रहण कर लेता है जिस प्रकार पानी मे डूबता हुआ व्यक्ति तिनके को सहारा समझ लेता है। वास्तव मे राजनीतिक स्वतन्त्रता आर्थिक शोषण सहन करने की स्वतन्त्रता है।"

इसलिए समष्टिवादी उत्पादन तथा वितरण के सभी सम्बन्धो का राष्ट्रीयकरण चाहते हैं। *इसके अनुसार उत्पादन तथा वितरण का सारा प्रबन्ध राज्य के* अधिकार मे होना चाहिए क्योकि इसके बिना सामाजिक समानता का उद्देश्य कभी प्राप्त नहीं हो सकता। उनका विश्वास है कि किसी वस्तु के मूल्य का निश्चय न तो उसके लिए किए गए श्रम से होता है और न माँग तथा पूर्ति के तत्त्वो से ही जो एक-दूसरे के विरुद्ध कार्यशील अथवा प्रतिक्रियाशील रहते हैं। उनके कथनानुसार समाज मूल्यो की सृष्टि करता है, अत केवल समाज को ही इस बात का अधिकार है कि वह उसका उचित विनियोग करे।

समष्टिवाद उत्पादन और वितरण के राष्ट्रीयकरण मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं होता क्योकि तब भी पूँजीवादी व्यवस्था जहाँ की तहाँ रह सकती है। मानलो कच्चे लोहे तथा कोयले की सारी खानें राष्ट्रीय सम्पत्ति हैं तथा उन्हें एक जगह से दूसरी जगह वितरित करने के सारे साधन भी राज्य के अधिकार मे हैं किन्तु यह आवश्यक नहीं कि लोहे के सारे कल कारखाने सरकारी कल-कारखाने ही हो। समष्टिवाद चाहता है कि साधनो के राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ बडे-बडे उद्योग धन्धो तथा मिलों को भी राष्ट्रीय सम्पत्ति के रूप मे परिवर्तित किया जाए और उनका प्रबन्ध भी सरकार व्यक्तिगत मिलमालिको से छीन कर अपने हाथ मे ले ले। ऐसा होने से उत्पादन व्यक्तिगत लाभ के लिए न होकर सामाजिक उपयोग के लिए होगा और मुनाफ़ा कमाने की भावना समाज-सेवा की भावना मे बदल जाएगी। कोई भी मिल-मालिक मजदूर की मेहनत से अपनी जेब नहीं भरेगा बल्कि सारी आय एक राष्ट्रीय सरकार को मिलेगी जो उसे जन-कल्याण के लिए व्यय करगी। समष्टिवादियो का तर्क है कि भूमि और खनिज पदार्थ जैसी प्राकृतिक देन पर सम्पूर्ण समाज का अधिकार है, अत कुछ थोड से लोगो को अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए उनका प्रयोग नही करने देना चाहिए। इसके अतिरिक्त किसी देश के प्राकृतिक साधनो का व्यक्तिगत स्वामित्व

राष्ट्रीय हितों का ध्यान नहीं रखता। वह किसी साधन विशेष की रक्षा करने की बजाय उसे अधिक द्रुत-गति से समाप्त कर देता है। प्राकृतिक साधनों पर राज्य का स्वामित्व हो जाने से इनके दुरुपयोग को रोका जा सकता है। पुनश्च, यह भी न्याय-संगत नहीं है कि थोड़े से लोग ही प्राकृतिक साधनों से लाभ उठाएँ और अधिकांश व्यक्ति उस लाभ से वंचित रह जाएँ।

समष्टिवादी विचारकों की यह भी मान्यता है कि उद्योग-धन्धों पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित हो जाने से समाज को अपनी आवश्यकता की वह वस्तुएँ भली प्रकार उपलब्ध हो सकती हैं जिन्हें उद्योगपति केवल इसलिए उत्पन्न नहीं करते कि उनसे उन्हें लाभ की सम्भावना नहीं होती। समाज को शिक्षा, स्वच्छता, अस्पतालों, वाटिकाओं, अजायबघरों, पुस्तकालयों आदि की आवश्यकता होती है, पर ये कार्य आर्थिक लाभ के नहीं हैं। अतः यह आशा करना व्यर्थ है कि पूँजीपति इन्हें सामाजिक हित में करेंगे। इन्हें तो केवल राज्य ही कर सकता है। समष्टिवादी चाहते हैं कि उद्योगों में उत्पादन इसी दृष्टि से होना चाहिए कि उससे समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति हो। वे व्यक्तिगत स्वार्थ के स्थान पर सामाजिक हित की भावना को विकसित करना चाहते हैं।

इसी प्रसंग में समष्टिवादी उस महान् नैतिक सुधार का उल्लेख करते हैं जो उद्योगों के समाजीकरण से हो सकता है। पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था में हर व्यक्ति सहयोगी न होकर प्रतियोगी होता है। उसे केवल अपने ही स्वार्थ का ध्यान रहता है। ऐसे मनोवैज्ञानिक वातावरण में समाज के सामान्य हित की दृष्टि से ओझल हो जाते हैं और अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अनैतिक तथा हेय साधन अपनाने का एक ऐसा प्रलोभन पैदा हो जाता है जिसे दबाना बहुत कठिन होता है। यदि उत्पादन-यन्त्र पर सम्पूर्ण समाज का आधिपत्य है और उसका प्रयोग समाज के सामान्य हितों के लिए किया जाता है तो स्थिति बदल सकती है।

समष्टिवादी वर्ग-संघर्ष को तीव्र करने एवं उत्पादन साधनों को श्रमिक वर्ग के अधिकार में लाने की अपेक्षा समाज के सभी सदस्यों की परस्पर निर्भरता पर बल देते हैं और यह प्रयास करते हैं कि उनमें परस्पर सामंजस्य बना रहे। समष्टिवाद का उद्देश्य समाज के किसी वर्ग-विशेष का हित करना नहीं है, बल्कि उन सबका कल्याण करना है जो वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में अन्याय के शिकार हैं। समाज के प्रतिभाशाली व्यक्तियों को जो सुख-सुविधाएँ प्राप्त हैं उनका भी सामाजिक आधार है—इस बात पर आग्रह से समाजवाद का समष्टिवादी स्वरूप स्पष्ट होता है। समष्टिवाद वर्ग-संघर्ष के स्थान पर वर्ग-हितों में सामंजस्य का प्रतिपादन करता है, मनुष्य की परमार्थ-भावना, दया-भावना और सहयोगी भावना को उभारने की चेष्टा करता है।

समष्टिवाद एक उदार और प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा है, अतः जिस प्रकार यह राज्य-व्यवस्था को चुने हुए लोकप्रिय व्यक्तियों को सौंपना चाहता है, उसी प्रकार इसका मत है कि उद्योगों में भी एक पूँजीपति का शासन न होकर श्रमिक द्वारा मिल

की व्यवस्था हो और सभी श्रमिक समान रूप से उन्नति के अवसर, सुख-सुविधाएँ और प्राय प्राप्त करते रहें। राज्य का कार्य केवल निरीक्षण करना रहे। समष्टिवादियों का उद्देश्य श्रमिकों की स्थिति को उन्नत करना है, प्रतः वे चाहते हैं कि राष्ट्रीय सरकार श्रमिको पर लगने वाले कर (Tax) कम कर दे और आयकर की व्यवस्था को अधिक प्रगतिशील बनाए ताकि आर्थिक भेदभाव की खाई कुछ पट जाए और वर्तमान आर्थिक विषमताएँ नष्ट हो जाएँ। समष्टिवादियो की इच्छा है कि अतिरिक्त पूँजी सार्वजनिक हित पर खर्च हो। आज के पूँजीवादी समाज मे भी श्रमिक आवश्यकता से अधिक उत्पादन करके अतिरिक्त पूँजी (Surplus Capital) पैदा करते हैं, परन्तु इस अतिरिक्त श्रम द्वारा उत्पन्न होने वाली अतिरिक्त पूँजी का लाभ उनको नहीं मिलता, पूँजीपति इसे बीच मे हड़प जाते हैं। समष्टिवादी चाहते हैं कि यह अतिरिक्त पूँजी जिसे श्रमिक अपने पसीने से पैदा करते हैं, सरकार के राष्ट्रीय कोष में जमा हो और उसको जन-साधारण का जीवन स्तर ऊँचा करने के लिए व्यय किया जाए। प्रत्येक व्यक्ति को समाज मे सुखी और स्वतन्त्र जीवन बिताने का अधिकार है जो पारस्परिक सहयोग की अवस्थाओं मे ही सम्भव है।

समष्टिवादी साधन या तरीके

समष्टिवादी विकासवादी विचारधारा के मुख्य समर्थक हैं। उनका विश्वास है कि प्रजातन्त्रात्मक राज्य द्वारा समाजवाद की स्थापना हो सकेगी। समष्टिवाद मार्क्सवाद के इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता कि समाजवाद की स्थापना क्रान्ति द्वारा एकदम की जा सकती है। उनके अनुसार यह एक शान्तिपूर्ण आन्दोलन है जिसका विश्वास है कि समाज में परिवर्तन सदैव शनै शनै. हुआ करते हैं और इस प्रकार शनै-शनैः एव शान्तिपूर्ण वैधानिक तरीको से होने वाले परिवर्तन ही स्थायी हो सकते हैं। प्रतः समष्टिवाद यह मानकर चलता है कि पूँजीवादी समाज को समाजवादी व्यवस्था मे बदलना है, तथापि उनके विचार से यह परिवर्तन अहिंसात्मक होने पर ही अधिक उपयोगी तथा सफल हो सकता है। समष्टिवादियों ने प्रारम्भ से राजनीतिक साधनो अथवा सांविधानिक तरीको का पालन एवं समर्थन किया है। प्रथम ब्रिटिश लोकसभा मे मजदूर दल के प्रथम नेता रेम्जे मैकडोनाल्ड ने यह विश्वास व्यक्त किया था कि सविधान की सीमाओं मे रहते हुए राजनीतिक कार्यों द्वारा राज्य-शक्ति पर अधिकार किया जा सकता है। ऐसा ही हुआ और वह ब्रिटेन का प्रथम मजदूर दलीय प्रधान मन्त्री बना। समष्टिवादी पूंजीवाद से समाजवाद मे प्रावर्तन के लिए एक योजनाबद्ध कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं। वे चाहते हैं कि उन्हें पहले प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली द्वारा जनता मे लोकप्रिय बनकर चुनावो मे विजयी होना चाहिए और ससद् में पहुँच कर अपनी सरकार बनानी चाहिए, फिर अपनी नीति के अनुसार सामाजिक तथा औद्योगिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने चाहिए। अपने उद्देश्य की सफलता के लिए वे जन-साधारण को समाजवाद के सिद्धान्तों की शिक्षा देना भी परम आवश्यक मानते हैं।

वैधानिक तथा शान्तिपूर्ण उपायों मे विश्वास करने के कारण ही समष्टिवादी यह माँग करते हैं कि मत देने का अधिकार देश के प्रत्येक वयस्क स्त्री-पुरुष को

मिलना चाहिए। वैधानिक उपायो द्वारा सरकार पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के बाद समष्टिवाद अपने अनुसरणकर्त्ताओं के समक्ष एक निश्चित कल्याण राज्य का आदर्श स्वरूप प्रस्तुत करता है। समष्टिवाद अपने समूहवादी शासकों से चाहता है कि वे राष्ट्रीय वेतन-व्यवस्था को सब पर समान रूप से सारे देश मे लागू करें। जो मजदूरी न्यूनतम स्तर पर निश्चित की जाए वह ऐसी हो जिससे मनुष्यों के मन, शरीर तथा चारित्रिक विकास का अवसर सुलभ हो सके। जहाँ तक सम्भव हो प्रत्येक को समान मजदूरी प्राप्त हो और दुखी तथा दीन मजदूरों को राहत मिले। समष्टिवादी अपनी सामाजिक व्यवस्था मे व्यक्तिगत आर्थिक क्षेत्र और सार्वजनिक आर्थिक क्षेत्र मे विरोध को आवश्यक नही मानते। दोनों क्षेत्रों को एक दूसरे के पूरक की दिशा में काम करना चाहिए। समष्टिवाद चाहता है कि राष्ट्रीय सरकार यह देखे कि कोई बेरोजगार तो नहीं है और जो काम करता है उसे आवश्यकता से अधिक तथा अपने स्वास्थ्य की कीमत पर तो काम नही करना पडता। राज्य का यह उत्तरदायित्व होगा कि वह ध्यान रक्खे कि वृद्धो, पशुओं और अन्य किसी की आर्थिक हानि न होने पाए। 6 से 18 वर्ष के बच्चों का स्कूल जाना आवश्यक होगा तथा उनके लिए राज्य निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करेगा। इस आयु के बच्चो से श्रम का कार्य नहीं लिया जाएगा। राज्य इस बात की व्यवस्था करेगा कि नवयुवको को शिक्षा सम्बन्धी उचित सहायता प्राप्त हो और उन्हे अपने विकास का उचित अवसर प्राप्त हो। प्रश्न यह उठता है कि राज्य जब इन सब कार्यों को करेगा तो उसे जिस धन की आवश्यकता होगी वह कहाँ से आएगा ? समष्टिवादी योजना यह है कि इस धन का कुछ भाग राष्ट्रीय उद्योगो और व्यवसायो की आय से तथा शेष करो से प्राप्त किया जाएगा। कर आय के हिसाब से लगाया जाएगा और उसकी व्यवस्था इस प्रकार होगी कि जितनी अधिक आय होगी, उसे उतना ही अधिक कर देना पड़ेगा। कर-व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य आर्थिक भेदभाव की खाई को कम करना होगा।

समष्टिवाद के पक्ष में तर्क

समष्टिवाद का विभिन्न विचारकों द्वारा अनेक प्रकार से अनुमोदन किया गया है। समष्टिवादी नियोजित समाज और जनोपयोगी उद्योगों पर राज्य के नियन्त्रण और स्वामित्व के प्रबल समर्थक हैं। नियोजित समाज (Planned Society) के पक्ष मे लास्की का कहना है कि "प्रतिस्पर्द्धा पर आधारित व्यक्तिवादी व्यवस्था की अपेक्षा नियोजित समाज कहीं अधिक स्वतन्त्र हो सकेगा, इसमे काम करने वालो को अपनी क्षमता के प्रदर्शन का निरन्तर अवसर मिलेगा और साथ ही उन्हें काम करने की दशाओं से सम्बन्धित नियम बनाने वाली व्यवस्था मे भाग लेने का अवसर भी प्राप्त होगा। इस प्रकार उनके साथ (आर्थिक) न्याय होगा और न्याय ही स्वतन्त्रता का लक्षण है।"[1]

[1] *Laidler* Social and Economic Movements, p 663

समष्टिवादी विचारधारा के पक्ष में यह कहा जाता है कि यदि जनता के हितों को पर्याप्त रूप से सुरक्षित करना है तो उद्योगों का राष्ट्रीयकरण अत्यन्त आवश्यक है। यही एकमात्र उपाय है जिसके द्वारा ऐसे क्षेत्र में शान्ति स्थापित की जा सकती है जहाँ पूर्ण रूप से अराजकता हो। राज्य द्वारा उद्योगों पर नियन्त्रण और स्वामित्व के पक्ष में जो तर्क प्राय दिए जाते हैं वे मुख्यत ये हैं—(i) जिन उद्योगों में एकाधिकार की प्रवृत्ति है, उन पर सार्वजनिक हितों की रक्षा के लिए और उनसे होने वाले लाभ को राजकीय कोष का भाग बनाने के लिए राज्य का नियन्त्रण स्थापित होना सर्वथा उचित है। (ii) एकाधिकार की प्रवृत्ति से मुक्त अन्य अनेक उद्योगों पर भी इस दृष्टि से राज्य का नियन्त्रण उपयोगी है कि उससे प्रतिस्पर्द्धा पर होने वाले व्यर्थ के व्यय में बचत हो सकेगी। (iii) उद्योगों पर राज्य के नियन्त्रण से समाज को वे वस्तुएँ और सेवाएँ उपलब्ध हो सकेंगी जिनकी उसे अत्यधिक आवश्यकता होती है, किन्तु जिनके उत्पादन में पूँजीपति लाभ की आशा न देखकर कोई रुचि नहीं लेते। (iv) समष्टिवाद के अन्तर्गत विभिन्न उद्योगों एवं सेवाओं के प्रबन्ध के लिए स्थापित प्रशासन पूँजीवादी व्यवस्था की अपेक्षा अधिक एकरूप, नियमित एव विश्वसनीय होगा।[1] (v) समष्टिवाद के परिणामस्वरूप वे दोष नहीं पनप सकेंगे जो व्यक्तिवादी व्यवस्था के अन्तर्गत पूँजीवाद के कारण उत्पन्न होते हैं।[2] (vi) समष्टिवादी समाजवाद की स्थापना वैधानिक एव शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा हो सकती है, इसके लिए हिंसक क्रान्ति की आवश्यकता नहीं है। समाजवाद के आदर्शों के व्यापक प्रचार से जनमत को अपने पक्ष में लाकर राज्य शक्ति को हस्तगत किया जा सकता है। (vii) समष्टिवाद द्वारा सामान्य जनता के जीवन की दशाओं में महत्त्वपूर्ण सुधार लाया जा सकता है और कल्याणकारी राज्य की स्थापना की ओर सरलता से कदम बढ़ाए जा सकते हैं। (viii) राजकीय समाजवाद अथवा समष्टिवाद में समाजवादी व्यवस्था और प्रजातन्त्र दोनों का समावेश होता है।[3] (ix) इन सभी कारणों से जन-साधारण की नैतिकता और आध्यात्मिकता में एक क्रान्तिकारी अथवा महान् परिवर्तन आ सकता है तथा उनका चारित्रिक उत्थान हो सकता है। समष्टिवाद का यह विशेष गुण है कि इसके अन्तर्गत राज्य के सदस्य स्वयं को अलग अलग व्यक्तियों के रूप में न समझकर समाज के सदस्य के रूप में समझते हैं।

समष्टिवाद की आलोचना—साम्यवादियों, व्यक्तिवादियों एव अन्य आलोचकों ने समष्टिवाद पर तीव्र प्रहार किए हैं—

1. साम्यवादियों का कहना है कि वैधानिक एव शान्तिमय उपायों से छोटे-छोटे परिवर्तन अवश्य लाए जा सकते हैं, पर समाज के संगठन में मौलिक परिवर्तन के लिए क्रान्ति अनिवार्य है। लोकमत को अपने अनुकूल करके विधान सभाओं में

1 *W Morris* Challenge of Socialism, p 268.
2 *C E M Joad* Modern Political Theory, p 48
3 *W Morris* Challenge of Socialism, p 269-70

मौलिक सृजन की प्रेरणा नही मिल पाती। व्यक्ति स्वभाव से आत्मकेन्द्रित होता है और कोई भी कार्य तभी जी लगा कर मेहनत से करता है जब कोई प्रतियोगिता हो या उसे उसकी मौलिकता अथवा साधना के लिए पुरस्कार मिले। चूंकि ये बातें समष्टिवाद मे नही होगी, अतः मजदूर भी नित्यप्रति के काम को बेगार समझ कर किया करेंगे। इस आलोचना के बचाव मे यह कहा जाता है कि अभौतिक पुरस्कार भी मानव-कार्यों के प्रोत्साहन के लिए उसी प्रकार प्रभावपूर्ण होते हैं जैसे भौतिक पुरस्कार।

5. प्रायः यह आक्षेप लगाया जाता है कि समष्टिवाद व्यक्तिगत स्वाधीनता का शत्रु है। राज्य द्वारा पग-पग पर किए जाने वाले हस्तक्षेप के कारण व्यक्ति के जीवन मे जड़ता आ जाएगी और सदैव एक-सा नीरस जीवन बिताने के कारण वह अपने शुष्क जीवन से ऊब जाएगा। राज्य का कठोर नियन्त्रण सारी व्यक्तिगत स्वाधीनता को उससे छीन लेगा और हिलारे बैलोक (Hailare I ·lloc) के शब्दों मे, "व्यक्ति राज्य का दास बन जाएगा और समष्टिवाद से गुल न राज्य की नींव पड़ेगी।" इस प्रकार की आलोचना के उत्तर मे कहा जाता है कि प्रथम तो राजकीय हस्तक्षेप मानव-स्वाधीनता को नष्ट नही करता और यह भी एक गलत परिभाषा है कि स्वाधीनता ही सर्वोपरि (Absolute Thing) है। द्वितीय, समष्टिवाद प्रजातान्त्रिक, पद्धति का समर्थक है और यदि राज्य कोई अन्याय करता है तो जनमत किन्हीं सस्थाओ मे सगठित होकर राज्य को ऐसा करने से रोक सकता है। यथार्थ मे समष्टिवादी स्वाधीनता की एक धनात्मक व्याख्या (Positive Interpretation) करते हैं और उसे अधिक व्यक्तियो के लिए सुलभ बनाना चाहते हैं। समष्टिवादियो का कार्य-मच ससद् है। वे बिना बहुमत की स्वीकृति के अपने कार्यक्रम और विचारो को जनता पर नहीं थोपना चाहते, क्योकि वे जानते हैं कि स्वीकृति के बिना किया गया कार्य स्थायी नही होता।

6 आलोचकों का एक आक्षेप यह है कि जब उत्पादन की वृद्धि के लिए स्वस्थ प्रतियोगिता और व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा दोनो का ही समष्टिवाद मे अभाव होगा और इस कारण कोई भी व्यक्ति इच्छा और लगन से कार्य नहीं करेगा तो उत्पादन मे हानि होगी। व्यक्तिगत उद्योगों के न रहने से उद्योगो के प्रबन्ध मे शिथिलता आएगी और उद्योगो मे नवीन समस्याएँ पैदा हो जाएँगी। इस आपत्ति का उत्तर समष्टिवाद के समर्थक यह कह कर देते हैं कि आज के युग का अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उत्पादन नही, बल्कि वितरण है। इसके अतिरिक्त रूस एवं चीन आदि देशो का अनुभव तथा इतिहास यह सिद्ध करता है कि समष्टिवाद या राजकीय समाजवाद मे उत्पादन घटता नही है, बल्कि सार्वजनिक हित के लिए लोग अधिक रुचि तथा मन लगाकर कार्य करते हैं।

7 समष्टिवादी व्यवस्था मे राजनीतिक दलों मे एकाधिकारी भावना तीव्र होने की भी आशका है। प्रत्येक राजनीतिक दल अपने व्यक्तिगत हित के लिए परिस्थितियो का शोषण करेगा। प्रत्येक राजनीतिक दल सत्तारूढ रहने के लिए

अनैतिक से अनैतिक कार्य करने मे भी सकोच नहीं करेगा। अविकसित राजनीतिक दलो की प्रगति को शिथिल बनाने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रलोभन दिए जाएँगे और प्रत्येक नवीन राजनीतिक दल शक्ति हथियाने के उपरान्त राजनीतिक परिस्थितियो को इस प्रकार मोडेगा कि इससे समाज के मूल रूप के ही विकृत हो जाने का भय उत्पन्न हो जाएगा। वस्तुत समष्टिवादी समाज में शक्ति उपार्जित करने के लिए विभिन्न राजनीतिक दलो मे निरन्तर रस्साकसी चलती रहेगी। पर यदि निष्पक्ष रूप से देखा जाए तो राजनीतिक दलो का इस भाँति का आचरण लगभग प्रत्येक प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था मे विद्यमान है। अत केवल समष्टिवाद पर ही इस आलोचना को लादना न्यायसगत नहीं कहा जा सकता।

8 एक प्रमुख आक्षेप यह भी है कि समष्टिवाद घूमकर वहीं आ जाता है जहाँ से आरम्भ होता है और अपने अन्तिम रूप मे वह उन्हीं दुर्गुणो का शिकार हो जाता है जिनको मिटाने के लिए उसका जन्म हुआ था। वस्तुत समष्टिवाद प्रच्छन्न रूप मे राजकीय पूँजीवाद का ही दूसरा नाम है। समष्टिवादी प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था मे सारे पूँजीपति राज-सत्ता हथिया लेंगे। उद्योगों पर अपना अधिकार कायम रखेंगे जबकि गरीब मजदूर मजदूर ही रहेंगे। अन्तर केवल इतना होगा कि पूँजीवाद का नाम पूँजीवाद न रहकर राजकीय समाजवाद हो जाएगा। व्यक्तिगत पूँजीवाद सामूहिक पूँजीवाद मे परिणत हो जाएगा। बेचारा श्रमिक जहाँ अब अपने एक मालिक का मुँह देखता है, वहाँ तब अर्थात् समष्टिवादी व्यवस्था मे उसे अनेक मालिको का मुँह ताकना पडेगा।

समष्टिवाद का मूल्यांकन—अपने कतिपय महत्त्वपूर्ण विचारो के कारण समष्टिवाद आज के युग मे चारो ओर बडी शीघ्रता से प्रसारित होता हुआ दिखाई दे रहा है। इसका सबसे बडा गुण यह है कि इसकी प्राप्ति क्रमिक विकास द्वारा शान्तिपूर्ण और प्रजातन्त्रात्मक साधनों द्वारा की जा सकती है। साम्यवाद के सिवाय समाजवाद की अन्य विचारधाराओ मे यही सबसे अधिक व्यावहारिक सिद्ध हुई है। इस समय सोवियत सघ, चीन तथा यूरोप के कुछ देशो को छोडकर, जहाँ साम्यवाद को अपनाया गया है, अन्य देशों मे समाजवाद की स्थापना की दिशा मे समष्टिवाद द्वारा ही न्यूनाधिक प्रगति हो रही है। श्रमिक सघवाद और श्रेणी समाजवाद (Syndicalism and Guild Socialism) दोनो ही बहुत आगे नही बढ़ सके हैं और उन्हें किसी भी देश मे क्रियान्वित नहीं किया जा सका है। अत अब समष्टिवाद और साम्यवाद इन दो विचारधाराओ के मध्य ही स्पर्द्धा है।

आज औद्योगिक व्यवस्था इतनी महत्वपूर्ण होते हुए भी अर्द्ध अराजकतावादी (Semi Anarchic) सी लगती है। अत उसे एक सुनिश्चित एव नियमित रूप देने का यही प्रभावकारी उपाय हो सकता है जिसे व्यक्तिगत अधिकार क्षेत्र से निकाल कर राजकीय अधिकार में ले लिया जाए क्योंकि सरकार ही आवश्यक शक्ति और नियन्त्रण द्वारा हानिकारक प्रतियोगिता तथा अपव्यय को रोक सकती है। सरकारी नियन्त्रण मे यह आशा की जा सकती है कि वस्तुएँ आवश्यकता से अधिक

उत्पन्न होगी और उनकी द्विरावृत्ति (Duplication) भी रुक जाएगी। सत्यता तो यही है कि आज की दोषपूर्ण औद्योगिक व्यवस्था के लिए समष्टिवाद एक रामबाण औषधि सिद्ध हो सकती है बशर्ते कि उसे सही और प्रभावशाली ढग से उपयोग मे लाया जाए।

समष्टिवाद इस दृष्टि से भी उपयोगी है कि इसमे प्राकृतिक साधनों का उपयोग मानवता के कल्याण के लिए होता है। यह स्वार्थ के स्थान पर सेवा का आदर्श प्रस्तुत करता है तथा समाज मे नैतिक गुणों का विकास करता है। अन्त मे यह एक ऐसा अहिंसात्मक आन्दोलन है जो प्रजातन्त्र का ही एक व्यापक रूप है। वास्तव मे समष्टिवाद समाजवाद का वह सम्प्रदाय है जो उसके अन्य सम्प्रदायो की अपेक्षा अधिक सयत और परिष्कृत है। समाजवाद के अधिकांश सम्प्रदाय वर्ग-सघर्ष को अनिवार्य मानकर पूँजीवादी वग की लाश पर श्रमिको और जन-साधारण के कल्याण का महल खडा करना चाहते हैं। वे समाज मे एक वर्ग को दूसरे वर्ग के विरुद्ध खडा कर एक का उन्मूलन कर दूसरे की भलाई की बात सोचते हैं, किन्तु समष्टिवाद इस दोष से अपने को बचाते हुए पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिको और सामान्य जन के प्रति होने वाले अन्याय को दूर करना अपना ध्येय समझता है।

अराजकतावाद क्रान्तिकारी और दार्शनिक
(Anarchism : Revolutionary and Philosophical)

व्यक्तिवाद और साम्यवाद दोनो से कहीं अधिक उग्र एव अधिक राज्य विरोधी विचारधारा अराजकतावाद है। जहाँ व्यक्तिवादी राज्य के कार्यों को केवल सुरक्षा एव सुव्यवस्था तक सीमित रखना चाहते हैं, वहाँ अराजकतावादियो की समस्या उसके कार्यों को सीमित करने की न होकर उसके अस्तित्व को ही समाप्त कर देने की है। जिस प्रकार साम्यवादियो का मुख्य शत्रु पूँजीवाद है, उसी प्रकार अराजकतावादियो का प्रमुख शत्रु राज्य है। साम्यवादी जहाँ क्रान्ति के पश्चात् राज्य को सक्रमणकाल के लिए सर्वहारा वग के अधिनायकवाद के रूप मे सुरक्षित रखना चाहते हैं, वहाँ अराजकतावादियो की क्रान्ति का प्रमुख उद्देश्य राज्य का अन्त कर देना है। कोकर के कथनानुसार, "अराजकतावाद राजनीतिक-सत्ता को किसी भी रूप मे अनावश्यक एव अवाञ्छनीय मानता है। आधुनिक अराजकतावाद मे राज्य के सैद्धान्तिक विरोध के साथ वैयक्तिक सम्पत्ति-सस्था का विरोध और सगठित धार्मिक सस्था के प्रति शत्रुता भी निहित है।"[1] वस्तुत अराजकतावादी दशन सत्ता-विरोधी (Anti Authoritarian) विचारधाराओ मे से है जो सब प्रकार के राज्य, राजसत्ता तथा राजनीतिक नियन्त्रणो का उपहास कर एक राज्यविहीन समाज की कल्पना करता है। 'अनार्की (अराजकता) शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द 'अनारकिया' (Anarchia) से हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'शासन का अभाव' (Absence of Rule)। अत अराजकतावाद एक ऐसी क्रान्तिकारी विचारधारा है जो राज्य तथा

1 कोकर आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 202.

सरकार का उन्मूलन कर उसके स्थान प राज्यहीन और वर्गहीन (Stateless and Classless) समाज का पुनर्गठन करना चाहती है। अराजकतावादी दर्शन के मत मे सब प्रकार के राजनीतिक बल का प्रयोग समान रूप से हानिकारक है, चाहे वह राजतन्त्र द्वारा प्रयुक्त किया जाए अथवा गणराज्य द्वारा, अत. राज्य एक दुर्गुण है जो समाज मे सर्वथा अनावश्यक, अवाञ्छनीय तथा अत्याचारपूर्ण है। अराजकतावादी राज्यविहीन समाज मे राज्य के रिक्त स्थान की पूर्ति स्वतन्त्र एव ऐच्छिक सस्थाओ (Voluntary Associations) द्वारा करना चाहते हैं जिसस राज्य के शासन विभाग जैसे सेना, न्यायालय, कारागार आदि सब निरर्थक हो जाएँगे। प्रमुख अराजकतावादी प्रिस क्रोपोटकिन (Prince Kropotkin) के शब्दो मे, "अराजकतावाद जीवन तथा चरित्र सम्बन्धी वह सिद्धान्त अथवा दर्शन है जिसके अन्तर्गत एक सरकारविहीन समाज की व्यवस्था की जाती है और उस समाज मे सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए किसी कानून अथवा सत्ता की आवश्यकता नही होती बल्कि उसमे सभ्य जीवन की आवश्यकताओं और इच्छाओ की पूर्ति नाना प्रकार के प्रादेशिक तथा व्यावसायिक सघों के पारस्परिक समन्वय द्वारा सम्भव होती है।" अराजकतावादियो मे भी यद्यपि विभिन्न विचारधाराएँ हैं, परन्तु सभी अराजकतावादी एक बात पर सहमत हैं कि राज्य नही होना चाहिए। इसी कारण वे सभी प्रकार की सरकारो को अस्वीकार करते हैं। उनका विश्वास है कि स्वभाव से सभी मनुष्य नेक और अच्छे होते हैं, किन्तु राज्य और उसकी सस्था उन्हें विकृत बना देती है।

अराजकतावादी परम्परा (Anarchist Tradition)

अराजकतावाद अपने आप मे कोई नवीन विचारधारा नहीं है। यह एक अति प्राचीन विचारधारा है जिसके उत्थान में पौराणिक विश्वास और गाथाओं का पर्याप्त योग रहा है। अन्य अनेक राजनीतिक विचारधाराओ की भाँति इसका प्रादुर्भाव भी ग्रीक दर्शन से माना जाता है। स्टोइक प्रणाली के जन्मदाता जीनो (Zeno) ने एक राज्यविहीन समाज का प्रतिपादन किया था जिसमे पूर्ण समानता और स्वतन्त्रता मानव-स्वभाव की मूल सद्प्रवृत्तियो को पुनर्जाग्रत करेगी और सार्वभौमिक सामञ्जस्य स्थापित कर देगी। हमारे देश के अनेक प्राचीन सन्त तथा विचारक मानवीय पूर्णता तथा अलौकिक आनन्द की प्राप्ति के लिए राज्य को आवश्यक न मानकर बाधक मानते थे। ईसा से लगभग 300 वर्ष पूर्व चीनी दार्शनिक चॉगजू (Chuang Tzu) ने कहा था कि एक व्यक्ति का अन्य व्यक्तियो को अपने अधीन रखना मानव स्वभाव के प्रतिकूल है। मध्ययुग के अनेक सम्प्रदाय यह मानते थे कि धर्म उपयुक्त और सुव्यवस्थित जीवन के लिए पर्याप्त गारण्टी है और जो व्यक्ति ईसाई धर्म की पताका के नीचे सगठित हैं उन्हें उसी धर्म के नियन्त्रण के अन्तर्गत रहने देना चाहिए, उन पर राज्य का कोई नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। मध्ययुग मे स्पीनल तथा शैली के विचारो में भी अराजकतावादी तत्त्वो का परिचय प्राप्त होता है। सोलहवीं शताब्दी मे भी निरकुश और स्वेच्छाचारी राजतन्त्र के विरुद्ध दिए गए भाषणो मे भी अराजकतावादी विचार मिल जाते हैं। 18वीं शताब्दी के अन्त तक तेज़े गति की

कभी नहीं रही जिसमे स्पष्ट रूप से व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसके प्राकृतिक अधिकारो का समर्थन किया गया था । इन साहित्यकारो मे दिदरो (Diderot) का नाम उल्लेखनीय है । इसके उपरान्त अराजकतावादी विचारो को विशेष प्रोत्साहन एडम स्मिथ, हर्बर्ट स्पेंसर एव अन्य भौतिकवादी लेखको के राज्य-विरोधी विचारो द्वारा मिला । आधुनिक युग मे अराजकतावादी विचारो को बहुत कुछ प्रोत्साहन साम्यवादी विचारो से प्राप्त हुआ है । अराजकतावादी विचारो को क्रमबद्ध रूप प्रदान करने का श्रेय विलियम गॉडविन (W Godwin, 1756–1836), थामस हॉगस्किन (Thomas Hodgskin, 1787–1869), प्रोधां (Prouchon, 1809-1865), माइकल बैकानिन (Michael Bakunin, 1814–1870), टॉलस्टाय (Tolstoy, 1828–1910), प्रिंस क्रोपोटकिन (Prince Kropotkin, 1842–1921) आदि को है । उन्होने अराजकतावादी सिद्धान्त को एक आधुनिक राजनीतिक विचारधारा का रूप दिया है । बर्ट्रेण्ड रसल, महात्मा गांधी तथा आचार्य विनोबा भावे म भी अराजकतावादी चिन्तन पाया जाता है ।

अराजकतावादी दर्शन (Anarchist Philosophy)

आधुनिक अराजकतावाद म दो मुख्य विचारधाराएँ हैं—व्यक्तिवादी (Individualistic) और साम्यवादी (Communistic) । दोनो ही के समर्थक राज्य के उन्मूलन मे विश्वास करत हैं, पर सम्पत्ति के अधिकार और वितरण के बारे मे उनमे मतभेद है । व्यक्तिवादी अराजकतावादियो के अनुसार सम्पत्ति पर व्यक्तियो का अधिकार होना चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को परिश्रम के अनुसार फल मिलना चाहिए । साम्यवादी अराजकतावादियो के अनुसार सम्पत्ति पर ऐच्छिक सघो का अधिकार होना चाहिए और सदस्यो के जीवन की सभी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए गारण्टी मिलनी चाहिए । व्यक्तिवादियो मे जोजियावारन, मैक्सटर्नर तथा बेंजामिन टकर प्रमुख हैं । साम्यवादी अराजकतावादियो मे बैकुनिन तथा क्रोपोटकिन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

अराजकतावादी दशन का प्रारम्भ वस्तुतः वहीं से होता है जहाँ साम्यवादी दर्शन समाप्त होता है । अराजकतावादियो का उद्देश्य समाज मे ऐसी व्यवस्था उत्पन्न करना है जिसम राजकीय हस्तक्षेप का ही नहीं बल्कि सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक सभी प्रकार के शोषण का अन्त हो तथा व्यक्ति को जीवन म सफलता के लिए अधिकाधिक अवसर मिलें । अराजकतावादी एक राज्यविहीन समाज चाहते हैं जो वर्गविहीन, धर्मविहीन तथा सत्ताविहीन होने के साथ ही सब प्रकार के पूँजीवादी बन्धनों से मुक्त होगा ।

अराजकतावादियो के अनुसार राज्य एक बुराई है, व्यर्थ का आडम्बर है जिसे आदर्श समाज मे कोई स्थान नहीं मिल सकता । राज्य द्वारा स्थापित सस्थाएँ लोगो को चरित्रहीन बनाती हैं । आज समाज मे जो शोषण, अन्याय, विषमता और अत्याचार दिखाई देते हैं उन्हें चिरस्थायी बनाकर समाज में शोक और उत्पीडन को जीवित रखने का उत्तरदायित्व राज्य पर ही है । "प्रथम तो राज्य निरपराध

व्यक्तियो को अपराधी बनाता है और फिर उन्हे अपराधी होने के अभियोग मे दण्डित करता है।" राज्य सब नैतिक मूल्यो को नष्ट करता है।

एक राज्यविहीन समाज मे अराजकतावादी सामञ्जस्य की आशा इसलिए करते हैं क्योकि उनका विश्वास है कि मनुष्य स्वभाव से बुरा नही है। जन्म से वह एक सामाजिक और सहयोगी प्राणी है लेकिन राज्य द्वारा उत्पन्न वातावरण ने उसे बिगाड दिया है। राज्य अथवा उसके विभिन्न अभिकरणो द्वारा किए जाने वाले कार्य स्वतन्त्र सघो द्वारा अपेक्षाकृत अधिक सरलता और कुशलता से किए जा सकेंगे।

अराजकतावादियो के अनुसार आक्रमणकारियो के विरुद्ध देश-रक्षा का कार्य भी राज्य सत्ता के अस्तित्वहीन हो जाने पर अधिक प्रभावी रूप से किया जा सकता है। सुरक्षा के लिए राज्य के धन से सगठित सैनिको की अपेक्षा एक नागरिक सेना अधिक प्रभावशाली अस्त्र सिद्ध हो सकती है। आन्तरिक शान्ति-व्यवस्था की दृष्टि से अराजकतावादियो का कहना है कि परिस्थितियाँ मनुष्य को अपराधी बनाती हैं। इन परिस्थितियो को हर देश की सरकार उत्पन्न करती है, अत जब सरकार ही नही होगी तो ऐसे अवसर भी नही आएँगे कि व्यक्तियो के हित परस्पर टकराएँ और समाज की शान्ति भग हो। सांस्कृतिक और शैक्षणिक क्षेत्र मे आज भी ऐच्छिक समूहो द्वारा किए गए कार्य राज्य-कार्यों से अधिक महत्वपूर्ण हैं।

राज्य के सम्बन्ध मे अराजकतावादियों की आलोचना केवल अनियन्त्रित राजसत्ताओ तथा अल्पजनो से शासित राज्यो पर ही लागू नहीं होती, बल्कि प्रतिनिधि-प्रजातन्त्रो पर लागू होती है। अराजकतावादियो की दृष्टि मे प्रतिनिधित्वपूर्ण सरकारें नागरिको का वास्तविक हित नही कर सकतीं। चुनाव और प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त केवल दिखावा हैं।

अराजकतावादी दर्शन आधुनिक जीवन की विषमता और दयनीयता के लिए पूँजीवाद को उत्तरदायी मानता है। राज्य आर्थिक दृष्टि से हानिकारक सस्था है जिसने व्यक्तिगत सम्पत्ति के गर्भ से जन्म लेकर व्यक्तिगत सम्पत्ति को हर प्रकार से बढावा दिया है और पूँजीवाद तथा शोषण का पक्ष लिया है। पूँजीवाद और शोषण एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। साम्यवादी अराजकतावादी जहाँ राज्य और पूँजीवाद का अन्त कर सम्पत्ति का समाजीकरण करना चाहते हैं वहाँ व्यक्तिवादी अराजकतावादी राज्य का तो अन्त चाहते हैं, पर किसी हद तक व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन करते हैं।

साम्यवादियो की ही तरह अराजकतावादी मानते हैं कि धर्म सदैव धनवानों का सबल रहा है और धनिक धार्मिक पाखण्डो के नाम पर सामान्य जनता का शोषण करते हैं। बैकुनिन के शब्दो मे, "सब निरकुश शासन-प्रणालियो मे खोखले सिद्धान्त-वादी और धर्मान्धो का निरकुश शासन सबसे अधिक बुरा होता है। धर्म के नाम पर शासको ने शासितो को सन्तोष और भाग्यवाद का उपदेश देकर अत्याचारो को शान्तिपूर्वक सहन करने का पाठ पढाया। धर्म सदैव प्रतिक्रियावादी रहा है।"

अराजकतावाद सघो मे सगठित एक विकेन्द्रीकृत समाज स्थापित करना

चाहता है। वह चाहता है कि राज्य के अन्तर्गत वर्तमान केन्द्रीकृत समाज के सर्वथा विपरीत अराजतावादी समाज का निर्माण स्थानीय सस्थाओ अथवा सघो के आधार पर हो जो पुन विशालतर सस्थाओ मे सयुक्त होकर देशव्यापी रूप धारण करें। इन सघो की व्यवस्था आरम्भ होकर नीचे से हो, और यदि कभी कोई झगडा या मतभेद हो जाए तो नीचे के छोटे सघ ही उसका मिलजुलकर निपटारा कर लें। स्पष्ट है कि "अराजकतावादी व्यवस्था मे राज्य अथवा बल-प्रयोग का अभाव होते हुए भी व्यवस्था का अभाव नही है।" राज्य का स्थान स्वतन्त्र ऐच्छिक सघ ले लेंगे जिनका गठन प्रादेशिक अथवा व्यावसायिक आधार पर होगा। ये सघ और सस्थाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार तथा आकार के होगे जिनका निर्माण भी भिन्न भिन्न उद्देश्यो की दृष्टि से किया जाएगा। ये सब सस्थाएँ मिलकर समाज मे सन्तुलन रखेंगी और अपने प्रभावो द्वारा समाज मे अनेक प्रकार के परिवर्तन करेंगी। इस प्रकार सन्तुलन होते हुए भी अराजकतावादी समाज स्थायी पूर्णता (Static Perfection) न होकर एक प्रगतिशील विकास (Dynamic Evolution) होगा। समाज मे, सघ किसी विशेषाधिकारपूर्ण वर्ग (Privileged Class) का पक्ष न लेकर आधुनिक राज्य द्वारा सचालित एव नियन्त्रित सब कार्यो को आपस मे बांट लेंगे। इन सघो का विकास सरलता से जटिलता की ओर होगा और "छोटे से छोटा सघ ही वह आधार होगा जिस पर सम्पूर्ण व्यवस्था आश्रित होगी।" जहाँ तक इन सघो मे पारस्परिक विवादों को निबटान का प्रश्न है, अराजकतावादी यह मानते हैं कि—(1) व्यक्ति के उचित शिक्षा प्राप्त करने पर, (2) प्रतियोगिता के विरुद्ध हो जाने पर, तथा (3) ऐच्छिक सस्थाओ द्वारा जन-कल्याण कार्य किए जाने पर आपसी विवादो की सम्भावना नहीं रहेगी। अराजकतावादी समाज का प्रत्येक सदस्य अपनी इच्छानुकूल कार्य करने मे स्वतन्त्र होगा और ऐच्छिक सघ इन कार्यों को करने के लिए उपयुक्त तथा अनुकूल वातावरण का निर्माण करेंगे। सक्षेप मे अराजकतावाद समाज को स्वतन्त्र सघो मे सगठित कर उसे सघात्मक रूप देना चाहता है। प्रो. जोड (Joad) के शब्दो मे यदि हम निष्पक्षता से देखें तो "अराजकतावाद प्रादेशिक तथा व्यावसायिक विकेन्द्रीकरण का सबसे प्रबल समर्थक तथा पोषक है।"

अराजकतावादी विचारक
(Anarchist Thinkers)

विलियम गॉडविन (William Godwin, 1756–1836)

एक काल्विनपथी पादरी का पुत्र विलियम गॉडविन सर्वप्रथम आधुनिक अराजकतावादी माना जाता है। अराजकतावाद का सर्वप्रथम वैज्ञानिक आधार पर प्रतिपादन उसने ही किया। उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक ग्रन्थ 'राजनीतिक न्याय सम्बन्धी सर्वेक्षण' (An Enquiry Concerning Political Justice) सन् 1793 मे प्रकाशित हुआ था। मुख्यत दो विचार गॉडविन के दर्शन के आधार हैं—

1 जन्म से मनुष्य न अच्छे होते हैं न बुरे, न सदाचारी और न दुराचारी।

परिस्थितियाँ ही उन्हे अच्छे या बुरे साँचे मे ढालती हैं। अपने दोषो के लिए उत्तरदायी व्यक्ति नही बल्कि समाज है। समाज-सुधार द्वारा व्यक्ति का सुधार और उद्धार हो सकता है तथा वह पूर्णता की ओर अग्रसर हो सकता है। सरकार और सम्पत्ति ने मनुष्य के लिए सकट पैदा किए हैं, अतः इनका उन्मूलन कर दिया जाना चाहिए।

2. मनुष्य विवेकशील प्राणी है और वह अथवा वर्तमान पतित समाज क्रान्ति और शक्ति के बजाय सार्वभौमिक ज्ञान से अपना उद्धार कर सकते हैं। यदि लोगो को पूर्ण विश्वास हो जाए कि सरकार और सम्पत्ति अभिशाप है, तो वह हिंसात्मक साधनो के बिना ही उनको नष्ट कर देंगे। सरकार शक्ति और हिंसा से उत्पन्न बुराई है जबकि समाज उपयोगी है। शासन'मानव-जाति के व्यक्तिगत निर्णय तथा व्यक्तिगत अन्त करण पर धावा' है। शासक का मूल हमारी बुराइयो मे है जबकि समाज का मूल हमारी आवश्यकताओ में। *कानून, न्यायालय और शासन का अन्त ही श्रेयस्कर है।*

गॉडविन वह सर्वप्रथम अराजकतावादी विचारक था जिसने सबसे पहले राज-सत्ता के विरोध के साथ साथ वैयक्तिक सम्पत्ति का भी विरोध किया। उसका विचार था कि साधारण मनुष्य न्यायपूर्वक तथा समुचित ढग से उसी समय कार्य करते हैं जबकि आत्म-अभिव्यक्ति के लिए उनकी स्वाभाविक आकांक्षाएँ उन अनुचित आर्थिक अवस्थाओ द्वारा विकृत नही हो जाती जो राज्य के हिंसात्मक हस्तक्षेप से कायम रखी जाती हैं। किन्तु उसने यह भी स्वीकार किया कि यदि अभी सर्वाधिक स्वाभाविक एव न्यायपूर्ण सामाजिक सम्बन्ध स्थापित कर दिए जाएँ तो भी दीर्घकाल तक कुछ व्यक्ति ऐसे अवश्य रहेगे जिन पर नियन्त्रण आवश्यक होगा। इस कारण दमनकारी शक्तिशाली राज्य के अवशेष उस समय तक कायम रहेगे जब तक न्यायशील तथा प्रबुद्ध शासन के प्रयत्नो से इन 'अभागे अल्पसख्यको' की विकृत प्रवृत्तियो की अभिव्यक्ति सामान्य ढग से नही होने लगती। इस प्रकार गॉडविन का सिद्धान्त पूर्णरूप से अराजकतावादी नहीं था और न उसने उसे यह नाम ही दिया। इस पर भी उसके अधिकांश सैद्धान्तिक ग्रन्थो मे उन सामाजिक तथा नैतिक दोषो का विश्लेषण किया गया है जो शासन तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति से उत्पन्न होते हैं और जिन्हे वह एक दूसरे का पोषक मानता था। गॉडविन की यह मान्यता थी कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा से दरिद्रों मे हीनता तथा अनैतिकता और धनवानो मे मिथ्याभिमान उत्पन्न होता है जिससे उनका पतन होता है, अत. इसका उन्मूलन कर देना चाहिए। *सारांशतः गॉडविन राज्य तथा सरकार, कानून तथा न्यायालय और सम्पत्ति तथा परिवार का उन्मूलन चाहता था।*

हॉगस्किन (Hodgskin, 1787–1869)

गॉडविन से मिलते-जुलते आदर्श अराजकतावादी विचार (Utopian Anarchism) टॉमस हॉगस्किन के हैं। मूलतः यह व्यक्तिवादी विचारक था, फिर भी इसके विचार इतने उग्र थे कि उनमे राज्य को अनावश्यक बताया गया है।

उसकी मान्यता थी कि यह विश्व स्थायी एव अपरिवर्तनशील प्राकृतिक नियमो द्वारा सुव्यवस्थित है और मनुष्य भी इसी सुव्यवस्था का भाग होने के कारण इन्ही नियमों द्वारा नियन्त्रित है। 'प्रतिपल प्रतिक्षण उसका आचरण स्थायी तथा अपरिवर्तनीय नियमो द्वारा उसी प्रकार प्रभावित, नियन्त्रित तथा नियमित होता है जिस प्रकार वनस्पति की वृद्धि अथवा नक्षत्र-मण्डल की गति नियमित और नियन्त्रित होती है।" अत मनुष्य के लिए राज्य तथा उसकी कानूनी व्यवस्था अनावश्यक है। यदि मनुष्य को बन्धनमुक्त छोड दिया जाए तो वह स्वय ही पूर्व निश्चित मार्ग पर चलेगा और अपना अधिकाधिक विकास करेगा। हॉगस्किन ने राज्य की अनावश्यकता का समथन किया, किन्तु यह नहीं बताया कि राज्य का अन्त कैसे होगा और उसके स्थान पर समाज मे किस प्रकार की व्यवस्था स्थापित होगी। वह कोरा काल्पनिक सिद्धान्तवादी था। यद्यपि हॉगस्किन ने राज्य की अनावश्यकता की बात कही थी, तथापि उसकी विचारधारा को अराजकतावादी न कहकर केवल उग्र व्यक्तिवादी ही कहा जा सकता है क्योकि उसकी यह मान्यता थी कि यदि राज्य का कार्य केवल शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित रखने तक ही सीमित रहे तो राज्य का अस्तित्व कायम रखना चाहिए। कोकर के कथानुसार, "अपने अनेक वक्तव्यो मे वह राजसत्ता को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत मालूम होता था, किन्तु इस शर्त पर कि वह व्यक्तिगत औद्योगिक सम्पत्ति की अनुचित प्रणाली का अनुमोदन करना छोड दे और केवल शान्ति एव व्यवस्था कायम रखने का ही काम करे।"

प्रोधाँ (Proudhon, 1809–1865)

पियरे जोजेफ प्रोधाँ का जन्म फ्रांस के बेसनकोन (Beasancon) नामक गाँव मे हुआ था। अपनी पुस्तक 'सम्पत्ति क्या है ? (What is Property ?) में व्यक्त क्रान्तिकारी विचारो के फलस्वरूप उसे न्यायालय के सामने उपस्थित होना पडा, किन्तु बडे तार्किक ढग से अपना बचाव प्रस्तुत करने के फलस्वरूप वह मुक्त हो गया। फरवरी क्रान्ति के बाद सन् 1848 मे जब द्वितीय गणतन्त्र की स्थापना हुई तो वह विधान-निर्मात्री-परिषद् का सदस्य निर्वाचित हुआ। बाद मे नेपोलियन तृतीय का विरोध करने के अपराध मे उसे कारावास का दण्ड भोगना पडा। सन् 1858 मे 'क्रान्ति और गिर्जा मे न्याय' (Of Justice in the Revolution and the Church) नामक क्रान्तिकारी पुस्तक लिखने के अपराध मे उसे पुन जेलखाने की हवा खानी पडी, लेकिन वह वहाँ से भागने मे सफल हो गया। प्रोधा ने निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण रचनाओ द्वारा ख्याति प्राप्त की—

1 What is Property ?
2 Philosophy of Poverty (1846)
3 The Solution of the Social Problem (1848)
4 Of Justice in the Revolution and the Church (1858)
5 Political Capacity of the Working Classes

प्रोधाँ स्वभाव से क्रान्तिकारी और आलोचनाप्रिय था। उसका प्रथम प्रकाशित

ग्रन्थ था—'सम्पत्ति क्या है ?' उसका उत्तर था कि वह 'चोरी' (Theft) है। इसी ग्रन्थ में उसने यह भी घोषणा की कि 'मैं हर प्रकार से अराजकतावादी हूँ।' प्रोधाँ ने सम्पत्ति को 'शक्तिशाली द्वारा निर्बल का शोषण' की संज्ञा दी। साम्यवाद पर प्रहार करते हुए उसने कहा कि जब इसे क्रियान्वित करने का प्रयत्न किया जाता है तो उसका परिणाम होता है सम्पत्ति का ढांचा। 'साम्यवाद एक काल्पनिक दर्शन है जिसमें मेरी कोई आस्था नहीं है।"

प्रोधाँ यद्यपि स्वयं को समाजवादी कहता था, लेकिन कार्ल मार्क्स से उसका तीव्र मतभेद था। उसके अनुसार साम्यवाद एक विज्ञान न होकर विज्ञान का अन्त है। साम्यवाद ऐसा सिद्धान्त है जिससे वितरण और संगठन का कोई स्पष्टीकरण नहीं होता। यह एक दुर्बुद्धिपूर्ण दुःखवादी दर्शन है जिसका अर्थ है "रोटियों का अभाव सदैव तथा सर्वत्र।"

प्रोधाँ ने राज्य के प्रति अराजकतावादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन बड़े सुव्यवस्थित ढंग से किया। उसका निश्चित मत था कि राज्य शक्ति पर आधारित है और स्वतन्त्रता का हनन करने वाला है। राज्य का अर्थ है एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर शासन जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोधी है। अराजकतावादी आदर्श समाज में मनुष्य पर मनुष्य द्वारा शासन अथवा एक मनुष्य का दूसरे के द्वारा शोषण के लिए कोई स्थान नहीं होगा। इस समाज में हर व्यक्ति को अधिकतम स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। इस आपत्ति का कि शासन-सत्ता के अभाव में स्वतन्त्रता उच्छृंखलता का रूप धारण कर सकती है, प्रोधाँ ने उत्तर दिया कि आदर्श समाज में स्वतन्त्रता और व्यवस्था दोनों साथ-साथ चलती हैं। चूंकि सच्ची व्यवस्था का आधार है भावना पर बुद्धि का प्रमुत्व और मानव सम्बन्धों में न्याय का पालन, अतः स्वतन्त्रता के उच्छृंखला में परिणत होने का कोई भय नहीं रहता। वास्तविकता तो यह है कि शासन और कानूनों की शक्ति के कारण ही व्यवस्था नहीं आ पाती। मनुष्य दुष्ट और बुरे तभी बनते हैं जब उन्हें शासन का अत्याचार सहना पड़ता है। अत्याचार और दमन से मुक्त होकर अपने पैरों पर खड़े होने से तो मनुष्य अपने सर्वोत्कृष्ट हितों की सिद्धि करते हैं और पारस्परिक व्यवहार में उनका आचरण सर्वथा न्यायपूर्ण होता है। प्रोधाँ ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि—"किसी भी रूप में मनुष्य पर मनुष्य द्वारा शासन अत्याचार है। समाज का सबसे अधिक सुव्यवस्थित निर्दोष रूप अराजकतावाद में ही हो सकता है।"

प्रोधाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति का घोर विरोधी था। यह व्यक्तिगत सम्पत्ति को चोरी का माल कहता था। राज्य के विरुद्ध उसका सबसे विशिष्ट दोषारोपण यह था कि उसका विकास व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रणाली से हुआ है और उसने इस प्रणाली के अन्यायों का पोषण किया है। अपनी कुछ पुस्तकों में प्रोधाँ ने लिखा है कि सम्पत्ति की निन्दा करने में उसका मुख्य अभिप्राय सम्पत्ति के उस रूप से था जो मुनाफे, भाड़े और ब्याज के द्वारा संग्रहीत हुई है तथा उसके विशिष्ट आर्थिक प्रस्तावों का उद्देश्य व्यक्तिगत सम्पत्ति का विनाश नहीं, वरन् उसके एकाधिकारात्मक एवं

शोषणात्मक रूप का विनाश करना था। प्रोधाँ ने व्यक्तिगत सम्पत्ति पर जो प्रत्यक्ष प्रहार किया और सब प्रकार के राजनीतिक अधिकार की जो भर्त्सना की उसके कारण अराजकतावादियो की श्रेणी मे उसे उच्च स्थान प्राप्त है। उसने एक ऐसे 'जनता के बैंक' (Bank of People) की योजना तैयार की जिसका काम 'श्रम नोट' (Labour Notes) जारी करना था जिनसे काम के समय से निर्धारित समय की इकाई प्रकट होगी और जो बिना ब्याज के उन लोगो को ऋण के रूप मे दिए जा सकेंगे जो जमानत के रूप मे श्रम करने का वचन देंगे। प्रोधाँ ने एक परस्पर निर्भरता अथवा अन्योन्याश्रयता (Mutualism) की पद्धति का प्रतिपादन किया जिसके अन्तर्गत व्यक्ति तथा ऐच्छिक समुदाय सहकारी बैंकों द्वारा प्राप्त ऋण से उत्पादन-कार्य कर सकते हैं। प्रोधाँ की ये योजनाएँ उस आदर्श समाज का निर्माण करने के लिए निर्मित की गई जिनमे व्यक्तिगत सम्पत्ति, राज्य तथा धर्म-संगठन के लिए कोई स्थान नही था।

प्रोधाँ वास्तव मे व्यक्तिगत सम्पत्ति का उतना विरोधी नही था जितना वह उसके असमान वितरण का। इसीलिए वह व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त करने की अपेक्षा उसके न्यायसगत और समान वितरण पर बल देता था। उसके विचारानुसार वास्तव मे समाजवादी समाज वही है जिसमे सबको तीन-तीन एकड भूमि तथा एक-एक गाय प्राप्त हो। दूसरे शब्दो मे उसकी कल्पना का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह था कि प्रत्येक समाजवादी व्यक्ति को सम्पत्ति का अधिकार समान रूप से प्राप्त हो तथा समाज मे अधिक विषमता न हो। प्रोधाँ सम्पत्ति को चोरी मानते हुए भी वशानुगत सम्पत्ति के पक्ष मे था किन्तु व्यवस्था में सुधार करना चाहता था।

एक महान् व्यक्तिवादी होने के नाते प्रोधाँ ने व्यक्ति को चर्च के अधिकारो से भी मुक्त रखने का प्रयास किया। धर्म को वह प्रगति तथा विज्ञान के मार्ग का रोडा समझता था और ईसाई धर्म के इस विचार को कि मनुष्य मूलत पापी है, वह मनुष्य के गौरव के विरुद्ध समझता था।

प्रोधाँ रचनात्मक न होकर विध्वंसकारी दार्शनिक था। यद्यपि वह दावा करता था कि 'मैं पुनर्निर्माण के लिए ही विनाश कर रहा हूँ", किन्तु उसने समाज की कोई स्पष्ट एव विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की और न ही इस विषय मे विशेष रूप से कहा कि अराजकतावादी उद्देश्यो की पूर्ति कैसे होगी ? प्रोधाँ का महत्व इस बात मे था कि उसने परवर्ती अराजकतावादियों को अपने विचारो से प्रभावित किया तथा फ्रेंच सिण्डीकलवादियो ने न केवल मार्क्स से बल्कि प्रोधाँ से भी प्रेरणा प्राप्त की और वे राज्य-विरोधी बन गए। प्रोधाँ के सिद्धान्त का राजस्व सम्बन्धी भाग जो विस्तृत रूप मे 'अन्योन्याश्रयता' के रूप में था, सबसे अधिक प्रसिद्ध हुआ और उसका प्रभाव भी अधिक रहा। सन् 1860 से 1880 तक फ्रांस के श्रमिक आन्दोलन पर प्रोधाँ के इस सिद्धान्त के अनुयायियों का प्राधान्य था। ये विचार यूरोपीय प्रवासियो द्वारा सयुक्त राज्य अमेरिका मे भी पहुँचे और उसके शिष्यो ने उनको कार्यरूप मे परिणत किया। उसके अनेक शिष्यों ने राज्य, समाजवाद तथा प्रशासकीय हस्तक्षेप के प्रति अपना विरोध व्यक्त किया। "परन्त प्रोधाँ के अराज.ता-

धार के समान उनका अराजकतावाद इस सुझाव मात्र से आगे न बढ सका कि यदि 'अन्योन्याश्रयता' (Mutualism) की प्रणाली स्थापित हो जाए तो मानव-जीवन मे न्याय और कल्याण इतनी मात्रा मे व्याप्त हो जाएगा कि व्यक्तियो के पारस्परिक सम्पर्क-क्षेत्र म राज्य के हस्तक्षेप के अवसर नहीं आ पाएँगे।" प्रोधाँ के अमेरिकी शिष्यो मे 'विलियम बी ग्रीन' प्रमुख था।

माइकल बैकुनिन (1814–1876)

विलियम गॉडविन और प्रोधाँ मे राज्य के विरोध के साथ व्यक्तिवाद का सम्मिश्रण था जबकि बैकुनिन और क्रोपोटकिन साम्यवादी अराजकतावादी थे। आधुनिक समय म अराजकतावाद का सर्वाधिक वैज्ञानिक विवेचन इन दोनो की रचनाओ मे ही मिलता है।

रूसी अराजकतावादी माइकल बैकुनिन सन् 1841 मे बर्लिन गया। ए रीउग (A Reug) क प्रभाव से वह साम्यवादी बन गया। सन् 1843 मे वह प्रोधाँ क सम्पर्क मे आया। उसने अनेक क्रान्तिकारी कायवाहियो मे भाग लिया जिसके लिए उसे आजीवन कारावास का दण्ड भोगना पडा। सन् 1861 मे वह साइबेरिया के बन्दीगृह से भाग निकला। अपना शेष जीवन उसने पश्चिमी यूरोप मे व्यतीत किया। वह मार्क्स और ऐंजिल्स के प्रभाव से अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी सगठन मे सम्मिलित हुआ, लेकिन शीघ्र ही मार्क्स से उसके तीव्र मतभेद हो गए। प्रथम 'इन्टरनशनल' म बैकुनिन का मार्क्स के साथ तीव्र मतभेद हो गया। मुख्य मतभेद इस बात पर था कि जहाँ मार्क्स के अनुसार पूर्ण समाजवाद पर पहुँचने के लिए सक्रमणकालीन अवस्था म एक स्थायी श्रमजीवी तानाशाही की स्थापना आवश्यक थी, वहाँ बैकुनिन सक्रमणकालीन अवस्था मे किसी भी प्रकार की तानाशाही का विरोधी था। मार्क्स के विरोध मे ही बैकुनिन ने सन् 1869 में अपने विचारो के प्रचार के लिए सामाजिक प्रजातान्त्रिक सगठन' (Social Democratic Alliance) की स्थापना की। दुर्भाग्यवश बैकुनिन का स्वास्थ्य बिगडता गया। सन् 1873 मे वह क्रान्तिकारी कार्यवाहियो से विरत हो गया और सन् 1876 में उसकी मृत्यु हो गई। बैकुनिन को 19वी सदी के अन्तिम चरण मे यूरोप क सर्वहारा वर्ग मे अराजकतावाद के व्यापक आन्दोलन का जन्मदाता होन का श्रेय प्राप्त हुआ।

बैकुनिन ने अराजकतावाद मे दो नवीन प्रवृत्तियो का समावेश किया—प्रथम उसने राज्य के प्रति घृणा को समष्टिवादी दर्शन से सयुक्त किया और इस प्रकार साम्यवादी अराजकतावाद की आधारशिला रखी, द्वितीय, उसने यह विश्वास व्यक्त किया कि हिंसात्मक क्रान्ति के बिना राज्य को नष्ट नहीं किया जा सकता, और इससे वह आतकवादी अराजकतावाद का जनक कहलाया। बैकुनिन के इन दोनो विचारो को विस्तार से आगे यथास्थान प्रकट किया जाएगा।

बैकुनिन के विचार का केन्द्रबिन्दु यह था कि व्यक्ति को प्रत्येक क्षेत्र मे हर प्रकार की सत्ता से मुक्त कर दिया जाए। वह व्यक्ति को आर्थिक क्षेत्र मे पूँजीवाद

की दासता से, राजनीतिक क्षेत्र मे राज्य की दासता से और धर्म के क्षेत्र मे पुरोहित वर्ग की दासता से मुक्त कराने का आकांक्षी था। उसकी यह धारणा थी कि राजसत्ता, व्यक्तिगत सम्पत्ति और धर्म मानव विकास की निम्न अवस्था की स्वाभाविक संस्थाएँ हैं क्योंकि उनका सम्बन्ध किसी न किसी रूप मे शारीरिक इच्छाओं तथा भय से है। व्यक्तिगत सम्पत्ति मनुष्य की भौतिक वस्तुओं मे रुचि पैदा करती है, राज्य निजी सम्पत्ति का रक्षक है और धर्म राज्य एव सम्पत्ति दोनो का पोषक है तथा मनुष्य के हृदय मे मिथ्या भय उत्पन्न करता है। वस्तुत ये तीनो ही संस्थाएँ मनुष्य की पाशविक प्रवृत्ति की प्रतीक हैं और इनका समाप्त हो जाना ही हर दृष्टि से श्रेयस्कर है।

बैंकुनिन के अनुसार सब प्रकार की अधीनता मानव उन्नति मे बाधक है। अधीनता वह दुर्गुण है जो शासक तथा शासित दोनो को अनैतिकता की ओर ले जाती है। अधिक से अधिक जनतान्त्रिक होते हुए भी सरकार शासितो का कल्याण नहीं कर सकती बल्कि शासक जनता के प्रतिनिधि होते हुए भी अत्याचारी तथा मदान्ध हो जाते हैं। दोष किसी विशिष्ट प्रकार की सरकार मे नहीं है, बल्कि स्वय राजसत्ता मे है चाहे वह लोकतान्त्रिक आधार पर ही संगठित क्यो न हो। राजसत्ता नैतिक दृष्टि से पतनकारी है। राजसत्ता का प्रयोग एक दोहरा अभिशाप है जो प्रयोगकर्त्ता और जिन पर इसका प्रयोग किया जाता है उन दोनो का ही पतन करता है। यदि शासक अर्थात् राजसत्ता के प्रयोगकर्त्ता दम्भी, अत्याचारी और स्वार्थी हो जाते हैं एव शासितो के हितो की अवहेलना करने लगते हैं तो शासित अर्थात् वे जिन पर राजसत्ता का प्रयोग किया जाता है शक्ति और विवशता के अधीन रहते हैं एव अपने विवेक के अनुसार आचरण नहीं कर पाते। "राज्य प्रबोधन और प्रोत्साहन की अपेक्षा सदैव दबाव से काम लेता है। राज्य के प्रत्येक काय मे व्यक्तिगत नागरिक की इच्छा तथा निर्णय के स्थान पर किसी सावजनिक अधिकारी का आदेश काम करता है। मानव-व्यवहार मे नैतिकता एव बुद्धिमत्ता केवल ऐसे श्रेष्ठ तथा बुद्धिसगत कार्यों का सम्पादन करने मे है जिन्हे कर्त्ता श्रेष्ठ या बुद्धिसगत समझता है। जो कार्य किसी आदेश या निर्देश द्वारा किया जाता है उसमे नैतिकता या बौद्धिकता का सर्वथा अभाव होता है। अत राज्य के काय की अनिवार्य प्रवृत्ति अधीनस्थ व्यक्तियो के नैतिक तथा बौद्धिक स्तर को गिराने वाली होती है।" राज्य कुछ लोगो को अत्याचारी और अहकारी तथा बहुसख्यक जनता को सेवक या पराधीन बना देता है। राज्य द्वारा व्यक्ति का कोई हित साधन नहीं हो सकता क्योंकि वह उसके लिए पूर्णत• बाहर की वस्तु है जिसके द्वारा व्यक्तित्व का विकास न होकर उसमे बाधा उत्पन्न होती है।

बैंकुनिन ने राजनीतिक नियन्त्रण की सभी सस्थाओ, यहाँ तक कि प्रौढ मताधिकार के आधार पर स्त्री-सस्थाओ को भी बडी दृढता के साथ अस्वीकार किया। उसका विचार था कि स्वेच्छाचारिता राज्य के स्वरूप मे न होकर उसके सार मे विद्यमान है। राज्य का यह आवश्यक लक्षण है जिसके शोधन के लिए

अत्यन्त आधुनिक प्रजातान्त्रिक विधियाँ भी व्यर्थ हैं। जनता अधिकांशत अज्ञानी और अनुभवहीन होती है अत वह आर्थिक दृष्टि से सबल वर्गों के षड्यन्त्रो तथा प्रपचो से अपनी रक्षा नहीं कर पाती। ये सबल आर्थिक वर्ग अपने धन-बल और कुचक्रो से सम्पूर्ण राजनीतिक यन्त्र को इस तरह अपने पक्ष मे कर लेते हैं कि वह सदैव उन्ही का स्वार्थ-साधन करने की दिशा मे अग्रसर रहता है। राज्य भूमि तथा पूँजी के स्वामियों द्वारा मजदूरो के शोषण मे योग देता है, अत इसका विनष्ट हो जाना ही उत्तम है। हर राजनीतिक प्रणाली बुरी है क्योकि उसका उद्देश्य पूँजीपतियो द्वारा मजदूरो के शोषण का सगठन एव समर्थन करना है। व्यक्तिगत सम्पत्ति और पूँजीवाद ये दोनो ही समाज मे व्याप्त निर्धनता के कारण हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति यदि राज्य के अस्तित्व का आधार है तो उसका परिणाम भी। यह एक बुराई है जो हर प्रकार के भौतिक एव नैतिक दुर्गुणो को जन्म देती है। यह वह शक्ति है जो करोडो श्रमिको पर आर्थिक परतन्त्रता लादती है और उन पर अत्यधिक श्रम थोपती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति ऐसा दानव है जो साधारण जनता और श्रमिको को निरन्तर अज्ञान एव अन्धकार मे भटकाए रखता है।

धर्म के विषय मे भी बैकुनिन के विचार बड़े क्रान्तिकारी हैं। उसके मत मे, "सब प्रकार की निरकुशताओ मे धर्म की निरकुशता सर्वाधिक दुखदायी है क्योकि अपने ईश्वर की महानता तथा अपने विचार की विजय के बारे मे वे इतने कट्टर हैं कि वास्तविक जीवित एव दुखी मानव की महत्ता एव स्वतन्त्रता के प्रति वे सर्वथा हृदयहीन रहते हैं।" वह ईश्वर को अत्याचारी जार (Czar) कहा करता था और जार को निरकुश अत्याचारी ईश्वर। बैकुनिन की मान्यता थी कि "धर्म मानवता के इस दृश्य-जगत् के महत्त्वपूर्ण कार्यों से मनुष्य को विमुख कर देता है और उसमे कल्पना, अन्धविश्वास तथा श्रद्धालुता उत्पन्न करता है। राज्य धर्म का छोटा भाई है और इन दोनो को जन्म देने वाले कारण एक ही हैं, इसलिए दोनो का साथ साथ विनाश कर देना चाहिए। धार्मिक विश्वासो के स्थान पर विज्ञान तथा ज्ञान की प्रतिष्ठा होनी चाहिए और भावी दैवी न्याय के मिथ्यावाद के स्थान पर वर्तमान मानवीय *न्याय के यथार्थवाद की प्रतिष्ठा होनी चाहिए।"*

बैकुनिन शक्ति एव विद्रोह का पुजारी था और गुप्त क्रान्तिकारी सस्थाओ द्वारा राज्य का अन्त करना चाहता था। अराजकतावादी समाज की प्राप्ति के लिए वह विकासवादी (Evolutionary) तथा क्रान्तिकारी (Revolutionary) दोनो प्रकार के साधनो मे विश्वास करता था। विकासशील साधन के सम्बन्ध मे उसका कहना था कि घटनाओ तथा तथ्यो की लहर स्वय अराजकतावाद की ओर प्रवाहित होती है। आवश्यकता इस बात की है कि उन घटनाओ के मार्ग मे आने वाली बाधाओ को हटा दिया जाए। इसके लिए प्रतिक्रियावादी सस्थाओ का नाश तथा जन-शिक्षण आवश्यक है, यद्यपि अराजकतावादी क्रान्ति से सार्वजनिक शान्ति अवश्य ही भग होगी। व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्य का अन्त केवल प्रचार, मतदान अथवा समझाने-बुझाने से नहीं किया जा सकता, अत उनकी समाप्ति के लिए अन्तिम अवस्था

मे कुछ हिंसा का प्रयोग करना ही पड़ेगा। इसमे आवश्यक रूप से कुछ रक्तपात होगा क्योंकि कुछ लोग क्रान्ति का दृढ़ता से विरोध करेंगे और साथ ही जनता में अपने पुराने शोषकों के प्रतिरोध की स्वाभाविक भावना भी प्रबल होगी। यद्यपि बैकुनिन ने इस प्रकार के व्यक्तिगत प्रतिशोध का समर्थन नहीं किया, तथापि उसने अराजकतावादी क्रान्ति की परिपूर्णता और भीषणता को भी कम नही किया। इस क्रान्ति मे गिर्जों, न्यायालयों, पुलिस, सेना, विधानसभाओ, प्रशासनिक कार्यालयों तथा सम्पत्ति के अधिकारों का बलपूर्वक विनाश निहित था।

बैकुनिन ने केवल अराजकतावादी क्रान्ति का ही उल्लेख नहीं किया बल्कि यह भी बतलाया कि इस क्रान्ति का सगठन किस प्रकार किया जाएगा। कोकर के शब्दों मे—

"राजधानी या किसी बड़े महत्त्वपूर्ण नगर मे सच्चे अराजकतावादियों के ऐच्छिक सघ होंगे जो प्रत्येक मुहल्ले या राजपथ के नाम से मोर्चों के रूप मे सगठित किए जाएँगे। मोर्चे समस्त नगर की कौंसिल के लिए अपने प्रतिनिधि भेजेंगे जिन्हें उनकी ओर से आदेश प्राप्त होंगे और जो वापस बुलाए जा सकेंगे। यह कौंसिल क्रान्तिकारी शासन के विविध कार्यों के लिए अपने सदस्यों मे से समितियों का निर्माण करेगी। इस क्रान्तिकारी सस्था का कार्य एक ओर तो विनाश के कार्यक्रम को पूरी तरह कार्यान्वित करना, समस्त राजनीतिक सस्थाओ का तत्काल दमन करना तथा समस्त औद्योगिक एव कृषि-सम्पत्ति का मजदूर-समितियों मे वितरण करना एव ऐसी व्यवस्था करना होगा कि किसी प्रकार का कोई दूसरा सर्वसत्तात्मक सगठन, चाहे वह सर्वहारा-वर्ग का या समाजवादी अधिनायकतन्त्र ही क्यो न हो, स्थापित न हो सके। दूसरी ओर यह कौंसिल के प्रचारको व आन्दोलनकारियों के रूप में अपने प्रतिनिधियों को प्रान्तों तथा ग्रामो मे जनता को क्रान्ति के कार्यों तथा उसके वास्तविक उद्देश्यों का ज्ञान करा कर क्रान्ति में उनका सहयोग प्राप्त करने के लिए भेजेगी।"[1]

बैकुनिन का चिन्तन क्रान्ति तक ही सीमित नहीं था। उसने इस विषय मे भी विचार किया कि जब क्रान्ति के फलस्वरूप राज्य का अन्त हो जाएगा तो समाज की व्यवस्था किस प्रकार होगी। इस बारे मे उसने अधिक विचारपूर्वक तो नहीं सोचा, किन्तु जगह जगह सकेत रूप से कुछ लिखा है। उसका मत था कि राज्य के स्थान पर ऐसे स्वतन्त्र समाज की प्रतिष्ठा की जाएगी जिसमे न कोई वर्ग होंगे न जिसका सत्ता से कोई सम्बन्ध होगा और जिसमे *प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी* पक्षपात के समानता के आधार पर श्रम करने और अपने श्रम के लाभ का उपयोग करने का अधिकार होगा। अराजकतावादी व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति अपनी *योग्यतानुसार कार्य करेगा और उसे आवश्यकतानुसार धन मिलेगा।* इस स्वतन्त्र समाज का आधार कानून और अनिवार्य भक्ति के स्थान पर समझौता और ऐच्छिक

1 कोकर आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 216-17

सहयोग होगा क्योंकि सहकारिता मनुष्यों की स्वाभाविक आवश्यकताओं और प्रकृतियों पर निर्भर होगी, अत जिस किसी भी संगठन की आवश्यकता होगी, वह नीचे से ऊपर की ओर विकसित होगा। बेकुनिन के अनुसार "इस प्रकार के समाज में व्यक्तियों के स्वतन्त्र समुदाय होंगे, समुदायों के प्रान्त, प्रान्तों के राष्ट्र, राष्ट्रों का एक संयुक्त यूरोप तथा तत्पश्चात् एक विश्व की स्थापना होगी।" आर्थिक, सामाजिक व्यवस्था ऐच्छिक समुदायों के हाथ मे होगी जिनका उत्पादन के साधनों पर अधिकार होगा। भूमि और उत्पादन के साधनों पर ऐसे व्यक्तियों का अधिकार होगा जो व्यक्तिगत रूप से या स्वतन्त्रतापूर्वक निर्मित संस्थाओं द्वारा काम करके उत्पादन के लिए उपयोग करने को तैयार होंगे। स्थानीय संस्थाएँ मिलकर बड़ी प्रादेशिक संस्थाओं का निर्माण करेंगी, किन्तु उनमे किसी भी अवस्था मे, किसी भी प्रकार के दबाव के लिए कोई स्थान नहीं होगा। संस्थाओं और समुदाय के नियमों के लिए, दण्ड की कोई व्यवस्था नहीं होगी क्योंकि ये नियम ऐसे होंगे जिनका अनुपालन मनुष्य समाज के स्थायित्व के लिए आवश्यक समझ कर स्वेच्छा से करेंगे।

बेकुनिन ने जिस सामाजिक व्यवस्था की कल्पना की थी वह सुदूर भविष्य के लिए एक आदर्श के रूप मे नहीं थी, वरन् वह उसे एक ऐसा लक्ष्य मानता था जिसकी प्राप्ति शीघ्र ही सम्भवतः 19वीं शताब्दी से पूर्व ही करनी थी।

प्रिंस क्रोपोटकिन (Kropotkin, 1842–1921)

अराजकतावाद का सर्वाधिक व्यवस्थित और स्पष्ट रूप क्रोपोटकिन की सजीव वैज्ञानिक कृतियों मे उपलब्ध है। क्रोपोटकिन ने कुछ वर्षों तक सैनिक सेवा की और इस बीच यह अनुभव किया, कि जीवन-संघर्ष मे राज्य का भाग महत्वहीन तथा प्रभावशून्य है। उसके हृदय में राज्य के प्रति अनास्था जाग्रत हो गई। सन् 1872 में बेकुनिन से उसकी भेंट हुई और वह पूर्ण अराजकतावादी बन गया। रूस मे उसने 'निषेधवाद' (Nihilism) का प्रचार किया जो अराजकतावाद से भी कहीं अधिक विस्तृत सिद्धान्त है क्योंकि वह न केवल राज्य का खण्डन करता है बल्कि समस्त स्थापित सामाजिक और नैतिक संस्थाओं तथा मूल्यों का भी तिरस्कार करता है। राज्य-विरोधी प्रचार के कारण सन् 1874 मे उसे कारागार में डाल दिया गया, पर सन् 1876 मे वह किसी प्रकार भाग निकला। सन् 1917 मे रूस में क्रान्ति होने पर वह पुन स्वदेश लौटा आया। श्रमजीवी तानाशाही का विरोधी होने के कारण उसने क्रान्तिकारी कार्यों में कोई भाग नहीं लिया। वह लेखन-कार्य मे संलग्न रहा।

क्रोपोटकिन अपने अन्तिम समय तक अराजकतावादी विचारों का धनी रहा। उसने निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं—

(1) The Conquest of Bread (1888)
(2) Anarchism · Its Philosophy and Ideals (1896)
(3) The State, Its Part in History (1898)
(4) Fields, Factories and Workshops (1899)
(5) Mutual Aid · A Factor of Evolution (1902)
(6) Modern Science and Anarchism (1903)

अपराधी और मुख्य प्रेरक मानते हुए राज्य की परिभाषा मे वह कहता है कि "यह (राज्य) भूमिपतियो, सेनापतियो, न्यायाधीशो, धर्म पुरोहितो और आगे चलकर पूँजीपतियो के बीच पारस्परिक सहायता हेतु बनाया गया एक ऐसा सगठन है जो उन्होने जनता पर एक दूसरे के प्रभुत्व को कायम रखने के लिए और उसका शोषण कर स्वय धनाढ्य बनने के लिए स्थापित किया है।" क्रोपोटकिन के मतानुसार राज्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता का सदैव शत्रु रहा है और यदि भाषण, प्रेस तथा समुदाय गठित करने की स्वतन्त्रता जनता को कभी दी भी गई है तो वह उसी सीमा तक जहाँ तक कि जनता उसका प्रयोग शोषक-वर्ग के विरुद्ध नही करती। राज्य व्यक्ति के सहज अधिकारों का सरक्षक कभी नहीं रहा है।

क्रोपोटकिन की दृष्टि मे राज्य की सभी सेवाएँ अनावश्यक हैं चाहे वे रक्षात्मक हो या अन्य किसी प्रकार की। जनता स्वय सक्रिय होकर आन्तरिक लुटेरो तथा विदेशी आक्रमणकारियों से अपनी रक्षा कर सकती है। इतिहास से यह सिद्ध होता है कि राज्य की स्थायी सेनाएँ नागरिक सेनाओ द्वारा पराजित हुई हैं और आक्रमण लोक-विद्रोह द्वारा व्यर्थ कर दिए गए हैं। शासन सामाजिक अपराधियों से भी हमे सुरक्षित नहीं रखता। न्यायालयों तथा बन्दीगृहो ने, जो राज्य के द्वार स्थापित किए गए हैं, अपराधों मे कमी करने की अपेक्षा वृद्धि ही की है। राज्य के सांस्कृतिक और परोपकारी काम भी अनावश्यक हैं। जब मनुष्य धार्मिक एव राजनीतिक दासता से मुक्त हो जाएँगे तो अपनी शिक्षा और दानशीलता की आवश्यक व्यवस्था स्वय कर लेंगे।

बैकुनिन की भांति ही क्रोपोटकिन ने नैतिक दृष्टिकोण से भी राज्य की निन्दा की है। उसके कथनानुसार राजसत्ता निश्चित रूप से अपने प्रयोगकर्त्ताओ को भ्रष्ट करती है, चाहे वे प्रयोगकर्त्ता साधु-प्रकृति के ही व्यक्ति क्यो न हों।

स्पष्ट है कि क्रोपोटकिन राज्य को मूलत एक अभिशाप समझता था। उसके अनुसार उपर्युक्त सब बातें सभी प्रकार के राज्यो के सम्बन्ध मे सत्य हैं। एकतन्त्रीय राज्यो के वैधानिक राज्यो मे परिवर्तित हो जाने पर राज्य के विशिष्ट स्वरूप मे कोई परिवर्तन नहीं आता है। लोकतन्त्रात्मक राज्य को एकतन्त्रीय राज्यों से कुछ श्रेष्ठ नहीं बताया जा सकता। मताधिकार के आधार पर प्रतिनिधित्व इन बातो मे कोई अन्तर पैदा नहीं करता। साधारण जनता मे से व्यक्तियों को निर्वाचित करके उन्हें सार्वजनिक मामलो की व्यवस्था का कार्य नहीं सौंपा जा सकता। वे इस कार्य के सर्वथा अयोग्य होते हैं। दोष किसी विशिष्ट प्रकार की शासन प्रणाली मे नहीं है, बल्कि स्वयं राजसत्ता मे है। लोकतन्त्रात्मक शासन कुछ बातो मे चाहे अन्य प्रकार के शासन मे अच्छा हो, लेकिन अराजकतावादियों के भावी समाजवादी समाज मे उसे किसी भी रूप में उपयुक्त नहीं समझा जा सकता। मनुष्य के नैतिक विकास के लिए लोकतन्त्र भी उतना ही घातक है जितना कि वर्गतन्त्र या निरकुशतन्त्र।

क्रोपोटकिन ने व्यक्तिगत सम्पत्ति की भी आलोचना की है। उसका मत था कि अपने स्वरूप में ही व्यक्तिगत सम्पत्ति न्याय के प्रति अपराध है क्योंकि उसके अधीन एक अल्पसंख्यक वर्ग वर्तमान तथा भूतकाल की पीढ़ियों के अगणित मनुष्यों के सामूहिक प्रयत्नों से उत्पन्न लाभों के अधिकांश का उपभोग करता है। वास्तविक सामाजिक अवस्थाओं से व्यक्तिगत सम्पत्ति के दुष्परिणाम प्रकट होते हैं जैसे, जनता में दुःख व निर्धनता का विकास, करोड़ों लोगों का बेरोजगार होना, अस्वस्थ बालकों की वृद्धि, किसानों का सदैव कर्जदार होना, आदि। व्यक्तिगत सम्पत्ति धनिकों को आलसी और विलासी बनाती है। यह युद्ध को प्रोत्साहित करती है और समाज के सदस्यों की अधोगति के लिए उत्तरदायी सिद्ध हुई है। क्रोपोटकिन ने कहा कि ऐतिहासिक दृष्टि से राज्य तथा सम्पत्ति की शोषणकारी संस्थाएँ साथ-साथ शुरू हुई और आज राजसत्ता के अस्तित्व का मूल कारण भी व्यक्तिगत सम्पत्ति है। क्रोपोटकिन के मतानुसार उत्पादन के साधन मानव-समुदाय के सामूहिक कार्य हैं, उनके द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुएँ सबकी सामूहिक सम्पत्ति होती हैं। सभी वस्तुओं पर सबका समान अधिकार होना चाहिए। वह मेरे और तेरे का विरोधी है तथा वह मजदूरी पद्धति (Wages System) का भी उन्मूलन चाहता है। वस्तुओं का वितरण आवश्यकतानुसार होना चाहिए। क्रोपोटकिन एक सैद्धान्तिक साम्यवादी था जो 'प्रत्येक का उसकी आवश्यकता के अनुसार' के सिद्धान्त को स्वीकार करता था। उसका विश्वास था कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के विनष्ट हो जाने पर गरीबों के दुःख, दरिद्रता, ऋणग्रस्तता, अभाव आदि मिट जाएँगे और अपव्यय, विलासिता, प्रदर्शन आदि अमीरों के दोष भी दूर हो जाएँगे। तब समाज के सभी सदस्यों का जीवन आनन्द में बीतेगा और किसी को भी कोई कष्ट उठाना नहीं पड़ेगा।

क्रोपोटकिन गिरजों का भी विरोधी था। उसका कहना था कि निर्धनों के लिए धर्म का परिणाम अन्याय के रूप में होता है और इससे धनिकों को अपना सामाजिक स्तर कायम रखने में सहायता प्राप्त होती है। 'धार्मिक सत्ता राजनीतिक उत्पीड़न तथा आर्थिक विशेषाधिकार की सेविका और उसे पवित्र बनाने वाली है। क्रोपोटकिन का विश्वास था कि धर्म या तो "जगत् की सृष्टि की मीमांसा करने वाला एक आदिम सिद्धान्त है प्रकृति को समझाने का एक भद्दा प्रयास है', या "वह एक ऐसी नैतिक प्रणाली है जो जनता के अज्ञान तथा अन्धविश्वास से लाभ उठाकर उसे वर्तमान राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था के अन्यायों को सहन करने का उपदेश देती है।" वह अवश्य ही सामाजिक नैतिकता के अपने विचार को, जो जनता में स्वतः विकसित होती है धर्म का नाम देने को प्रस्तुत था।

क्रोपोटकिन ने समाज के विषय में भी विचार किया जिसकी स्थापना और व्यक्तिगत सम्पत्ति के विनाश के बाद होगी। उसने भी भावी समा अनेक बातों में वैसा ही अंकित किया है जैसा बैकुनिन ने। मनुष्य सदैव मिलकर रहेंगे और वे ऐसा किसी शासन क दबा करेंगे। समाज में ऐच्छिक सहयोग होगा। जो व्यक्ति

होंगे, वे परस्पर मिलकर सघ या समुदाय बना लेंगे। ये छोटे सघ परस्पर सयुक्त होकर वृहद् सघो का निर्माण करेंगे। सगठन का क्रम वास्तविक आवश्यकताओ और आकांक्षाओ के अनुसार सरलता से जटिलता की ओर रहेगा। ज्यो ज्यों आवश्यकताएँ सामने आती जाएँगी त्यो-त्यो विभिन्न समुदाय स्थापित होते जाएँगे। खेतिहर सगठित होकर समाज के लिए अन्न, दाल, गन्ना, रुई आदि उत्पन्न करेंगे। इसी प्रकार मकान बनाने, जूते बनाने, कपडे बनाने, शिक्षा प्रदान करने आदि विभिन्न कार्यों को करने के लिए अपने अपने समुदाय होगे। यह निश्चित है कि समस्त छोटे-बडे सघ या समुदाय व्यक्तियो द्वारा स्वतन्त्र इच्छा से किए गए समझौतो के फलस्वरूप बनेंगे। इन समझौतो का पालन सामान्यत अपने पडोसियो से मैत्रीपूर्ण सहयोग की उस आवश्यकता के कारण होगा जिसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति करेगा। कर्त्तव्यो का समुचित रूप से पालन न करने वाले व्यक्तियो को सघ से पृथक् कर दिया जाएगा, किन्तु सहयोग और स्वेच्छा पर आधारित इस समाज मे ऐसे व्यक्तियो की सख्या नगण्य होगी। 20 से 45 वर्ष की आयु के प्रत्येक ऐसे मनुष्य को, जो कुछ न कुछ कार्य कर सकता है, अपनी इच्छा और योग्यता के अनुसार किसी न किसी सघ या समुदाय मे शामिल होकर 4 या 5 घण्टे प्रतिदिन कार्य करना होगा। अभिप्राय यह है कि अराजकतावादी व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को थोडा बहुत उत्पादक कार्य अवश्य करना पडेगा। विभिन्न समुदायो द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुएँ सबकी सामान्य सम्पत्ति होगी और उन्हें नागरिको मे उनकी आवश्यकता के अनुसार वितरित किया जाएगा। समझौते के आधार पर सघ व्यक्तियो को सभी सुविधाएँ प्रदान करेंगे मानो वे व्यक्तियो से, क्रोपोटकिन के शब्दो मे यह कहेगे कि—

"हम आपको इस प्रकार का आश्वासन देते हैं कि आप हमारे मकानो, भण्डारो, राजपथो, यातायात एव परिवहन के साधनो, विद्यालयो तथा अद्भुतालयो का इस शर्त पर प्रयोग कर सकेंगे कि आप चौबीस वर्ष को आयु से पैंतालीस पचास वर्ष की आयु तक प्रतिदिन चार-पाँच घण्टे जीवनोपयोगी काम करने मे लगाएँ। आप स्वय यह निर्णय करेंगे कि आप कौन से समुदाय मे प्रविष्ट होना चाहते हैं अथवा आप कोई नया समुदाय सगठित करना चाहते हैं किन्तु उसे किसी आवश्यक सेवा-काय को स्वीकार करना होगा। शेष समय मे आप मनोरजन, विज्ञान या कला के उद्देश्य से अपनी रुचि के अनुसार चाहे जिसके साथ अपना सम्पर्क रखें। हम आपसे केवल यह चाहते हैं कि आप एक वर्ष मे 1200 से 1500 घण्टे किसी भी ऐसे समुदाय मे काम करें जो खाद्यान्न उत्पादन अथवा वस्त्र, आवास-गृह, आदि निर्मित करने या सार्वजनिक स्वास्थ्य, परिवहन आदि कार्यों मे सलग्न हैं। इसके बदले मे हम आपके लिए उन सभी वस्तुओ को उपलब्ध कराने की गारण्टी देते हैं जो हमारे सघ उत्पन्न करते हैं।"

यद्यपि उत्पादन मे उन्ही का भाग होता है जो काम करते हैं या काम करने के लिए तत्पर रहते हैं, तथापि उत्पादन का वितरण सेवा के आधार पर नही आवश्यकता के आधार पर होगा। "काम से पहले आवश्यकता को रखो और सबसे

पहले सब व्यक्तियों का जीने का अधिकार स्वीकृत करो और तब उन सब लोगों की सुख-सुविधा का विचार करो जो उत्पादन मे भाग लेते हैं।" क्रोपोटकिन का विश्वास था कि उत्पादन और वितरण की व्यवस्था के अन्तर्गत वस्तुओं की मात्रा सुख से रहने के लिए पर्याप्त होगी और वस्तु गुणात्मक दृष्टि से भी उन वस्तुओं से श्रेष्ठ होगी जो पूँजीवादी व्यवस्था मे उत्पादित होती है। साथ ही पूँजीवादी व्यवस्था मे जो श्रम व्यर्थ नष्ट हो जाता है अब उसका प्रयोग उत्पादन के कार्य म होगा जिससे उत्पादन मे वृद्धि होगी। चूँकि क्रोपोटकिन की योजना मे कोई वेतन पद्धति नही होगी और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार मिलेगा, अत यह आपत्ति की जा सकती है कि इससे काम करने की प्रेरणा मे कमी आएगी जिससे समाज मे अभाव की स्थिति उत्पन्न होगी। क्रोपोटकिन का उत्तर है कि यह आपत्ति इस मान्यता पर आधारित है कि मनुष्य स्वभाव से कामचोर होते हैं वे काम करने से बचना चाहते है। यह मान्यता गलत है। कर्म एक शारीरिक आवश्यकता है। यह सर्वथा वांछनीय एव आवश्यक है कि स्वास्थ्य और जीवन के हित म शरीर की सचित शक्ति का व्यय किया जाए। मनुष्य जिस बात से घृणा करता है वह आवश्यकता से अधिक काम। अराजकतावादी आदर्श समाज मे इस तरह का 'अतिकार्य' नहीं कराया जाएगा। अपने मनपसन्द काय को 4–5 घण्टे प्रतिदिन करना आवश्यकता से अधिक या 'अतिकाय' नही कहा जा सकता और यदि 4–5 घण्टे मे किया जाने वाला काय भी प्रतिदिन एकसा न हो बल्कि विभिन्न प्रकार का हो और उसकी मात्रा कार्फी कम हो तो उपर्युक्त आपत्ति निराधार सिद्ध होगी। क्रोपोटकिन के अनुसार अपवादस्वरूप यदि कुछ व्यक्ति कामचोर है, तो समाज सरलता से उनको नियन्त्रित कर सकेगा। सहयोग और ऐच्छिक काम पर आधारित समाज मे ऐसे निकम्मे व्यक्ति को जिस घृणा से देखा जाएगा वह घृणा-दृष्टि और उपेक्षा ही उसे सक्रिय बनाने तथा उसके समान कामचोरो की सख्या को कम करने के लिए काफी होगी। यदि इससे भी वांछित परिणाम न निकले तो निकम्मे व्यक्तियों का सघ से निष्कासन भी सम्भव है। किन्तु क्रोपोटकिन का विश्वास है कि आदर्श समाज मे सम्भवत ऐसी स्थिति नहीं आएगी। यह स्थिति आज के उस समाज म निरन्तर विद्यमान रहती है जिसमे व्यक्ति को अपनी रुचि का काम बहुधा नही मिलता, सामर्थ्य से अधिक काम करना पडता है और फिर भी यह परिणाम निकलता है कि यदि वह डॉक्टर बनना चाहता है तो इन्जीनियर बनता है, प्रशासक बनना चाहता है तो अध्यापक बनता है।

आदर्श समाज में विवादो का निर्णय जनता द्वारा स्वेच्छापूर्वक स्थापित पच न्यायालय करेंगे। चूँकि यह समाज व्यवस्था स्वतन्त्रता और न्याय के सिद्धान्तों पर आधारित होगी, अत इसमे समाज विरोधी कार्यों के लिए उत्तेजना का अधिकांशत अभाव होगा। यदि फिर भी कहीं ऐसे समाज विरोधी काय होंगे तो सामान्यतया नैतिक प्रभाव तथा सहानुभूतिपूर्ण हस्तक्षेप से उसका निराकरण हो सकेगा। जहाँ इससे सफलता नहीं मिलेगी, वहाँ समुदायो से निष्कासन का भय अथवा व्यक्तियो या

असगठित जन-प्रयत्न द्वारा बलपूर्वक हस्तक्षेप से आवश्यक प्रतिकार हो सकेगा।" लेकिन ऐसी आवश्यकता यदाकदा ही पडेगी। क्रोपोटकिन ने इस तरह स्पष्ट किया कि अराजकतावाद का अर्थ शक्ति का अभाव है, व्यवस्था का अभाव नहीं है। अराजकतावादी समाज में सर्वत्र व्यवस्था होगी, शान्ति होगी और मनुष्य सानन्द साथ-साथ रह सकेंगे।

क्रोपोटकिन का विश्वास था कि घटनाओं की स्वाभाविक लहर अराजकतावादी उद्देश्य की ओर प्रवाहित हो रही है अर्थात् वर्तमान समय मे विश्व अराजकता की ओर ही अग्रसर हो रहा है। आजकल लाखो की सख्या मे कारोबार सरकारी हस्तक्षेप के बिना होते हैं और समझौतों का ईमानदारी से पालन किया जाता है। समझौतो के पालन के पीछे किसी दण्ड का भय निहित नही होता बल्कि अपने पडोसी के विश्वास एव सम्मान को बनाए रखने की इच्छा अथवा वचन पालन की स्वाभाविक आदत होती है। आज स्वैच्छिक समझौतो द्वारा विशाल रेलवे कम्पनियो और उत्पादन-सघो का सगठन किया जाता है। इसी तरह सांस्कृतिक व परोपकारी कार्य करने के लिए छोटे-बड़े अनेक सघो की स्थापना की जाती है। वस्तुत आज प्राय हर क्षेत्र मे नागरिको की स्वैच्छिक सहकारी प्रवृत्तियो की तुलना मे सरकारी कार्य का महत्त्व घटता जा रहा है। क्रोपोटकिन ने बताया कि जहाँ पर शासन का कार्यक्षेत्र विस्तृत हो रहा है वहाँ भी साम्यवादी सिद्धान्त का प्रभाव निरन्तर बढता जा रहा है। आज सरकारी अजायबघरों, वाचनालयो पुस्तकालयों, उद्यानो तथा सडकों आदि का रूप सार्वजनिक हो गया है। वे सबके लिए खुले रहते हैं। इनके प्रयोग के लिए किसी को कुछ नहीं देना पडता। अधिकांश देशों में शिक्षा नि शुल्क दी जाती है। ब्रिटेन एव अन्य देशों मे कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त (The Conception of Welfare State) और व्यवहार भी आवश्यकतानुसार वितरण के साम्यवादी आदर्श की ओर ही एक कदम है। इन सब बातो को देखते हुए क्रोपोटकिन यह मानता है कि मनुष्य की प्रवृत्ति सरकारी हस्तक्षेप को घटाते-घटाते सर्वथा शून्य कर देने की है।

क्रोपोटकिन का कहना था कि यद्यपि आज विश्व की प्रवृत्ति अराजकतावाद की ओर उन्मुख है तथापि अराजकतावादी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सभी कार्य शान्तिपूर्ण ढग से ही पूरे नही हो जाएँगे अन्त में क्रान्ति का सहारा लेना ही पडेगा। शक्ति के वर्तमान यन्त्रो तथा सस्थाओ द्वारा प्रस्तुत की गई सम्पूर्ण बाधाओ को उस क्रमिक एव शान्तिपूर्ण विकास द्वारा अन्तिम रूप से दूर नहीं किया जा सकता जो ससार मे हो रहा है। इस विकास का अवसान तो एक अन्तिम क्रान्ति मे होना ही चाहिए। अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे यह क्रान्ति हिंसात्मक और विनाशकारी होगी। वर्तमान शासको को निकालना होगा, बन्दी-गृहों को नष्ट कर देना होगा तथा पारस्परिक सहयोग को फिर से स्थापित करना पडेगा। जब दमनकारी सत्ता के आधारभूत साधन बलपूर्वक नष्ट कर दिए जाएँगे, तब जनता व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिग्रहण का कार्य करेगी। कृषक जमींदारो को नष्ट कर देंगे और श्रमिक मालिको को हटा देंगे। जिनके पास अब तक रहने के लिए मकान नहीं थे अथवा छोटे और अपर्याप्त झोपडे थे, वे पूँजीपतियो के सुविशाल अतिरिक्त भवनो म जा बसेंगे :

इस समस्त कार्य के पश्चात् समाज के रचनात्मक पुनर्निर्माण का कार्य प्रारम्भ होगा। वह सब ऐच्छिक प्रक्रिया के अनुसार होगा, किसी बाहरी सत्ता के दबाव से नहीं। अपने नवीन समाज के स्वरूप के विषय मे क्रोपोटकिन यद्यपि मार्क्स से बहुत कुछ सहमत था और उसकी कल्पना के अराजकतावादी समाज की रूपरेखा साम्यवादी थी, तथापि मार्क्स के समान वह किसी सरकार या सक्रमणकालीन अधिनायकतन्त्र की आवश्यकता को स्वीकार नही करता था क्योंकि उसका तो अर्थ होगा क्रान्ति का विनाश। "यदि राज्य का विघटन एक बार प्रारम्भ हो गया, यदि एक बार अत्याचार का यन्त्र क्षीण होने लगा तो स्वतन्त्र सघ या सभाओ का स्वत निर्माण होने लगेगा। जब सहकारिता राज्य की ओर से जनता पर नहीं लादी जाएगी तब स्वाभाविक आवश्यकताएँ ऐच्छिक सहकारिता को जन्म देंगी। राज्य का विनाश हो जाने पर उसके अवशेषो से स्वतन्त्र समाज का जन्म होगा।" क्रोपोटकिन के अनुसार अराजकतावादी समाज अनेक स्वतन्त्र समुदायों से मिलकर बनेगा किन्तु ऐसे समाज मे न ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त सगठन होगे और न ऐसे वर्ग होगे और न राज्य ही होगा जो एक सगठन को दूसरे के मूल्य पर सरक्षण प्रदान करे। सार्वजनिक उद्देश्यो के लिए ऐच्छिक सघ होंगे जिनमे से कुछ क्षेत्रीय आधार और कुछ व्यावसायिक आधार पर सगठित होंगे। ये सघ उन कार्यों को करेंगे जो आज राज्य करता है' प्रश्न यह उठता है कि ऐसे समाज मे सामञ्जस्य कैसे स्थापित होगा। इसका उत्तर यह है कि जब लोग समुचित रूप से शिक्षित होंगे, जब धनी और निर्धन का भेद नही होगा, तब हितो के बीच सघर्ष भी शायद ही कभी होगे और तब सामञ्जस्य अपने आप ही बना रहेगा। इस तरह अराजकतावादी समाज एक वास्तविक स्वतन्त्रता की अवस्था होगी जिसमे सब लोग भली प्रकार से खुले वातावरण म साँस ले सकेंगे।

आतकवादी अराजकतावाद
(Terroristic Anarchism)

बंकुनिन तथा क्रोपोटकिन के अराजकतावादी सिद्धान्तो को उनके कुछ अनुयायियो ने आतकवादी रूप दिया। क्रान्ति मे विश्वास रखने वाले इन अनुयायियो मे से कुछ के विचार मे यह उचित था कि केवल सिद्धान्तो के प्रचार द्वारा नही, बल्कि व्यावहारिक रूप मे अराजकतावाद का प्रसार किया जाए। इनका विश्वास कार्यों और राजनीतिक हत्याओ मे था। बंकुनिन और क्रोपोटकिन के अराजकतावादी सिद्धान्तो के प्रचार के लिए गत शताब्दियो मे यूरोप और अन्य देशो मे अनेक सगठन कायम हुए। जॉन मोस्ट (Johann Most) नामक अराजकतावादी ने इस प्रकार के कार्यों को पहले जर्मनी और बाद मे सयुक्तराज्य अमेरिका मे सगठित किया। उसने अपने अनुयायियो को प्रमुख सम्पन्न वर्गों के विरुद्ध गुरिल्ला युद्ध व बम प्रयोग करन का आदेश दिया, परन्तु यह आन्दोलन शीघ्र ही कुचल दिया गया। सन् 1886 मे शिकागो मे अराजकतावादी नेताओ पर मे-दिवस (May Day) पर विद्रोह करन का दोषारोपण किया गया और उन्हे प्राणदण्ड दिया गया। इस घटना के बाद यह आन्दोलन समाप्त हो गया। मोस्ट को डाइनमाइट के प्रयोग का समर्थन करने के

लिए एक वर्ष के कारवास का दण्ड मिला। मुक्त होने के बाद उसने अराजकतावादी विचारो को तिलांजलि दे दी। सन् 1890 के बाद इमा गोल्डमेन के नेतृत्व मे अराजकतावादी आन्दोलन पुन. शुरू हुआ जिसमे यूरोप के अनेक युवक भी शीघ्र ही सम्मिलित हो गए। इन अराजकतावादियो ने बडी निर्भीकता से तत्कालीन आर्थिक एव राजनीतिक व्यवस्था की निन्दा की, किन्तु वे अपने पूर्ववर्ती जॉन मोस्ट एव अन्य आतकवादी अराजकतावादियो की भाँति त्वरित ही क्रान्तिकारी कार्यों पर जोर नहीं देते थे। प्रथम महायुद्ध के आरम्भ तक वे सामान्यत सरकार की दृष्टि से बचे रहे, लेकिन युद्ध शुरू होते ही उनमे से अनेक जेलो मे डाल दिए गए और अनेक निर्वासित कर दिए गए। इस तरह क्रान्तिवादी अराजकतावाद एक प्रकार से अमेरिका से विलुप्त हो गया। यद्यपि अमेरिका मे आज भी अराजकतावादियो के कुछ छोटे समुदाय विद्यमान हैं और वे समुदाय पत्र भी निकालते हैं, लेकिन उनके विचार शान्त एव काल्पनिक ढग के हैं।

विध्वसात्मक रूप मे अराजकतावाद के व्यावहारिक कार्यक्रम को क्रोपोटकिन और बेकुनिन की अपेक्षा रूस के कुछ 'शून्यवादियो या निषेधवादियों' (Nihilists) से अधिक प्रोत्साहन मिला। वास्तव मे यह शून्यवादी केवल राजकीय सस्थाओ को ही उखाड फेंकने के पक्ष मे नही थे, उनका कार्यक्रम तो अराजकतावादियो से अधिक विस्तृत था। वे स्थापित विचारो, सस्थाओ और मानदण्डो के भी विरोधी थे। 'शून्यवाद' शब्द का प्रयोग सबसे पहले साहित्यिक और कलात्मक आलोचना के क्षेत्र मे होता था अर्थात् रूस के सांस्कृतिक जीवन की (विशेषकर 19वी सदी मे) विभिन्न धाराओ मे उसके बीज निहित थे। "कला और साहित्य के क्षेत्र मे प्रचलित परम्परा-वाद के विरोधी लोग सब प्रकार के परम्परागत मापदण्डो (Traditional Standards) को नष्ट करने का प्रयत्न करते थे और कलात्मक अभिव्यक्ति के समस्त रूपो मे स्वाभाविकता तथा स्वच्छन्दता के समर्थक थे। इन्ही से सम्बद्ध 'यथार्थवादी' दार्शनिक थे जिन्होने तत्कालीन दर्शन की मीमांसा-पद्धति के स्थान पर प्राकृतिक विज्ञान को सर्वोच्च स्थान दिया और अनुभव को ही प्रमाण मानने पर जोर दिया। धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र मे शून्यवादी दृष्टिकोण सत्तावाद, कट्टरवादिता, सर्वातिशयता (Transcendentalism) तथा नियम-निष्ठता (Formalism) की निन्दा तथा धर्म मे नास्तिकता और नीति मे सुखवाद (Hedonism), परीक्षणवाद (Experimentalism) तथा मानववाद (Humanism) के समर्थन के रूप में प्रकट हुआ। रूस के समाज, राज्य तथा धर्म (चर्च) मे निश्छलता, प्रमाद तथा अमानुषिकता का जो राज्य था उसके विरुद्ध शून्यवादियो की ये प्रवृत्तियाँ एक प्रकार से स्वाभाविक प्रक्रिया थी।"[1]

'शून्यवादी विचारो के राजनीतिक रूप का प्रतीक' सर्गी नेटसेव (Sergei Netschaiev, 1848–1882) था जो अराजकतावादी ध्येय की प्राप्ति के लिए

1 कोकर आधुनिक राजनीतिक चिन्तन पृष्ठ 231

सभी साधनों अर्थात् सभी प्रकार के तोड फोड के कार्य और राजनीतिक हत्याओं को उचित मानता था। उसने अपने लेखों में अराजकतावादी कार्यक्रम के विध्वंसात्मक पहलुओं पर अधिक बल दिया। नेटसेव का सिद्धान्त था कि जब तक कथनी को करनी में परिणत न किया जाता तब तक कथनी का कोई मूल्य नहीं। अराजकतावादियों का कार्य केवल भावी समाज के संगठन की योजना का चित्रांकन नहीं है। अराजकतावादियों के 'कार्य द्वारा प्रचार के सिद्धान्त' (Theory of Propaganda by Deed) को यूरोप के अराजकतावादियों ने अपनाया और वह अराजकतावादी सामरिक नीति का विशिष्ट अंग बन गया। संसार के अनेक देशों में जो कार्य प्रकाश में आए उनमें 'शून्यवादी' एवं 'अराजकतावादी' प्रभाव की स्पष्ट झलक मिलती है। भारत में भी विभाजन के पूर्व कई वर्ष तक आतंकवादी आन्दोलन चला था। ये आतंकवादी विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने के लिए सभी प्रकार के हिंसक कार्यों में विश्वास करते थे—जैसे, बमों और गोलियों द्वारा विरोधियों की हत्याएँ करना, शासकों को आतंकित करना, आदि। परन्तु बैकुनिन और क्रोपोटकिन आतंकवाद और राजनीतिक हत्याओं के समर्थक नहीं थे। उनके विचार में अराजकतावादी क्रान्ति के लिए आतंक के शासन की आवश्यकता नहीं थी। अराजकतावादियों के लिए संगठित कार्यवाही और आवश्यक हो तो हिंसक कार्यवाही द्वारा भी सरकारों को उखाड़ फेंकना उचित नीति है, परन्तु इससे उनका अभिप्राय आतंकवाद और हत्याओं से नहीं है। उनके अनुसार राज्य, सम्पत्ति तथा चर्च का अन्त होना है, राजनीतिज्ञों, सम्पत्तिवानों तथा धर्म-पुरोहितों का नहीं।

कुछ अराजकतावादियों का पूर्णत शान्तिवादी अराजकतावाद में विश्वास था। टॉलस्टॉय, गांधी, रसल आदि की गणना ऐसे ही अराजकतावादियों में की जा सकती है यद्यपि उन्होंने स्वयं को कभी अराजकतावादी नहीं कहा।

अराजकतावाद का मूल्यांकन
(Estimate of Anarchism)

अपनी अव्यावहारिकता के कारण अराजकतावाद आज एक मृत विचारधारा है। समाज ने इसे मुख्यत निम्नलिखित आधारों पर ठुकरा दिया है—

1 राज्य ने यदि भूलें की हैं तो साथ ही मानव जाति की स्मरणीय सेवाएँ भी की हैं। कुल मिलाकर राज्य सभ्यता और संस्कृति का पोषक रहा है। राज्य के अभाव में आज के जटिल समाज का नियमन हो सकेगा, यह सोचा भी नहीं जा सकता।

2 राज्य दोषपूर्ण नहीं है। यह इसके संगठन और संचालकों पर निर्भर करता है कि वे इसका प्रयोग किस रूप में करते हैं। मनुष्य कभी पूर्ण नहीं हो सकता, अत अराजकतावादी समाज में जब राज्य जैसी नियमनकारी संस्था का अभाव होगा मनुष्य की अपूर्णता कितनी अव्यवस्था, स्वेच्छाचारिता, लूट-खसोट, हिंसा का ताण्डव मचा देगी, इसे अराजकतावादियों ने दृष्टि से ओझल कर दिया है। मनुष्य में दैवी और पाशविक दोनों ही वृत्तियाँ पाई जाती हैं। पाशविक वृत्ति को संयत रखने के लिए राज्य जैसी संस्था का होना अनिवार्य है।

3 राज्य के अभाव मे बहुमत अपने आपको सगठित कर अल्पमत के विनाश पर उतारू हो जाएगा और फिर बहुमत मे भी स्वार्थों की टकराहट ऐसे शक्ति-केन्द्रों को जन्म देगी जिससे समाज युद्ध-भूमि बन जाएगा। आज राज्य की नियन्त्रणकारी शक्ति के कारण ही ऐसा नहीं हो पा रहा है।

4 अराजकतावादी समाज मनुष्यो के लिए न होकर देवताओ के लिए हो सकता है। मनुष्य को प्रारम्भ से ही पूर्ण और आदर्श मानकर एक पूर्ण समाज की रूपरेखा बनाना मनोवैज्ञानिक दिवालियापन है।

5 धर्म और पाखण्ड दो अलग चीजें हैं। धर्म तो उदात्त और आध्यात्मिक शक्ति है जो जीवन में नैतिकता का सचार करती है। उसे तिरस्कृत करना स्वय नैतिकता का तिरस्कार करना है और नैतिकता के अभाव मे किसी 'आदर्श' की कल्पना नही की जा सकती।

6 अराजकतावादी घूम कर उसी बिन्दु पर पहुँच जाते हैं जहाँ से चले थे। एक ओर तो वे सत्ता का विरोध करते हैं और दूसरी ओर समाज की व्यवस्था का कार्य कुछ ऐसे सघो को सौंपना चाहते हैं जो वतमान राज्य द्वारा किए जाने वाले कार्यों का सम्पादन करें। ये सघ भी आखिर उल्लघनकर्त्ताओ पर कुछ न कुछ बाध्यताएँ या दण्ड तो लादेंगे ही। यह कभी सम्भव नही है कि सस्थाओं मे सब काय एकमत होकर किए जाएँ। बहुमत अल्पमत पर अपना निर्णय अवश्य थोपेगा और इस तरह सत्ता का प्रत्यक्ष परोक्ष उदय होगा। ऐच्छिक सघो मे आपस मे टकराहट होने पर भी व्यवस्था आवश्यक होगी। अराजकतावादी इन समस्याओ के हल पर मौन हैं। ये समस्याएँ वास्तव मे एक नियन्त्रणकारी शक्ति को आवश्यक ठहराती हैं और वह राज्य से अच्छी कोई नहीं हो सकती।

7 यह सही है कि अधिकाश अपराधो का मूल वर्तमान आर्थिक व्यवस्था है, लेकिन महत्त्वाकांक्षा, ईर्ष्या-द्वेष, कामुकता आदि भी बहुसख्यक अपराधो के लिए उत्तरदायी होते हैं। एक केन्द्रीय शासन और फौजदारी कानून के बिना ऐसी समस्याओ का हल किस प्रकार हो सकेगा, यह समझ से परे है।

8 अराजकतावादी यह स्पष्ट नहीं करते कि समाज मे उन धर्म-पुरोहितो, कबायली परम्पराओ के रक्षको, सैनिक अधिकारियो आदि का क्या होगा जो सरकारो की स्थापना और शासन की उधेडबुन मे लगे रहते हैं। कहीं भी यह स्पष्ट नही होता कि क्या अराजकतावादी उन्हे इसी प्रकार नष्ट कर देंगे जिस प्रकार साम्यवादी पुरातन व्यवस्था के हिमायतियो को नष्ट करना चाहते हैं।

9 अराजकतावादियो का यह कहना असत्य है कि समाज का विकास अराजकतावाद की दिशा मे हो रहा है। कल्याणकारी राज्य के विचार के साथ आज तो राज्य का कार्यक्षेत्र अधिकाधिक सुविस्तृत होता जा रहा है।

10 अराजकतावादी राज्य की तुलना मे अपनी शक्ति आँकने की परवाह नहीं करते और न ही वे अपने साधनो के बारे मे एकमत हैं। राज्य की विपुल शक्ति के मुकाबले अराजकतावादी क्रान्ति की सफलता कल्पना-लोक की उड़ानें हैं। कुछ

विध्वसकारी अराजकतावादियो ने अमेरिका मे हिंसात्मक विद्रोह की चेष्टा की थी लेकिन राज्य ने एक ही चोट मे मामला निपटा दिया। इस एक ही घटना ने क्रान्तिवादी अराजकतावाद की सैद्धान्तिक चर्चा को भी मृतप्राय बना दिया।

11. अन्त मे, समस्त वस्तुओ मे स्वतन्त्र भागीदार होने का अराजकतावादी सिद्धान्त भी काल्पनिक है। समाज मे आलसियो और निष्क्रिय व्यक्तियो की उपस्थिति इसे अव्यावहारिक बना देगी। पुनश्च, आवश्यक सामग्री के आवश्यकतानुसार वितरण की प्रणाली के लिए कुशल और शक्तिशाली राज्य की आवश्यकता है जबकि अराजकतावादी समाज मे स्वार्थी और महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियो को अपने कमजोर भाइयो का शोषण करने से रोकने के लिए कोई केन्द्रीय शक्ति नहीं होगी। अत: ऐसे समाज मे इस प्रणाली के सफल होने की कोई सम्भावना नही।

अराजकतावादी दर्शन मे सार इतना ही है कि इसने राज्य और समाज सम्बन्धी बुराइयो का पर्दाफाश किया है तथा व्यक्ति को नैतिक रूप से उन्नत प्राणी माना है तथा इस वास्तविकता को प्रकट किया है कि जन्म से मनुष्य दुर्गुणी नहीं होता बल्कि सामाजिक परिस्थितियाँ उसे दुर्बलताओ का शिकार बना देती हैं। अराजकतावाद का महत्त्व इस बात मे भी है कि इसने राज्य की अति महत्ता का खण्डन कर आत्म-निर्भरता और सहयोग की भावना को उन्नति का मूलमन्त्र बतलाया है। इसने राजनीतिक जीवन के बढते हुए यन्त्रीकरण का ठीक ही विरोध किया है और पूँजीवाद के दोषो को उजागर किया है। शासन और समाज के बुद्धिजीवियो को अराजकतावादी दर्शन से रचनात्मक प्रेरणा लेकर प्रशासनिक और सामाजिक बुराइयो के निराकरण मे अधिकाधिक सक्रिय होना चाहिए।

4 लोकतान्त्रिक समाजवाद

(Democratic Socialism)

हमने फेबियनवाद, पुनर्विचारवाद या पुनर्संशोधनवाद और समष्टिवाद के रूप मे विकासवादी समाजवाद (Progressive Socialism) का अध्ययन किया है। हम देख चुके हैं कि विकासवादी समाजवाद राज्य को समाज-परिवर्तन के आवश्यक साधन के रूप में स्वीकार करते हुए लोकतान्त्रिक व्यवस्था की व्यावहारिकता पर जोर देते हैं। यद्यपि ये लोग मार्क्स से प्रभावित हैं और पूँजीवादी व्यवस्था की कटु आलोचना करते हैं, तथापि राज्य की उपादेयता को अस्वीकार नहीं करते और समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया में राज्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका स्वीकार करते हैं। लोकतन्त्र मे इन्हे पूरी आस्था नही है तथापि ये लोकतन्त्र की भर्त्सना भी नहीं करते–मार्क्सवादियो की भाँति लोकतन्त्र को न तो पूरी तरह ठुकराते ही हैं और न ही राज्य को किसी वर्ग विशेष की वस्तु मानते हैं। विकासवादी समाजवादियों के इसी प्रकार के विचारों से मिलती-जुलती किन्तु पृथक् एक अन्य विचारधारा है जिसे लोकतान्त्रिक समाजवाद (Democratic Socialism) की सज्ञा दी जाती है। दोनो मे समानता के अनेक बिन्दु हैं तथापि दोनों एक नही हैं। मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ विकासवादी समाजवाद लोकतन्त्र और राज्य को समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया मे केवल एक भूमिका मानता है और समाजवाद के विकासवादी स्वरूप को स्वीकार करता है, वहाँ लोकतान्त्रिक समाजवाद मे लोकतन्त्र और समाजवाद—ये दोनो अवधारणाएँ एक दूसरे से घनिष्ठ रूप मे सम्बद्ध हो गई हैं। लोकतान्त्रिक समाजवादियो का लोकतान्त्रिक साधनो मे पूरा विश्वास है, ये सांविधानिक और शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा ही आर्थिक विषमताओ और असमानताओ को दूर करना चाहते हैं। निर्धनता और शोषण को मिटाने के लिए वे क्रान्ति का उपदेश नही देते, बल्कि यह अनुनय और जनजागृति द्वारा कार्य करना चाहते हैं। लोकतान्त्रिक समाजवादी निजी सम्पत्ति का उन्मूलन नहीं चाहते, बल्कि चाहते यह हैं कि निजी सम्पत्ति के उन तत्त्वो को दूर कर दिया जाए जिनसे समाज मे शोषण अन्याय और अत्याचार को प्रोत्साहन मिलता है। ये लोग उन उद्योगो पर सार्वजनिक स्वामित्व की स्थापना चाहते हैं जो

अर्थव्यवस्था को कायम रखने के लिए आवश्यक हो। लोकतान्त्रिक समाजवादियो के लिए व्यक्ति और समाज मे कही विरोध नही है। व्यक्ति का विकास केवल समाज मे ही सम्भव है तथा राज्य समाज का प्रतिनिधि होने के कारण व्यक्ति के विकास मे महत्त्वपूर्ण योग देता है। सारांशत लोकतान्त्रिक समाजवाद लोकतान्त्रिक तरीको द्वारा समाजवाद लाना चाहता है और पूरी तरह लोकतान्त्रिक साधनों के बल पर ही स्वतन्त्रता और समानता की रक्षा करना चाहता है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद जैसी उदार और व्यापक अवधारणा को किसी निश्चित पारिभाषिक शब्दावलो म बांधना सम्भव नही है। पीटर एच मर्कल (Peter H Merkel) का कथन है कि "इसका एक सुपरिभाषित विचार-समूह (A Well Defined Body of Thought) के रूप मे होना तो दूर रहा, यह विभिन्न विचारको और राजनीतिक शक्तियो के योगदान का गट्ठर सा (Bundle of Contributions) प्रतीत होता है। सम्भवत कोई भी समाजवादी एक ही साथ इन विचारो और सिद्धान्तो का तार्किक अथवा विवेकपूर्ण ढग से निर्वाह नही कर सकता।'[1] लाइमन टावर सारजेंट (Lyman Tower Sargeant) ने इन शब्दो मे लोकतान्त्रिक समाजवाद के मूल तत्त्वो को व्यक्त करने का सराहनीय प्रयत्न किया है—

"लोकतान्त्रिक विधि से निर्वाचित सरकार द्वारा अधिकांश सम्पत्ति बडे उद्योगो, उपयोगिताओ और परिवहन आदि पर सार्वजनिक स्वामित्व, निजी सम्पत्ति के सचय पर सीमाएँ तथा सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का सरकारी नियमन।"[2]

सारजेंट की इस परिभाषा से लोकतान्त्रिक समाजवाद के निम्नलिखित मुख्य लक्षण स्पष्ट होते हैं—

(1) समाज की अधिकांश सम्पत्ति पर सरकार का नियन्त्रण,
(2) सरकार का लोकतान्त्रिक विधि से निर्वाचन,
(3) निजी सम्पत्ति का परिसीमन,
(4) सार रूप मे, समाज की अर्थव्यवस्था का सरकार द्वारा नियमन।

लोकतान्त्रिक समाजवाद किसी वर्ग विशेष के स्थान पर समूचे समाज के चिन्तन पर बल देता है और समाज-परिवर्तन के लिए लोकतन्त्र के वैधानिक तथा अहिंसक मार्ग का अनुसरण करता है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद-ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे
(Democratic Socialism in the Historical Perspective)

लोकतान्त्रिक समाजवाद का कोई निश्चित दर्शन नहीं है। इसका विकास विभिन्न देश-कालो मे विभिन्न परिस्थितियो के सन्दर्भ मे हुआ है। कोई भी समाजवादी विचारधारा, जिसमे लोकतन्त्र को साध्य और साधन दोनो ही रूपों म स्वीकार किया जाए, लोकतान्त्रिक समाजवाद है। 19वी शताब्दी के प्रारम्भ तक

1 *Peter H Merkel* Political Continuity and Change p 139
2 *Sargeant Lyman* Contemporary Political Ideologies, p 98

2 यह विचारधारा साम्यवाद ग्रौर फासीवाद जैसी सर्वाधिकारवादी विचारधाराग्रो के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है। साम्यवाद ग्रौर फासीवाद मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं है, इसमे व्यक्ति राज्य रूपी मशीन का एक यन्त्रमात्र बन जाता है। सिडनी हुक के शब्दो में, "ग्राज जब लोकतन्त्र को सर्वाधिकारवाद ग्रौर युद्ध की चुनौतियों का सामना करना पड रहा है तो समाजवादी लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए एक देश की ग्रार्थिक सरचना के स्थान पर राजनीतिक सरचना का महत्त्व ग्रधिक है।"

3 साम्यवाद में क्रान्ति ग्रौर हिंसा का महत्त्व है, किन्तु जो विचारक साधन तथा साध्य की एकरूपता मे विश्वास करते हैं उनका कहना है कि बुरे साधनों से किसी ग्रच्छे उद्देश्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। समाजवाद की प्राप्ति के लिए सांविधानिक ग्रौर लोकतान्त्रिक उपायो का ग्राश्रय लिया जाना चाहिए। हिंसा ग्रौर क्रान्ति का उपदेश देने वाले ग्रमानवीय सिद्धान्तो के पीछे दौडना ग्रनुचित है।

4 लास्की ग्रादि का मत है कि समाजवाद की प्राप्ति के लिए क्रान्तिकारी साधनो की तुलना मे लोकतान्त्रिक मार्ग इसलिए श्रेयस्कर है कि क्रान्ति क परिणाम निश्चित नही होते। हो सकता है कि क्रान्ति के द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था के स्थान पर जो ग्रन्य व्यवस्था कायम हो वह ग्राशानुकूल समाजवादी व्यवस्था न हो।

5 क्रान्ति ग्रौर हिंसा को प्रोत्साहन देना मानव स्वभाव को गलत दिशा प्रदान करना है। जो श्रमिक क्रान्ति ग्रौर हिंसा द्वारा पूंजीवाद को समाप्त करेंगे वे क्रान्ति के बाद ग्रपने हिंसात्मक स्वभाव को नही छोड सकेंगे ग्रौर फलस्वरूप राज्य मे व्यवस्था ग्रौर शान्ति की स्थापना एक विकट समस्या बन जाएगी ग्रत उचित है कि जो परिवर्तन लाया जाए वह लोकतान्त्रिक साधनो द्वारा लाया जाए।

6 लोकतान्त्रिक समाजवाद श्रेयस्कर है, क्योकि यह व्यक्ति की स्वतत्रता, समानता ग्रौर बन्धुत्व के मूल्यो को सम्मान देता है। ये मूल्य इतने महान् हैं ग्रौर मानव-जीवन के लिए इतने ग्रावश्यक हैं कि इनका रोटी, कपडा ग्रौर मकान की मूल ग्रावश्यकताग्रो से कहीं ग्रधिक महत्त्व है।

7 लोकतान्त्रिक समाजवाद की प्रक्रिया धीमी ग्रवश्य है, लेकिन निश्चित रूप से शुभ परिणामो की जननी है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद का विकास उन देशो मे हुग्रा जहाँ पूंजीवादी व्यवस्था से लोग तग ग्रा चुके थे, किन्तु उसे हटाने के लिए हिंसात्मक साधनो का ग्राश्रय लेना उचित नहीं समझते थे। इग्लैंड ग्रौर ग्रमेरिका के उदारवादी चरित्र मे क्रान्तिकारी साधनो का मेल नहीं बैठ सकता था ग्रौर एशिया महाद्वीप के कुछ देशो मे भी वहाँ के धार्मिक ग्रौर नैतिक वातावरण के कारण क्रान्तिकारी समाजवादी विचारधारा नहीं पनप सकी। भारत जैसे एशियायी देश ने लोकतान्त्रिक तरीके से ही समाजवाद की स्थापना के मार्ग का ग्रनुसरण किया है। इस विचारधारा को इसकी कतिपय मुख्य विशेषताग्रो के ग्राधार पर ग्रधिक ग्रच्छी तरह समझा जा सकेगा—

1. लोकतान्त्रिक समाजवाद सर्वाधिकारवादी राज्य का विरोधी है। यह एक दलीय अथवा निरकुशतावादी राज्य का अर्थात् साम्यवादी, फासिस्टवादी या अन्य इसी प्रकार के अधिनायकवादी राज्य का बिलकुल समर्थन नहीं करता। लोकतान्त्रिक समाजवादियो के लिए साम्यवाद 'नवीन साम्राज्यवाद का यन्त्र' है। समस्याओ के प्रति राष्ट्रीय दृष्टिकोण का पोषण करते हुए भी लोकतान्त्रिक समाजवादी 'रूसी साम्यवाद के विरोध मे एकमत हैं।

2. लोकतान्त्रिक समाजवाद पूंजीवादी व्यवस्था को अन्यायपूर्ण मानता है क्योंकि यह आर्थिक विषमता को बढ़ाने वाली है जिसमे धनी अधिक धनी और गरीब अधिक गरीब हो जाते हैं। पूंजीवाद से बेरोजगारी का प्रसार होता है और श्रमिको की दशा अधिकाधिक शोचनीय बनती जाती है। उत्पादन व्यक्तिगत लाभ के लिए होते हैं, अत उत्पादन, विनिमय और वितरण मे अनैतिकता उत्पन्न होती है। पंजीवाद इसलिए भी हेय है कि यह साम्राज्यवाद का रूप धारण कर युद्धो को जन्म देता है।

3. पूंजीवाद का विरोध होते हुए भी यह निजी सम्पत्ति का विरोधी नहीं है। यह सम्पत्ति का नियन्त्रण और नियमन चाहता है। निजी सम्पत्ति का विलोप नहीं। निजी सम्पत्ति निजी वस्तुओ, घरों, छोटे-छोटे उद्योगो के रूप मे कायम रहेगी। कतिपय परिस्थितियो मे, राष्ट्रीय आवश्यकता के अनुसार, बडे बडे उद्योग भी निजी क्षेत्र मे सम्मिलित किए जा सकते हैं। लोकतान्त्रिक समाजवाद वास्तव मे निजी सम्पत्ति को नहीं बल्कि बडी-बडी आयो को समाप्त करना चाहता है। यह क्रियाहीन सम्पत्ति की सम्प्रभुता (Sovereignty of Functionless Property) को मिटाने के पक्ष मे है ताकि समाज मे शोषण और अन्याय को बढावा न मिले। सार रूप मे यह सम्पत्ति के असामाजिक रूप को नष्ट करना चाहता है।

4. लोकतान्त्रिक समाजवाद आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण (Decentralization of Economic Power) के पक्ष मे है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि यह उत्पादन के सभी साधनो पर सार्वजनिक स्वामित्व का समर्थन करता है। लोकतान्त्रिक समाजवादी चाहते हैं कि कोयला, लोहा, इस्पात, सीमेंट, विद्युत, यातायात, जल, आदि उद्योगो और सेवाओ को तथा ऐसे उद्योगों को जिनमे एकाधिकार की प्रवृत्ति व्याप्त हो सार्वजनिक क्षेत्र मे रखा जाए। आवश्यकतानुसार अन्य उद्योगो का भी नियमन किया जाए। यदि जरूरी हो तो किसी एक क्षेत्र मे एक या अनेक उद्योगो पर सार्वजनिक स्वामित्व स्थापित कर अन्य उद्योगो को स्वतन्त्र छोड दिया जाए। लोकतान्त्रिक समाजवाद के अनुसार उद्योगो पर सार्वजनिक स्वामित्व की न्यूनाधिकता देश-विदेश के आर्थिक व सामाजिक ढांचे पर निर्भर करती है।

5 लोकतान्त्रिक समाजवाद राष्ट्रीयकरण नहीं बल्कि समाजीकरण चाहता है। राष्ट्रीयकरण से न तो श्रमिको के दृष्टिकोण में रचनात्मक परिवर्तन आता है और न कुशलता तथा उत्तरदायित्व की समस्याओं का ही समाधान हो पाता है। राष्ट्रीयकरण से तो 'राज्यवाद' (Statism) तथा नौकरशाहीवाद (Bureaucratization) को प्रोत्साहन मिलता है। (1945-50 ब्रिटिश श्रमिक दल ने अपने शासन-काल

मे विभिन्न उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया था, लेकिन अब वह अधिक राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे नही है। राष्ट्रीयकरण के अनुभव से लोकतान्त्रिक समाजवादियो मे यह धारणा बल पकडने लगी है कि उद्योगो पर प्रत्यक्ष सार्वजनिक स्वामित्व के स्थान पर सामाजिक नियन्त्रण और नियमन को प्राथमिकता देना अधिक उपयुक्त है।

6 लोकतान्त्रिक समाजवाद के लिए प्रत्येक उद्योग एक सेवा है। दूसरे शब्दो मे उद्योग मूलतः लाभ की प्राप्ति के लिए नही बल्कि किसी सामाजिक सेवा की पूर्ति के लिए होता है। आर. एच टॉनी के शब्दों मे—"उद्योग इससे अधिक कुछ नही है कि यह विभिन्न स्तरो पर प्रतिद्वन्द्विता और सहयोग के लिए एकत्र ऐसे लोगो का समूह है जो समाज को आवश्यक सेवा प्रदान कर अपने जीविकोपार्जन का साधन प्राप्त करते हैं।"[1]

7 लोकतान्त्रिक समाजवाद उद्योगो मे प्रजातन्त्र (Democracy in Industries) का पोषक है। इसकी मान्यता है कि उत्पादन और वितरण मे जब तक लोकतान्त्रिक सिद्धान्तो को नही अपनाया जाएगा तब तक पूरी तरह प्रजातन्त्र नहीं आ सकता। उद्योगो के प्रबन्ध मे मालिको, श्रमिको और शासन तीनो को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। टॉनी का तो यहाँ तक कहना है कि श्रमिको से इस बारे मे भी विचार-विमर्श करना चाहिए कि घाटे के उद्योगो को बन्द कर दिया जाए या नहीं, किन नई मशीनो और तकनीको का प्रयोग किया जाए, आदि। श्रमिको मे तकनीकी ज्ञान की कमी और उद्योगो के प्रबन्ध मे सहभागिता की योग्यता का अभाव जैसे तर्क निरर्थक हैं।

8. लोकतान्त्रिक समाजवादियो का लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों मे, व्यक्ति की स्वतन्त्रता में तथा समानता के सरक्षण मे अटूट विश्वास है। ये लोग निर्वाचन, ससद् और बहुमत दल की सरकार मे तथा विरोधी दलो का गला घोटने के स्थान पर दलो के साथ समझौता तथा सांविधानिक और शान्तिपूर्ण साधनो द्वारा परिवर्तन लाने मे विश्वास करते हैं। इवान एफ. एम. डर्बिन के अनुसार, "लोकतान्त्रिक प्रणाली समाजवाद का अन्तर्निहित अग है, इसे उससे पृथक् नहीं किया जा सकता।"[2] लोकतान्त्रिक समाजवाद ऐसा वातावरण चाहता है जिसमे व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन-यापन और अपने विचारो को व्यक्त कर सके। अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद के फ्रैंकफर्ट-सम्मेलन की घोषणा मे स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है—"स्वतन्त्रता के बिना वास्तविक समाजवाद नही हो सकता। लोकतन्त्र के माध्यम से ही समाजवाद की प्राप्ति सम्भव है।"[3] स्वतन्त्रता की भाँति ही यह समानता के सिद्धान्त का भी पोषक है, लेकिन पूर्ण अथवा निरपेक्ष समानता का नहीं क्योकि ऐसी समानता न तो सम्भव है और न ही कुशलता तथा उत्पादन को प्रोत्साहन देने वाली। लोकतान्त्रिक समाजवादी जब समानता की बात करते हैं तो उनका मुख्य आशय सम्पत्ति की गम्भीर विषमताओं को समाप्त करना होता है ताकि किसी प्रकार का शोषण न हो

1 *R. H. Tawney* : The Acquisitive Society, quoted by *Ebenstein* : Ibid, p 592
2 *Evan F. M. Durbin* : The Politics of Democratic Socialism, p. 235.
3 *Joseph S Roucek* : Contemporary Political Ideologies, p. 116.

सके। लोकतान्त्रिक समाजवाद सामाजिक न्याय पर बल देता है और भारत भी इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है।

9 लोकतान्त्रिक समाजवाद अर्थव्यवस्था पर लोकतान्त्रिक नियन्त्रण (Democratic Control over Economy) चाहता है। इसकी मान्यता है कि जब साधारण लोगो मे 'राजनीतिक निर्णयों' मे भाग लेन की योग्यता है तो उनकी 'आर्थिक निर्णयो' मे भाग लेने की योग्यता पर सन्देह करना उपयुक्त नहीं है। वर्तमान लोकतान्त्रिक पूँजीवादी व्यवस्था मे साधारण व्यक्ति को 'आर्थिक निर्णयों' मे भाग लेने से वंचित रखा जाता है और यह अधिकार इने-गिने पूँजीपतियों ने हथिया रखा है। लोकतान्त्रिक समाजवादियो का कहना है कि यह अधिकार मतदाताओं (जन-साधारण) को मिलना चाहिए ताकि वे अपनी निर्वाचित सरकार द्वारा अपने आर्थिक भविष्य पर नियन्त्रण रख सकें। संसद् को ही यह वास्तविक शक्ति होनी चाहिए कि वह आर्थिक निर्णयों को नियन्त्रित कर सके। संसद् को ही यह निर्णय लेना चाहिए कि किन उद्योगों को सार्वजनिक स्वामित्व के अधीन तथा किन्हें सार्वजनिक नियन्त्रण तथा नियमन के अधीन रखा जाए। सारांशत अर्थव्यवस्था का निर्धारण जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा होना चाहिए।

10 लोकतान्त्रिक समाजवाद केवल अर्थव्यवस्था पर लोकतान्त्रिक नियन्त्रण ही नहीं चाहता बल्कि आर्थिक सुरक्षा (Economic Security) का आश्वासन भी देता है। इसकी मान्यता है कि समाजवाद लोकतन्त्र का विकल्प ही नहीं, उसका पूरक भी है। यदि व्यक्ति को आर्थिक सुरक्षा प्राप्त नही है तो राजनीतिक स्वतन्त्रता का उसके लिए क्या मूल्य रह जाता है? लास्की के शब्दों में, "आर्थिक सुरक्षा के अभाव मे स्वतन्त्रता व्यर्थ है।" पुनश्च, "जिस समाज मे आर्थिक आय असमान रूप से वितरित होती है, वहाँ स्वतन्त्रता की उपेक्षा होती है।" लोकतान्त्रिक समाजवाद चाहता है कि विस्तृत लोक-कल्याणकारी योजनाएँ क्रियान्वित की जाएँ जिनका उद्देश्य लोगो को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करना हो। ऐसा समाज लोकतान्त्रिक समाजवाद की धारणा के अनुकूल है जहाँ पूर्ण रोजगार और उच्चतर उत्पादन की व्यवस्था हो, अच्छे वेतन मिलें, उन्नत जीवन स्तर हो, आय तथा सम्पत्ति का उचित वितरण हो, सामाजिक सुरक्षा सुलभ हो, गृह-निर्माण, वृद्धावस्था पेंशन जीवन बीमा आदि का समुचित प्रबन्ध हो।

11 लोकतान्त्रिक समाजवाद नियोजन मे विश्वास करता है क्योंकि नियोजन से प्राकृतिक और मानवीय साधनो के अपव्यय पर रोक लगाई जा सकती है, फलस्वरूप स्पर्द्धा को समाप्त किया जा सकता है और कार्यों का दोहराव रोका जा सकता है।

12 यह विचारधारा धर्म विरोधी नहीं है। साम्यवाद की भाँति इसमे धर्म और नैतिकता को पूँजीपतियों का षड्यन्त्र नहीं माना जाता। लोकतान्त्रिक समाजवाद धर्म तथा नैतिकता से प्रेरित होकर ही साधनों की पवित्रता मे विश्वास करता है।

13. लोकतान्त्रिक समाजवाद लोक-कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की स्थापना का पोषक है, सहमति से क्रान्ति लाना चाहता है और प्रतिद्वन्द्विता के स्थान पर सहयोग पर बल देता है। इसकी मान्यता है कि वास्तविक समस्याओं के प्रति सामाजिक चेतना उत्पन्न कर परिवर्तन लाए जाने चाहिएँ।

14 इस विचारधारा मे पारिश्रमिक का आधार कार्य है अर्थात् यह सम्पत्ति के आधार पर किसी व्यक्ति को लाभ की उपलब्धि नहीं कराना चाहता बल्कि सेवा अथवा कार्य को ही आय का आधार मानता है। आर एच. टॉनी के अनुसार क्रियाहीन सम्पत्ति वंध सम्पत्ति की सबसे बडी शत्रु है। टॉनी सम्पत्ति को जब्त करने के पक्ष मे नहीं है, बल्कि इसका नियमन चाहता है तथा कार्य के आधार पर मुआवजा देने के पक्ष मे है। टॉनी के ही शब्दो मे, "कोई भी व्यक्ति तब तक किसी मुआवजे का अधिकारी नहीं हो सकता जब तक वह समाज की सेवा नहीं करता।"

जुलाई, 1951 मे जर्मनी मे फ्रैंकफर्ट नामक स्थान पर समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय (The Socialist International) का जो प्रथम सम्मेलन हुआ उसमें लोकतान्त्रिक समाजवाद के उद्देश्यो और कार्यों (Aims and Tasks of Democratic Socialism) के बारे में एक घोषणा प्रकाशित की गई। इस घोषणा में, जो कि लोकतन्त्र, स्वतन्त्रता और समाजवाद का सम्मिलित रूप है, लोकतान्त्रिक समाजवाद के निम्नलिखित उद्देश्यो और कार्यों पर बल दिया गया—

1 लोकतान्त्रिक समाजवाद और सर्वाधिकारवाद में कोई सगति नहीं है।

2 साम्यवाद नवीन साम्राज्यवाद' का यन्त्र है।

3 स्वतन्त्रता के अभाव में समाजवाद सम्भव नहीं है अर्थात् लोकतन्त्र के माध्यम से ही समाजवाद की प्राप्ति सम्भव है।

4 सगठित मजदूरो में बन्धुत्व जैसे सम्बन्ध विकसित होने चाहिएँ।

5 सार्वजनिक स्वामित्व के साथ-साथ निजी स्वामित्व का अस्तित्व कायम रखने की अर्थात् मिश्रित अर्थव्यवस्था की स्थापना की ओर अग्रसर होना चाहिए। अर्थव्यवस्था का नियम और आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया जाना चाहिए। यह आवश्यक है कि सम्पत्ति और आय का उचित वितरण हो।

6. लोक-कल्याणकारी कार्यों का विस्तार होना चाहिए अर्थात् पूर्ण रोजगार की स्थिति को बनाए रखने, उच्चतर उत्पादन करने, उद्योगों को समाज के प्रति उत्तरदायी बनाए रखने, सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था करने, स्वास्थ्य, चिकित्सा, शिक्षा आदि सेवाओं का विकास करने की ओर उन्मुख होना चाहिए।

7 मुख्य ध्येय मानवतावाद का विकास होना चाहिए।

इस प्रकार लोकतान्त्रिक समाजवाद वस्तुत 'मानवतावाद' (Humanism) है—एक ऐसा वाद जो व्यक्ति के महत्त्व और कल्याण का पोषक है, जो व्यक्ति को आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना चाहता है, जो व्यक्ति की राजनीतिक और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता का पक्षधर है। इसे हम एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन की सज्ञा दे सकते हैं जो "मार्ग की एकरूपता की माँग नहीं करता, बल्कि सामाजिक न्याय, कल्याणकारी जीवन, स्वतन्त्रता और विश्व शान्ति की माँग करता है।"

लोकतान्त्रिक समाजवाद के प्रमुख विचारक
(Main Thinkers of Democratic Socialism)

लोकतान्त्रिक समाजवाद के विचारकों में अंग्रेज भी हैं और जर्मन भी, ऑस्ट्रियन भी हैं और अमेरिकी भी तथा भारतीय भी।

आर. एच टॉनी (R H Tawney)

ब्रिटिश विचारक आर एच टॉनी की पुस्तक 'The Acquisitive Society 1921' ब्रिटिश समाजवादी विचारधारा का 'महान गौरव-ग्रन्थ' (Great Classic) समझी जाती है जिसमे टॉनी ने क्रियाहीन सम्पत्ति (Functionless Property) के दोषो पर प्रकाश डाला है। टॉनी के अनुसार वह सम्पत्ति क्रियाहीन सम्पत्ति है जो बिना किसी क्रिया अथवा सेवा के आय, लाभ एव सत्ता उत्पन्न करती है।[1] टॉनी ने इस सम्पत्ति को 'सीमित सम्प्रभुता' (Limited Sovereignty) की सज्ञा दी है क्योकि यह केवल अधिकारो को जन्म देती है, कर्त्तव्यों को नहीं। इसमे उत्तरदायित्व का तत्त्व निहित नही है, अत यह आसानी से अत्याचारी अथवा निरकुश बन जाती है। *ऐसी क्रियाहीन सम्पत्ति वैध सम्प्रभुता की सबसे बड़ी शत्रु है* और ऐसी सम्पत्ति का सग्रह पूँजीवादी व्यवस्था के कारण होता है।

टॉनी ने क्रियाहीन सम्पत्ति का विरोध किया है, छोटी निजी सम्पत्ति का नहीं। सम्पत्ति जब सीमित या बहुत थोडी मात्रा मे होती है तो वह उपयोगी और प्राय निर्दोष होती है, किन्तु जब वह अधिक मात्रा में हो जाती है तो हानिकारक और अनुत्तरदायी बन जाती है। "एक बडे निगम (A Large Corporation) के विरुद्ध मुख्य आपत्ति यही है कि वह औद्योगिक निरकुशवाद को सम्भव तथा अनेक परिस्थितियो मे आवश्यक बना देता है।"

टॉनी के अनुसार क्रियाहीन सम्पत्ति इसलिए अवांछनीय है क्योकि इसके आधार पर थोड़े से लोग समाज तथा शासन पर छा जाते हैं। यह सम्पत्ति न केवल असमानता उत्पन्न करती है बल्कि बौद्धिक और कुशलता के क्षेत्र मे भी अपना कुप्रभाव डालती है। ऐसी पूँजी औद्योगिक कुशलता को कुण्ठित कर देती है क्योकि यह उद्योग मे आलस्य को बढावा देती है। चाहे उत्पादक हो या प्रबन्धक—सभी की कुशलता पर इसका कुप्रभाव पडता है। क्रियाहीन सम्पत्ति परजीवी' (Parasite) के समान है जो उस अग को भी समाप्त कर देती है जिसने उसे उत्पन्न किया है।

टॉनी के अनुसार क्रियाहीन सम्पत्ति तथा इसके कुप्रभावों से मुक्त होने के लिए आवश्यक है कि औद्योगिक हित सामाजिक हितों के रूप मे सगठित किए जाएँ। उद्योगो की निरकुशता पर प्रतिबन्ध लगाया जाए और उनका उद्देश्य लाभ अर्जित करने के स्थान पर सामाजिक सेवा हो। उद्योगों को समाज के प्रति उत्तरदायी बनाया जाए।

क्लीमेण्ट एटली (Clement Attlee)

क्लीमेण्ट एटली लोकतान्त्रिक समाजवाद के उन विचारकों मे था जिसने

1 *Quoted in Ebenstein* Ibid, p. 562.

इग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री पद को भी सुशोभित किया था। अपनी पुस्तक 'The Labour Party in Perspective 1937' मे क्लीमेण्ट एटली ने एक विशेष बात यह कही है कि धर्म ने समाजवादी आन्दोलन के विकास मे योग दिया है। एटली के अनुसार इग्लैण्ड 'बाइबिल' के पाठको का राष्ट्र रहा है और यह धर्म-ग्रन्थ ऐसे क्रान्तिकारी विचारो से परिपूर्ण है जो व्यक्ति को अमानवीय दशाओ के विरुद्ध विद्रोह के लिए प्रेरित करते हैं। एटली का मत है कि समाजवादी आन्दोलनो के सचालन मे धर्म के प्रभाव का स्थान सबसे ऊपर है। समाजवादी मच से बाइबल के अनेक पाठों का प्रचार किया जाता है। एटली की दृष्टि मे लोकतन्त्र और समाजवाद मे कोई विरोध नही है, दोनो के क्रियान्वयन में कहीं असगति नही है। ससदीय व्यवस्था के माध्यम से आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन लाए जा सकते हैं और इग्लैण्ड मे इसका सफल परीक्षण होगा। एटली ने कहा कि इग्लैण्ड का चरित्र ही ऐसा है कि वह फासावादी और साम्यवादी विकल्पों को स्वीकार नहीं कर सकता। ब्रिटिश प्रणाली स्वतन्त्रता और सहनशीलता की पोषक है तथा समयानुकूल सामाजिक और आर्थिक ढाचे मे परिवर्तन लाने मे सक्षम है। ब्रिटिश पद्धति की यह विशेषता है कि इसमे पूँजीवाद के अनैतिक तत्त्वों को शान्तिमय साधनो से दूर करने का प्रयत्न किया जाता है।

इवान एफ एम डर्बिन (Evan F M Durbin)

अपने प्रामाणिक ग्रन्थ 'The Politics of Democratic Socialism,1940 मे इवान डर्बिन ने लोकतान्त्रिक समाजवाद के मूल मुद्दो को उठाया है। डर्बिन ने मार्क्सवाद के सर्वाधिकारवादी सिद्धान्त को ठुकरा कर लोकतान्त्रिक प्रणाली पर बल दिया है, हर दशा मे मतदानाओ के निर्वाचनाधिकार का समर्थन किया है और सरकार को उत्तरदायी बनाए रखने तथा विरोधियो के प्रति सहनशीलता की नीति अपनाने का आग्रह किया है। डर्बिन का पूर्ण विश्वास है कि इग्लैण्ड मे यह क्षमता है कि वह लोकतान्त्रिक ढग से अपनी आर्थिक समस्याओ को सुलझा ले।

फ्रांसिस विलियम (Francis William)

फ्रांसिस विलियम ने अपनी पुस्तक The Moral Case for Socialism 1949' मे समाजवाद के नैतिक पक्ष की विशद् व्याख्या की है। समाजवाद को प्राय भौतिक पक्ष से ही जोडा जाता रहा है, किन्तु विलियम ने इसके नैतिक पक्ष पर बल देते हुए कहा है कि आदर्शों और आशाओं से ओतप्रोत मानव एक नैतिक प्राणी है। विलियम के अनुसार समाजवाद का उदय ही इस विश्वास मे सन्निहित है कि व्यक्ति भौतिक नही, एक नैतिक प्राणी है। केवल भौतिक विचारो से ही नही, बल्कि व्यक्ति आदर्शों और आशाओ से भी प्रभावित और क्रियाशील होता है। पूँजीवादी इस दृष्टि से व्यक्ति की प्रकृति का निराशावादी दृष्टिकोण अपनाए हुए है कि वह (व्यक्ति) केवल लाभ या दण्ड द्वारा ही क्रियाशील होता है। साम्यवाद का दृष्टिकोण भी निराशावाद है क्योंकि उसका साधन हिंसा, भय और आतक जैसे अमानवीय तत्त्व हैं। विलियम के अनुसार केवल लोकतान्त्रिक समाजवाद ही व्यक्ति की प्रकृति के

आशावादी दृष्टिकोण का प्रतीक है क्योंकि इसमे 'सहयोग' और 'भ्रातृत्व' के मूल्य निहित हैं।

हैरॉल्ड जे लास्की (Harold J Laski)

यह बहुलवादी विचारक समाजवाद का समर्थक था और अन्यायपूर्ण पूंजीवादी व्यवस्था को मिटाना चाहता था। लास्की का मौलिक विश्वास व्यक्ति की स्वतन्त्रता मे था तथा उसकी आस्था समाज की सघात्मक प्रकृति मे थी। लास्की ने सदैव राज्य की शक्ति के लोकतन्त्रीकरण पर बल दिया और यह मत प्रस्तुत किया कि समाज म विभिन्न समूह होते हैं। इन समूहो को अपने अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्रता होनी चाहिए और इनको प्रशासन मे भाग लेना चाहिए। इनके बिना राज्य दमनकारी बन जाएगा तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता खतरे मे पड जाएगी। लास्की के ही शब्दो मे, "जब तक हम यह न मानें कि विकेन्द्रीकरण स्वतन्त्रता का रहस्य है, सरकार 'हम' के स्थान पर 'वे' बन जाएगी तथा पृथकता की भावना व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए दुर्भाग्यपूर्ण हो जाएगी। अत हमे स्मरण रखना चाहिए कि नियोजित लोकतन्त्र व्यक्तिगत नागरिक के विरुद्ध न होकर उसके लिए हितकर है।"

लास्की ने लोकतान्त्रिक समाजवाद मे विश्वास व्यक्त करते हुए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समथन किया और साम्यवादी सर्वहारा वग की तानाशाही को ठुकरा दिया। इस दृष्टि से उसकी कुछ महत्त्वपूर्ण मान्यताएँ ये हैं—(i) समाज का उद्देश्य राज्य से उच्चतर है, (ii) जब सरकार कोई निर्णय ले तो पूछताछ और समझौता वार्ता के लिए राज्य समूहो को उनका उचित स्थान प्रदान करे, (iii) स्वयसेवी सस्थाओ के प्रतिनिधि सामान्य हित के राजनीतिक और आर्थिक प्रश्नो पर परामर्श देने के लिए सरकार के साथ रहें, (iv) सरकार के हाथो शक्ति के केन्द्रीकरण को रोकने के लिए कानून बनाने की शक्ति प्रादेशिक और कार्यात्मक सभाओ को सौंपी जानी चाहिए (v) राज्य की तानाशाही के स्थान पर आर्थिक समूहो और व्यावसायिक सघो को राष्ट्र-मण्डल का रूप देना चाहिए जो सरकार के साथ-साथ काम करें।

लास्की ने लोकतान्त्रिक समाजवाद मे पूरी आस्था व्यक्त करते हुए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए राज्य-सत्ता को सीमित करने पर जोर दिया। उनका कहना था कि इस तथ्य के प्रति सदैव सजग रहना है कि सोवियत सघ की भाँति राज्य की शक्ति कही तानाशाही मे परिणत न हो जाए।

आर क्रासमैन (R Crossman)

क्रासमैन ने अपनी पुस्तक 'Socialism and the New Despotism, 1956 म लिखा है कि चूंकि अल्पाधिकार के दुरुपयोग को स्वतन्त्र प्रतियोगिता द्वारा रोका नही जा सकता, अत स्वतन्त्रता के विस्तार व प्रजातन्त्र की पूर्णता प्राप्त करने का केवल एक ही उपाय रह जाता है कि अर्थव्यवस्था को सावजनिक नियन्त्रण म रख दिया जाए।" क्रासमैन सार्वजनिक स्वामित्व के दोषो से अनभिज्ञ नही है तथापि वह अर्थव्यवस्था के सार्वजनिक नियन्त्रण को ही सर्वोत्तम उपाय

मानता है। इसे उत्तरदायी बनाने की दृष्टि से उसका सुझाव है कि ससद् और जन-प्रतिनिधियो का सार्वजनिक उद्योगों पर प्रभावशाली नियन्त्रण रहे।

जवाहरलाल नेहरू (Jawaharlal Nehru)

भारत मे स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू ने लोकतान्त्रिक समाजवाद की विचारधारा को बल प्रदान किया। उन्होने कहा कि साम्यवाद और फासीवाद दोनों पश्चिम की हवाएँ हैं और हिंसा तथा असहनशीलता की प्रतीक हैं। अत. अपने जीवन-मूल्यो और आदर्शों के प्रकाश मे भारत इन्हें स्वीकार नहीं कर सकता। भारत के सामने दो मार्ग हैं—एक लेनिन तथा मुसोलिनी का और दूसरा गाँधी का। चूँकि लेनिन और मुसोलिनी के तरीको मे भारी हिंसा है, अत: इन्हे नही अपनाया जा सकता। जवाहरलाल नेहरू ने यद्यपि स्पष्ट रूप से किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया, तथापि उनके भाषणों और कार्यकलापो से उनके लोकतान्त्रिक समाजवाद मे विश्वास की पुष्टि होती है। उन्होंने उपयोगिता और व्यावहारिकता की दृष्टि से देश के लिए जो नीतियाँ अपनाईं वे मूलत: लोकतान्त्रिक समाजवाद के अनुकूल थीं और उनके उत्तराधिकारी भी इन नीतियो का अनुसरण कर रहे हैं। नेहरू की विचारधारा के मुख्य तत्त्व थे—(1) धन का समान विवरण होना चाहिए, किन्तु उससे पूर्व उत्पादन बढ़ना आवश्यक है। जब तक वितरित करने के लिए सम्पत्ति नहीं होगी तब तक समान वितरण केवल दुख और निर्धनता का ही किया जा सकेगा। (2) रक्षा-उत्पादन तथा मूल उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए। इन पर राज्य का स्वामित्व और नियन्त्रण रहना चाहिए। (3) जिन क्षेत्रों मे निजी उद्यम नहीं पहुँच पाते वहाँ भी राज्य को प्रबन्ध करना चाहिए। (4) मिश्रित अर्थव्यवस्था भारत के लिए उचित है जिसमे निजी उद्यम और सरकारी उद्यम साथ-साथ चल सकते हैं। (5) देश का उत्पादन पर्याप्त रूप से बढ जाने पर प्रत्येक व्यक्ति को विकास के लिए समान अवसर देना सुगम होगा और राष्ट्रीय सम्पत्ति का न्यायपूर्ण वितरण सम्भव होगा। (6) सभी परिवर्तन सरकार द्वारा किए जाने चाहिएँ और जनता को ससद् के माध्यम से विश्वास मे लिया जाना चाहिए। नेहरू जीवन-पर्यन्त इन नीतियो को राष्ट्रीय जीवन में उतारने की चेष्टा करते रहे और ए अप्पादोराय के इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि "राजनीतिक शब्दावली मे नेहरू के लिए यही लोकतान्त्रिक समाजवाद था।" सक्षेप मे, इस लोकतान्त्रिक समाजवाद मे तीन बातें सम्मिलित हैं—(1) अधिग्रहण की प्रवृत्ति के स्थान पर सहयोग, (2) प्रत्येक के विकास के लिए समान अवसर, एव (3) इन लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए शान्तिपूर्ण तथा वैधानिक उपाय।

आलोचना और मूल्यांकन
(Criticism and Evaluation)

1 लोकतान्त्रिक समाजवाद एक आदर्श और जनहितैषी विचारधारा है तथापि यह कतिपय गम्भीर आलोचनाओं की शिकार हुई है। कहा जाता है कि यह विचारधारा दो परस्पर विरोधी मान्यताओ को सयुक्त करने का असफल प्रयास है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद में न तो लोकतन्त्र ही सुरक्षित रह पाता है और न समाजवाद ही आ पाता है। ई एम. बर्न्स के अनुसार लोकतान्त्रिक समाजवाद अपने आप में एक विरोधाभास है। जहाँ लोकतन्त्र व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता की माँग करता है और इसे साकार बनाने के लिए स्वतन्त्र राजनीतिक संस्थाओं की व्यवस्था करता है, वहाँ समाजवाद में राज्य के निरंकुश बनने की सम्भावना रहती है क्योंकि राज्य को व्यापक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। आश्चर्य की बात है कि लोकतान्त्रिक समाजवाद में इन दो एकदम विरोधी तत्त्वों को अर्थात् लोकतन्त्र विरोधी तथा लोकतन्त्र समर्थक तत्त्वों को संयुक्त करने का प्रयास किया गया है जो कि व्यवहार में असम्भव है। लोकतन्त्र राज्य की शक्तियों को मर्यादित कर व्यक्ति को अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्रदान करना चाहता है और इसके लिए भी प्रयत्नशील रहता है कि राज्य किसी बहाने अपनी दमनकारी शक्ति में वृद्धि न कर ले। लोकतन्त्र की भावना यह है कि राज्य की केवल सृजनात्मक शक्तियों का ही विकास हो और इसमें भी नागरिकों की स्वयं की भूमिका विशेष महत्त्व है। दूसरे शब्दों में, लोकतन्त्र की माँग है कि राज्य मुख्यतः उन्हीं कार्यों को सम्पादित करे जिन्हें व्यक्ति अकेला नहीं कर सकता। राज्य की दमनकारी शक्तियों का लोकतन्त्र में कोई स्थान नहीं है। पर जब हम समाजवाद पर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि इस विचारधारा में यह अन्तर करना बड़ा कठिन है कि राज्य को किस शक्ति को सृजनात्मक और किस को दमनकारी माना जाए। दोनों ही शक्तियाँ एक दूसरे से इतनी घुलमिल जाती हैं और राज्य पर इतना अधिक विश्वास किया जाने लगता है कि वही समाज-परिवर्तन, आर्थिक विकास और चरित्र-निर्माण का साधन बन जाता है। जब राज्य को इतने व्यापक अधिकार सौंप दिए जाते हैं तो यह आशा करना अव्यावहारिक है कि राज्य अपनी शक्तियों का सदुपयोग केवल सृजनात्मक विकास में ही करेगा। यह सम्भव है कि राज्य अपनी शक्तियों का प्रयोग सृजन के नाम पर दमन के लिए करे। यहाँ समाजवाद स्वतन्त्रता का शत्रु और लोकतन्त्र का विरोधी बन जाता है। लोकतान्त्रिक समाजवाद में परस्पर घोर विरोधी तत्त्वों को संयुक्त करने के प्रयास पर टिप्पणी करते हुए डर्बिन ने यहाँ तक कह दिया है कि "लोकतन्त्र के शत्रुओं को लोकतान्त्रिक अधिकार प्राप्त करने का कोई नैतिक आधार नहीं है।"[1]

2 लोकतान्त्रिक समाजवाद के आलोचकों का यह तर्क भी है कि इस विचारधारा में अन्ततोगत्वा लोकतन्त्र की भावना धूमिल और शिथिल पड़ जाती है तथा समाजवाद अधिनायकवाद का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार लोकतान्त्रिक समाजवाद अन्तिम रूप में राज्य का अधिनायकत्व है, राज्यवाद है और नौकरशाही से इस राज्यवाद को अधिकाधिक शक्ति प्राप्त होती है। लोकतान्त्रिक समाजवाद में नौकरशाही के प्रबल होने की पूरी सम्भावनाएँ रहती हैं और इसमें सन्देह नहीं कि नौकरशाही की बढ़ती हुई शक्ति लोकतन्त्र के विकास के लिए घातक है। यह एक

1 Quoted by *E. M. Burns* in 'Ideas Conflict', p. 185

ऐसी स्थिति है जिसमे केवल राज्याधिकारियो और राज्य-कर्मचारियो के भ्रष्टाचार को ही प्रोत्साहन नही मिलता बल्कि जन-साधारण का भी नैतिक पतन होने लगता है। नागरिको की राज्य-निर्माण की शक्ति का ह्रास होता है और उदासीनता, अकुशलता तथा कर्त्तव्यहीनता जैसे दुर्गुणो को प्रोत्साहन मिलता है। नागरिको की सृजनात्मक शक्तियो के विनाश से बढकर और कोई बडी हानि नही हो सकती।

3 लोकतान्त्रिक समाजवाद के विरुद्ध एक गम्भीर आलोचना इसके केंद्रीकृत स्वरूप की है। यह केन्द्रीकृत स्वरूप व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर सीधी चोट करता है। समाजवाद के नाम पर सत्ता का केन्द्रीकरण अलोकतान्त्रिक है। यह स्वाभाविक है कि ज्यो-ज्यों केन्द्रीकरण का विस्तार होगा त्यो त्यो राज्य की दमनकारी शक्ति का विकास होगा, और ज्यो-ज्यो राज्य की दमनकारी शक्ति बढेगी त्यों-त्यो व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित होगी तथा लोकतान्त्रिक तत्त्व कमजोर पडेंगे। यह आलोचना की जाती है कि लोकतान्त्रिक समाजवाद के अन्तर्गत उत्पादन घटता है तथा उपभोक्ताओ की कठिनाइयो मे वृद्धि होती है।

4 चौथी मुख्य आलोचना यह है कि लोकतान्त्रिक समाजवाद द्वारा प्रतिपादित शान्तिपूर्ण साधन व्यवहार मे अधिक प्रभावशाली सिद्ध नहीं होते। पूंजीपतियो से शान्तिपूर्वक आर्थिक शक्ति छीनना सम्भव नही है। व्यक्ति मे शक्ति प्रेम इतना होता है कि कोई भी स्वेच्छा से अपनी शक्ति का परित्याग नही करना चाहता। पूंजीपति वर्ग अपनी सत्ता, विलासिता और ऐश्वर्य मे तब तक कमी नही करेगा जब तक कि श्रमिको का सगठित विरोध उसे ऐसा करने को विवश न कर दे।

5 लोकतान्त्रिक समाजवाद के समर्थक नागरिको को विभिन्न स्वतन्त्रताएँ प्रदान कर आर्थिक समानता स्थापित करने की कामना करते हैं, किन्तु व्यवहार मे इन स्वतन्त्रताओ का प्रयोग पूंजीपति वर्ग ही करता है। गरीब, अशिक्षित और कमजोर श्रमिको मे उनका उपभोग करने की क्षमता, अवसर एव योग्यता नहीं होती। पैसे के बल पर पूंजीपति उनकी सारी स्वतन्त्राएँ अपने हाथ मे केंद्रित कर लेते हैं।

6. प्रजातान्त्रिक तरीके से समाजवाद लाने का मार्ग देखने मे सरल है, किन्तु व्यवहार मे कटकाकीर्ण है। पूंजीपतियो द्वारा अपने निहित स्वार्थों की रक्षा के लिए ऐसे तरीके अपनाए जाएँगे जिससे समाजवाद न आ सके और जनता इस आशा मे रहे कि एक दिन समाजवाद आएगा।

7 प्रजातान्त्रिक समाजवाद राज्य के माध्यम से ही समाजवाद लाने का स्वप्न देखता है। वह वर्तमान राज्य के हाथ मे उत्पादन और वितरण का स्वामित्व एव प्रबन्ध सौंपना चाहता है, किन्तु इसका परिणाम पूंजीवाद से भिन्न नही हो सकता। राज्य मुख्यत पूंजीपतियो की हितकारी सस्था है। इसके द्वारा समाजवाद का ढोग अवश्य रचा जा सकता है, किन्तु लाया नही जा सकता।

8 समाजवादी दर्शन श्रमिको को पूंजीपतियो के विरुद्ध उकसाता है, किन्तु राष्ट्रीयकरण के बाद भी ये श्रमिक राज्य-कर्मचारियो का विरोध करेंगे। वे कम काम के बदले अधिक सुविधाएँ पाने के लिए निरन्तर सघर्ष करते रहेंगे। इससे औद्योगिक अशान्ति फैलेगी, उत्पादन रुक जाएगा तथा अर्थव्यवस्था मे घुन लग जाएगा। पुनश्च, लोकतान्त्रिक समाजवाद मे व्यक्तिगत प्रेरणा न रहने से भी उत्पादन घटेगा और 'प्रत्येक का कार्य किसी का नही'.की स्थिति पैदा हो जाएगी।

9 अन्त मे, लोकतान्त्रिक समाजवाद के आलोचको के अनुसार यह विचारधारा ठोस आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक सिद्धान्तो पर आधारित नहीं है। पाल रेमेडीज के अनुसार, "इसका कोई दार्शनिक पक्ष नहीं है और सिद्धान्त के अभाव मे यह अपनी शक्ति खो बैठता है।"

लोकतान्त्रिक समाजवाद की उपर्युक्त आलोचनाएँ यद्यपि निराधार नही हैं, किन्तु अतिरंजित अवश्य हैं। कुछ आलोचनाएँ तो केवल आलोचना के लिए हैं। इस तथ्य को झुठलाना कठिन है कि लोकतान्त्रिक समाजवाद आधुनिक विश्व के दो मूल्यो (लोकतन्त्र और समाजवाद) को एक साथ मिलाने का ऐसा प्रयोग है जिसे सफलता मिल रही है। यदि लोकतान्त्रिक उच्छृंखलता और साम्यवादी निरंकुशता के बीच कही समझौता है तो वह लोकतान्त्रिक समाजवाद मे ही दिखायी देता है। इस विचारधारा ने स्वतन्त्रता और समानता के बीच एक उचित समन्वय स्थापित किया है तथा राज्य की सत्ता को सीमित और नियन्त्रित कर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा की है। इसी प्रकार सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व को मर्यादित कर आर्थिक समानता का मार्गदर्शन किया है। हमे यह नहीं भूलना चाहिए कि जो आशकाएँ समाजवाद के प्रति की जाती हैं वे लोकतन्त्र मे भी उत्पन्न हो सकती हैं। लोकतन्त्र और समाजवाद दोनो में ही एक छोटे से वर्ग का वर्चस्व छाया रहता है। यदि लोकतन्त्र मे स्वतन्त्रता के नाम पर एक छोटा सा साधन-सम्पन्न वर्ग वास्तविक शक्तियो और स्वतन्त्रताओ का उपभोग करता है तथा सुख भोगता है तो समाजवाद मे भी समाज-परिवर्तन का जिम्मा एक छोटा-सा वर्ग ही झेलता है और व्यापक शक्तियो का उपभोग करता है। लोकतान्त्रिक समाजवाद की अवधारणा मे लोकतन्त्र और समाजवाद दोनो की बुराइयो से बचते हुए और दोनो की अच्छाइयो को ग्रहण करते हुए यथासम्भव एक आदर्श समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की गई है और यह समन्वय ऐसा नही है जो व्यावहारिक न हो। विभिन्न देशो मे लोकतान्त्रिक समाजवाद का प्रयोग सफलतापूर्वक चल रहा है। हमारा अपना देश भारत इसका एक उदाहरण है। लोकतान्त्रिक समाजवाद ग्राह्य है क्योकि इसमे हिंसा का कोई स्थान नही होता। लोकतन्त्र से मुक्त होने पर यह समाजवाद का रूप धारण कर लेता है और साम्यवाद मे जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों से कोई लगाव नहीं होता। साम्यवाद न केवल जीवन के आधारभूत तत्वो की उपेक्षा करता है वरन् मानव-व्यवहार को उसके मापदण्डो और मूल्यो से भी वंचित कर देता है। आधुनिक विश्व मे आज की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो मे हम एक ऐसी अवधारणा का सहारा लेना ही होगा जो अहिंसक और सांविधानिक तरीको से तथा सारे समाज को साथ लेकर समाज मे परिवर्तन लाने की ओर उन्मुख हो। ऐसी अवधारणा के दर्शन हमें लोकतान्त्रिक समाजवाद मे होते हैं। यह सच है कि लोकतान्त्रिक तरीके से समाजवाद लाने मे समय अधिक लगेगा और क्रान्ति द्वारा जो कार्य कुछ दिनो मे हो सकता है वह लोकतान्त्रिक तरीके से कई वर्ष ले सकता है, लेकिन यह उक्ति भी अर्थपूर्ण है कि धीमी गति किन्तु दृढ़ कदम दौड मे ठोस विजय प्राप्त कराते हैं।

5 तर्कशीलता के विरुद्ध विद्रोह—विलियम मेक्डूगल, हेराल्ड लॉसवेल, एमाइल दुर्खीम, विल्फ्रेडो परेटो

(Revolt against Reason—William McDougal, Harold Lasswell, Emile Durkheim, Vilfredo Pareto)

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजनीतिक विचारक मनोविज्ञान की ओर अग्रसर हुए। तर्कशीलता अथवा बुद्धिवाद के प्रति विद्रोह का उदय हुआ और इस प्रवृत्ति को बुरा समझा जाने लगा कि लोग यह विश्वास करें कि प्राकृतिक शक्तियों पर ईश्वर का कोई नियन्त्रण नहीं होता, तर्क अथवा बुद्धि के द्वारा प्रकृति के सभी रहस्यों को जाना जा सकता है, प्रत्येक व्यक्ति तर्कशीलता या बुद्धि के आधार पर अधिकतम लाभ के लिए कार्य करता है, राज्य मानव-विवेक की उपज या अभिव्यक्ति है, आदि। तर्कवाद की प्रवृत्ति के प्रबल हो जाने के कारण मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ जिसे जन्म देने का श्रेय प्रतिभाशाली ब्रिटिश अर्थशास्त्री और बैंक व्यवसायी वाल्टर बेजहॉट को था। ग्राहम वैलास, मेक्डूगल, विलियम ट्राटर, आर एम मैकाइवर, एच आर रिवर्स, एल टी हॉबहाउस, समनर, लेस्टर एफ.वार्ड, गिडिंग्स कूले, एमाइल दुर्खीम, गैब्रियल टार्डे, विल्फ्रेडो परेटो आदि ने इस विचारधारा को बल प्रदान किया।

विलियम मेक्डूगल
(William McDougall, 1871–1938)

संक्षिप्त जीवन-परिचय एवं रचनाएँ

प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता विलियम मेक्डूगल का जन्म 1871 में हुआ था। वह ग्राहम वैलास का समकालीन था। और उसने वैलास के समान ही राजनीति को अपनी मनोवैज्ञानिक देन द्वारा समृद्ध किया। वह एक उच्च कोटि का विद्वान् था और उसने कैम्ब्रिज, लन्दन, ऑक्सफोर्ड, हार्वर्ड और ड्यूक आदि विभिन्न विश्वविद्यालयों में सेवा की। इस आंग्ल-अमेरिकी विद्वान् ने अनेक पुस्तकों की रचना

की जिन्हें राजनीति के विद्यार्थियों द्वारा सदैव बडी रुचि से पढा जाएगा और वे उनसे लाभान्वित होंगे। मेक्डूगल की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ निम्नलिखित हैं—.

1. Introduction to Social Psychology. (1910)
2. *The Group Mind.* (1920)
3. Social Psychology.
4. Outline of Psychology. (1923)
5. *World Chaos* (1931)

इस प्रतिभाशाली मनोवैज्ञानिक राजदर्शनशास्त्री का देहान्त 1938 मे हुआ।

मेक्डूगल का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त
(His Psychological Theory)

मेक्डूगल ने अपने सम्मानित ग्रन्थ 'सामाजिक मनोविज्ञान की भूमिका' (Introduction to Social Psychology) मे स्पष्ट किया है कि मनोविज्ञान व्यवहार एव आचरण का सामाजिक विज्ञान है जिसकी सहायता से राजनीति विज्ञान उपयोगी एव यथार्थवादी बन सकता है। मनोविज्ञान की खोजो से राजनीति को निश्चय ही लाभान्वित होना चाहिए। मनुष्य भावनाओ का पुन्ज है और राजनीति-शास्त्र को उपयोगी बनाने की दृष्टि से मानवीय भावनाओ, कामनाओ और विचारो का ध्यान रखना चाहिए। मानव-बुद्धि भावनाओ की तृप्ति के लिए तत्पर रहती है। मूल प्रवृत्तियो का मानव-व्यवहार में महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है। इसके महत्त्व को बतलाते हुए मेक्डूगल ने लिखा है कि "यदि मनुष्य मे इन शक्ति शाली वृत्तियों को निकाल दिया जाए तो किसी प्रकार की क्रिया के लिए समर्थन हो सकेगा। वह उस घडी के समान स्थिर तथा गतिहीन हो जाएगा जिसकी कमियाँ निकाल दी गई हो, अथवा उस भाप के इजन के समान होगा जिसकी आग बुझा दी गई हो। ये भावनाएँ तथा मानसिक शक्तियाँ हैं जो मनुष्यों और समाजो के जीवन को कायम रखती हैं और उनके रूप का निर्धारण करती हैं। उनमें जीवन, मृत्यु एव इच्छा का प्रमुख रहस्य निहित रहता है।"

मेक्डूगल ने मूल प्रवृत्तियों (Instincts) को मानव-व्यवहार का संचालिका शक्ति माना है। मूल प्रवृत्तियाँ, जीवन का प्रथम उद्देश्य और सब क्रियाओ का मूल स्रोत हैं, ये केवल उत्तेजना और किसी क्रिया के बीच की अज्ञात कडी मात्र नहीं हैं। अपने ग्रन्थ मनोविज्ञान की रूपरेखा (Outline of Psychology) मे मेक्डूगल ने मूल प्रवृत्तियो की सूचना दी है। उसके अनुसार प्रमुख मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं जिनमे प्रत्येक एक मनोभाव (Emotion) से सम्बद्ध होती है जो मनुष्यो को विशेष रूप से कार्य करने के लिए प्रेरित करती हैं। इस मनोभाव को हम सम्बद्ध सवेग (Emotion) कहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि मूल प्रवृत्ति (Instinct) 'पलायन' (Escape) की है तो उसके साथ भय (Fear) का सवेग (Emotion) विद्यमान रहता है। मेक्डूगल ने सम्बद्ध-सवेगो सहित मूल प्रवृत्तियो की निम्नलिखित सूची प्रस्तुत की है।

मूल प्रवृत्तियाँ (Instincts)	सम्बद्ध संवेग (Emotions)
1 पलायन (Escape)	1. भय (Fear)
2 युयुत्सा (Pugnacity)	2 क्रोध (Anger)
3 निवृत्ति (Repuleion)	3 घृणा (Disgust)
4 पुत्र कामना (Parental Instinct)	4 वात्सल्य (Tender emotion)
5 शरणागति (Appeal)	5 करुणा (Distress)
6 काम (Mating)	6 कामुकता (Lust)
7 जिज्ञासा (Curiosity)	7 आश्चर्य (Wonder)
8 दीनता (Submission)	8 आत्महीनता (Negative Self feeling)
9 आत्म-प्रकाशन (Self assertion)	9 आत्माभिमान (Positive self feeling)
10 सामूहिकता (Gregariousness)	10 एकाकीपन (Loneliness)
11 भोजन की खोज (Food seeking)	11 भूख (Appetite)
12 संग्रह (Acquisition)	12. स्वामित्व (Ownership)
13 रचना (Constructiveness)	13 रचनात्मक आनन्द (Feeling of creativeness)
14 हास (Laughter)	14 प्रसन्नता (Amusement)

उपर्युक्त मूल प्रवृत्तियों के अतिरिक्त अन्य निम्न श्रेणी की प्रवृत्तियाँ भी होती हैं यथा छींकना, खाँसना, मलमूत्र-त्याग करना आदि। इनका यद्यपि कोई सामाजिक महत्त्व नहीं है तथापि इनका क्षणिक वेग बहुत प्रबल होता है। मेक्डूगल ने उपर्युक्त 14 मूल प्रवृत्तियों के अतिरिक्त 4 सामान्य वृत्तियाँ (Natural Tendencies) का भी उल्लेख किया है—

1 संकेत (Suggestion),
2 सहानुभूति (Sympathy),
3 अनुकरण (Imitation), एवं
4 खेल (Play)।

सामान्य वृत्तियों के साथ कोई सम्बद्ध संवेग (Emotion) नहीं होता। मेक्डूगल के अनुसार प्रमुख मूल प्रवृत्तियाँ मानव-व्यवहार की संचालिकाएँ हैं। ये परिवार, सामाजिक वर्ग-व्यवस्था, युद्ध, धर्म तथा अन्य सामाजिक क्रियाओं के लिए आवश्यक उद्देश्य प्रदान करती हैं। मेक्डूगल का कहना है कि ये प्रवृत्तियाँ व्यक्ति द्वारा स्वयं अर्जित नहीं की जाती बल्कि ये जन्मजात होती हैं। ये आदि मानव की प्रथम क्रियाएँ थीं। इनके बिना मानसिक और शारीरिक यन्त्र स्पन्दनहीन हो जाते हैं।

आचरण पर मेक्डूगल के विचार
(McDougall on Behaviour)

मेकडूगल के अनुसार आचरण सहज-क्रिया (Reflexes) का परिणाम नहीं है। सामान्य रूप से आचरण कही जाने वाली क्रियाएँ सहज क्रियाओं से भिन्न होती हैं। आचरण के स्वयं के कुछ लक्षण होते हैं। आचरण कुछ अंशों में स्वतः वृत्ति-

(Spontaniety) और पर्यावरण से मुक्ति प्रदर्शित करता है, किन्तु यह एक सीमा तक पर्यावरण से प्रभावित भी होता है । क्षणिक उद्दीपन (Momentary Stimulus) से प्रेरित होने के बाद आचरण की क्रियाएँ उद्दीपन समाप्त हो जाने पर भी विशेष दिशा मे सतत् रूप से सचालित रहती हैं। आचरण की क्रियाओ मे बाधा प्रस्तुत होने पर भी उन बाधाओ को पार करके लक्ष्य तक पहुँच जाता है। विविध प्रकार के प्रयत्न इच्छित परिणाम प्राप्त कर लेने के बाद समाप्त हो जाते हैं। बहुधा आचरण की क्रियाओ का प्रथम चरण उन मानसिक क्रियाओ का समूह होता है जो द्वितीय चरण के आगमन के लिए पृष्ठभूमि तैयार करने मे सहायक होते हैं और यदि आचरण को उत्पन्न करने वाली स्थिति की पुनरावृत्ति बार-बार होती है तो विविध प्रकार का आचरण (The Va ied Behaviour) एक अधिक निश्चित आकार ग्रहण कर लेता है।

मानव प्रकृति पर मैक्डूगल के विचार
(McDougall on Human Nature)

मैक्डूगल बेन्थम की इस धारणा से असहमत है कि सभी मानव-कार्य स्वार्थ से प्रेरित होते हैं। उसके मतानुसार, "मानव-स्वभाव कतिपय वृत्तियो का समूह है और ये वृत्तियाँ नि स्वार्थ भावना से प्रेरणा ग्रहण करती हैं। इन वृत्तियो मे माता का प्रेम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और इसी से उदारता एव विशाल-हृदयता के नाना रूपो का प्रादुर्भाव होता है। न केवल परिवार बल्कि सम्पूर्ण सामाजिक जीवन प्रेम-भावनाओ (Sentiments of Love) पर आश्रित है।" रोक्को (Rockow) के अनुसार, "दासता की समाप्ति मे, युद्धो के भय कम करने के प्रयत्नों मे और वृद्धों तथा असहायो के लिए सामूहिक उत्तरदायित्व के हाल ही मे विकसित विचार के मूल मे यही (मातृ-प्रेम) क्रियात्मक कारण है।"[1]

मैक्डूगल ने बेन्थम की इस धारणा का खण्डन किया है कि मनुष्य के सभी कार्य सुख की प्राप्ति और दु ख से बचने की भावना से प्रेरित होते हैं। उसका विचार है कि मानव-प्रकृति आवश्यक रूप से बहुलवादी (Pluralistic) है न कि एकाकी (Monoistic)। मानव कार्य किसी एक ही इच्छा से प्रेरित न होकर अनेक और परस्पर-सम्बन्धित प्रवृत्तियो द्वारा प्रेरित होते हैं। जब कोई महिला अपने बच्चे को बचाने के लिए स्वय के जीवन को खतरे मे डालती है तो उसका यह कार्य *सुखवादी मापक यन्त्र (Hedonistic Calculator) से निर्धारित नहीं होता* बल्कि उसके मातृ-प्रेम की प्रतिक्रिया होती है। उसके इस कार्य मे सुख प्राप्ति की कोई स्वार्थपूर्ण इच्छा निहित नहीं होती। इसी तरह जब मनुष्य अपने साथियो का साहचर्य प्राप्त करने की इच्छा करता है तो वह सुख प्राप्त करने के उद्देश्य से नहीं प्रत्युत साहचर्य की भावना से प्रेरित होता है। मैक्डूगल के अनुसार सुख और दु ख स्वयमेव कार्यों का मूल-स्रोत नहीं हैं। इनके द्वारा किसी विशिष्ट क्रिया की अवधि

1 *Rockow* op. cit, p 15.

निर्धारित होती है। सुख (Pleasure) आनन्द (Happiness) नहीं होता। सुख तो क्षणिक होता है जबकि आनन्द (Happiness) उन सब भावनाओं की उत्पत्ति है जिनसे मानव-व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

सामूहिक मस्तिष्क पर मेक्डूगल के विचार
(McDougall on Group Mind)

अपने ग्रंथ समूह-मस्तिष्क (Group Mind) मे मेक्डूगल ने मानव आचरण से सम्बन्धित मौलिक सिद्धान्तो के आधार पर विभिन्न समूहो के आचरण का विवेचन किया है। जनश्रुति है कि मेक्डूगल का समूह-मस्तिष्क (G oup Mind) प्लेटो के गणतन्त्र (Republic) का पुनर्जन्म है। उसके मतानुसार भाव एव भावनाएँ व्यक्तिगत आचरणो की भाँति सामूहिक आचरणों को भी निर्धारित करती हैं। वह सामूहिक चेतना की समीक्षा उसी पद्धति से करता है जिस पद्धति मे एक प्राकृतिक वैज्ञानिक प्राकृतिक जगद् की विवेचना करता है। इस विषय मे उसने प्राणिशास्त्र, इतिहास और समाजशास्त्र से प्रेरणा ग्रहण की है। वह कहता है कि सुव्यवस्थित समाज एक सजीव इकाई है जिसका अपना अस्तित्व और व्यक्तित्व है। प्रत्येक समूह की मानसिक व्यवस्था होती है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति का मन उस समूह की इकाई होता है। सामूहिक मस्तिष्क सोचता है और सजीव प्राणी की तरह कार्य करता है। इसके अस्तित्व के अपने नियम हैं। अपने नियमो के अनुसार ही वह प्रगति करता है। समूह से पृथक् हो जाने पर व्यक्ति के कार्य समूह के कार्यों से भिन्न हो जाते हैं। मेक्डूगल का विश्वास था कि "सामाजिक व्यवस्था एव ढाँचा हर तरह से उतना ही मानसिक और मनोवैज्ञानिक है जितनी व्यक्ति के मस्तिष्क की बनावट और कार्य-प्रणाली होती है।" राज्य के अन्तर्गत अनेक छोटे-छोटे समुदाय होते हैं जिनके द्वारा मनुष्य सामूहिक मस्तिष्क के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है।

मेक्डूगल जनमत का बहुत गुणगान करता है और उसे एक बुद्धिपूर्ण एव मान्य मार्गदर्शन समझता है। उसके अनुसार जनमत की सर्वोत्तम व्याख्या समाज के सर्वोत्तम मस्तिष्को द्वारा ही की जा सकता है। इन्ही विचारो के कारण मेक्डूगल को रोक्को ने प्लेटोवादी (Platonis.) कहा है, किन्तु वास्तविकता यह है कि मेक्डूगल और प्लेटो मे बहुत कम साम्य है।

राष्ट्र के विषय में मेक्डूगल के विचार
(McDougall on the Idea of the Nat on)

मेक्डूगल के मतानुसार, "राष्ट्र एक जाति अथवा समूह है जिसे किन्हीं अंशो मे राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त है तथा जिसका अपना विशिष्ट राष्ट्रीय मन अथवा चरित्र होता है। इसका मूल तत्त्व मनोवैज्ञानिक है और इसकी मानसिक व्यवस्था इसे सामूहिक जीवन प्रदान करती है।' राष्ट्रीय मस्तिष्क (विचारधारा) एक व्यक्ति के मस्तिष्क के समान है जिसमे केवल मानसिक चेतना ही नही होती वरन् भावना एव क्रियाशीलता की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। राष्ट्रीय मस्तिष्क एक निश्चित विचारधारा है जो किसी एक व्यक्ति अथवा समस्त व्यक्तियो की विचारधाराओं के

...ान से भिन्न होती है। इस प्रकार की राष्ट्रीय भावना अथवा राष्ट्रीय मस्तिष्क का उदय तभी होता है जब राष्ट्र की सम्पूर्ण इकाइयों में एकरसता (Homogeneity) हो। एकरसता अथवा एकता की यह भावना निम्नलिखित तत्त्वों से मिलकर निर्मित होती है—

(1) सामान्य नस्ल (A Common Race)
(2) सदस्यों के बीच विचारों के आदान-प्रदान की स्वतन्त्रता
(3) योग्य नेता (Eminent Leaders)
(4) एक स्पष्ट तथा निश्चित सामान्य उद्देश्य, विशेषकर राष्ट्रीय संकट के अवसर पर
(5) अस्तित्व की लम्बी अवधि
(6) राष्ट्रीय विचारधारा (National Mind)
(7) राष्ट्रीय आत्म-चेतना (National Self consciousness)
(8) अन्य राष्ट्रों से स्पर्द्धा (Emulation with other Nations)

मेकडूगल के अनुसार राष्ट्रीयता की भावना वह शक्तिरूपी माला है जो मनुष्यों को एकता के सूत्र में पिरोती है। यह केवल भावना तक ही सीमित नहीं है वरन् वह मनोवृत्ति है जिसके भावनात्मक और प्रभावात्मक दोनों पहलू होते हैं। एक राष्ट्र के व्यक्ति न केवल राष्ट्रहित के लिए सदैव क्रियाशील रहते हैं बल्कि राष्ट्र के लाभ के लिए अनेक बलिदान भी करते हैं। मेकडूगल का कहना है कि किसी भी राष्ट्र का कोई एक कार्य सुनिश्चित परिपाटी के अनुसार सामूहिक रूप से भली प्रकार सोच विचार किया हुआ, सबके हित के लिए सबके द्वारा किया गया कार्य होता है। राष्ट्र का जीवन-काल बहुत लम्बा होता है और इसमें एक दीर्घ भूतकाल तथा दीर्घ भविष्य समाविष्ट रहता है।

मेकडूगल-दर्शन की आलोचना और महत्त्व
(Criticism and Importance of McDougall's Philosophy)

मेकडूगल के सिद्धान्तों के प्रति गम्भीर आपत्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं जो इस प्रकार हैं—

1 मेकडूगल का मत है कि भावों का वैयक्तिक और सामाजिक क्षेत्रों में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। किन्तु भावों की अभिव्यक्ति एक निश्चित सामाजिक स्थिति में होती है और इसी स्थिति के द्वारा उनकी रूपरेखा निश्चित होती है। वे कभी शून्य में कार्य नहीं करते। सामाजिक जीवन की रूपरेखा के निर्णायक तत्त्व भूख और प्यास, काम और प्रेम नहीं हैं, बल्कि वह ठोस और निश्चित क्रियाएँ हैं जिनके द्वारा उनकी तुष्टि होती है तथा मनुष्य के अनुभव और विचारों की उत्पत्ति होती है। बार्कर का यह कहना सही है कि "मेकडूगल भावों का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है, लेकिन उसने यह स्पष्ट करने की कोशिश नहीं की कि समाज में वे भाव किस प्रकार अवतरित होते हैं। इस प्रकार मेकडूगल एक ऐसे यात्री की भाँति है जो

तैयारियाँ करके ही रह जाता है, वास्तविक यात्रा का आरम्भ कभी नही करता। बुद्धिवादी चाहे काफी तैयारी न करता हो, लेकिन वह राज्य मे यात्रा और उसकी खोज अवश्य करता है।"

2 मेकडूगल की आलोचना मे कहा जाता है कि उसकी विवेचना की विधि चरित्र और वातावरण मे तथा प्रकृति और वृत्तियो मे अनावश्यक भेद करती है। सम्पत्ति की भावना पर आधारित परिवार को सगठित करना व्यर्थ है। वास्तविक महत्त्व तो इस बात मे है कि इस प्रकार की नैसर्गिक प्रवृत्तियो (Instincts) का सामाजिक व्यवस्था मे क्या स्थान है। उचित यही है कि व्यक्ति को वातावरण की पृष्ठभूमि म परखा जाए।

3 मेकडूगल ने नैसर्गिक प्रवृत्तियो को बहुत अधिक महत्त्व दिया है और नैसर्गिक आवेगो और बुद्धिपूर्ण आवेगो (Instinctive Impulses and Intelligent Impulses) के बीच भी कोई स्पष्ट रेखा नही खीची है। वैलास और हॉबहाउस के कथनानुसार केवल हमारी नैसर्गिक वृत्तियाँ (Instincts) ही नही अपितु हमारी बुद्धिमत्ता भी वशानुक्रमगत (Hereditary) होती है। इस दिशा मे हॉबहाउस के ये शब्द उल्लेखनीय है—"हमे अपने माता-पिता से केवल अनुभूति और आवेग ही नही अपितु इनसे अच्छे बुरे की पहचान, विश्लेषण और सगठनात्मक बुद्धि भी प्राप्त होती है। हमने बुद्धिमत्ता को व्यक्ति की उपज मानकर विरोध किया है और नैसर्गिक वृत्ति को पतृक माना है किन्तु योग्यता के रूप मे बुद्धिमत्ता पैतृक या वशानुक्रमगत है। उत्सुकता तथा खोज, विश्लेषण तथा तुलना की विधियो मे वशानुक्रमगत ढाँचे का मूल आधार निहित होता है।"

बुद्धि प्रत्येक कार्य मे रूढिवादिता को कम करती है और विशिष्ट स्थितियों म परिवर्तित करती है। यह (बुद्धि) न तो नैसर्गिक वृत्तियो से पृथक् होती है और न उनके अधीन। यह तो इनसे सहयोग करती है, इनका परिमार्जन करती है और अन्त मे हमारी विविध वृत्तियो का एकीकरण कर उनको एक ठोस इकाई बनाती है।

4 एक वर्ग या सगठित समूह अलग-अलग व्यक्तियो के समूह से कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकता है और विशेष व्यक्तियो के परिवर्तन के पश्चात् भी जीवित रह सकता है, परन्तु इसका यह आशय नही है कि मानसिक शक्ति से भी ऊँची कोई शक्ति है। समाज व्यक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण से ही सवेदनशील अथवा मनोवैज्ञानिक है। समाज बहुत दिनो तक जीवित रह सकता है किन्तु उसके समस्त कार्यों का सचालन व्यक्तियों द्वारा ही होता है। इसकी परिपाटियो को व्यक्ति ही पूर्ण कर सकते हैं।

5 मेकडूगल ने राष्ट्रीय आत्मा और राष्ट्रीय-मन या मस्तिष्क (Nat onal Soul or National Mind) का जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, वह मान्य नही हो सकता। हमारे पास ऐसी कोई कसौटी नही है जिसके द्वारा राष्ट्र के उद्देश्यो की एकता तथा ठोसता को मालूम किया जा सके। केवल एक कुशल सेना मे ही आदर्श एकता विद्यमान हो सकती है।

6. राष्ट्रीय समूह की व्याख्या करते समय मेकडूगल राष्ट्र और राज्य (Nation and State) के अन्तर को भूल गया प्रतीत होता है। राष्ट्र एक परिपाटी, सभ्यता तथा भावना है, राज्य एक व्यवस्था तथा संगठन है। राज्य इतना पुराना है जितनी सभ्यता, परन्तु राष्ट्र का विकास थोड़े समय से ही हुआ है। मेकडूगल के मतानुसार ब्रिटेन के निवासी राष्ट्रीय संगठन का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं, किन्तु यह धारणा सही नहीं है क्योंकि ब्रिटिश जनता तीन विभिन्न राष्ट्रीयताओं–अंग्रेजी (The English), स्कॉच (Scotch) तथा वेल्श (Welsh) का समूह है।

यद्यपि मेकडूगल के दर्शन में अनेक त्रुटियाँ हैं, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसके दर्शन ने मनोवैज्ञानिक योगदान द्वारा राजनीति-शास्त्र को अधिक सम्पन्न बना दिया है। मेकडूगल ने मानव आचरण के कतिपय अंगों पर, जिनके विषय में पहले ज्ञान नहीं था, पर्याप्त बल दिया है। उसका 'समूह-मस्तिष्क' (Group Mind) का सिद्धान्त वस्तुतः एक अमूल्य देन है, यद्यपि इस सिद्धान्त में समूहों की एकता और संगठन को इतना महत्त्व दिया गया है कि इसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व गौण हो गया है। मेकडूगल के सिद्धान्तों का महत्त्व इस बात में है कि उनके संदर्भ में किसी राजनीतिक प्रक्रिया को अधिक सुन्दरता से समझा जा सकता है।

हैराल्ड लॉसवेल
(Harold Lasswell)

हैराल्ड लॉसवेल 20वीं शताब्दी के उन जीवित लेखकों में प्रमुख हैं जिन्होंने राजनीति-शास्त्र के अध्ययन को नई दिशा प्रदान की है और विषय की वास्तविकताओं के निकट तक पहुँचने के लिए नूतन पद्धतियाँ और विश्लेषण के नवीन तथ्यों का उद्घाटन किया है। उसका जन्म सन् 1902 में हुआ और यूरोप तथा अमेरिका के प्रख्यात शिक्षण-केन्द्रों में उसने शिक्षा प्राप्त की। लॉसवेल की रचनाओं में विषय की मौलिकता और विचारों की स्पष्टता के कारण राजनीतिशास्त्र की दुनिया में उनका भारी प्रभाव है। उनकी डॉक्टरेट की तैयारी में आधुनिक अमेरिकी राजनीति-विज्ञान के सुविख्यात विद्वान् चार्ल्स मेरियम ने उनका पथ-प्रदर्शन किया था, अतः स्वभावतः उनके दर्शन पर मेरियम का प्रभाव व्यापक रूप से दिखाई देता है। लॉसवेल पर जिन अन्य विद्वानों का प्रभाव पाया जाता है, वे हैं 20वीं शताब्दी के महान् दार्शनिक व्हाइट हैड, विख्यात मनोवैज्ञानिक सिगमण्ड फ्रॉयड तथा ग्राहम वैलास और जर्मन समाजशास्त्री वीरकान्त। लॉसवेल को राजनीति में वैज्ञानिक और अनुभववादी सिद्धान्त का प्रवक्ता माना जाता है। उन्होंने मनोरोग विज्ञान (Psychopathology) के उन तथ्यों के विश्लेषण की ओर राजनीतिक वैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित किया है जिनसे वे लगभग अनभिज्ञ थे। लॉसवेल की प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(1) Psychopathology and Politics
(2) World Politics and Personal Insecurity
(3) Politics : Who Gets What, When, How ?
(4) Democratic Character
(5) The Analysis of Political Behaviour : An Empirical Approach
(6) Power and Society (Lasswell and Kaplan).

लॉसवेल के दर्शन की पृष्ठभूमि

लॉसवेल के पूर्व राजनीति-विज्ञान परम्परावादी मान्यताओं से ग्रसित था। ग्राहम वैलास ने सन् 1908 में प्रकाशित अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'ह्यूमन नेचर इन पॉलिटिक्स' में इस बात पर खेद प्रकट किया कि राजनीति का अध्ययन केवल राजनीतिक संस्थाओं तक ही सीमित है, राजनीति के विद्यार्थी मनुष्य के विश्लेषण से बचते हैं। आर्थर बेंटले ने भी लगभग इसी समय लिखा कि हमारा राजनीति-विज्ञान मृत है क्योंकि यह केवल शासन-संस्थाओं के अत्यधिक बाह्य लक्षणों का एक औपचारिक अध्ययन मात्र बना हुआ है। राजनीतिक वैज्ञानिकों में इस प्रकार के असन्तोष का परिणाम यह हुआ कि संस्थाओं से हट कर उनकी कार्य पद्धति पर ध्यान केन्द्रित किया जाने लगा। राजनीति-विज्ञान को व्यवहार-विज्ञान का रूप देने में चार्ल्स मेरियम अग्रणी थे। उन्होंने सन् 1921 में 'अमेरिकन पॉलिटिकल साइंस रिव्यू' में प्रकाशित एक लेख में यह विचार व्यक्त किया कि समाजशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान, भूगर्भशास्त्र, सांख्यिकी आदि में विकसित पद्धतियों को राजनीति-शास्त्र के अध्ययन में अपनाया जाना चाहिए। सन् 1925 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'न्यू आसपैक्ट्स ऑफ पॉलिटिक्स' में उसने राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन के लिए लगभग वैसे ही लक्ष्यों, पद्धतियों और तकनीकों को अपनाने पर बल दिया जो व्यवहार-विज्ञान के लिए आवश्यक मानी जाती है। सन् 1925 में 'अमेरिकन पॉलिटिकल साइंस एसोसिएशन' के अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने यह आशा व्यक्त की कि निकट भविष्य में ऐसा समय आएगा जब हम अन्य विज्ञानों के समान राजनीति-शास्त्र में भी संस्थागत दृष्टिकोण के अतिरिक्त अन्य दृष्टिकोणों को भी अपनाएँगे और राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन को अपने अनुसन्धान का एक आवश्यक लक्ष्य मानेंगे। मेरियम का आशावाद सत्य सिद्ध हुआ। राजनीति-शास्त्र के क्षेत्र में भी अन्तर-अनुशासनीय दृष्टिकोण अपनाया जाने लगा। लॉसवेल, ट्रूमैन, हर्बर्ट साइमन, आमण्ड आदि लेखकों ने मेरियम से प्रेरणा ग्रहण कर राजनीति-विज्ञान को व्यवहार-विज्ञान की दिशा प्रदान करने का बीड़ा उठाया। इस दिशा में लॉसवेल ने इतना काम किया कि उसे परम्परागत राजनीति-शास्त्र को व्यवहारवादी राजनीति-शास्त्र से संयुक्त करने की सबसे शक्तिशाली कड़ी माना जा सकता है। 'साईको-पैथोलाजी एण्ड पॉलिटिक्स' (1935) 'वर्ल्ड पॉलिटिक्स एण्ड पर्सनल इनसिक्यूरिटी' (1935) तथा पॉलिटिक्स हू गैट्स ह्वाट, ह्वेन, हाउ' (1936) में लॉसवेल ने राजनीतिक अध्ययन में मनोवैज्ञानिक साधन अपनाने तथा सभी सामाजिक विज्ञानों की मूलभूत एकता तथा राजनीति-शास्त्र की शोध-सामग्री को संख्याबद्ध करने की उपयोगिता पर जोर दिया।

लॉसवेल का दर्शन

1. राजनीति-विज्ञान की अध्ययन-पद्धति और विषय क्षेत्र—लॉसवेल के अनुसार राजनीति-विज्ञान प्रभाव तथा प्रभावी (Influence and Influential) का अध्ययन है। वह राजनीति विज्ञान के अध्ययन को कुछ संस्थाओं तक ही सीमित

राजनीति, प्रमुख राष्ट्रों के संविधानों, सरकारों और समूहों, स्थानीय शासन और लोक प्रशासन, सरकार एवं राजनीतिक धारणाओं, लोक-कल्याण, न्याय आदि सभी का वस्तुपरक (Objective) अध्ययन शामिल है।

2 शक्ति और व्यक्तित्व के पारस्परिक सम्बन्ध और लासवेल के विचार—लॉसवेल ने शक्ति को एक अन्तर-वैयक्तिक (Inter-personal) अवस्था माना है। जिन लोगों के पास शक्ति है वह उन्हें प्रदान की जाती है। वे इस प्रदत्त शक्ति पर ही आश्रित रहते हैं और तब तक शक्ति का उपभोग करते रहते हैं जब तक कि शक्ति प्रदान करने वाले स्रोत ही निष्क्रिय नहीं हो जाते। लॉसवेल ने दूसरों पर अपने मूल्यों को लागू करके एवं समाज के लिए महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने की क्षमता को शक्ति माना है। राजनीतिक व्यक्ति वह होता है जिसका प्रमुख मूल्य अर्थात् उद्देश्य इस शक्ति को प्राप्त करना है। इस तरह राजनीति का मुख्य सार शक्ति है। समाज में शक्ति-सम्बन्धों की रचना आदान-प्रदान द्वारा होती है और आदान-प्रदान की यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। प्रभाव, सत्ता, अनुनय, दबाव, दमन, बल आदि शक्ति सम्बन्धों के ही विभिन्न स्वरूप हैं। जब मानव-सम्बन्ध शक्ति सम्बन्धों में परिवर्तित हो जाते हैं तो समझना चाहिए कि सम्बन्धों का राजनीतिकरण हो गया है। राजनीतिकरण की इस प्रक्रिया का अन्तिम परिणाम एक सर्वाधिकारवादी राज्य (Totalitarian) की स्थापना होता है। कालान्तर में यह सर्वाधिकारवादी राज्य 'कारागार राज्य' का रूप धारण कर लेता है।

3 सामाजिक प्रक्रिया के रूप में शक्ति-अवधारणा—लॉसवेल ने सामाजिक प्रक्रिया के रूप में शक्ति की अवधारणा की व्याख्या की है। सामाजिक प्रक्रिया के रूप में शक्ति एक 'मूल्य' है जिसकी प्राप्ति की सभी लोग आकांक्षा करते हैं। निर्णय-प्रक्रिया में भाग लेना एक मूल्य है, धन प्राप्ति भी एक मूल्य है, किन्तु साथ ही ये मूल्य 'शक्ति' के द्योतक भी हैं। समाज में जो विभिन्न संस्थाएँ पाई जाती हैं वे उन मूल्यों को प्राप्त करने का साधन हैं। यद्यपि सभी लोग शक्ति की आकांक्षा करते हैं, तथापि इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी व्यक्तियों में शक्ति-प्राप्ति की इच्छा समान रूप से तीव्र होती है या जन्मजात होती है या सभी इसकी प्राप्ति में सफल होते हैं।

लॉसवेल ने मूल्यों को सापेक्ष माना है। विभिन्न समुदायों, व्यक्तियों और इतिहास के विभिन्न युगों में मूल्यों की 'भिन्नता' दिखाई देती है। समाज की संस्थाएँ मूल्यों का स्वरूप निर्धारित करती हैं। लॉसवेल ने मूल्यों और संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धों को एक तालिका द्वारा स्पष्ट किया है—

मूल्य	संस्था
1. शक्ति (Power)	सरकार
2. सम्मान (Respect)	सामाजिक वर्ग-भेद
3. अनुराग (Affection)	परिवार, मित्रता आदि
4 शुद्धता (Rectitude)	चर्च, घर आदि
5. कल्याण (Wellbeing)	चिकित्सालय आदि
6. सम्पत्ति (Wealth)	व्यापार
7. ज्ञानोदीप्ति (Enlightenment)	अनुसंधान, शिक्षा आदि
8. दक्षता (Skill)	व्यवसाय

इस तालिका द्वारा लॉसवेल ने यह प्रदर्शित किया है कि समाज किन गुणो को मूल्य मानता है और मूल्यों एवं संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्ध क्या हैं। लॉसवेल ने 'Politics : Who Gets What, When, How' मे प्रतिष्ठा, सुरक्षा और आय (Deference, Safety and Income) को मूल्यो के रूप मे प्रस्तुत किया है किन्तु अपनी दूसरी पुस्तक 'Democratic Characte ' मे मूल्यो की सख्या तीन से बढ़ाकर आठ कर दी है। हमे इन मूल्यो को निश्चित कथन के रूप मे नही लेना चाहिए। इनके अतिरिक्त और भी मूल्य हो सकते हैं। लॉसवेल ने केवल कुछ चुने हुए मूल्यो की ही सूची दी है और इस सूची मे दिए हुए मूल्यो मे परिवर्तन भी आ सकते हैं। समाज और पर्यावरण के तत्त्वों मे परिवर्तन होता रहता है, व्यक्तियो का वस्तुओ के प्रति दृष्टिकोण बदलता रहता है और इस प्रकार के परिवर्तन व्यक्ति द्वारा प्राप्त मूल्यो मे परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। मूल्य तभी तक स्थायी होते हैं जब तक परिवर्तित परिस्थितियो मे इनको प्राप्त करने से वही परिणाम निकलते हैं। लॉसवेल ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मूल्य परिस्थितियो के अनुसार परिवर्तनशील हैं। न तो ये निश्चित होते हैं और न इनका कोई अपना निश्चित महत्त्व ही होता है। व्यक्ति की दृष्टि किसी भी वस्तु को मूल्य बना देती है। मूल्यो के प्रतिरूप बदलते रहते हैं।

लॉसवेल के अनुसार शक्तियो के उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर नीतियो का निर्माण किया जा सकता है और यदि कोई व्यक्ति नीतियो के कार्यान्वियन के मार्ग मे बाधाएँ प्रस्तुत करता है तो उसके लिए दण्ड अपरिहार्य हो जाता है। यह वह स्थिति है जिसमे हमे शक्ति-सम्बन्धो का स्पष्ट आभास होता है। अपराधी व्यक्ति को दण्डस्वरूप किसी एक या अधिक अथवा सभी मूल्यो मे वंचित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, उसे पदच्युत किया जा सकता है, कटु आलोचना का शिकार बनाकर लोगो की निगाहो मे गिराया जा सकता है, शारीरिक या आर्थिक दण्ड दिया जा सकता है।

सामाजिक प्रक्रिया के रूप मे शक्ति की अवधारणा की व्याख्या के उपरान्त लॉसवेल ने शक्ति एव व्यक्तित्व की अन्त क्रिया पर विचार किया है और इस सन्दर्भ मे 'राजनीतिक व्यक्ति' (Homo Politicus) की अवधारणा का स्पष्टीकरण किया है अर्थात् इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि क्या राजनीतिक व्यक्ति नाम का कोई मौलिक प्रकार (Type) होता है, क्या नेता और अनुसरणकर्त्ता जन्मजात होते हैं ?

4. राजनीतिक व्यक्ति की अवधारणा—समाज मे एक ओर तो ऐसे लोग दिखाई देते हैं जिनके पास न चाहने पर भी शक्ति होती है और दूसरी ओर ऐसे लोग भी मौजूद हैं जो शक्ति की कामना करते हैं किन्तु शक्ति से वंचित हैं। दूसरे शब्दो मे राजनीति मे, भूमिका निभाने का सभी लोगो के लिए एक जैसा अर्थ नही होता। लासवेल के अनुसार राजनीतिक व्यक्ति की अवधारणा का आशय यह है कि समाज मे कुछ व्यक्ति शक्ति की प्राप्ति के लिए, शक्ति-संस्थाओं पर अधिकार के लिए प्रयत्नशील रहते हैं और अपने लक्ष्य की पूर्ति मे अपना जीवन तक होम देते हैं। ऐसे

लोगो मे शक्ति को प्राप्त करने की एक अन्तर्प्रेरणा होती है। राजनीतिक व्यक्ति के लिए राजनीति एक व्यवसाय है और वह प्रत्येक अवसर पर दूसरे मूल्यो की तुलना मे शक्ति को प्राथमिकता देता है। हम उसकी सफलता असफलता का मूल्यांकन इस आधार पर कर सकते हैं कि एक व्यक्ति ने किन-किन मूल्यो को प्राप्त कर लिया है और किन-किन से वह वचित है। शक्ति अन्य मूल्यो को प्राप्त करने की एक आवश्यक पूर्व दशा है, साधन-मूल्य है। सामान्यतया समाज मे उन्हीं लोगो को अधिक प्रतिष्ठित माना जाता है जो राजनीतिक सत्ता के स्वामी होते हैं। मूल्य की यह प्रकृति होती है कि एक मूल्य प्राप्त कर लेने से दूसरे मूल्यो को प्राप्त करने मे सहायता मिलती है, एक पर नियन्त्रण हो जाने से हम दूसरे मूल्यो के भी निकट आने लगते हैं। जो व्यक्ति अपनी राजनीतिक क्रियाओ द्वारा मूल्यो को प्राप्त कर लेता है वह विशिष्ट वर्ग मे चला जाता है और जो इन्हे प्राप्त करने मे असफल रहते हैं उनकी गणना जन-साधारण की श्रेणी मे होती है।

लॉसवेल के अनुसार राजनीतिक मनुष्य (Homo Politicus) अनेक प्रकार के हो सकते हैं। कुछ तो वे लोग होते हैं जो विभिन्न सस्कृतियो के सदस्यो को एकता के सूत्र मे बाँधकर महान् साम्राज्यो की स्थापना करते हैं और कुछ वे लोग होते हैं जो सकटकाल मे विघटनकारी शक्तियो का दमन कर व्यवस्था की स्थापना करते हैं। इसी प्रकार वे लोग भी राजनीतिक व्यक्ति माने जाते हैं जो अपने नेतृत्व मे विदेशी गुलामी के विरुद्ध लोगो को खडा कर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त करते हैं। कुछ राजनीतिक नेता कूटनीतिक क्षेत्र मे आन्दोलन करने मे दक्ष होते हैं। राजनीतिक मनुष्य की श्रेणी मे ही विधायको और न्यायाधीशो की गणना होती है क्योकि विवादो के समाधान मे उनकी एक सकारात्मक भूमिका होती है।

लॉसवेल का वितरणात्मक विश्लेषण

लॉसवेल ने अपने वैज्ञानिक राजनीतिक चिन्तन को वितरणात्मक अभिगम पद्धति (Distributive Approach) की सज्ञा दी है। अपनी वितरणात्मक पद्धति मे राजनीतिक व्यवहार का वर्णन करते हुए वह उसके द्वारा नियन्त्रण की स्थिति को स्पष्ट करना चाहता है। लॉसवेल का अध्ययन एक प्रकार से राजनीतिक प्रक्रियाओ मे निहित मूल्यो और उन मूल्यो के आवटन तथा वितरण का अध्ययन है। लासवेल की समस्या 'Who Gets What, When and How' से सम्बन्धित है और इसके लिए उसने वितरणात्मक पद्धति को अपनाया है। जैसा कि कहा जा चुका है लासवेल की दृष्टि मे शक्ति प्रक्रिया और राजनीतिक प्रक्रिया अभिन्न है। समाज मे शक्ति का वितरण राजनीतिक प्रक्रियाओ का वितरण है। समाज मे नीति-निर्माण और नीति कार्यान्वयन के लिए नियन्त्रण शक्ति का सर्वोपरि महत्व है। लॉसवेल शक्ति तथा प्रभाव के स्वरूप, रचना, वितरण एव प्रयोग का समरूपात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। लॉसवेल का लक्ष्य एक शक्ति मुक्त प्रजातान्त्रिक समाज की स्थापना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह कुछ तात्कालिक एव दूरगामी का उल्लेख करता है। उसका तात्कालिक कार्यक्रम यह है कि शक्ति को

सम्मान के ग्रधीनस्थ बनाया जाए। उसका दूरगामी कार्यक्रम यह है कि लोगो मे मूल्यो के पुनर्निर्माण की भावनाएँ जाग्रत की जाएँ। इन भावनाग्रो से प्रेरित व्यक्ति सत्ता के भय के बिना ही मूल्यो को वांछनीय रूप मे बदलते रहेगे। लॉसवेल राजनीतिशास्त्रियो को एक महत्त्वपूर्ण दायित्व सौंपता है कि वे समाज के पुनर्निर्माण की दिशा मे सजग तथा सक्रिय रूप से सचेष्ट हो। इस कार्य मे वितरणात्मक विश्लेषण पर्याप्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इस विश्लेषण द्वारा लॉसवेल ने अपने समय की विभिन्न पद्धतियो मे सगति, सम्बद्धता और एकता लाने का प्रयास किया है।

लॉसवेल ने अपने वितरणात्मक विश्लेषण मे नियन्त्रण और मूल्य-निर्माण से सम्बन्धित जो विवेचन प्रस्तुत किया है वह अब तक कतिपय विचारक ही कर सके हैं। लॉसवेल ने स्पष्टत यह बताया है कि नियन्त्रण के प्रतिमान (Patterns of Control) क्या होते हैं और समाज मे मूल्यों के वितरण को शक्ति और प्रभाव द्वारा किस प्रकार प्रभावित किया जाता है। उसने मूल्यो के स्वरूप, विनिमय, परिवर्तन, नवीन प्रवृत्तियो आदि का गहन विश्लेषण किया है। मूल्य-परिवर्तन और वितरण मे अभिजन वर्ग का उल्लेखनीय योगदान रहता है, अत उसने अभिजन वर्ग का समुचित विश्लेषण किया है। इसी कारण आलोचको ने उस पर यह भी आरोप लगाया है कि लॉसवेल लोक राजनीति को छोडकर अभिजन वर्ग के विश्लेषण मे उलझा रहा।

लॉसवेल की अवधारणात्मक सरचनाएँ

लॉसवेल ने वितरणात्मक विश्लेषण के लिए अनेक अवधारणाओं की रचना की है जिन्हें सकेत रूप से क्रमानुसार गिनाया जा सकता है—

1 राजनीतिक कार्यकर्त्ताओ का स्थान और समय महत्त्वपूर्ण होता है।

2. विश्लेषण की आधारभूत इकाई व्यक्ति है, सभी राजनीतिक प्रक्रियाएँ व्यक्तियो के अन्त सम्बन्धो से उत्पन्न होती हैं।

3 व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्ध जिस पर्यावरण की रचना करते हैं वह मूल्य-प्रतिमान निर्धारित करता है और विभिन्न प्रत्याशाओ को जन्म देता है जिनके आधार पर व्यक्ति अपने हितो या समूहीकरण करते हैं।

4 राजनीतिक अन्त क्रियाएँ रणभूमि के समान हैं जिसमे व्यक्ति अपने अल्पकालीन और दीर्घकालीन उद्देश्यो की सिद्धि के लिए मूल्यो को साध्य अथवा साधन मान कर राजनीतिक प्रक्रियाओ मे सलग्न रहते हैं। मूल्यो की प्राप्ति के लिए ही विभिन्न प्रकार की वैचारिक, कूटनीतिक, सैनिक व्यूह रचनाएँ की जाती हैं और उनके फलस्वरूप मूल्यो के वितरण मे परिवर्तन होते रहते हैं।

5 प्रतीक (Symbols), सचार-मार्ग (Communication Channel) और प्रथाएँ अमूर्त अवधारणाएँ हैं जो राजनीतिक व्यवहार को समझने मे सहायता करती हैं।

6 प्रत्येक प्रकार की हिंसा को नियन्त्रित करना आवश्यक है। औपचारिक सत्ता और वास्तविक सत्ता म अन्तर है।

7 प्रभाव और शक्ति के सन्दर्भ में राजनीतिक विश्लेषण का औचित्य महत्त्वपूर्ण है।

8 लॉसवेल ने सरकार के प्रकार और राजनीतिक प्रक्रियाओं के बीच मनोवैज्ञानिक अन्त क्रियाओं को स्थान दिया है। उसने व्यक्ति को अध्ययन की इकाई मानते हुए भी प्रतीक, राजनीतिक चिह्न, आदर्श, परम्परा आदि अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों के परिवृत्यो पर प्रकाश डाला है।

9 वह शक्ति और अभिजन वर्ग का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए स्वीकार करता है कि जो व्यक्ति शक्ति प्राप्त कर लेते हैं, वे अभिजन (Elite) बन जाते हैं और शेष लोकजन (Mass) बने रह जाते हैं। -

10 वह जनमत पर आधारित प्रजातन्त्र का उल्लेख करता है। उसका झुकाव उदार प्रजातन्त्र (Liberal Democracy) के आदर्शों के प्रति है।

11 लॉसवेल राजनीति की भाषा के महत्त्व की दृष्टि से यह स्थापित करता है कि किसी देश की राजनीति को समझने के लिए वहाँ प्रचलित राजनीतिक भाषा का समुचित ज्ञान अनिवार्य है।

12 लॉसवेल ने राजनीति शास्त्र (Political Science) को नीति-शास्त्र (Policy Science) बनाने पर जोर देते हुए कहा है कि वैज्ञानिक निष्कर्ष ऐसे होने चाहिए जो समाज में लागू किए जा सके और जिनसे समाज को परिवर्तित किया जा सके।

लॉसवल का मूल्यांकन

राजदर्शन के मनोवैज्ञानिक विचारको मे लॉसवेल नि सन्देह अग्रणी है। आदर्शवादी लोकतान्त्रिक दर्शन से हट कर लॉसवेल ने एक यथार्थवादी एव मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अपना कर आधुनिक राजनीति विज्ञान के विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। राजनीतिक सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए मनोविज्ञान की परम्परा को आगे बढाने मे लॉसवेल ने टार्डे और ग्राहम वैलास की अपेक्षा अधिक काम किया है। उसकी मनोविज्ञानयुक्त राजनीतिक विचारधारा 'निवेधात्मक राजनीति' (Preventive Politics) के सिद्धान्त के रूप मे मानी जा सकती है। इसे हम मार्क्स और फ्रॉयड की विचारधाराओं का सम्मिश्रण कह सकते हैं। लॉसवेल ने राज्य विज्ञान की अवधारणाओं की नूतन ढग से रचना पर बल दिया है और उसने जो भी रचनाएँ दी हैं वे ठोस यथार्थवादी अनुसधान पर आधारित हैं। लॉसवेल की विशेषत उसकी अपनी मौलिकता है, उसने राजनीतिक प्रक्रिया को समझने के लिए सूझ-बूझ, नई दृष्टि प्रदान की है। लॉसवेल राजनीति विज्ञान मे वैज्ञानिक और व्यवहारवादी दृष्टिकोण का प्रवक्ता माना जाता है। उसे परम्परागत राजनीति शास्त्र को व्यवहार वादी राजनीति शास्त्र से जोडने की सबसे सशक्त कडी कहा जा सकता है। लासवेल के अधिकांश पूर्ववर्ती विचारक अपने आत्मनिष्ठ मूल्यो से प्रेरित थे जबकि लॉसवेल ने वस्तुनिष्ठता पर बल दिया है।

एक नवीन दृष्टिकोण के प्रतिपादक तथा आधुनिक राजनीतिक चिन्तन की

आधारशिला रखने वाले विचारक के रूप में यद्यपि लॉसवेल का उल्लेखनीय स्थान है, तथापि उसकी अध्ययन-शैली, उसके दृष्टिकोण और विश्लेषण में अनेक कमियाँ हैं। लॉसवेल ने अनेक अवधारणात्मक विचारों की रचना की है, किन्तु वह स्वयं किसी विचार से बँधा नहीं रह सका है। बर्नार्ड क्रिक का मत है कि लॉसवेल के अवधारणात्मक विचारों की प्रचुरता से राजनीति के विवेचन में कुछ आसानी तो हो सकती है, किन्तु इससे भ्रम अधिक पैदा होता है। लॉसवेल का यह दृष्टिकोण एकपक्षीय अधिक है कि अभिजनवर्ग ही लोकतन्त्र का केन्द्र-बिन्दु है। लॉसवेल ने 'शक्ति' और प्रभाव' शब्दों का प्रयोग कुछ इस प्रकार किया है कि वे एक-दूसरे के पर्यायवाची से प्रतीत होते हैं। यही बात 'शक्ति' और 'सत्ता' शब्दों के प्रयोग के बारे में है। लॉसवेल ने राजवैज्ञानिकों को विभिन्न राजनीतिक सिद्धान्तों को कार्यरूप देने का दायित्व सौंपा है किन्तु आलोचकों का कहना है कि कोई विज्ञान केवल मार्गदर्शक हो सकता है स्वयं प्रकार्यात्मक नहीं बन सकता।

उसकी दुर्बलताओं के बावजूद लॉसवेल के विचार इतने सशक्त हैं तथा राजनीतिक सिद्धान्त और राजनीतिक चिन्तन को उसने इतना नूतन क्षितिज प्रदान किया है कि आधुनिक जीवित राजनीतिक चिन्तकों में उसका स्थान शीर्षस्थ माना जाता है।

एमाइल दुर्खीम
(Emile Durkheim)

एमाइल दुर्खीम (1858–1917) एक प्रत्यक्षवादी था जिसने सामाजिक क्रियाओं के अध्ययन में भौतिक विज्ञान की पद्धतियों के प्रयोग में निष्ठा व्यक्त की। उसने अपने अध्ययन का आधार प्रयोगात्मक तथ्यों (Empirical Data) को बनाया और मूल्यपरक निर्णयों से वह हमेशा दूर रहा। इसके समाजशास्त्रीय योगदान से यह स्पष्ट होता है कि वह सदैव व्यक्तिवादी सिद्धान्तों से दूर रहा और सामाजिकता को आधार मानकर उसने सिद्धान्तों का निर्माण किया। दुर्खीम की जो भी रचनाएँ उपलब्ध हैं उनमें सामाजिक तत्वों की प्रधानता है। ऑगस्ट कॉम्टे के बाद प्रत्यक्षवादी (Positive) परम्परा में प्रमुख नाम दुर्खीम का है। दुर्खीम पर जिस प्रकार के राजनीतिक वातावरण का प्रभाव रहा उससे भी यह स्पष्ट है कि वह समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के माध्यम से एक स्वाभाविक समाजवादी समाज की स्थापना करना चाहता था। दुर्खीम समाजशास्त्री ही नहीं था बल्कि नैतिकता का दार्शनिक (Moral Philosopher) भी था। उसकी प्रमुख रचनाएँ हैं—'The Division of Labour in Society' (1893), 'The Rules of Sociological Method' (1895) 'Suicide' (1897), The Elementary Forms of Religious Life' (1912) Socialism' आदि। पद्धति की दृष्टि से दुर्खीम ने प्रकार्यात्मक पद्धति को अधिक महत्त्व दिया।

समूह-सिद्धान्त (Theory of Groups)

दुर्खीम की समाजशास्त्रीय रचनाओं से उसके राजनीतिक दर्शन का बोध होता है। अनेक समाजशास्त्रियों ने वर्तमान राजनीतिक ढाँचे की आलोचना की है

और उसे आधुनिक जटिल औद्योगिक समाज मे मुख्य नियामक तत्त्व (Principal Regulative Factor) के रूप मे अपर्याप्त माना है। उन्होने यह चाहा है कि आर्थिक नियन्त्रण का कार्य राज्य से व्यावसायिक समूह (Vocational Group) को हस्तान्तरित कर दिया जाना चाहिए। एमाइल दुर्खीम भी एक ऐसा ही समाजशास्त्री है जिसने इस बात का विशेष आग्रह किया है कि प्राचीन व्यावसायिक सघ (Ancient Occupational Association) को एक सुनिश्चित मान्य सार्वजनिक सस्था के रूप मे पुनर्जीवित किया जाना चाहिए। दुर्खीम का तर्क है कि वर्तमान मे हमारे पास ऐसे स्पष्ट साधनो और कानूनो या अदालती अनुमतियो (Clear Principles and Juridical Sanctions) का अभाव है जिनके माध्यम से नियोजको और कर्मचारियो के बीच प्रतियोगी नियोजको के बीच और नियोजको अथवा कर्मचारियो और जनता के बीच, सम्बन्धो का निर्धारण किया जा सके। राज्य इन सिद्धान्तो और अनुमतियो (Principles and Sanctions) की स्थापना नहीं कर सकता। आर्थिक जीवन इतना विशिष्टतापूर्ण है कि राज्य की उस तक पूरी पहुँच नही हो सकती। किसी भी व्यवसाय की गतिविधियो का नियमन केवल ऐसे समूहो द्वारा ही हो सकता है जो उस व्यवसाय के काफी निकट हो और उसके कार्यों और उसकी आवश्यकताओ से पूर्ण रूप से परिचित हो। दुर्खीम का मत है कि राजनीतिक प्रतिनिधित्व के आधारो (Bases for Political Representation) और आर्थिक नियमन के स्रोतो (Sources of Economic Regulation) दोनो ही रूपो मे व्यावसायिक समूहो (Professional Groups) की पुनर्स्थापना की जानी चाहिए। भौगोलिक विभाजन अपना आर्थिक और सामाजिक महत्त्व खो चुका है उसका स्थान व्यावसायिक विभाजनो (Vocational Divisions) को लेना चाहिए जो अधिक सही तरीके से सामाजिक हितो के विभिन्न स्वरूपो का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं।

दुर्खीम के समूह सिद्धान्त के प्रतिपादन का अर्थ यह नही है कि वह राज्य को आर्थिक कार्यक्षेत्र से सर्वथा मुक्त करना चाहता है। दुर्खीम और अन्य समाजशास्त्रियो का यह कहना है कि आर्थिक नियन्त्रण के सामान्य सिद्धान्तो के निर्धारण का दायित्व तो राज्य स्वीकार करे लेकिन शेष विशिष्ट नियन्त्रण के सिद्धान्तो का भार वह *सम्बन्धित समूहो पर छोड दे क्योकि उनके अपने-अपने विशिष्ट कार्य होते हैं* और उनकी अपनी-अपनी विभिन्न स्थितियाँ होती हैं।

सामूहिक प्रतिनिधित्व

दुर्खीम के चिन्तन मे सामूहिक प्रतिनिधित्व (Collective Representation) *की अवधारणा महत्त्वपूर्ण है। दुर्खीम की जो भी मौलिक कृतियाँ हैं, उन सबका* आधारबिन्दु मुख्यत यही अवधारणा है। दुर्खीम के अनुसार मानसिक अन्त क्रिया के फलस्वरूप कुछ प्रतीक उत्पन्न होते हैं जो आपस मे समाज के लोगो के अनुभव पर आधारित होते हैं और सामाजिक माने जाते हैं। *इन सामूहिक प्रतीको मे शक्ति* होती है क्योकि इनका विकास सामूहिकता के द्वारा होता है। एक झण्डा यदि राजनीतिक प्रतीक है, एक पवित्र लेखन यदि धार्मिक प्रतिक्रिया है और इसी प्रकार

यदि नायको के साथ कुछ दन्त-कथाओं पर आधारित विशेषताएँ जुड़ जाती हैं तो ये सब सामूहिक प्रतिक्रिया के परिणाम होते हैं। सामूहिक प्रतिनिधित्व वस्तुत उस सामाजिक चेतना का द्योतक है जो व्यक्ति-चेतना के अतिरिक्त समाज मे भी मौजूद रहती है। इसके द्वारा समाज म बढत हुए विभाजन के दुष्परिणाम और सघर्ष कम होते हैं। सामूहिक प्रतिनिधित्व सामाजिक मूल्यो के कारक है और ये सामाजिक मूल्य अथवा आदर्श समाज के लिए अत्यावश्यक हैं क्योकि ये समाज के प्रतीक हैं और व्यक्ति उनका पालन करते हैं। चूँकि ये मूल्य सामूहिक क्रियाओं के फलस्वरूप जन्म लेते हैं, अत ये वस्तुपरक (Objective) माने जाते हैं। समाज की भी व्यापक सस्थाएँ हैं, नियम और कानून है, वे सब सामूहिकता के तत्त्वो के प्रतीक हैं। इन सबकी सम्पत्ति सामाजिक है और व्यक्तित्व को इनके अस्तित्व को स्वीकार करना पडता है।

सामाजिक तथ्य (Social Facts)

जिस प्रकार भौतिक जगत् के तथ्य होते है उसी प्रकार सामाजिक जगत् के भी तथ्य (Social Facts) होते है और दुर्खीम के अनुसार समाज विज्ञान की विषय-वस्तु ये 'सामाजिक तथ्य' होते हैं। दुर्खीम के मतानुसार सामाजिक तथ्य 'सामाजिक' हैं, वैयक्तिक नही।[1] यह तथ्यो की एक ऐसी श्रेणी है जिसकी सर्वथा भिन्न विशेषताएँ हैं। इन सामाजिक तथ्यो मे कार्य करने, सोचने और अनुभव करने के तरीके निहित हैं जो व्यक्ति के लिए बाह्य होते हैं, किन्तु जो दबाव शक्ति के माध्यम से व्यक्ति को नियन्त्रित करते हैं। दुर्खीम की सामाजिक तथ्य की धारणा से दो बातो का स्पष्ट सकेत मिलता है—(i) सामाजिकता, एव (ii) सामाजिक तथ्यो के अतिरिक्त ऐसे तथ्य जिनका स्वतन्त्र अस्तित्व है और जो सामूहिकता और सामाजिकता के प्रतीक है। दुर्खीम का कहना है कि यदि समाज का वैज्ञानिक अध्ययन करना है तो चाहे जो भी सामाजिक पक्ष हो हमे सामाजिक तथ्यो को खोजना चाहिए दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यो के अवलोकन के कुछ नियमो का उल्लेख किया है जिनमे प्रथम और सर्वाधिक मौलिक नियम यह है कि सामाजिक तथ्यो का वस्तुपरक रूप से विचार किया और समझा जाए।

दुर्खीम की सामाजिक तथ्यो की अवधारणा प्रत्यक्ष रूप से समाज मे मनुष्य के व्यवहारात्मक अध्ययन (Behavioristic Study) की ओर ले जाती है। यह रीति-रिवाजो, कानूनो, रूढियो, लोकाचारो, आदि को हमारे अध्ययन की सामग्री बनाती है किन्तु यह हमे भावनाओं, प्रेरणाओं व इच्छाओं के प्रवाह मे बह जाने से रोकती है। यद्यपि दुर्खीम का ढग मनोवैज्ञानिक है लेकिन समाज की व्याख्या म वह आवश्यक रूप से मनोवैज्ञानिक नही है। दुर्खीम ने व्यक्ति के मस्तिष्क पर सामूहिक मस्तिष्क (Crowd Mind) क प्रभाव क अध्ययन पर जोर दिया है और इसके फलस्वरूप ली बो आदि समूह मनोवैज्ञानिको (Crowd Psychologists) की ऐसी महत्त्वपूर्ण

1 *Merriam and Barnes* A History of Political Theories—Recent Times, pp 91-92

कृतियाँ प्रकाश मे आई हैं जिनसे आधुनिक राजनीतिक जीवन और सस्थाओ के प्रति भीड और समूहो के महत्त्व पर प्रकाश पडता है। उदाहरणार्थ सीघल (Sighele) ने यह बताने की कोशिश की है कि एक समूह मनोवैज्ञानिक राज्य (A Crowd Psychological State) आधुनिक व्यवस्थापिकाओ पर छाया रहता है। वैलास न दलीय सरकार के सम्बन्ध मे इसके महत्त्व की व्याख्या की है।

दुर्खीम की समाजशास्त्रीय रचनाओ मे राजनीतिक चिन्तन के महत्त्व के अनेक बिन्दु उपलब्ध हैं। उसके समाज मे श्रम-विभाजन सम्बन्धी विचार राजनेताओ के लिए पठनीय हैं। समाज मे किस प्रकार सघर्ष की उन्नति होती है उसका विश्लेषण दुर्खीम ने श्रम विभाजन-सिद्धान्त के अन्तर्गत किया है। उसे सरचनात्मक प्रकार्यवाद (Structural-Functionalism) के सस्थापको मे माना जाता है। दुर्खीम वस्तुत उन समाजशास्त्रियो मे था जिन्होने अपने समाजशास्त्रीय अध्ययनो के एक अग के रूप मे राजनीतिक विश्लेषण मे रुचि ली।

विलफ्रेडो परेटो
(Vilfredo Pareto)

विलफ्रेडो परेटो (1848–1923) का नाम भी राजनीतिक समाजशास्त्रियो (Political Sociologists) मे अग्रणी है। इस इटालियन विद्वान् का नाम राजनीतिक विशिष्टवर्गीय सिद्धान्त (Theory of Political Elite) के साथ विशेष रूप से सयुक्त है। परेटो का विश्वास था कि प्रत्येक समाज उन अल्पसख्यको द्वारा शासित होता है जिनमे पूर्ण सामाजिक और राजनीतिक सत्ता की सीढियाँ चढने के लिए आवश्यक गुण होते हैं। जो चोटी पर पहुँच जाते हैं वे सदैव सर्वोत्तम माने जाते हैं। उन्हे विशिष्ट वर्ग (Elite) के नाम से सम्बोधित किया जाता है। विशिष्ट वर्ग मे वे सफल व्यक्ति सम्मिलित हैं जो समाज के प्रत्येक व्यवसाय और स्तर की चोटी पर चढते हैं। इस प्रकार वकीलो का विशिष्ट वर्ग होता है, मैकेनिको का विशिष्ट वर्ग होता है यहाँ तक कि चोरो और वेश्याओ का भी अपना विशिष्ट वर्ग होता है। परेटो का यह भी विश्वास था कि समाज के विभिन्न व्यवसायो और स्तरो मे जो विशिष्ट वर्ग होते हैं वे प्राय उसी श्रेणी या वर्ग (Class) मे आते हैं जो धनी होते हैं। वे चतुर भी होते हैं और उनमे प्राय गणित, सगीत, नैतिक चरित्र आदि के प्रति रुझान होती है। विलफ्रेडो परेटो ने मानव समाज को दो वर्गों मे विभक्त किया है—(1) एक उच्चतर श्रेणी अर्थात् विशिष्ट वर्ग या अभिजन वर्ग (Elite) एव (2) एक निम्न श्रेणी अर्थात् गैर-विशिष्ट वर्ग (Non-Elite)। विशिष्ट वर्ग (Elite) को उसने पुन दो भागो मे बाँटा है—शासकीय विशिष्ट-वर्ग (Governing Elite) और गैर शासकीय विशिष्ट वग (Non-Governing Elite)। परेटो ने इस प्रकार का विभाजन मानवीय असमानताओ के आधार पर अर्थात् बुद्धि, सगीत, गणित आदि विषयो मे दक्षता एव अभिरुचि, चरित्र तथा सामाजिक एव राजनीतिक प्रभाव आदि के आधार पर किया है। परेटो का मुख्य ध्यान शासकाय विशिष्ट वर्ग (Governing El te) पर रहा है। उसका विश्वास है कि शासकीय विशिष्ट

वर्ग बल और चालाकी द्वारा शासन करता है, किन्तु बल (Force) ही अधिक प्रभावकारी होता है।

परेटो ने 'विशिष्ट वर्ग के परिचालन' (Circulation of Elite) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था मे समय और परिस्थितियो के अनुसार विशिष्ट वर्ग की सरचना मे परिवर्तन आना सम्भव है। जो व्यक्ति एक समय विशिष्ट वर्ग मे नही हैं वे किन्हीं कारणो से कभी भी किसी समय विशिष्ट वर्ग मे प्रविष्ट हो सकते हैं। दूसरे शब्दो मे, समय और परिस्थितियो के अनुसार विशिष्ट वर्ग मे कुछ नए व्यक्ति सम्मिलित होते रहते हैं और विशिष्ट वर्ग से जनसाधारण की श्रेणी मे जाते रहते हैं। यह क्रम सदैव चलता रहता है क्योकि विशिष्ट या अभिजन वर्ग मे कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जिन्हे समाज महत्त्वपूर्ण मानता है और परिस्थितियो के अनुसार समाज के सदस्यो के दृष्टिकोण मे परिवर्तन आता रहता है। एक समय जिस विशेषता को वे महत्त्वपूर्ण मानते हैं परिस्थितियो के बदल जाने पर सम्भव है कि वे उसे महत्त्वपूर्ण न मानें और उसके स्थान पर किसी अन्य विशेषता को महत्त्वपूर्ण मान लें। जब व्यक्ति के मूल्यो म समय और परिस्थितियो के अनुसार परिवर्तन होता है तो स्वभावत विशिष्ट वर्ग की सरचना भी बदलती है—विशिष्ट वर्ग के परिचालन का सिद्धान्त गतिमान रहता है। यद्यपि मोस्का आदि विद्वानो ने भी विशिष्ट वर्ग की सरचना मे परिवर्तन की बात कही है, लेकिन परेटो के विश्लेषण मे मुख्य बात यह है कि उसने व्यक्ति के अविवेकपूर्ण व्यवहार के आधार पर राजनीतिक विशिष्ट वर्ग के सिद्धान्त-परिचालन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। परेटो का कहना है कि मानव-व्यवहार भावनाओ पर आधारित होता है, मनुष्य भावनाओ से प्रेरित होकर कार्य करता है। ये भावनाएँ समाज के विभिन्न वर्गों मे अलग अलग अनुपात मे होती हैं। शासकीय विशिष्ट वर्ग (Governing Elite) मे समूह की चिरलग्नता (Combination and Persistence of Aggregate) की भावनाएँ अधिक प्रबल होती हैं और इन्हीं भावनाओ से वे अत्यधिक प्रेरित होते हैं। शासकीय विशिष्ट वग तभी तक शक्ति मे रहता है जब तक वह शक्ति का प्रयोग करता है और जन-भावनाओ को अपन अनुकूल रखन मे सफल रहता है। यदि विशिष्ट वर्ग शक्ति-प्रयोग मे कोई रुचि न दिखाए अथवा शक्ति का प्रयोग करना छोड दे तो यह स्वाभाविक नही होगा कि नए लोग उन्हें अपदस्थ कर उनका स्थान ले लें। यही विशिष्ट वर्ग का परिचालन है और इसी सन्दर्भ मे परेटो ने 'इतिहास को कुलीनतन्त्रो का कब्रिस्तान कहा है' (History is a Graveyard of Aristocracies)।

बहुलवादी और राज्य-सम्प्रभुता

(Pluralists and State Sovereignty)

बहुलवाद राजनीतिक जगत् में पर्याप्त नवीन सिद्धान्त है जिसका प्रादुर्भाव राज्य की सम्प्रभुता की एकत्ववादी और आदर्शवादी विचारधाराओं की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ है। इन दोनों ही विचारधाराओं में सम्प्रभुता को राज्य की सर्वोपरि शक्ति मानते हुए उसे पूर्णतः अपरिमित और अविभाज्य माना गया है। एकत्ववादी सिद्धान्त (Monistic Theory) के अनुसार सम्प्रभुता समस्त राजनीतिक अथवा वैधानिक सत्ता का मूल स्रोत है। एकत्ववादी सिद्धान्त राज्य की प्रादेशिक सीमाओं के अन्तर्गत सभी संघों को राज्य द्वारा उत्पन्न मानता है और स्वीकार करता है कि वे अपने अस्तित्व के लिए राज्य की इच्छा पर आश्रित हैं। जिन शक्तियों को ये विभिन्न संघ प्रयोग करते हैं उनकी स्वीकृति राज्य द्वारा प्राप्त होती है। बहुलवाद सम्प्रभुता के इस निरंकुश, असीमित और अविभाज्य सिद्धान्त के विरुद्ध एक विद्रोह है। यह आस्टिन के एकत्ववाद (Monism) तथा हीगल के आदर्शवाद (Idealism) के विरुद्ध एक जबरदस्त प्रतिक्रिया है जिसका मुख्यतः 19वीं शताब्दी में प्रादुर्भाव हुआ। बहुलवादियों के अनुसार सम्प्रभुता अविभाज्य और निरंकुश नहीं है। यह समाज के विभिन्न वर्गों और समूहों में निहित रहती है। सम्प्रभुता की इस बहुलवादी विचारधारा को द्वैतवाद भी कहते हैं। वस्तुतः बहुलवादी विचारक भी राज्य की शक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। इनमें से कुछ राज्य को सर्वोच्च न मानकर अन्य समूहों और समुदायों के समकक्ष रखना चाहते हैं। इनका मत है कि समठित समुदायों को भी प्रभुसत्ता का भागीदार स्वीकार किया जाना चाहिए। दूसरी ओर ऐसे विद्वानों का बहुमत है जो राज्य की एकात्मक प्रभुसत्ता को यद्यपि स्वीकार नहीं करते तथापि राज्य को सर्वोपरि मानने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है। इन लेखकों में से अधिकतर ऐसे हैं जो व्यक्ति समूहों और समुदायों के अस्तित्व तथा महत्त्व पर विशेष बल देते हैं। बहुलवाद के प्रमुख विचारकों में जे एन फिगिस, ए डी लिंडसे, हेरॉल्ड लॉस्की, लियोन डुग्वी, एच क्रेब, अर्नेस्ट बार्कर, मिस फालेट, दुर्खीम, मैकाइवर आदि उल्लेखनीय हैं।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
(Historical Background)

बहुलवाद एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में यद्यपि 19वीं और 20वीं शताब्दी में ही विकसित हुआ है, तथापि इसके विकास की पृष्ठभूमि बहुत पहले से ही तैयार रहती आ रही थी। यूनानी नगर-राज्यों में यद्यपि राज्य ही सर्वोच्च सामाजिक सगठन था और राज्य को विशेष स्थिति प्रदान की गई थी, तथापि समाज के अन्य समुदायों को भी मानव-अस्तित्व के लिए अनिवार्य समझा गया था। रोमन-काल में साम्राज्य का स्वरूप प्रकट हुआ और रोमन राज्य ने साम्राज्य का रूप धारण किया। मध्यकाल में सम्प्रभुता बहुत-सी सस्थाओं में विभक्त मानी जाती थी, राज्य ही एकमात्र सत्ताधारी सस्था नहीं थी। रोमन चर्च, पवित्र रोमन सम्राट्, राजा, सामन्त और सघ सम्प्रभुता के सहयोगी या भागीदार थे। यह एक ऐसी स्थिति थी जिसमें राज्य की सर्वोच्च शक्ति में सन्देह था और इसलिए बार्कर ने मध्यकाल को अराजनीतिक तथा राज्य को चर्च को पुलिस विभाग मात्र माना है। 'दो तलवारों के सिद्धान्त' (Theory of the Double Swords) में दो सम्प्रभुओं का विचार सन्निहित था और इसीलिए राज्य तथा चर्च ने सघर्ष का रूप धारण किया। पोप और राजा के इस मध्यकालीन सहअस्तित्व को हम बहुलवाद का प्रथम लक्षण मान सकते हैं। मेटलैण्ड, गीर्के आदि विचारकों ने मध्यकाल में गिल्ड, सीनेट चर्च आदि के अन्तर्गत स्वायत्त सस्थाओं (Autonomous Institutions) द्वारा शासन कार्य सचालन का उल्लेख करते हुए 'निगम सिद्धान्त (Theory of Corporations) की प्रस्थापना की। 16वीं और 17वीं शताब्दी में राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ और तब ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन आदि यूरोपीय देशों में ऐसे राष्ट्रीय राज्यों (Nation States) का जन्म हुआ जिनमें राजनीतिक सत्ता एक स्थान पर केन्द्रित थी। दूसरे शब्दों में, इन राष्ट्रीय राज्यों में प्रभुत्व का स्वरूप एकत्ववादी था, सघों या समुदायों के प्रभुत्व के लिए कोई स्थान न था। इसमें प्रभुत्व का एकत्ववादी सिद्धान्त विकसित हुआ। बोदाँ ने राज्य को सर्वोच्च सस्था मानते हुए कहा—"प्रभुसत्ता राज्य का एक ऐसा तत्त्व है जो केवल राज्य में ही निहित रहती है, अन्य स्थानों में उसका महत्त्व नहीं रहता।" वास्तव में बोदाँ को वैधानिक सम्प्रभुता (Legal Sovereignty) का सस्थापक कहना अनुचित न होगा। हॉब्स ने इसी विचारधारा को विकसित करते हुए पूर्ण, अविभाज्य और असीम सम्प्रभुता का विचार प्रस्तुत किया तथा अराजकता की अवस्था से तानाशाही को अच्छा समझा। रूसो ने सम्प्रभुता की व्याख्या हॉब्स की पूर्णता और सक्षिप्तता के साथ लॉक की विधि के आधार पर की। उसने सम्प्रभुता को 'सामान्य इच्छा' में केन्द्रित माना और यह विचार व्यक्त किया कि सघों की अनुपस्थिति में ही 'सामान्य इच्छा' सम्भव हो सकती है। सम्प्रभुता को 'सामान्य इच्छा' में निहित कर रूसो ने भी एक असीम, अविभाज्य और अदेय सार्वभौमिकता का समर्थन किया। सम्प्रभुता का एकत्ववादी सिद्धान्त जॉन ऑस्टिन के हाथों में पड़ कर अपने चरम उत्कर्ष पर

जा पहुँचा। उसने सम्प्रभु शक्ति को निश्चयात्मक, निरकुश, स्थायी, सर्वव्यापी असीमित और अविभाज्य बताया। आदर्शवाद ने इस विचारधारा को और दृढ़ प्रदान किया। उग्र आदर्शवादियों ने सम्प्रभु-राज्य को मानव-प्रगति का चरम उत्कर्ष स्वीकार किया। हीगल जैसे विचारकों ने राज्य को 'पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण'[1] मानकर इसे न केवल वैधानिक (Legal) अपितु नैतिक स्वीकृति (Moral Sanction) भी प्रदान की। उग्र आदर्शवादियों ने राज्य को साध्य और व्यक्ति को साधन माना है। राज्य की सम्प्रभुता की एकत्ववादी और आदर्शवादी धारणा इतनी अधिक प्रबल बन गई कि राज्य समाज की सर्वोच्च शक्ति बनकर मानव-जीवन के समस्त पहलुओं पर छा गया।

लेकिन प्रत्येक 'अति' के विरुद्ध प्रतिक्रिया होती है और यही सम्प्रभुता की एकत्ववादी और आदर्शवादी धारणा के सम्बन्ध में हुआ। कुछ मानववादी दार्शनिकों ने सम्प्रभुता की निरकुशता में व्यक्ति के व्यक्तित्व, उसकी नैतिकता और स्वतन्त्रता का हनन देखा। उन्होंने इस निरंकुशवाद की तीव्र आलोचना कर व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसकी स्वतन्त्रता पर बल दिया तथा संघों को राष्ट्रीय जीवन में उच्च स्थान प्रदान किया। सम्प्रभुता के केन्द्रीकरण के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में बहुलवादी विचारधारा का उदय और विकास हुआ। सम्भवतः हैरॉल्ड लॉस्की ही वह प्रथम विद्वान् था जिसने 'बहुलवाद' (Pluralism) शब्द का प्रयोग किया। व्यक्तिवादी तत्त्व, समाजवादी तत्त्व, मध्यकालीन संघवादी तत्त्व, राज्य की कार्य-वृद्धि, विधि-शास्त्रवादी तत्त्व, अन्तर्राष्ट्रीय तत्त्व आदि बहुलवाद के उदय और विकास में सहायक हुए।

बहुलवादी विचारधारा
(Pluralism)

बहुलवाद व्यक्ति, उसकी स्वतन्त्रता और मानव संस्थाओं को समाज में उच्च स्थान प्रदान करता है। बहुलवादी विचारक राज्य की सत्ता को सर्वोच्च और सम्पूर्ण न मानकर सीमित मानते हैं। बहुत से समुदायों के अस्तित्व के कारण ही राज्य की शक्ति को सीमित मानने का विचार प्रतिपादित किया गया है। बहुलवाद राज्य-विरोधी दर्शन नहीं, सम्प्रभुता विरोधी दर्शन है। इसका आदर्श निरंकुश राज्य नहीं, समाज-सेवी राज्य है। इस प्रकार बहुलवाद की दृष्टि में राज्य को तभी आदर्श संस्था माना जा सकता है जब वह मानव आदर्शों के लक्ष्य की पूर्ति करे। उद्देश्य और व्यक्ति के बहुमुखी विकास की पूर्ति के लिए ही बहुलवादी विचारकों ने व्यक्तियों की सामाजिक प्रवृत्तियों के अनुसार गठित धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक और राजनीतिक समुदायों के प्रति निष्ठा प्रदर्शित की। इन्हें राज्य के समकक्ष स्थान प्रदान कर तथा राज्य को इनके समन्वय (Co-ordination) का कार्य सौंप कर लॉस्की ने स्वीकार किया है कि सामाजिक स्वरूप संघीय होना चाहिए।

1 "The state is the march of God on earth."
—*Hegel's* Philosophy of Rights, p 247

बहुलवादी विचारक एकत्ववादी निरकुश सम्प्रभुता-सिद्धान्त को आवश्यकता से अधिक सकीर्ण और कानूनी मानते हैं। सर्वशक्तिमान, अविभाज्य अदेय और सर्वव्यापक सम्प्रभुता की बात व्यावहारिक रूप मे असम्भव है। आधुनिक बहुलवादियो ने विश्व के विधानो के आधार पर यह सिद्ध करन का प्रयास किया है कि सम्प्रभुता का वास एक जगह न होकर अनेक जगह है। सम्प्रभुता विभाजनशील व सीमित है, चूंकि वह आन्तरिक रूप से राज्य के उत्तराधिकारी सघो मे आशिक रूप से निवास करती है और बाह्य रूप से भी उस पर अन्तर्राष्ट्रीयता के बन्धन है। बार्कर ने तो यहाँ तक कहा कि "कोई भी राजनीतिक सिद्धान्त इतना अधिक निस्सार और निष्फल नहीं रहा है जितना एकत्ववादी सम्प्रभुता का सिद्धान्त।' ड्गवी की दृष्टि मे सम्प्रभुता के एकत्ववादी सिद्धान्त को लोक नियमो के साहित्य से निकाल देना ही अधिक उचित है। उसके शब्दो मे, "सम्प्रभु राज्य मर चुका है या अपनी मौत की अन्तिम घडियाँ गिन रहा है।' क्रैब के अनुसार भी सम्प्रभुता के सिद्धान्त को राजनीति-दर्शन से निकाल देना ही उचित है। गैटिल का बहुलवादी दर्शन के पक्ष मे कथन है कि बहुलवादी इस बात से इन्कार करते हैं कि राज्य एक असाधारण सगठन है। उनके मतानुसार अन्य समुदाय भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण और स्वाभाविक हैं। ये समुदाय अपनी उद्देश्य पूर्ति के लिए उसी प्रकार सम्प्रभु हैं जिस प्रकार राज्य अपने उद्देश्य के लिए है। राज्य अपनी सीमाओ मे कुछ समूहो के विरुद्ध अपनी इच्छा को सक्रिय रूप नही दे सकता। बहुलवादी इस बात को नही मानते कि राज्य केवल-प्रयोग का अधिकार उसे (राज्य को) कोई श्रेष्ठतर अधिकार प्रदान करता है। बहुलवादी उन सभी समूहो के समान अधिकारो पर बल देते हैं जो अपने सदस्यो की वफादारी के पात्र हैं और समाज मे बहुमूल्य कार्य सम्पादन करते हैं। अत सम्प्रभुता बहुत से समुदायो मे विभाजित होनी चाहिए। यह न तो कोई अविभाज्य इकाई है और न राज्य को सर्वोच्च अथवा असीमित माना जा सकता है। बहुलवादियो का यह तर्क है कि वर्तमान राज्य बहुत जटिल है और अपने कार्यभार से दबे जा रहे है। कार्यकुशलता के लिए विकेन्द्रित राज्य आवश्यक हैं। बहुलवाद को अराजकतावाद का निकटवर्ती समझना भ्रामक है। बहुलवादी राज्य को नष्ट नही करना चाहते वे राज्य का अस्तित्व कायम रखना चाहते है, किन्तु राज्य से उसकी सम्प्रभुता छीन लेने के पक्ष मे है। इस प्रकार बहुलवाद की स्थिति उस मध्यम मार्ग की है जो एक ओर तो एकत्ववादी सिद्धान्त पर आक्रमण करता है और दूसरी ओर राज्य को भी कायम रखना चाहता है। बहुलवाद द्वारा सम्प्रभुता के एकत्ववादी सिद्धान्त पर आक्रमण का विवेचन निम्नांकित दृष्टिकोणो मे करना अधिक उपयुक्त होगा

(1) विभिन्न सघ और सम्प्रभुता
(2) अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और सम्प्रभुता
(3) कानून और सम्प्रभुता

विभिन्न सघ और सम्प्रभुता

बहुलवाद अथवा बहुसत्तावाद के प्रारम्भिक विचारक गीर्के तथा मेटलैण्ड के अनुसार समाज मे जो विभिन्न समुदाय पाए जाते है वे स्वाभाविक हैं। समुदायो का

अपना व्यक्तित्व होता है, विधि-निर्माण मे उनका अपना योग होता है, प्रत्येक समुदाय की अपनी एक इच्छा होती है, समुदायो की अपनी सामूहिक चेतना होती है और राज्य मे होते हुए भी वे राज्य से स्वतन्त्र हैं। गीर्के और मेटलैण्ड ने राज्य की चरम प्रभुता को यद्यपि स्वीकार नहीं किया है फिर भी उसकी उच्चतर वैधानिक स्थिति को स्वीकार किया है और समाज मे स्थित विभिन्न सघो के बीच पारस्परिक सहयोग के लिए एक सयोजक के रूप मे राज्य का महत्त्व स्वीकार किया है।

सघो के 'वास्तविक व्यक्तित्व' (Real Personality) के सिद्धान्त का समर्थन फिगिस ने धर्मसघ (चर्च) के बारे मे किया है। फिगिस के अनुसार, धर्मसघ का अस्तित्व राज्य की दया पर निर्भर नहीं करता। धर्मसघ मे व्यक्ति की ही तरह आत्मविश्वास की शक्ति होती है। "इसका नियमित व्यक्तित्व न तो राज्य द्वारा प्रदान किया जाता है और न राज्य द्वारा छीना ही जा सकता है। राज्य तो केवल इस व्यक्तित्व को स्वीकार कर लेता है।" फिगिस का मत है कि 'सम्प्रभुता का परम्परागत सिद्धान्त' एक अन्धविश्वास है। समाज के विभिन्न कार्य-कलाप और कार्यक्षेत्र होते हैं। इनमें विभिन्न सघों को स्वतन्त्र रूप से काम करते रहना चाहिए। राज्य का इसमे हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। समाज के व्यावसायिक और आर्थिक सघो की ओर से फिगिस की ही तरह के दावे पालबोकूर और दुर्खीम ने भी किए हैं।

हाल ही मे लॉस्की ने एक ऐसी व्यवस्था का समर्थन किया है जिसमे "ऐसे सघो को स्वायत्त-शासन के पूर्ण अधिकार प्राप्त हों और राज्य को एकमात्र अनिवार्य सघ तथा मनुष्य के सार्वजनिक हितो का एकमात्र प्रतिनिधि न माना जाए।" लॉस्की का कहना है कि "असीमित और अनुत्तरदायी राज्य का सिद्धान्त मानवता के हितो से मेल नहीं खाता।" राज्य की सम्प्रभुता का भी इसी तरह लोप हो जाएगा जिस तरह राजाओ के दैवी अधिकार का लोप हो गया है। लॉस्की राज्य की चरम सम्प्रभुता को अर्थहीन मानता है। वह यद्यपि राज्य को श्रमिक सघ स्तर पर तो नहीं उतारता, लेकिन यह अवश्य कहता है कि सम्प्रभुता को अनेक सघो मे विभक्त कर देना चाहिए। राज्य को विभिन्न सघो में समन्वय स्थापित करने का कार्य करना चाहिए, न कि सर्वाधिकारी बनने का। लॉस्की के अनुसार शक्तियों का समन्वय तथा अधिकार-सत्ता का सघात्मक रूप होना चाहिए।

श्रेणी-समाजवादी कोल के अनुसार समाज का स्वरूप सघीय है, अत सम्प्रभुता के एकत्व पर आधारित राज्य ऐसे समाज की आवश्यकताओ की पूर्ति नही कर सकता। साथ ही राज्य सम्पूर्ण समाज की इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं करता। अत केवल उसी को शक्ति-प्रयोग का अधिकार नहीं होना चाहिए। उसकी कल्पना के समाज का सगठन ऐसा होना चाहिए जिसमे उपभोक्ताओ और उत्पादकों के स्थानीय, प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय स्तर के स्वतन्त्र और पृथक् सघ हो। उपभोक्ताओ के सघों का प्रतिनिधित्व प्रादेशिक (Territorial) हो एव उत्पादको के सघों का प्रतिनिधित्व व्यावसायिक (Functional) हो। इस प्रकार कोल ने अपनी श्रेणी-समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत बहुलवादी सम्प्रभुता का समर्थन किया है।

मैकाइवर ने भी अपनी पुस्तक 'दो मॉडर्न स्टेट' में बहुसत्तावाद का समर्थन किया है। उसके अनुसार समाज के अनेक संघों में से राज्य भी एक है यद्यपि उसके कर्त्तव्य कुछ विशिष्ट प्रकार के हैं। संघ भी राज्य की भांति समाज के लिए स्वाभाविक है, अत राज्य को उसका निर्माणकर्त्ता नहीं माना जा सकता। मैकाइवर के ही शब्दों में, 'आज विशाल संस्थाएँ न तो राज्य का अंग हैं और न उसकी प्रजामात्र। वे अपने स्वयं के अधिकार के आधार पर विकसित होती हैं। वे अपने अधिकारों का प्रयोग उसी प्रकार करती हैं जिस प्रकार स्वयं राज्य करता है। व्यावसायिक संघों के सदस्य राज्य की अपेक्षा अपने व्यावसायिक संघों के प्रति अन्ध-भक्ति प्रदर्शित करते हैं। वित्त और उद्योग, वाणिज्य और कृषि सम्बन्धी संघ स्वयं को राज्य के सेवक न समझकर उसके मालिक बनने की ताक में रहते हैं। अत राज्य को चाहिए कि वह सांस्कृतिक संगठनों में उनके अधिकारों को कायम रखते हुए गैर-राजनीतिक संगठनों में ही एक स्थान अपने लिए प्राप्त कर ले।"

लिण्डसे ने तो राज्य के सम्प्रभुत्व के विरोध में यहाँ तक कह दिया है कि "यदि हम तथ्यों पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि अब प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों के सिद्धान्त का खण्डन हो चुका है।" उसने संघों की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा है कि वे वह कार्य करते हैं जो राज्य नहीं कर सकता। राज्य आवश्यक तो है पर उसका स्वरूप संघीय है। उसके अनुसार मानव-जीवन की जटिल समस्याओं का समाधान केवल एक ही संस्था द्वारा नहीं हो सकता। उसके लिए अनेक संस्थाओं की आवश्यकता है। राज्य का कार्य अधिक से अधिक विभिन्न संघों में समन्वय स्थापित करना हो सकता है।

बार्कर ने यद्यपि समूहों के 'वास्तविक व्यक्तित्व' (Real Personality) के विचार को स्वीकार नहीं किया है तथापि उसकी मान्यता है कि समाज में स्थित विभिन्न समुदाय राज्य से पूर्वकालीन हैं और उनमें से प्रत्येक राज्य के पृथक् अपने-अपने कार्य हैं। इन समुदायों का सामाजिक जीवन में राज्य से कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं है, क्योंकि व्यक्ति की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति विभिन्न समुदायों के अभाव में पूरी नहीं हो सकती। बार्कर ने व्यक्ति के स्थान पर समुदायों को समाज की इकाई मानते हुए कहा है कि अब प्रश्न 'व्यक्ति बनाम राज्य' का नहीं, बल्कि 'समुदाय बनाम राज्य' का हो गया है। फिर भी बार्कर राज्य के महत्त्व से इन्कार नहीं करता वरन् कहता है कि व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा और उसे समुदाय के अत्याचारों से बचाने का कार्य बहुलवादी समाज में भी राज्य का ही रहेगा। बार्कर के ही शब्दों में, "सम्पूर्ण जीवन की योजना का प्रतीक होने के कारण राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने अन्य समुदायों के तथा उनके सदस्यों के बीच सामञ्जस्य बनाए रखे। अपने सम्बन्धों में सामञ्जस्य बनाए रखना इसलिए आवश्यक है कि उसकी योजना सुरक्षित रहे और दूसरों के साथ सामञ्जस्य इसलिए जरूरी है कि कानून के समक्ष सब समुदायों की समानता कायम रहे तथा समुदाय के सम्भावित अत्याचार से व्यक्तियों की रक्षा हो सके।"

मिस फालेट ने अपनी पुस्तक 'दि न्यू स्टेट' मे लिखा है कि "वर्तमान राजनीतिक विचारो मे बहुलवाद की विचारधारा सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और समुदायो की उपेक्षा करना अपनी राजनीतिक उन्नति को अवरुद्ध करना है।" अत राज्य को समुदायो के कार्यक्षेत्र मे हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए और अपने कुछ अधिकारो का त्याग कर देना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीयवाद और सम्प्रभुता

कुछ समय से अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्रियो और विश्व-शान्ति एव व्यवस्था के समर्थको द्वारा बाह्य सम्प्रभुता के सिद्धान्त (The Doctrine of External Sovereignty) का विरोध किया जा रहा है। उनका कहना है कि आन्तरिक रूप से चाहे राज्य सम्प्रभु हो, किन्तु बाह्य मामलो मे इसे उन्मुक्त नहीं छोड़ा जा सकता। विश्व के सभी राष्ट्र एक-दूसरे पर निर्भर हैं, उनके आर्थिक हित एक-दूसरे से सयुक्त हैं, अत राज्यो द्वारा अपनी अपनी सम्प्रभुता के सर्वोच्च मानने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय विवाद और विश्व-युद्ध होते हैं। दुनिया मे कोई ऐसी सार्वभौम प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता नही है जो इन अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो को सुलझा सके। केवल एक ही उपाय है कि राष्ट्रीय राज्य की सम्प्रभुता का उन्मूलन कर दिया जाए। जब तक ऐसा नही होगा विश्व-शान्ति कायम नहीं हो सकती तथा सयुक्त राष्ट्रसघ की भी वही दुर्गति हो सकती है जो राष्ट्रसघ की हुई थी।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सद्भावना के प्रमुख प्रवक्ता लॉस्की ने स्पष्ट रूप से माँग की है कि राज्य की बाह्य सम्प्रभुता पर रोक लगाना आवश्यक है। लॉस्की के अनुसार वर्तमान युग अन्तर्राष्ट्रीय एकता, सहयोग और सद्भावना का है, अत. एकत्ववाद या ऑस्टिन का सम्प्रभुता-सिद्धान्त उपयोगी नही है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे सर्वोच्च सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य की धारणा मानवता के लिए घातक है। एक राज्य दूसरे राज्य के साथ किस प्रकार व्यवहार करे, इसका निर्णय करने का अधिकार केवल राज्य को ही नही दिया जा सकता। इगलैण्ड को अकेले इस बात का निर्णय नहीं करने दिया जा सकता कि वह किस प्रकार के हथियार बनाएगा और दूसरे देशो से किन लोगो को अपने प्रदेश मे आने देगा। ये विषय ऐसे हैं जिनका प्रभाव सामान्य जनता के जीवन पर पडता है और इनकी व्यवस्था के लिए एक सुसगठित एकीकृत विश्व-सगठन की आवश्यकता है। 'यदि मनुष्यो को विशाल मानव-समाज मे रहना है तो उन्हें परस्पर सहयोगपूर्ण व्यवहार सीखना होगा। अन्तर्राष्ट्रीय कानून, अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियो और नैतिकता की उपेक्षा करने का अधिकार किसी भी राष्ट्र को नही हो सकता।'

कानूनी दृष्टिकोण और सम्प्रभुता

डुग्वी और केब्र के बहुलवाद का दृष्टिकोण कानूनी है। तदनुसार कानून बनाने का राज्य को ही एकमात्र अधिकार नहीं होना चाहिए। डुग्वी की दृष्टि मे कानून राज्य से स्वतन्त्र और राज्य की अपेक्षा अधिक व्यापक है। कानूनी सम्प्रभु को क्या करना चाहिए और क्या नहीं, इसका निश्चय वर्तमान समय मे कानून द्वारा

किया जाता है और राज्य का कर्त्तव्य यह है कि वह उन कानूनो को मान्यता प्रदान करे। सच तो यह है कि कानून राज्य को सगठित करते हैं, न कि राज्य कानून को। कानून सामाजिक स्थायित्व और मनुष्यो की आत्मनिर्भरता की दशाएँ हैं। वे सामाजिक हित मे हैं, अत उनका पालन होता है। *कानून राज्य को बाध्य और सीमित करते हैं*, न कि राज्य कानून को। राज्य का गुण सम्प्रभुता का उपभोग न होकर जनसेवा है, अत राज्य के कर्त्तव्यो पर आग्रह होना चाहिए, न कि अधिकारो पर। "सक्षेप मे सम्प्रभुता अपने आप मे कुछ भी नहीं है। राज्य मे कोई प्रभुत्व नही होता क्योकि राज्य अपने अधिकारो की प्रस्थापना निरकुश रूप से नही करता, बल्कि ऐसा करते समय वह *अन्य सामाजिक सस्थाओं के साथ मिलकर अपनी नीति निर्धारित करता है*।' डुग्वी के विचारो पर टिप्पणी करते हुए गैटिल ने लिखा है कि "उसकी रुचि प्राथमिक रूप से सामाजिक समूहो को राज्य मे राजनीतिक महत्त्व दिलाने मे ही नहीं है, बल्कि मुख्यत प्रशासकीय कार्यों पर न्यायिक प्रतिबन्ध लगाकर एक उत्तरदायी राज्य के सिद्धान्त के विकास मे है।" सामाजिक एकात्मकता और स्थायित्व (Social Solidarity) उसके राजदर्शन का आधार है।

केब्र के अनुसार ही कानून राज्य से स्वतन्त्र, श्रेष्ठतर और उच्चतर है। *कानून व्यवस्थापिका की आज्ञा न होकर प्रचलित धारणाओं तथा जनमत से प्रभावित* एक आचार-सहिता है। कानून राज्य के निवासियो के विवेक से सफल होता है। शक्ति राज्य का आवश्यक गुण नहीं है, क्योकि राज्य तो एक वैधानिक समुदाय है। व्यवहार मे राज्य कुछ हितों को कानूनी महत्त्व देने के अतिरिक्त और कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं करता।

इस प्रकार के विभिन्न विचारों से स्पष्ट है कि एक के स्थान पर अनेक की प्रतिष्ठा बहुलवाद है। समाज मे राजनीतिक सम्प्रभु एकमात्र राज्य ही नही, अनेक हैं। बहुलवादियो न अपने अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र और राज्य के समक्ष अनेक समुदायो के अस्तित्व का प्रतिपादन किया है। सम्प्रभुता की दृष्टि से वे समाज का सगठन एकात्मक के स्थान पर सघात्मक चाहते हैं।

बहुलवाद की आलोचना

बहुलवादियो ने विभिन्न दृष्टिकोणो से सम्प्रभुता के अद्वैत या एकत्ववादी सिद्धान्त पर प्रहार किया है, लेकिन वे इसे व्यर्थ सिद्ध करने मे सफल नही हुए हैं। बहुलवादियो की इस बात मे काफी सच्चाई है कि समूहो और सस्थाओ का आधुनिक समाज मे महत्वपूर्ण स्थान है तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो, नैतिकता आदि का राज्य की प्रभुता पर प्रभाव पडता है, परन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि राज्य की सम्प्रभुता अविभाज्य नही है। बहुलवाद को जिन कारणों से उसके आलोचक स्वीकार नहीं करते, व ये हैं—

1 सम्प्रभुता का विभाजन करना उसको नष्ट करना है। राज्य से प्रभुत्व-शक्ति को छीनकर भी बहुलवादी चाहते हैं कि राज्य समुदाय के बीच हयोग और सन्तुलन रखने का काय करेगा। यह परस्पर विरोधी दृष्टिकोण है। राज्य के

सर्वोच्च शक्ति से वंचित कर देने के बाद यह किस प्रकार सम्भव हो सकेगा कि राज्य विभिन्न समुदायों में सहयोग और सन्तुलन स्थापित करे। बहुसत्तावादियों के पास इस बात का कोई निश्चित उत्तर नहीं है।

2. बहुलवादी सम्प्रभुता के एकत्ववादी सिद्धान्त का आशय ठीक प्रकार से नहीं समझ पाए हैं। हीगल और उसके कुछ अनुयायियों को अतिरिक्त सम्प्रभुता के परम्परागत सिद्धान्त के समर्थकों में से किसी ने राज्य को निरंकुश नहीं बतलाया है। उदाहरणार्थ, बोदाँ, हॉब्स, बेन्थम आदि विचारकों ने राज्य की वास्तविक शक्ति को सीमित ही माना है। उन्होंने यह भी कहा है कि राज्य की आलोचना या विरोध करना अनैतिक नहीं है। लेकिन इससे उनका अभिप्राय यह नहीं कि राज्य की सम्प्रभुता सीमित और त्याज्य है। गेटिल ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि राज्य अपना कर्त्तव्य स्वीकार कर सकता है, अपने कार्यों पर स्वयं बन्धन लगा सकता है और विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व भी दे सकता है। वह यह सब कार्य अपनी कानूनी सम्प्रभुता का परित्याग किए बिना ही कर सकता है। अद्वैतवादियों या एकत्ववादियों का केवल इतना ही कहना है कि जब राज्य किसी निश्चित क्षेत्र में कानूनी सत्ता स्थापित करता है तो उस क्षेत्र में वह अन्य सब सामाजिक संघों से श्रेष्ठ और ऊपर होता है। डॉ. आशीर्वादम् ने ठीक ही लिखा है कि "अद्वैतवादी शत्रु, जिस पर बहुलवादी प्रहार करते हैं, बहुत हद तक एक काल्पनिक जीव है।"

3 बहुलवाद के विरोधियों का कहना है कि राज्य की सम्प्रभुता के बिना समाज का कार्य नहीं चल सकता। बिना सार्वभौमिक राज्य के समुदाय भी संघर्षरत हो जाएँगे। बहुलवाद का अन्तिम परिणाम अराजकतावाद होगा। सम्प्रभुता का विभाजन हो जाने से वह नष्ट हो जाएगी और समाज में अशान्ति तथा अव्यवस्था के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रहेगा। इस स्थिति में समाज के समस्त व्यक्तियों और संघों का जीवन खतरे में पड़ जाएगा। प्राकृतिक अवस्था पुनः लौट आएगी। इस तरह सभ्यता और विकास के पीछे की ओर लौटने की स्थिति पैदा हो जाएगी। अतः यह नितान्त आवश्यक है कि राज्य की सम्प्रभुता अविभाज्य और अखण्ड रहे। राज्य ही, अपनी सम्प्रभुता के बल पर, विभिन्न समुदायों के पारस्परिक विवादों को शान्ति या शक्ति से सुलझा सकता है तथा उसके अनुचित कार्यों पर नियन्त्रण रख सकता है।

4 बहुलवादी सर्वशक्तिमान राज्य का विरोध करते हुए अन्त में स्वयं राज्य की सर्वोपरिता को स्वीकार कर लेते हैं। कोकर का कहना है कि बहुलवादी सभी आवश्यक संघों को पूर्ण समानता की स्थिति प्रदान करने की इच्छा रखते हुए भी परिस्थितियों के कारण राज्य को प्रधान स्थान देने के लिए विवश होते हैं। गियरके और मेटलैण्ड संघों को वास्तविक व्यक्तित्व प्रदान करते हुए भी यह स्वीकार करते हैं कि राज्य अन्य सामाजिक संस्थाओं से ऊपर तथा सर्वोच्च है। पालबाकर भी सभी संघों और संस्थाओं को राज्य के अधीनस्थ मानता है। डॉ. फिगिस ने 'राज्य को समुदायों का समुदाय माना है। वह राज्य को समाज की असमानताओं को दूर करने

और उनमें समन्वय स्थापित करने का काम सौंपते हैं। बार्कर, लॉस्की, कुमारी फालेट आदि ने राज्य की सर्वोपरि समन्वयकारी शक्ति और श्रेष्ठता को स्वीकार किया है। इस प्रकार बहुलवादियों ने "सम्प्रभुता को सामने के द्वार से निकाल कर पीछे के द्वार से वापस बुला लिया है।"

5. नैतिकता, रीति-रिवाज आदि से सम्बन्धित आपत्तियों का राज्य की सम्प्रभुता से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये आपत्तियाँ शासन की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध हैं। राज्य और सरकार में अन्तर सम्बन्धी भ्रान्ति के कारण ही ये आपत्तियाँ उठाई गई हैं।

6 बहुलवादियों का यह विचार भी भ्रामक है कि समाज के विभिन्न संघ एक समानान्तर रेखा पर चलते हैं, उनके कार्य-क्षेत्र अलग-अलग हैं, उनमें एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है तथा वे एक-दूसरे के अधिकारों और कर्त्तव्यों का अतिक्रमण करते हैं। वास्तविकता यह है कि सामाजिक जीवन का प्रत्येक पहलू एक-दूसरे से सम्बन्धित है। उदाहरणार्थ, सभी धार्मिक पक्षों का राजनीतिक पहलू होता है और सभी राजनीतिक प्रश्नों का धार्मिक पहलू। यही कारण है कि प्राय अनेक समूह एक-सा कार्य करते हुए पाए जाते हैं। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि समाज में निष्ठाओं तथा स्वार्थों के लिए संघर्ष होता रहता है और जब तक सामाजिक संघों में यह संघर्ष जारी रहेगा तब तक एक सार्वभौम और मध्यस्थ राज्य की आवश्यकता बनी रहेगी।

7. बहुलवादियों का कानूनी दृष्टिकोण भी भ्रामक है। उनका यह कहना काफी ठीक है कि कानून का स्रोत तथा उसकी वैधानिकता केवल राज्य की इच्छा पर निर्भर नहीं है, यद्यपि वे यहाँ भी अद्वैतवादी विचारधारा को ठीक से नहीं समझ पाए हैं। अद्वैतवादी या एकत्ववादी भी यह स्वीकार करते हैं कि कानून के विभिन्न स्रोत हैं, लेकिन उनका कहना है कि उन्हें वैधानिक मान्यता तभी प्राप्त हो सकती है जब वे राज्य द्वारा मान्य हो जाएँ। एकत्ववादी कानून के औपचारिक तत्त्वों पर विशेष ध्यान देते हैं जबकि बहुलवादी उन्हें स्वीकार नहीं करते। एकत्ववादियों के अनुसार कानून के पीछे राज्य की शक्ति होती है जिसे न्यायालय लागू करते हैं जबकि बहुलवादी कानून के लिए इस कानूनी मान्यता को आवश्यक नहीं समझते। स्पष्ट है कि बहुलवादियों का कानून सम्बन्ध कोई ठोस मापदण्ड नहीं है। यद्यपि ड्यूगी, केब्ब आदि लेखक राज्य पर कानून का बन्धन लगाना चाहते हैं, यद्यपि ऐसा करने में वे वस्तुत. राज्य पर प्रतिबन्ध न लगाकर राज्य के अंगों पर प्रतिबन्ध लगाते हैं।

8. यदि बहुलवादियों के मत को मानकर, समाज में विभिन्न संस्थाओं में सम्प्रभुता का विभाजन कर दिया जाए तो वे इतनी शक्तिशाली हो जाएँगी कि राज्य या अन्य कोई शक्ति उन्हें अपने नियन्त्रण में नहीं ला सकेगी और अनेक गम्भीर समस्याएँ पैदा हो जाएँगी। इसके अतिरिक्त यदि समाज में विभिन्न संस्थाओं को धार्मिक सम्प्रभुता सौंप दी जाए तो इससे समाज विघटन की ओर अग्रसर होगा तथा संस्थाओं में पारस्परिक विवाद बहुत अधिक बढ़ जाएँगे।

9. अन्तर्राष्ट्रीयता के आधार पर भी बहुलवादियों द्वारा सम्प्रभुता के सिद्धान्त का विरोध उचित नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय आचार-व्यवहार और कानूनों का आदर करना चाहिए, लेकिन इन सीमाओं से कोई वैधानिक मान्यता प्राप्त नहीं हो जाती और राज्य इनका पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। यदि जनमत अथवा नैतिकता के दबाव से राज्य उनका पालन करता है, तो ऐसा वह अपनी ही इच्छा से करता है और इससे उनकी सम्प्रभुता खण्डित नहीं होती। यदि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों या कानूनों, नियमों या सन्धियों का विरोध करने पर उतारू हो जाए तो कोई सत्ता उसे ऐसा करने से रोक नहीं सकती। फिर यह भी स्मरणीय है कि सम्प्रभुता के अनेक समर्थकों ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य की सम्प्रभुता के सम्बन्ध में यह स्वीकार किया है कि प्रत्येक राज्य का अन्य राज्यों के प्रति कुछ नैतिक दायित्व होता है और उस हद तक राज्य की सम्प्रभुता सीमित हो जाती है। इस प्रकार बहुसत्तावादियों के लिए अन्तर्राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण से सम्प्रभुता की आलोचना कमजोर पड़ जाती है। वास्तविकता यह है कि राज्य की बाह्य सम्प्रभुता सिद्धान्ततः अक्षुण्ण है यद्यपि व्यवहार में उस पर कुछ प्रतिबन्ध हैं।

उपर्युक्त आलोचनाओं के प्रकाश में यह स्पष्ट है कि राज्य एक सार्वभौम सत्ता है और उसकी सम्प्रभुता सर्वोच्च है। राज्य को अन्य समुदायों के बराबर-धरातल पर ला खड़ा करना अनुचित है। समाज में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने की विशेष शक्ति राज्य के ही पास है और आखिर इस शक्ति का नाम ही सम्प्रभुता है।

बहुलवादी विचारधारा का औचित्य और महत्त्व

इस निष्कर्ष पर पहुँचने पर भी कि राज्य-प्रभुत्व का परम्परावादी सिद्धान्त काफी सही है, बहुलवादी विचारधारा के महत्त्व को स्वीकार करना पड़ता है। बहुलवादी विचारधारा ने व्यक्ति और समुदाय के महत्त्व को उजागर कर एक उपकार किया है। राज्य की शक्ति को सीमित करके तथा कानून की शक्ति पर बल देकर उन्होंने एक नवीन विचारधारा को जन्म दिया है जो प्रभुत्व की आलोचना मात्र नहीं है, बल्कि राजनीतिक व्यवस्था का एक स्वतन्त्र सिद्धान्त है। यद्यपि राज्य के प्रभुत्व पर कोई कानूनी प्रतिबन्ध नहीं हो सकता, पर उसे नैतिक मर्यादाओं का पालन अवश्य करना चाहिए। बहुलवादी सिद्धान्त का इस बात में भी पर्याप्त बल है कि राज्य के प्रभुत्व सिद्धान्त का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बहिष्कार होना चाहिए। इस क्षेत्र में उसने बुराई और अव्यवस्था के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया। अन्तर्राष्ट्रीय नियमों और विचारधाराओं से मनमानी खिलवाड़ करने के कारण ही मानवता को महाविनाशकारी युद्धों का मुख देखना पड़ा है।

गैटिल के अनुसार बहुसत्तावाद ने राजनीति शास्त्र को मूल्यवान देन दी है। उसके शब्दों में—"राज्य का कर्त्तव्य है कि नैतिक बन्धनों को स्वीकार करे।" बहुलवादियों का यह विचार मानवीय है और राज्य के आदर्शवादी रूप के विरुद्ध

एक उचित प्रतिक्रिया है। यह प्रतिक्रिया राज्य के सर्वेसर्वा होने और सभी नैतिक बन्धनों से स्वतन्त्र होने के सिद्धान्त के विरुद्ध भी है। बहुसत्तावादी ऑस्टिन के प्रभुत्व-सिद्धान्त की ठोस और व्यावहारिक कानूनी स्थिति का भी विरोध करते हैं। वे शीघ्र परिवर्तित होने वाले सामाजिक ढाँचे के राजनीतिक जीवन की वास्तविकताओं के अध्ययन पर भी बल देते हैं। इस सम्बन्ध मे गैर-राजनीतिक दलो के बढते हुए महत्त्व की ओर सकेत करते हैं और ऐसे दलो के कार्यो मे राज्य द्वारा किए जाने वाले अनुचित हस्तक्षेप से उत्पन्न खतरो की ओर भी ध्यान आकर्षित करते हैं। वे इस तथ्य पर बल देते हैं कि ऐसे दलो को राजनीतिक क्षेत्र मे अधिक कानूनी मान्यता दी जाए।

हीसियो ने बहुसत्तावाद के गुणो का वर्णन इस प्रकार किया है—"बहुसत्तावाद का व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर जोर, उसका समुदायो को राजनीतिक क्षेत्र मे स्थान देकर अभी तक सामाजिक सगठन के लिए अपनाई गई किसी भी प्रणाली की अपेक्षा अधिक ठोस प्रणाली का सुझाव; उसका उस राजनीतिक प्रतिक्रिया के वास्तविक विशाल दृष्टिकोण पर दृढ रहना जिसके अन्तर्गत न केवल सरकार और कानूनो का समावेश है, बल्कि मनुष्य के बहुत से नैतिक पहलुओ के पारस्परिक सम्बन्ध भी शामिल हैं तथा अन्त मे पितृसत्तावाद (Paternalism) और राजनीतिक राज्य की निरकुशता के विरुद्ध उसकी लाभकारी प्रतिक्रिया तथा किसी आंशिक सस्था के प्रभुत्व के विरुद्ध चेतावनी—ये सभी तथ्य महत्त्वपूर्ण हैं जिनको मानने मे किसी भी निष्पक्ष विद्वान् को सकोच नहीं होगा।"

7

फासीवाद

(Fascism)

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इटली की पतनावस्था मे बेनिटो मुसोलिनी (1833-1945) की अध्यक्षता में साम्यवाद की बढती हुई लहर का विरोध करने और इटली का पुनरुद्धार करने के लिए फासीवाद का जन्म हुआ। मुसोलिनी सर्वप्रथम इटली के भ्रान्त और हताश नागरिकों के सम्मुख एक आकर्षक एव रचनात्मक कार्यक्रम लेकर उपस्थित हुआ जिसने इटली की जनता को दो नारे दिए—पहला, इटली भव्य परम्पराओं वाला महान् देश है; और दूसरा, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान और आन्तरिक सुदृढ प्रशासनिक व्यवस्था प्राप्त किए बिना इटली को चैन से नही बैठना है। सन् 1926 मे सच्चे अर्थों मे इटली का तानाशाह बन बैठने के बाद मुसोलिनी द्वितीय महायुद्ध तक इटली का एकमात्र भाग्य विधाता रहा। इटली के समान जर्मनी मे भी सन् 1933 मे एडोल्फ हिटलर (1889 1945) निरकुश अधिनायक बन बैठा। उसकी पार्टी नाजी (राष्ट्रीय समाजवाद) पार्टी कहलाती थी, अत उसकी विचारधारा नाजीवाद के नाम से प्रसिद्ध हुई। फासीवाद और नाजीवाद में कुछ अन्तर होते हुए भी दोनो का बुनियादी सामाजिक राजनीतिक दर्शन एक ही है और इसीलिए राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र मे प्राय दोनो के लिए फासीवाद शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है। दोनो ही विचारधाराएँ व्यक्तिवाद, लोकतन्त्र, समाजवाद और सभी उदारवादी एव प्रगतिशील तत्त्वो की शत्रु तथा निरकुशवाद, उग्र राष्ट्रवाद, युद्धवाद, सर्वाधिकारवाद और पूँजीवाद की समर्थक हैं। फासीवादी अधिनायकतन्त्र कुछ ही वर्षों मे तेजी से विकसित हुआ और इटली तथा जर्मनी की सीमाएँ लाँघकर पोलैण्ड, युगोस्लाविया, रूमानिया, बल्गेरिया, हगरी, आस्ट्रिया, यूनान, स्पेन, पुर्तगाल आदि देशो में भी प्रवेश कर गया। इन देशो मे भी अधिनायकवादी सरकारें स्थापित हुई। मुसोलिनी और हिटलर ने विश्व को द्वितीय महायुद्ध (1939-1945) की आग में झोक दिया, किन्तु लोकतन्त्र को भस्म करने के प्रयास में वे स्वय भस्म हो गए। फासीवादी और नाजीवादी शक्तियों की घोर आत्मघाती पराजय हुई। *मुसोलिनी को इटली के ही लोगों ने गोली मार दी और हिटलर ने युद्ध के अन्तिम* दिनों में आत्महत्या कर ली। महायुद्ध मे लोकतान्त्रिक शक्तियों की विजय के साथ

ही स्पेन और पुर्तगाल के अतिरिक्त यूरोप के सभी देशों में फासीवादी अधिनायकतन्त्र समाप्त हो गया। फिर भी एक विचारधारा के रूप में फासीवाद का पूरा लोप नहीं हुआ और आज भी विश्व के अनेक देशों में फासीवादी तत्त्व सक्रिय हैं।

फासीवादी दर्शन और उसकी विशेषताएँ
(The Philosophy of Fascism and Its Characteristics)

फासीवाद कोई क्रमबद्ध सुव्यवस्थित राजदर्शन नहीं है। स्वयं मुसोलिनी के शब्दों में "देश, काल और वातावरण की परिस्थितियों के अनुसार हम कुलीनतन्त्रीय अथवा जनतन्त्रीय, रूढिवादी अथवा प्रगतिशील, प्रतिक्रियावादी अथवा क्रान्तिकारी, नियमित अथवा अनियमित सभी कुछ हो सकते हैं।" इटली के लेखक जेंटाइल के अनुसार "फासीवाद ने स्वयं को अपने भावी कार्यक्रम के सम्बन्ध में बाँधना स्वीकार नहीं किया। इसने अनेक बार ऐसी घोषणाएँ की जो राजनीतिक दर्शन के अनुकूल थीं, परन्तु जिनको क्रियान्वित करना फासीवाद अपना उत्तरदायित्व नहीं मानता था।" सेबाइन की दृष्टि में "फासीवाद ऐसे विचारों का योग है जो विविध सूत्रों से प्राप्त किए गए हैं और परिस्थिति की आवश्यकताओं के अनुरूप संग्रहीत कर दिए गए हैं।" इनमें तीन महत्त्वपूर्ण सूत्र ये हैं—(1) राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त विशेषकर हीगल का दर्शन, जिससे ग्रहण किया गया है कि केवल राज्य में ही और उसके माध्यम से ही व्यक्ति अपने जीवन के वास्तविक उद्देश्य की प्राप्ति कर सकता है, अत उसे राजाज्ञा का आँख मीच कर पालन करना चाहिए, (2) जर्मन दार्शनिक नीत्से (Nietzsche) की नैतिक तथा सामाजिक विचारधारा, जिससे नेतृत्व एवं तानाशाही की धारणा ग्रहण की गई, और (3) रोम का चरित्र एवं जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण, जिससे इसने अनुशासन और कार्य को महत्त्व देना सीखा।

वास्तव में, फासीवादी दर्शन के कोई अटल नियम नहीं हैं। यह किसी आदर्श सत्त, महत्त तथा आध्यात्मिकता में विश्वास नहीं करता। फासीवादी दर्शन प्रधानत अवसरवादी और क्रियात्मक है। यह एक लचीली विचारधारा है जो आवश्यकतानुसार यथाइच्छा मोड़ दी जाती है। फासिस्ट लोग कार्य पहले करते हैं और उसे दर्शन का रूप बाद में देते हैं। आचारात्मक सभी विचारों का खण्डन करने के कारण इसे 'सत्तावादी राजनीतिक सिद्धान्त' (Philosophy of Power Politics) भी कहते हैं।

फासीवाद ने कुछ ही वर्षों में सभ्यता और संस्कृति की जड़ें उखाड़ कर शताब्दियों के मूल्यों और मान्यताओं को मिट्टी में मिला दिया। अत इसकी प्रकृति के सम्बन्ध में अनेक धारणाएँ बनीं और नए-नए दृष्टिकोणों से इसकी व्याख्या करने के प्रयत्न किए गए तथा आज भी किए जा रहे हैं। फासीवाद की सबसे लोकप्रिय व्याख्या मार्क्सवादियों की है जिन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर इसका विवेचन किया है। मार्क्सवादियों की दृष्टि में फासीवाद एकाधिकारी पूँजीवादी अधिनायकतन्त्र है, पूँजीवाद को सर्वहारा-क्रान्ति से बचाने का एक प्रभावशाली तरीका है। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त साम्यवाद के ज्वार से इटली और जर्मनी के सत्ताधारी

वर्गों के लिए जबर्दस्त सकट पैदा हो गया और यह अनुभव पैदा किया जाने लगा कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था इस तूफान को रोकने मे असफल है। अत पूँजीपति वर्ग ने लोकतन्त्र का जामा उतार फेंका और बर्बर अधिनायकवाद की स्थापना कर ली। इटली और जर्मनी मे पूंजीपतियो ने मुसोलिनी और हिटलर को पूर्ण सहयोग प्रदान किया और सत्तारूढ होने पर इन अधिनायकों ने श्रमिक आन्दोलनो को कुचलने तथा साम्यवादी विचारो का दमन करने मे सारी शक्ति लगा दी। मार्क्सवादियो से भिन्न दूसरी व्याख्या समाजवादियो की है जिनके अनुसार फासीवाद मध्यम वर्ग का अधिनायकतन्त्र है। महायुद्ध के बाद पूँजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग के पारस्परिक सघर्षों ने जब मध्यम वर्ग के अस्तित्व को सकट में डाल दिया तो इस वर्ग ने अपने हितो की रक्षा हेतु फासीवाद के रूप में अपना अधिनायकत्व स्थापित कर लिया। इटली और जर्मनी दोनो ही देशो मे मध्यम वर्ग के लोगो ने भारी सख्या मे फासीवाद को समर्थन और सहयोग दिया। फासीवाद की तीसरी व्याख्या के अनुसार यह *मुसोलिनी और हिटलर का व्यक्तिगत अधिनायकत्व था।* इटली और जर्मनी की जनता ने अपने अधिनायको की ईश्वर की भाँति पूजा की। दोनो देशों के लोग उनके सकेत मात्र पर अपना सर्वस्व उत्सर्ग करने को तत्पर हो गए। फासीवाद की चौथी व्याख्या का प्रचार विशेष रूप से द्वितीय महायुद्ध काल मे हुआ। यह कहा गया कि नाजीवाद जर्मन इतिहास और सस्कृति की अन्तर्निहित विशेषताओ की सामाजिक परिणति है, जर्मन लोगो ने सदैव सैनिकवादी परम्पराओ और सत्तावादी शासन से प्रेम किया है। इस दृष्टिकोण के प्रतिपादको ने यह विचार व्यक्त किया कि यदि जर्मनी मे अधिनायकवाद को, उसकी सैनिक शक्ति को एक बार पूरी तरह विनष्ट कर दिया गया तो फिर यह सम्भव हो सकेगा कि जर्मन लोगो को लोकतान्त्रिक और उदारवादी सिद्धान्तों, व्यवस्थाओ तथा परम्पराओ से शिक्षित किया जा सके।

फासीवाद की विशेषताएँ या प्रमुख लक्षण

फासीवाद के प्रमुख सिद्धान्तो अथवा इसकी आधारभूत विशेषताओ का निम्नानुसार दर्शाया जा सकता है—

1 राष्ट्र की उपासना (Glorifies the Nation)—फासीवाद के अनुसार राष्ट्र साध्य है और व्यक्ति साधन। राष्ट्र रूपी साध्य पर व्यक्ति एव समुदाय रूपी साधन सदैव न्योछावर किए जा सकते हैं। "फासीवाद का समाज से अभिप्राय राष्ट्र से है और राष्ट्र इसके लिए राज्य का ही पर्यायवाची है। अत राज्य राष्ट्र का मूल रूप है जिसको वैधानिक एव नैतिक दोनों ही प्रकार की सम्प्रभुता प्राप्त है। समाज अथवा राष्ट्र का पूर्ण जीवन अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए व्यक्तियो का साधन बनाने मे है। फासीवादियो के अनुसार राष्ट्र के सम्पूर्ण साधन राज्य को गौरवपूर्ण बनाने के लिए प्रयुक्त होने चाहिए और व्यक्ति के मस्तिष्क मे राष्ट्र की अभिवृद्धि का ही प्रधान विचार होना चाहिए। राष्ट्र समाज को एक सूत्र में बाँध कर सगठित रखता है और उसका क्षेत्र केवल जीवित व्यक्तियो तक ही सीमित न होकर भावी पीढ़ियों तक विस्तृत होता है।"

2. राज्य का गुणगान (Glorifies the State)—आदर्शवादियो की भाँति फासीवादी भी राज्य के अनन्य भक्त हैं और इसे एक दैवी तथा नैतिक सस्था मानते हैं। मुसोलिनी के शब्दो मे, "राज्य स्वय मे एक आध्यात्मिक और नैतिक तत्त्व है।" फासीवाद के अनुसार राज्य मानवीय गुणो का स्रोत है, सभ्य जीवन का प्रतीक है, मनुष्य मे सर्वोत्तम सत्य की अभिव्यक्ति का साधन है, मनुष्यो की आत्मा का सरक्षक और प्रवर्तक है, एक सहकारवादी एव एकात्मक तत्त्व है तथा राष्ट्र का मूल रूप है।

3 राज्य एक सर्वसत्तात्मक, सर्वव्यापक एव दोषमुक्त संस्था (State as an Omnipotent, Omnipresent and Infallible Institution)—उपर्युक्त सिद्धान्त से स्पष्ट है कि फासीवाद सक्रिय एव सर्वसत्तात्मक राज्य का समर्थन करता है। वह एक मौलिक, अधिकारपूर्ण एव एकात्मक राज्य का समर्थक है। व्यवस्था, अनुशासन और सत्ता (*Order, Discipline & Authority*)—इन तीनो की प्राप्ति के लिए फासीवादी राज्य पूर्ण शक्ति के साथ व्यक्तिगत स्वाधीनता को कुचल सकता है। फासीवादियो के लिए राज्य ही सर्वस्व है। मुसोलिनी के शब्दों मे, "ससार की कोई भी मानवीय तथा आध्यात्मिक वस्तु उससे बाहर नहीं हो सकती और यदि हो तो उसका कोई मूल्य नहीं हो सकता।" फासीवादी सर्वाधिकार-सम्पन्न राज्य का चित्र इन शब्दो मे स्पष्ट हो जाता है—"सब कुछ राज्य के अन्तर्गत होना चाहिए, राज्य के विरुद्ध तथा राज्य के बाहर कुछ भी नहीं हो सकता।" राज्य मानव-जीवन के समस्त क्षेत्रो का नियन्त्रण करता है।

4. स्वतन्त्रता अधिकार नहीं वरन् कर्त्तव्य (Liberty not a Right but a Duty)—फासीवादियो की स्वाधीनता की परिभाषा अपनी है और साथ ही बहुत कुछ नवीन भी। एक सत्ताधारी राज्य के प्रशसक फासीवादी स्वाधीनता को प्राकृतिक देन न मान कर राज्य द्वारा स्वीकृत एक रियायत (*Concession*) मानते हैं। इस सम्बन्ध मे वे हीगल और नीत्से के विचारों से अत्यधिक प्रभावित हैं। फासीवादी दर्शन मे कानून का पालन ही वास्तविक स्वतन्त्रता है। जेंटाइल (Gentile) के शब्दो मे, "कानून और राज्य स्वतन्त्रता के सर्वोत्तम अभिव्यक्तिकर्त्ता हैं।" फासीवादियो का कहना है कि "राज्य की ज्यो ज्यो उन्नति होगी त्यो-त्यो स्वाधीनता का क्षेत्र भी विस्तृत होता जाएगा क्योकि एक फासीवादी राज्य मे व्यक्ति की सुरक्षा तथा स्वाधीनता कानून के घूँसे द्वारा रक्षित की जाती है।" स्वतन्त्रता को राज्य से कोई भी व्यक्ति अधिकार के रूप मे नही माँग सकता। व्यक्ति को स्वतन्त्रता राज्य द्वारा सामाजिक हितो को ध्यान मे रख कर प्रदान की जाती है।

5. राज्य मे व्यक्ति उपेक्षणीय है (The Individual is Negligiable in a Fascist State)—फासीवाद व्यक्ति की उपेक्षा करते हुए नैतिक और कानूनी दोनों ही दृष्टियो से राज्य को महत्ता और प्राथमिकता प्रदान करता है। स्वय मुसोलिनी के शब्दो मे, "फासिस्ट राज्य वैयक्तिक सुरक्षा तथा भौतिक सुरक्षा प्रदान करने वाला कोई रात्रि-प्रहरी नही है, बल्कि एक आत्मिक इकाई है जो राष्ट्र की आर्थिक राजनीतिक तथा न्यायिक व्यवस्था प्राप्त करने के लिए उद्भूत हुई है।"

6 प्रजातन्त्र का विरोधी (Opposed to Democracy)—फासीवाद प्रजातन्त्र एव उदारतावाद का घोर शत्रु है। यह प्रजातन्त्र को 'मूर्खतापूर्ण, भ्रष्ट, धीमी, काल्पनिक और प्रव्यावहारिक प्रणाली' कहकर उसका उपहास करता है। फासीवादियो की मान्यता है कि *प्रजातन्त्र एक मरणासन्न शव है जो पूर्णतया सड* चुका है। ससदो को वे 'बातो की दूकान' कहते हैं। बहुमत के शासन और निर्वाचन को वे धोखा मानते है। भ्रातृत्व, समानता और बन्धुत्व के नारो मे उनका कोई विश्वास नही है। मुसोलिनी के शब्दो मे, "प्रजातान्त्रिक शासन की व्याख्या इस *प्रकार की जा सकती है कि वह समय-समय पर लोगो को मिथ्यावादी सम्प्रभुता का* आभास देता है जबकि वास्तविक और प्रभावशाली सम्प्रभुता अदृश्य है और वह गुप्त और अनुत्तरदायी हाथो मे रहती है।"

7 कुलीनतन्त्र मे विश्वास (Believes in Aristocracy)—फासीवाद *कुलीनतन्त्र का समर्थक है। इसके समर्थको का विश्वास है कि साधारण जनता मे* इतनी योग्यता नही होती कि वह शासन कार्य का सचालन कर सके और अपने हितो के विषय मे विचार सके। शासन कार्य कुछ विशिष्ट लोगो द्वारा सचालित होना चाहिए जो योग्य, अनुभवी एव कार्यकुशल हो और जो निश्चित आदर्शों से प्रेरणा *लेकर निष्ठापूर्वक सम्पूर्ण राष्ट्र के हितो को भली-भाँति पहचान कर उनकी रक्षा कर* सकें। जन-साधारण को फासीवादी अज्ञानी मानते हैं और कहते हैं कि उनको शासक वर्ग का अन्धानुकरण करना चाहिए।

8. सैन्यवाद और साम्राज्यवाद का उपासक (Worshiper of Military Power and Imperialism)—फासीवाद राष्ट्रीय उन्नति के लिए युद्ध को अनिवार्य मानता है। राष्ट्र की सुरक्षा, विस्तार और विकास के लिए युद्ध सदा ही न्यायसगत है, भले ही उसमे अन्य छोटे समुदायो के हित और राष्ट्र के उत्कृष्ट सदस्यो का जीवन नष्ट हो जाए। मेरियो कार्लो (Mario Carli) के शब्दो मे, 'फासीवाद का जन्म *युद्ध से हुआ है और युद्ध मे ही उसको अपना विकास खोजना है।*" फासीवाद का जन्मदाता मुसोलिनी स्वय कहा करता था—"युद्ध मानवीय शक्तियो को चरम बिन्दु तक उन्नत कर साहसी वीरो के मस्तिष्क पर कुलीनता का टीका लगा देता है।" फासीवादी विगत रोमन साम्राज्य की स्थापना का स्वप्न देखते थे। अबीसीनिया को इसीलिए विजय किया गया था। सैन्यवाद का उपासक फासीवाद चाहता है कि नारियाँ अधिक से अधिक सन्तान पैदा करें जिससे सेना मे वृद्धि की जा सके। साम्राज्यवादी महत्वाकाँक्षा प्रदर्शित करते हुए मुसोलिनी ने घोषणा की थी—"या *तो इटली को अपना विस्तार करना चाहिए या मिट जाना चाहिए।*" युद्ध की प्रशसा के गुण गाते-गाते फासीवाद इस सीमा तक पहुँच गया था कि उसे विश्व-शान्ति 'कायरो का स्वप्न' दिखाई देता था। हिटलर के ये शब्द कि "विश्व मे अनवरत युद्धो से मानवता महान् बन सकती है और चिर-शान्ति से उसका विनाश हो जाएगा" फासीवाद और नाजीवाद की युद्धप्रियता को प्रकट करते हैं।

9. अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोध (Rejects Internationalism)—जहाँ आज

हम राष्ट्रवाद के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की बात करते नहीं थकते, वहाँ मुसोलिनी कहा करता था कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति अथवा व्यवस्था की चर्चा केवल वे राष्ट्र करते हैं जो अन्य राष्ट्रो के साथ सघर्ष और प्रतियोगिता मे सफलता प्राप्त करने की आशा नहीं रखते।

10. तर्क और बुद्धिवाद का विरोधी (Does not Believe in Intellect and Criticism)—फासीवादी तर्क और बुद्धिवाद मे कोई विश्वास नही रखते। इनकी मान्यता है कि मनुष्य किसी कार्य को भावना तथा कल्पना द्वारा प्रेरित होकर करता है। वह केवल अपने जीवन को किसी प्रकार सुखमय बनाना चाहता है। मुसोलिनी कहा करता था—"हमने प्रत्येक विरोधी का नाश कर दिया है। हमे किसी प्रकार के नियम मे विश्वास नहीं है, और न स्वर्ग और मुक्ति मे ही। हम मनुष्य मात्र की स्वतन्त्रता, जीवन और सुख की कामना करते हैं।" फासीवाद के समर्थको को विचार-विमर्श और समझौते पर आधारित सरकार मे कोई आस्था नही थी। उनके अनुसार—"मनुष्य अपने फेफडो और हाथ पैरो का अवश्य प्रयोग कर सकता है, परन्तु बुद्धि का नहीं। अविवेकवादी होने के कारण ही वे ऐसे नारो मे विश्वास करने लगे थे जैसे "मुसोलिनी सर्वथा सत्य है, उस पर विश्वास रखो, उसकी आज्ञा का पालन करो और युद्ध करो।" फासीवाद तर्क की अपेक्षा प्रेरक शक्ति और आडम्बरो मे अधिक विश्वास करता था। विवेक का विकास अधिनायको की मृत्यु का निमन्त्रण होता है, इसलिए फासीवादी विवेक और कल्पना से सदैव कतराते हैं। वे बुद्धिवादी दर्शन को कुछ बुद्धिवादी अमीरों की विलासिता मात्र मानते हैं।

11 एक नेता, एक दल और एक शासन में विश्वास (Faith in One Leader, One Party and One Government)—फासीवाद एक नेता, एक दल और एक शासन मे विश्वास करता है और इसलिए यह किसी विरोधी व्यक्ति, समुदाय या सस्था को सहन नहीं करता। फासीवाद की शिक्षा है कि नेता के समस्त आदेशो के बिना किसी सकोच तथा वाद विवाद के पालन करना चाहिए। इसमे दल की भी स्थिति नेता के हाथो की कठपुतली के समान रहती है।

12 आर्थिक क्षेत्र में फासीवाद राष्ट्रीय उपयोगिता के दृष्टिकोण को उच्च महत्त्व देता है—फासीवाद पूँजी और श्रम दोनो का नियमन करता है और दोनो पर नियन्त्रण रखता है। यह पूँजी एव समाजवाद दानो का विरोधी है। पूँजीवाद का यह खण्डन भी करता है, लेकिन साथ ही उससे आतंकित भी रहता है। यह उसका सर्वथा अन्त न कर राष्ट्रीय हित मे उस पर बहुत से प्रतिबन्ध लगाना हितकर समझता है।

13 फासिस्ट राज्य एक निगमात्मक राज्य (Corporate State) होता है—फासीवादी राज्य मे श्रमिक सघो के स्थान पर फासीवादी सघो की स्थापना की जाती है जिनके अधिकारी कट्टर फासीवादी होते हैं। फासीवादी ही इनके सदस्य हो सकते हैं और इन सघो की शक्तियाँ बहुत महत्त्वपूर्ण होती हैं। सघो को मि-
सघो के साथ मिलाकर राज्य द्वारा स्वीकृत कॉरपोरेशन (नि---

ये ही कॉरपोरेशन निर्वाचन के लिए निर्वाचक-मण्डलो का रूप धारण कर लेते हैं। राज्य का एक व्यक्ति के साथ सम्बन्ध कॉरपोरेशन के द्वारा होता है। प्रत्येक उद्योग और सेवा का सचालन करने के लिए एक कॉरपोरेशन होता है। फासीवादी इटली मे ऐसे सस्थानो या कॉरपोरेशनो का जाल बिछा हुआ था। प्रोफेसर जोड (Joad) के शब्दो मे, "ये सस्थान ही राज्य की आत्मा को विभिन्न धाराओ मे बाँटकर विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसकी सम्पूर्णता को सुदृढ बनाते थे।"

14 चर्च और धर्म मे विश्वास करता है—सन् 1921 तक फासीवादियो का चर्च और धर्म मे कोई विश्वास नहीं था। ये धर्म और चर्च को समूल नष्ट कर देने के पक्ष मे थे, लेकिन शीघ्र ही मुसोलिनी ने अनुभव किया कि इटली की जनता मे उसके कैथोलिक चर्च के प्रभाव को कुचला नहीं जा सकता। अत अपने हित मे चर्च से सन् 1929 मे सन्धि करली जिसके अनुसार पोप ने फासिस्ट सरकार को इटली की सरकार के रूप मे मान्यता प्रदान की और मुसोलिनी ने वेटीकन प्रदेश पर पोप की सत्ता को स्वीकार किया। कैथोलिक धर्म को राज्यधर्म घोषित कर दिया गया। धर्म को मार्क्सवादियो की भाँति जनता की अफीम न मानकर राज्य और जनता का सहयोगी स्वीकार किया गया।

फासीवाद की आलोचना
(Criticism of Fascism)

फासीवाद मे देश प्रेम, न्यायोचित आर्थिक व्यवस्था एव नागरिकों के कर्त्तव्य पर बल आदि श्रेष्ठ गुण होते हुए भी इनकी अपनी अद्भुत मान्यताओ के कारण वतमान आलोचको ने इसका बडी कठोरता से खण्डन किया। इटली मे तानाशाह मुसोलिनी के उदय के साथ ही फासीवाद का उदय हुआ और मुसोलिनी के अन्त के साथ ही यह भी सदा के लिए अपनी कब्र मे दफना दिया गया है। व्यावहारिक दृष्टि से इसने इटली मे बहुत कुछ सफलता प्राप्त की, लेकिन सैद्धान्तिक दृष्टि से यह हमेशा एक दुर्बल और अवसरवादी दर्शन रहा। इसके पराभव ने यह सिद्ध कर दिया कि शक्ति राजनीति का सिद्धान्त वास्तविक राजनीतिक सफलता प्रदान नहीं कर सकता।

फासीवाद की कटु आलोचनाएँ प्राय निम्नलिखित आधार पर की जाती हैं—

1 फासीवाद अधिनायकतन्त्र को जन्म देता है। यह एक ऐसी तानाशाही है जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विनाश कर अपने अस्तित्व को कायम रखने मे विश्वास करती है। अधिनायकतन्त्र की कमियाँ स्वय स्पष्ट हैं। इसमे शान्ति के समय तनाव तो बना ही रहता है वास्तविक सकट के समय भी तनाव बढता जाता है जिसका राष्ट्र पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है। तनाव बनाए रखने के लिए और अपने प्रचार के लिए अधिनायक जनता को नाना प्रलोभन देते हैं और इस प्रकार की नीति का अन्तिम परिणाम युद्ध होता है जिससे अधिनायको की शक्ति का अन्त और देश का पतन होता है।

2 फासीवाद राज्य को साध्य और व्यक्ति को साधन मानता है। यह सिद्धान्त वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए हानिकारक है। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने का स्पष्ट अर्थ है कि व्यक्ति की स्थिति राज्य मे उस मशीन की तरह है जिसको इच्छानुसार प्रयोग मे लाया जा सकता है। उसकी स्थिति दास तुल्य हो जाती है। हमे यह नहीं भूलना चाहिए कि राज्य व्यक्ति के लिए होता है न कि व्यक्ति राज्य के

लिए। राज्य एक कल्याणकारी संस्था है जिसका मुख्य कर्त्तव्य उन समस्त साधनों को एकत्र करना है जिनके द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास हो सके।

3 फासीवादी विचार बर्बर और असभ्य हैं जो प्रगतिशील विचारों की कब्र खोदते हैं। प्रत्येक प्रगतिशील समाज प्रजातन्त्र, विचार-स्वातन्त्र्य, शान्ति, एकता और भ्रातृत्व मे श्रद्धा रखता है। आधुनिक विश्व इन विचारों को चिरस्थायी बनाने के लिए प्रयत्नशील है। लेकिन फासीवाद इन सबके विपरीत आदिमयुगीन विचार प्रस्तुत करता है जो किसी भी सभ्य एवं प्रगतिशील राष्ट्र के लिए शोभनीय नहीं हो सकते।

4 फासीवादी विचारधारा राष्ट्रीयता पर आवश्यकता से अधिक बल देती है। राष्ट्र को महत्त्व देना उचित है, लेकिन राष्ट्र को एक रहस्यात्मक देवता मानकर उस पर जन-साधारण की बलि चढ़ाना और जन-साधारण से उसकी पूजा करवाना सर्वथा अन्याय है। इस प्रकार के दर्शन से मानव-समाज का कल्याण नहीं हो सकता।

5 फासीवाद मे विकेन्द्रीकरण के लिए कोई स्थान नहीं है। कोकर के अनुसार, "किसी राष्ट्र के अत्यधिक केन्द्रित व्यवस्था और सरकारी निदेशन मे साहित्य, कला तथा विज्ञान का विकास नहीं हो सकता। केवल अस्थायी रूप से इस प्रकार की स्थिति लाभदायक हो सकती है, परन्तु सदा के लिए नहीं।" एलबर्ट आइंस्टीन के शब्दों मे, "तानाशाही का अर्थ है चारों ओर बन्दूकें तथा मशीनगन और इनके कारण एकदम घोटू वातावरण। विज्ञान का विकास केवल विचार-स्वातन्त्र्य के वातावरण मे ही सम्भव है।"

6. फासीवादियों के पास कोई दार्शनिक सिद्धान्त नहीं है अपितु एक अवसरवादी और सामूहिक विचारधारा है जो परस्पर विरोधी तत्त्वों से ओत-प्रोत है। मुसोलिनी का यह कथन भी बहुत हास्यास्पद है कि "किसी भी दर्शन के आधार भूत सिद्धान्त लोहे और टीन की हथकड़ियाँ हैं।" सेबाइन के अनुसार, "फासीवाद हीगलवादी राष्ट्रवाद, प्लेटो के कुलीनतन्त्रवाद तथा बर्गसन के अविवेकवाद को संयुक्त कर इनको व्यावहारिक रूप मे परिणत करने मे समर्थ रहा है।" फासीवादी दर्शन अस्पष्ट है। यह विभिन्न स्रोतों से एकत्रित विचारों का ऐसा समूह है जो समय-समय पर गिरगिट की तरह अपना रंग बदलता रहता है और बहुरूपिए की तरह अपने स्वरूप को बनाता-बिगाड़ता रहता है।

7 फासीवाद पूँजीवाद का अत्यन्त उग्र रूप है। यह तभी स्थापित होता है जब पूँजीवाद पतन की ओर उन्मुख होता है। जब पूँजीवाद विकास कर रहा होता है तो उसकी यह प्रवृत्ति होती है कि श्रमिकों को अधिक वेतन और अन्य सुविधाएँ प्रदान कर उन्हें सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न करता है। लेकिन बाद में एक ऐसा समय आता है जब पूँजीवाद अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच जाता है और तैयार माल की खपत नहीं हो पाती। इस कारण उसकी कीमत गिरने लगती है और पूँजीपतियों के मुनाफे मे कमी आने लगती है। उस स्थिति मे वे श्रमिकों को अधिक सुविधाएँ देने से हाथ खींच लेते हैं और श्रमिक आन्दोलन करने के लिए तैयार हो जाते हैं। पूँजीवाद द्वारा यह रूप धारण कर लेने पर फासीवाद का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार फासीवाद पूँजीवाद का उग्र एवं पतनोन्मुख रूप है।

8 फासीवाद साम्राज्यवाद को उचित मानता है जिसका स्वाभाविक परिणाम युद्ध होना है। युद्ध को राष्ट्रीय गौरव और उत्कर्ष का समुचित साधन मानना प्रादन्न

विनाशकारी धारणा है। यह विचार विश्व-शान्ति की कब्र खोदने वाला है। साम्राज्यवाद के द्वारा सह-अस्तित्व की भावना कभी पनप नहीं सकती। साम्राज्यवाद का पोषक होने के नाते ही फासीवाद की दृष्टि में अन्तर्राष्ट्रीय नियमो और सन्धियो का मूल्य नहीं है। इसे कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता।

9 फासीवादी विचारधारा अविवेक का पिटारा है जिसमे मनुष्य को अपने बुद्धि का पूर्ण लाभ उठाने का अवसर नहीं दिया जाता। फासीवाद का शक्ति मे विश्वास करना उचित है, लेकिन शक्ति को ही सब कुछ मान लेना पतन की ओर ले जाने वाला मार्ग है। सदैव शक्ति के मद में डूबा रहने वाला राष्ट्र विश्व जनमत का सहयोग और सम्मान कभी नहीं कर पाया है, इतिहास इस बात का साक्षी है। वास्तव में फासीवाद राजनीतिक दासता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। फासीवादी आतक के उपायों को अपनाकर लोकमत का दमन करने व विचार-स्वातन्त्र्य का अपहरण करने मे जरा भी सकोच नहीं करते। वे भूल जाते हैं कि वही राज्य उन्नति कर सकता है जिसे नागरिकों का स्वेच्छापूर्ण सहयोग प्राप्त होता है।

10 फासिस्ट शासक यह प्रयत्न करते हैं कि शिक्षा का ढग ऐसा हो जिससे जनता एक विशेष दृष्टिकोण और विचारधारा का अनुसरण करने लगे। वे यह नही मानते कि शिक्षा का प्रयोजन मनुष्य की क्षमता और स्वास्थ्य का निर्बाध विकास करना है।

11 फासीवाद धर्म और राजनीति को सयुक्त कर मनुष्य की राजनीतिक चेतना को कुचल देता है। धर्म और राजनीति को मिलाना एक रूढ़िवादी विचारधारा है। धर्म के नाम पर राज्य किसी भी प्रकार का आतक फैला सकता है। आज के सभी सभ्य एव प्रगतिशील राज्यो मे धर्म राजनीति से पृथक् रखा जाता है।

यह कथन सही है कि "फासीवाद आत्मा का हनन करता है और मस्तिष्क की अचेतन विविधताओ को एकरूप एव सार्वजनिक जीवन को निष्क्रिय बना देता है। यह मानव-प्रकृति के आदिम तत्त्वों को आकर्षित करता है तथा नव-विकसित प्रवृत्तियो के प्रयोग से घबराता है। यह प्रत्येक प्रकार की स्वतन्त्रता का दमन करता है। इसके पाशविक अत्याचारो की कहानी सुनकर हमारी सभ्य भावनाओ को आघात पहुँचता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे फासीवाद युद्ध को जन्म देता है। अधिनायकतन्त्र फासीवाद का प्रमुख तत्त्व है और प्रत्येक अधिनायकतन्त्र असाध्य रोग के कडवे उपचार के समान है जिसका प्रयोग दैनिक भोजन के लिए नहीं किया जा सकता।" वर्तमान मे इस सिद्धान्त का अतीत के पागलपन के सिद्धान्त के अतिरिक्त और कोई महत्त्व नहीं है।

फासीवाद के इतिहास से हमे यह शिक्षा लेनी चाहिए कि जनता सवेगो और भावावेशों मे आसानी से बह जाती है और प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ इस कमजोरी का लाभ उठाकर जनता को विनाश के गर्त मे धकेल देती हैं। जनता की प्रवृत्तियो को उभार कर अथवा उसके आवेशों को प्रज्वलित कर उसे अच्छे से अच्छे और नीच से नीच काम मे लगाया जा सकता है। हिटलर और मुसोलिनी ने जनता के आवेशो को गलत रूप में उभार कर अल्पकाल में ही लगभग समूचे राष्ट्र को 'राक्षसी' रूप दे दिया और उसका अन्तिम परिणाम विश्व के किसी भी देश की जनता जो सद्बुद्धि देने के लिए पर्याप्त है।

8 ग्राहम वैलास

(Graham Wallas, 1858–1932)

संक्षिप्त जीवन-परिचय और रचनाएँ

ग्राहम वैलास का जन्म सन् 1858 में एक अंग्रेज पादरी परिवार में हुआ था। उसकी शिक्षा 'श्रीवरी स्कूल' और 'कॉर्पस क्राइस्ट कॉलेज, ऑक्सफोर्ड' में हुई थी। प्रारम्भ में वह एक सामान्य अध्यापक था, किन्तु कालान्तर में वह महान् विद्वान् के रूप में उजागर हुआ। उसने 'लन्दन स्कूल ऑफ इकॉनॉमिक्स' की स्थापना में सहयोग दिया और बाद में इसी संस्था में उसने लगभग 30 वर्ष तक अध्यापन कार्य किया। वह लगभग 20 वर्ष तक लन्दन विश्वविद्यालय की सीनेट (Senate) का सदस्य रहा। इस हैसियत से उसने लन्दन स्कूल बोर्ड, लन्दन काउन्टी कौंसिल तथा रॉयल कमीशन ऑन सिविल सर्विस के सदस्य के रूप में इन वैधानिक संस्थाओं की नीति के निर्माण में भी पर्याप्त योग दिया।

ग्राहम वैलास फेबियन सोसाइटी का एक प्रभावशाली सक्रिय सदस्य भी रहा था। उसने इस विषय में एक प्रसिद्ध लेख 'Essays on Fabian Socialism' (1889) भी लिखा। वैलास की लेखन-शक्ति बड़ी प्रबल थी। उसने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की, जिनमें से प्रमुख हैं—

1. Life of France Place (1898)
2. Human Nature in Politics (1908)
3. The Great Society (1914)
4. Our Social Heritage (1921)
5. Law of Thought (1926)

वैलास की पद्धति (His Method)

ग्राहम वैलास का दृष्टिकोण निश्चित रूप से बुद्धि-विरोधी (Anti-Intellectual) है। राजनीतिक घटना-चक्र की उसने मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है। उसके मतानुसार भावना, आदत, नकल एवं अनुकरण की अचेतन क्रियाएँ ही राजनीति को निर्धारित करती हैं, बुद्धि नहीं। उसने विचार एवं इच्छाओं के सम्बन्ध की विवेचना करके राजनीतिक मनोविज्ञान के बौद्धिक तत्त्व पर बल दिया तथा अनुसन्धानात्मक शैली (Inductive Method) का अनुसरण किया है। तर्क की गुणात्मक शैली की अपेक्षा उसने संख्यात्मक तर्क-पद्धति का अनुसरण किया है। यद्यपि उसके विचारों पर मनोविज्ञान के प्रयोगों का प्रभाव है, किन्तु उसके निष्कर्ष उसके

प्रशासनिक तथा राजनीतिक अनुभवों पर आधारित हैं। ग्राहम के सम्मुख मुख्य समस्या यह थी कि "आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा सचित ज्ञान को एक व्यवसायी विद्वान् के विचारों की प्रक्रिया के परिमार्जन मे किस प्रकार प्रयोग मे लाया जाए।"

ग्राहम वैलास ने लोगो को दैनिक जीवन की कठिनाइयो और निराशाओं से सुरक्षित रखने के लिए राजनीति मे मात्रात्मक पद्धति (The Quantitative Method) अपनाने की आवश्यकता पर बल दिया। इसके अनुसार तथ्यो का संकलन तथा उनका विश्लेषण करने के बाद निष्कर्ष निकाले जाने चाहिए। वह साँख्यिकीय अध्ययन (Statistical Study) पर जोर देता है। उसका कहना था कि राजनीति के छात्र को काल्पनिक व्यक्ति (An Abstract Man) का अध्ययन करने के बजाय ऐसे पूर्ण मनुष्य का अध्ययन करना चाहिए जो भावनाओ (Emotions), उत्तेजनाओ (Impulses) और जन्मजात प्रवृत्तियों (Instincts) तथा प्राकृतिक इच्छाओ से परिपूर्ण हो। उसका आग्रह इस बात पर था कि लोगों को मनुष्य की बौद्धिकता को अनावश्यक महत्व देने का अभ्यस्त नहीं बनना चाहिए और ऐसी आदत को त्याग देना चाहिए।

रोक्को (Rockow) ने ठीक कहा है कि "यदि प्रो मेकडूगल प्लेटोवादी है तो प्रो ग्राहम स्पष्टतया अरस्तूवादी है। उसका दृष्टिकोण सश्लेषणात्मक और अनुगमनात्मक (Synthetic and Inductive) दोनो है।'[1] एक अच्छे डॉक्टर की भाँति वैलास ऐसा चतुर निदानकर्त्ता था जो एक निश्चित मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से किसी राजनीतिक बीमारी का निदान कर सकता था। उसने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त और इसकी पद्धतियो को राजनीतिक सिद्धान्त एव शासन दोनों पर ही लागू किया। उसने अपने निष्कर्षों को उन तथ्यों पर आधारित किया जो वतमान मे हैं, न कि उन पर जो होने चाहिए। अत उसे अरस्तूवादी (Aristotelian) कहना ही उचित है।

मानव क्रियाओ के आधार अथवा प्रेरणा-स्रोत
(Basis of Human Action)

वैलास ने अपने तीनो ग्रन्थो 'ह्यूमन नेचर एण्ड पॉलिटिक्स', 'दि ग्रेट सोसाइटी' तथा 'आवर सोशल हेरिटेज' मे राजनीतिक घटनाचक्र की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है और मानव-कार्य के आधार अथवा प्रेरणा-स्रोतों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार प्रस्तुत किए हैं। वैलास ने अपने ग्रन्थ 'ह्यूमन नेचर एण्ड पॉलिटिक्स' का आरम्भ इन शब्दो से किया था, "राजनीति का अध्ययन अभी आश्चर्यजनक रूप से असन्तोषजनक अवस्था मे है।" असन्तोष का कारण उसकी दृष्टि मे यह था कि विचारको की लोकतन्त्र मे आशाएँ निष्फल हो चुकीं थीं और वे यह मानते थे कि इस निष्फलता का कारण राजनीतिक सस्थाओ के दोष, सीमित मताधिकार की प्रथा और अज्ञानता मे निहित हैं, लेकिन उसका विश्वास था कि वास्तविक कारण कुछ और

1 *Rockow* : Contemporary Political Thought in England, Typed Script, p 31.

ही हैं। उसके विचार में विद्वानों ने मानव-स्वभाव की उपेक्षा करके राजनीति की प्रणाली को दोषपूर्ण बना दिया था। वह यह मानता था कि राजनीतिज्ञ को भावना, भावों तथा बुद्धि से संगठित प्राणी की विवेचना करनी चाहिए, अमूर्त की नहीं।

वॅलास के पूर्व के राजनीतिज्ञ मानव को पूर्णतया विवेकशील मानते थे जबकि वॅलास का विश्वास था कि यदि मानवीय कार्यों का लेखा तैयार किया जाए तो यह प्रमाणित हो जाएगा कि बहुत कम मानव-कार्य बुद्धि से प्रभावित तथा सचालित होते हैं। मनुष्य के कार्य अधिकांशतः या तो आदत के रूप में होंगे या वे भावनात्मक होंगे। जहाँ बेन्थम के अनुसार मनुष्य के *कार्य-परिणामों का युक्तियुक्त परिकलन* (Rational Calculation of the Consequences) से प्रभावित होते हैं और मेक्डूगल के अनुसार 'मानव-जीवन की दिनचर्या को उसकी नैसर्गिक वृत्तियाँ' (Instinctive Impulses) सचालित करती हैं तथा जीवन में विवेक (Reason) का महत्त्व गौण है, वहाँ वॅलास ने इन दोनों विद्वानों में से किसी का भी अनुसरण न कर मध्यम मार्ग अपनाया।

वॅलास के अनुसार मानव-प्रकृति उसकी वशानुगत योग्यताओं की चित्त-वृत्तियों (Inherited Dispositions) का योग है। वशानुक्रमगत चित्त-वृत्तियों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—जन्मजात प्रवृत्तियाँ (Instincts) और बुद्धिमत्ता (*Intelligence*)। इन दोनों को पृथक् करने वाली कोई स्पष्ट रेखा नहीं है। जिज्ञासा (Curiosity), प्रयत्न और भूल (Trial and Error), विचार और भाषा (Thought and Language), प्रमुख रूप से बुद्धिपूर्ण चित्तवृत्तियाँ हैं और मनुष्य के लिए उसी तरह स्वाभाविक हैं जैसे उसकी अधिक शक्तिशाली नैसर्गिक चित्तवृत्तियाँ। मनुष्य समुचित दिशाओं में भय की वृत्ति की भाँति ही सोचने की प्रवृत्ति प्राप्त करता है। सोचना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। वॅलास के अनुसार सभ्यता का दायित्व है कि वह मनुष्य के स्वभाव और उसके पर्यावरण में मेल अर्थात् सामञ्जस्य (Harmony) उत्पन्न करे। प्रेम और घृणा दोनों प्राकृतिक चित्तवृत्तियाँ (Natural Dispositions) हैं किन्तु यह सामाजिक आवश्यकता है कि प्रेम अधिक और घृणा कम हो। एक राजनीतिज्ञ के लिए मानव की अधिक महत्त्वपूर्ण भावनाएँ ही आवश्यक हैं, सम्पूर्ण भावनाओं से राजनीतिज्ञ को कोई प्रयोजन नहीं होना चाहिए। महत्त्वपूर्ण भावों में प्रेम का प्रथम, भय का द्वितीय तथा सम्पत्ति की इच्छा का तृतीय स्थान है। इसके अतिरिक्त सहकारिता, स्नेह, कौतूहल या जिज्ञासा तथा यश-लिप्सा के भाव भी महत्त्वपूर्ण हैं। राजनीतिक सिद्धान्तों तथा सगठनों की पुनर्रचना के लिए बुद्धि और सुख की कामना पर विशेष ध्यान देना चाहिए क्योंकि मानव-जीवन के निर्माण में ये मौलिक शक्तियाँ महत्त्वपूर्ण योग देती हैं।

यह स्मरणीय है कि वॅलास ने विवेक को राजनीतिक क्षेत्र से पूर्णतः पृथक् नहीं किया है प्रत्युत् इस बात पर बल दिया है कि राजनीतिक जीवन में उपचेतन चित्तवृत्तियों (Sub-conscious) का महत्त्वपूर्ण योग है। व्यावहारिक सफलता तभी

प्राप्त हो सकती है जब इन उप वित्तवृत्तियो एव बुद्धिहीन भावनाओं को जाग्रत कर लोकमत का निर्माण किया जाए। अपने बाद के लेखो मे, जबकि वह विचार और इच्छा के सगठन की विवेचना करता है, वॅलास मनोवैज्ञानिक राजनीति मे बुद्धि अथवा विवेक तत्व पर अधिक ध्यान देता है। मनुष्य का विवेकहीन स्वभाव अस्थिर होता है जो सामाजिक उन्नति के लिए उपयोगी नहीं है। मानव-समाज के लिए मानव-विवेक की विजय ही एकमात्र आशा है। विचार-पूर्णता को उपयुक्त प्रोत्साहन और उसकी प्रगति को प्रयत्नपूर्वक पूर्ण सहायता देने के परिणामस्वरूप ही सभ्य समाज का निर्माण सम्भव हो सका है। "विचारपूर्णता की कला की उन्नति होने पर ही हमारे उलझनपूर्ण समाज की बुराइयाँ दूर करने मे मनुष्य की आविष्कारक बुद्धि को प्रोत्साहन मिलता है।"

वॅलास की मान्यता है कि राजनीतिक व्यवहार मे मनोवैज्ञानिक तत्वो के अतिरिक्त परिस्थितियो एव पर्यावरण का भी काफी प्रभाव पडता है। यह पर्यावरण (Environment) परिवर्तनशील होता है और प्रत्येक नया पर्यावरण मानव के राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करता है। नवीन राजनीतिक व्यवस्थाएँ, आदतें और भावनाएँ परिवर्तनशील राजनीतिक वातावरण की द्योतक होती हैं। राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीय गान और राजनीतिक दल वे प्रमुख राजनीतिक उपादान हैं जो विचारों और भावनाओ के विकास मे सहयोग देती हैं। इसका मूलरूप बौद्धिक होता है, किन्तु जनसाधारण के लिए ये भावनात्मक होते हैं और इन भावनाओ को अपील करके ही राजनीतिज्ञ लाभ उठा सकते हैं। राजनीतिज्ञ की कला इसी बात मे है कि वह सर्वसाधारण की भावनाओ को उत्तेजित कर उनसे लाभ उठाए। निर्वाचन के समय सभी राजनीतिक दल प्रभावशाली नारे लगाते हैं और जनता की भावना को अपने पक्ष मे उत्तेजित करने का प्रयत्न करते हैं। निर्वाचन एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक अतिरेक (Psychological Orgies) और वशीकरण (Spell Binding) करने का प्रयास बन जाता है। बार्कर के शब्दो मे, "दल के नाम तथा प्रतीक, दल की ध्वजाएँ, नारे तथा गाने निर्वाचक-मण्डल की सकेत-ग्राह्यता को प्रभावित करने के लिए छोड दिए जाते हैं।"

स्पष्ट है कि उपर्युक्त विचारो द्वारा वॅलास राजनीतिक जीवन की इस प्रचलित धारणा का खण्डन करता है कि मनुष्यो की प्रवृत्ति अपने पूर्व निश्चित उद्देश्यो को पूरा करने के लिए श्रेष्ठतम साधनो को ध्यान मे रखकर कार्य करने की प्रवृत्ति होती है। वॅलास की धारणा तो यह है कि मनुष्य मे प्रेम और भावना की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं जिनके कारण वह अधिकतर सचेतन पर्यवेक्षण तथा विश्लेषण द्वारा जानने योग्य तथ्यो से भिन्न राजनीतिक प्रतीको की ओर उन्मुख होते हैं।[1] मनुष्य द्वारा अपने कार्यों के परिणामो से सम्बन्धित धारणाएँ किसी बौद्धिक प्रक्रिया का फल नही होती बल्कि उनका यह कार्य तो एक बुद्धिशून्य प्रक्रिया होती है।

1 *Graham Wallas* : Human Nature in Politics, p 98

स्वय वैलास के शब्दो मे, "उनके मस्तिष्क एक वीणा की भांति कार्य करते हैं जिसके समस्त तार एक ही साथ झनझनाते हैं, अत भावना, अन्त प्रेरणा आदि प्राय साथ-साथ चलती हैं और एक ही बौद्धिक अनुभव के एक-दूसरे से सयुक्त पहलू होते हैं।"[1] कहने का तात्पर्य यह है कि जब उत्तेजना आदि के वशीभूत होकर व्यक्ति भीड के अग के रूप में कार्य करता है तो उसकी मानसिक प्रक्रिया का बुद्धिहीन आचरण स्पष्ट हो जाता है। मानसिक और बौद्धिक जीवन के क्षेत्र मे मनुष्य अधिकांशत: एक भीड़ की स्थिति मे रहते हैं और 'बौद्धिक' के स्थान पर 'निष्कर्ष' की प्रस्थापना करते हैं (Substitute non rational inference for rational)। नगरीकरण (Urbanisation) द्वारा यह प्रवृत्ति और भी अधिक बढ गई। अब यह आवश्यक नहीं है कि सकेत (*Suggestion*) का प्रभाव ग्रहण करने के लिए एक स्थान पर एकत्र हुआ जाए। प्रेस, रेडियो, सिनेमाओ आदि के होते हुए भावनाओ के सचालन के लिए किसी एक स्थान पर एकत्र होना आवश्यक नही है।

प्रजातन्त्र पर वैलास के विचार (Wallas on Democracy)

वैलास के मतानुसार, "*18वीं और 19वी शताब्दी के प्रजातन्त्रवादी दार्शनिको* द्वारा प्रतिपादित प्रजातन्त्र और वास्तविक प्रजातन्त्र में बडा अन्तर है।" जनसाधारण की अस्थिरता आश्चर्यजनक है और दार्शनिक प्रजातन्त्रवादियो मे जिस प्रजातन्त्र की चर्चा की है वह केवल प्रचार द्वारा भावनाओं पर विजय प्राप्त करना मात्र है। मतदाताओ की उपचेतन मन स्थिति (Sub-conscious Mental Life) से अनुचित लाभ उठाकर बहुमत प्राप्त कर लिया जाता है। मतदाताओ को बिना समझे बूझे किसी विशेष समस्या पर मतदान करने के लिए उकसाया जाता है। यदि व्यक्ति किसी दल को मत देता है तो इसका आशय यह नहीं है कि उसने बडे सोच-विचार के बाद ऐसा किया है, बल्कि वास्तविकता यह है कि दल विशेष चालाकी और धोखे से उस व्यक्ति की भावना को अपने पक्ष मे कर लेता है। मतदाताओ को समाचार-पत्रो व विज्ञापनो द्वारा सम्मोहित करके और व्यावसायिक प्रत्याशियो को खडा करके बहरा बना दिया जाता है। मतदाताओ को जनमत पर नियन्त्रण करने वाले सभी साधनो के माध्यम से प्रभावित किया जाता है। उन्हे घृणा तथा उत्तेजना को प्रोत्साहन देने के लिए विवश कर दिया जाता है। शक्तिशाली पूँजीपतियों के गुट जनमत पर अपने शक्ति-सम्पन्न साधनो द्वारा अनुचित प्रभाव डालते हैं। राजनीतिज्ञ जनता के मतों को प्राप्त करने के लिए नामो, चित्रो, चिह्नो, आदि का प्रयोग करते हैं। भारत जैसे देश में, जहाँ अधिकांश जनता अशिक्षित है, चिह्नो का बहुत अनुचित लाभ उठाया जाता है। जब किसी विशेष दल को मत दिया जाता है तो बहुधा ग्रामीण विवेक अथवा निष्पक्ष तथ्य पर आधारित न होकर इस बात पर आधारित होता है कि उस दल का नाम कितना भावात्मक है अथवा कोई उत्तेजक चित्र उसे कितना भावुक बना देता है। भारत मे केवल भावना के वशीभूत ही अधिकांश व्यक्ति

[1] *Graham Wallas : Human Nature in Politics, p. 98.*

किसी दल के लिए अपना मत प्रदान करते हैं। जो दल जितने अधिक मनोवैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करता है, उतनी ही अधिक मात्रा में उसे सफलता प्राप्त होती है।

वैलास के अनुसार इन सब बुराइयों का एक ही उपचार है और वह यह है कि विवेक के प्रयोग के दायरे को बढ़ाया जाए तथा सार्वजनिक क्षेत्र में विवेक का अधिकाधिक प्रयोग किया जाए। हमारा आदर्श यह होना चाहिए कि मतदान का कार्य न्यायालय के पंचों के द्वारा निःस्वार्थ और तथ्यों के वैज्ञानिक विश्लेषण की भाँति हो। शिक्षा प्रसार द्वारा यह सम्भव है कि नागरिकता के कर्त्तव्यों के प्रति राजनीतिक दलों की बागडोर व्यक्तियों के हाथों में रहे। वैलास की मान्यता है कि हमें मनोवैज्ञानिक राजनीति में परिवर्तन करना चाहिए, मानव-प्रकृति की जटिलता को समझना चाहिए और समस्त मनुष्य को एक समान समझने की बात भूल जाना चाहिए। हमें व्यक्ति और वर्ग-भेदों को ध्यान में रखना चाहिए। तत्त्वों के मात्रात्मक वर्गीकरण (Quantitative Classification) द्वारा ही हम किसी निश्चित परिणाम पर पहुँच सकते हैं। हमारी विवेक-बुद्धि का आधार सांख्यिकी तथा प्रामाणिक तथ्य होने चाहिए।

शासन यन्त्र और सरकारी अधिकारियों के बारे में वैलास के विचार
(Wallas on Governmental Machinery and Public Officials)

वैलास के मतानुसार शासन यन्त्र और शासन के कर्त्तव्यों में बड़ा अन्तर है। मानव बुद्धि सहकारी विचारधारा की प्रगति को आधुनिक सामाजिक जीवन की जटिलताओं के अनुसार ढालने में असमर्थ रही है। विचार-संगठन (Thought Organisation) के वर्तमान रूप एक अधिक सरल समाज के अवशेष हैं। हमारी समितियाँ, नगरपालिकाएं संसद् आदि संस्थाएँ सामूहिक विचार-विमर्श के उद्देश्य के प्रति सही आचरण नहीं करतीं। वे मिलजुल कर विचार करने के उद्देश्य में असफल रही हैं। यदि विचार विमर्श होते भी हैं तो दलीय नेताओं के छोटे-छोटे वर्गों, व्यक्तिगत सदस्यों और पदाधिकारियों की भेंटों में होते हैं अथवा पत्र-व्यवहार द्वारा होते हैं। वैलास की मान्यता है कि प्रभावशाली विचार-विमर्श अभी तक केवल केबिनेट के अन्तर्गत ही सम्भव हो सका है। ऐसा इसलिए है कि केबिनेट में चुने हुए व्यक्ति होते हैं और दलीय अनुशासन अथवा दृढ़ता (Solidity) उसकी एक विशेषता होती है। उपर्युक्त संस्थाओं में प्रभावशाली सम्पर्क के सम्बन्ध में कोई सुधार करते समय विधानसभा की जटिलताओं, निष्पक्ष विचार विमर्श की आवश्यकताओं तथा व्यक्तिगत और वर्गीय मनोवैज्ञानिक भेदों को ध्यान में रखना चाहिए। समाज के आज के जटिल ढाँचे में सामूहिक विचार की आवश्यकता है। नगरपालिका या केन्द्रीय संसद् में यदि सही तरीके से कार्य होना है तो समूह विचार विमर्श पर बल देना पड़ेगा। वैलास यह माँग करता है कि संसद् के प्रथम सदन (House of Commons) की सदस्य संख्या कम कर दी जानी चाहिए। उसे अपनी समितियों (Committees) का अधिक उपयोग करना चाहिए और सम्पूर्ण सदन की समिति (The Committees of the Whole House) का अन्त कर देना चाहिए। यह

सर्वथा उपयुक्त है कि मन्त्रिमण्डल समितियो की राय से ही कार्य करे और स्थानीय समितियों एव सस्था के आकार को छोटा कर दिया जाए। वैलास के अनुसार लॉर्ड सभा (The House of Lords) को, जिसका कार्य केवल पुनरावृत्ति (Revisory) है, एक शाही आयोग (Royal Commission) का उत्तरदायित्व सम्भाल लेना चाहिए।

वैलास के अनुसार प्रशासनिक सेवा मे इस दृष्टि से परिवर्तन अपेक्षित है कि प्रशासनिक पदाधिकारी रचनात्मक विचारधारा एव कार्यों की ओर उन्मुख हो। उन्हे अपने पदो की सकीर्णता मे लिप्त रहने से बचना चाहिए और अपने विचारो मे मौलिकता लानी चाहिए। वर्तमान वातावरण पदाधिकारियो मे मौलिकता की उन्नति मे बाधक है और इसमे सकीर्णता की भावना प्रधान है। यही कारण है कि सामान्य बातो के प्रबन्ध मे तो अवश्य दक्षता दिखाई पड जाती है, लेकिन शासन के मौलिक सिद्धान्तों के आविष्कार मे शून्यता ही परिलक्षित होती है। प्रशासन नवीन सिद्धान्तो के आविष्कार से वचित रहता है।

अन्त में, वैलास का यह विचार भी उल्लेखनीय है जिसमे वह राज्य की इच्छा को सगठित करने की विधि बतलाता है। उसके अनुसार राज्य की इच्छा का निर्माण व्यक्तिवादी, समाजवादी और श्रम सघवादी सिद्धान्तो के सश्लेषण द्वारा किया जा सकता है। केवल एक दो सिद्धान्तो की स्वीकृति से ही काम पूरा नही होगा, समस्त लोगो के कल्याण को ध्यान मे रख कर ही कार्य करना होगा। वैलास का मत था कि लॉर्ड सभा मे व्यावसायिक प्रतिनिधित्व होना चाहिए।

वैलास की आलोचना और उसका मूल्यांकन
(Criticism and Estimate of Wallas)

वैलास राजनीतिक जीवन का अत्यधिक अबुद्धिकरण कर देता है। समाज के निर्माण चेतन अथवा अचेतन रूप मे मानव-बुद्धि अवश्य योग देती है। अचेतन रूप से कार्य करने का यह अर्थ मान लेना एक भूल है कि बुद्धि कोई कार्य ही नहीं करती। मानव का अस्तित्व अनुभूति के निरर्थक प्रभावो पर ही आधारित नही है और न ही जीवन केवल आवेगो का पुञ्ज है। हर अनुभूति अर्थपूर्ण होती है। मनुष्य का ससार अस्पष्ट उद्देश्यो की माला नही है बल्कि स्पष्ट उद्देश्यो की तुलना है। विवेक अथवा बुद्धि द्वारा ही वह प्रत्यक्ष मे मौलिक तत्वो का चयन करता है और उन्हें पहचानता है। विवेक के अभाव मे व्यवस्थित सामाजिक जीवन की कल्पना करना ही कठिन है। यद्यपि व्यक्ति मिथ्या प्रचार से पथ-भ्रष्ट हो सकता है, तथापि उस समय भी उसमे यह धारणा मौजूद रहती है कि वह ठीक कार्य कर रहा है।

अन्य मनोवैज्ञानिक विचारों की भाँति वैलास भी निम्नतर से उच्चतर की तथा ऐतिहासिक काल से सभ्य जीवन की विवेचना करता है। वह मनुष्य और सृष्टि के अन्य प्राणियो म कोई अन्तर नही देखता। वह यह मानता है कि मनुष्य और पशु एक ही श्रेणी के जीवधारी हैं। इस तरह वैलास भी वही गलती करता है जो

उसके पूववर्ती मनोवैज्ञानिक दार्शनिको ने की थी। आलोचकों की दृष्टि मे वैलास की शैली भी त्रुटिपूर्ण है। वैलास का विश्वास है कि प्रत्येक समस्या में कुछ बुराई और कुछ अच्छाई होती है, किन्तु इस प्रकार की विचारधारा को अधिक लोग स्वीकार नहीं करते। वैलास का कहना है कि "हतोत्साहित मनोवृत्ति से असस्कृत मनोवृत्ति के तनाव की उत्पत्ति होती है।" यह धारणा गलत विचार पर आधारित है। यदि मनुष्य ने चिरकाल से कुछ इच्छाओ को उत्तराधिकार मे प्राप्त किया है तो इसका यह अर्थ नही है कि वह इन इच्छाओ की पूर्ति वर्तमान समाज मे ही करे। कभी-कभी यह आवश्यक हो जाता है कि कुछ चित्तवृत्तियों का दमन किया जाए। "यदि हमे आधुनिक जटिल समाज मे जीना है तो हमे अपनी इच्छाओ का परित्याग करना होगा। हमारी आदिमानवीय इच्छाओ की पूर्ति को कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता। इन इच्छाओ की हमे शिष्ट रूप से पूर्ति करनी होगी। श्रेष्ठ वृत्तियो के लिए नीच वृत्तियो का बलिदान करना होगा।"

अनेक त्रुटियो के होते हुए भी वैलास के दर्शन का काफी महत्त्व है। उसने राजनीतिक दर्शन को एक नया मोड देकर प्रगतिशील बनाया है। रोक्को (Rockow) के अनुसार, "ग्राहम वैलास ने मानव-प्रकृति और मानव-कार्य मे उपचेतना का महत्त्व प्रदर्शित कर राजनीति-विज्ञान की बहुत सेवा की है। वैलास का महत्त्व इस बात मे भी है कि वह अपने समकालीन मनोवैज्ञानिक ज्ञान को प्रजातन्त्र-प्रणाली पर प्रयोग करने के क्षेत्र मे अग्रणी था। वैलास ने राजनीति के अध्ययन मे अनुमानात्मक शैली का प्रजातन्त्र मे विशाल सामाजिक अनुभव और विशुद्ध मनोविज्ञान का समावेश बेन्थम के अनुयायियो से कहीं अधिक किया। वास्तविक परिणामो पर अपने वैज्ञानिक विश्लेषण को क्रियान्वित करने मे उसने यह ज्ञात किया कि वास्तविक राजनीति और शिक्षणालयो मे पढाई जाने वाली राजनीति मे बहुत अन्तर है और हमारे राजनीतिज्ञ बेन्थमवादी नही हैं क्योकि हमारे भूतकालीन दार्शनिकों की अपेक्षा वे मानव प्रकृति के अधिक श्रेष्ठ अध्येता हैं। वैलास ने सिद्धान्त और तथ्य के भेद पर पर्याप्त बल दिया है और यह चाहा है कि अन्य लोग भी इस भेद को ध्यान मे रखें। वैलास की तीनो पुस्तको ने राजनीति-साहित्य मे उसके नाम को अमर बना दिया है। उसकी मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि एक ऐसे आकर्षक क्षेत्र को अनावरित करती है जिसमे निश्चित रूप से नवीन खोजें होगी। राजनीतिक समस्याओ के प्रति उसने मात्रात्मक दृष्टिकोण (Quantitative Approach) से भविष्य मे अवश्य ही उत्तम परिणाम निकलेंगे।" वैलास ने इस बात पर बल दिया है कि किसी भी समस्या का वास्तविक तथ्यो के आधार पर आलोचनात्मक विचार करने से ही किसी प्रणाली में सुधार किया जा सकता है, व्यर्थ की परिपाटियों को रटते रहने से नहीं।

इसमे कोई सन्देह नहीं कि राजदर्शन के क्षेत्र मे वैलास का स्थान अनुपेक्षणीय है। राजनीति के बहुत कम ऐसे ग्रन्थ होंगे जिनमे वैलास की चर्चा न की गई हो। उसकी प्रतिपादित सांख्यिकी-प्रणाली का आजकल सारे ससार मे प्रयोग किया जा रहा है।

9 हैरॉल्ड लॉस्की

(Herold Laski)

पूँजीवाद और साम्यवाद की सकीर्णता से बाहर निकल कर लोकतान्त्रिक समाजवाद की उदार कल्पना करने वाले और यूरोप के समाजवादियों में प्रमुख (Dcyen among Socialists) प्राध्यापक लॉस्की का जन्म मैनचेस्टर के सम्पन्न यहूदी परिवार मे 30 जून, 1893 को हुआ था। लॉस्की के पिता अपने पुत्र को आदर्श बनाना चाहते थे, लेकिन स्वभाव से ही विद्रोही पुत्र ने प्राचीन यहूदी कर्म-काण्डो की अपेक्षा आधुनिक विज्ञान, इतिहास और राजनीति में अधिक रुचि ली। उसने सन् 1911 मे अपनी उम्र से 8 वर्ष बडी एक ईसाई लडकी फ्रीडा केरी (Frida Kerry)से गुप्त रूप से विवाह कर सामाजिक कट्टरता का परित्याग किया। इस विवाह की सूचना से लॉस्की के पिता ने क्रोधित होकर हैरॉल्ड पर कठोर आर्थिक नियन्त्रण लगा दिए। उसे ऑक्सफोर्ड मे शिक्षा-समाप्ति तक 200 पौण्ड राशि इस शर्त पर दी जानी तय हुई कि हैरॉल्ड अपने विवाह के समाचारो को गुप्त रखेगा। यह पारिवारिक तनाव तब तक चलता रहा जब तक कि सन् 1920 मे फ्रीडा ने लॉस्की के न चाहते हुए भी यहूदी धर्म स्वीकार कर अपने सास-श्वसुर को सन्तुष्ट न कर दिया।

सन् 1914 म लॉस्की ने ऑक्सफोर्ड से इतिहास मे प्रथम श्रेणी मे उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात् उसकी कनाडा के मैकगिल विश्वविद्यालय म इतिहास के व्याख्याता पद पर नियुक्ति हुई। इस वर्ष बाद ही वह अमेरिका के हावर्ड विश्व-विद्यालय म अध्यापन कार्य करने लगा। सन् 1920 मे वह इग्लैण्ड वापस लौटा और लन्दन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स के व्याख्याता तथा ग्राहम वेलास के बाद राजनीतिक शास्त्र का प्रोफेसर नियुक्त हुआ। सन् 1950 मे अपनी मृत्यु-पर्यन्त वह लन्दन विश्वविद्यालय की ही सेवा मे सलग्न रहा।

एक शिक्षक के रूप मे लॉस्की ने सर्वत्र गहरी छाप डाली और छात्रो का अगाध प्रेम अर्जित किया। एक प्रभावशाली व्याख्याता तथा प्रख्यात राजनीतिक विचारक के रूप म भी उसने बडी प्रसिद्धि प्राप्त की। वह ब्रिटिश लेबर पार्टी की कार्यकारिणी समिति का वर्षों तक सदस्य रहा। सन् 1945 मे जब लेबर पार्टी सत्तारूढ हुई तो वह इसका अध्यक्ष था। उस समय विदेशो मे यही भ्रान्ति थी कि

श्रमिक दल का वास्तविक नेता लॉस्की ही है, क्योंकि वह अपने गम्भीर ज्ञान और बौद्धिक प्रतिभा के कारण श्रमिक नेताओं—एटली, मारीसन, बेविन आदि का पथ-प्रदर्शन किया करता था। राजनीतिक मामलों में परामर्शदाता के रूप में उसका बहुत ही सम्मान था। महत्वपूर्ण सामयिक विषयों पर वह राष्ट्रपति रूजवेल्ट, व नेहरू और सर विंस्टन चर्चिल जैसे विश्वविख्यात राजनीतिज्ञों को परामर्श देता था।

लॉस्की प्रारम्भ से ही एक विद्रोही युवक था जिसमें विचार-स्वातन्त्र्य की भावना कूट-कूट कर भरी थी। वास्तव में बाल्यावस्था से मृत्यु-पर्यन्त उसका जीवन संघर्ष तथा सक्रियता से पूर्ण रहा। ऑक्सफोर्ड में शिक्षा प्राप्ति के समय के विभिन्न राजनीतिक आन्दोलनों ने उसकी विद्रोही प्रवृत्तियों को सबल प्रदान किया। नारी मताधिकार आन्दोलन, श्रमिक संघों के बढ़ते हुए क्रान्तिवाद, श्रेणी-समाजवाद के प्रभाव आदि ने उसके फेबियनवाद के परित्याग का मार्ग प्रशस्त कर दिया। लॉस्की वामपक्षी समाजवाद की ओर उन्मुख हुआ। इंग्लैण्ड में व्याप्त वर्ग भेद की तीव्रता ने उसके क्रान्तिकारी विचारों को आगे बढ़ाया। अमेरिका के हावर्ड विश्वविद्यालय में पढ़ाते समय सन् 1919 में बोस्टन पुलिस की हड़ताल के प्रति सरकार, पूँजीपतियों और विश्वविद्यालय ने जो अनुचित रूप से आक्रामक नीति अपनाई, उसका लॉस्की ने विरोध किया। उसे अनुभव हो गया कि अमेरिकी विद्यालय-प्रणाली पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। बाद में लन्दन के अनुभवों ने लॉस्की में उगते हुए समाजवादी पौधे को सींचा। भयानक आर्थिक मन्दी, अमेरिकी न्यू डील, फासीवाद के उदय, हिटलर के प्रादुर्भाव आदि से लॉस्की को यह विश्वास हो गया कि प्रजातन्त्र की सफलता के लिए समानता अनिवार्य है और सच्ची समानता तब तक नहीं आ सकती जब तक उत्पादन के साधनों का समाजीकरण न हो जाए। सामाजिक व्यवस्था के अन्याय के विरुद्ध उसकी प्रतिक्रिया ने उसे मार्क्सवादी बना दिया यद्यपि वह मार्क्स की तरह हिंसक क्रान्ति का समर्थक नहीं था बल्कि 'सहमति के साथ क्रान्ति' का अनुमोदक था। उसका विश्वास था कि इंग्लैण्ड में श्रमिक सरकार बिना गृह-युद्ध के ही क्रान्ति ला सकती थी। मार्क्सवाद की वैज्ञानिक पद्धति में विश्वास रखते हुए और पूर्ण समाजवादी होते हुए भी ब्रिटेन की उदारपंथी परम्परा ने उसे कट्टर बनाने के बजाय मार्क्सवादी बनाया। लॉस्की ने अधिनायकवादी अथवा सर्वसत्तावादी दृष्टिकोण का तथा हिंसावादी साम्यवादी मार्ग का सदा विरोध किया। मार्क्सवादी होने पर भी उस पर व्यक्तिवाद की छाप थी। क्रान्ति का समर्थक होते हुए भी वह क्रान्तिकारी नहीं था प्रत्युत् वैधानिक तथा संसदात्मक जनतन्त्र में विश्वास करता था यद्यपि समाजवादी सरकार से वह यह आशा करता था कि पुरानी रूढ़ियों को तोड़ कर वह नया मार्ग खोजे। ब्रिटेन की परम्परा के अनुकूल लॉस्की ने जीवन भर प्रगतिशील विचारों का अन्वेषण किया और यह सिद्ध कर दिया कि वैधानिक व न्यायपूर्ण मार्ग का अनुसरण करने पर ही वर्ग विहीन, शोषण-विहीन, विकेन्द्रित तथा स्वातन्त्र्ययुक्त सच्चा समाजवाद स्थापित किया जा सकता है। जॉर्ज कैटलिन के शब्दों में उसे 'मध्यमवर्गीय शिक्षितों के बीच मार्क्सवाद का दलाल' (A broker of

Marxism to the Middle Class Intelligentsia) कहा जाता था। वह सच्चे लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना के लिए राज्य की शक्ति पर श्रमिक-वर्ग के अधिकार को आवश्यक मानता था। लॉस्की पर शनैः-शनैः साम्यवादी आतंक का भय इतना व्याप्त हो गया कि जहाँ सन् 1937 में वह साम्यवादियों को श्रमिक दल में शामिल करने का समर्थक था वहाँ सन् 1946 में उसने साम्यवादियों का कड़ा विरोध किया और उन्हें श्रमिक दल में प्रवेश नहीं करने दिया।

वेब द्वारा संस्थापित 'लन्दन स्कूल ऑफ इकोनामिक्स' में राजनीति शास्त्र के अध्यक्ष पद पर लगभग 30 वर्ष तक काम करने के पश्चात् 56 वर्ष की अल्पायु में सन् 1950 में लास्की की मृत्यु हो गई। लॉस्की ने अपने ऊपर इतना कार्यभार ले रखा था कि उससे कोई भी मनुष्य थक कर चूर हो सकता था। लॉस्की ने अपने प्रकाण्ड पांडित्य और गम्भीर विचारों से संसार भर में सम्मान प्राप्त किया। उसके अनेकों छात्र आज बौद्धिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में विख्यात हैं।

रचना एवं प्रभाव-स्रोत

लॉस्की एक महान् लेखक था। उसने अनेकों लेख लिखे जिनसे अनेक ग्रन्थ तैयार किए जा सकते हैं। उसके निम्नलिखित ग्रन्थ विशेष लोकप्रिय हैं—

(1) A Grammar of Politics (1925)
(2) Studies in the Problem of Sovereignty (1917)
(3) Authority in the Modern State (1918)
(4) Karl Marx (1921).
(5) Socialism and Freedom
(6) Communism (1927)
(7) Liberty in the Modern State (1930)
(8) The Dangers of Obedience (1930)
(9) Where Socialism Stands Today ? (1933)
(10) Recovery Through Revolution (1933)
(11) Democracy in Crisis (1933)
(12) Parliamentary Government in England (1938)
(13) The State in Theory and Practice (1934)
(14) The Rise of European Liberalism (1936)
(15) An Introduction to Politics
(16) Studies in Law and Politics
(17) The Socialist Tradition in French Revolution
(18) Political Thought in England from Locke to Bentham
(19) The Foundations of Sovereignty
(20) The American Presidency
(21) The American Democracy.
(22) What I Believe ? (1940)
(23) The Dilemma of Our Times

सर्वप्रथम सन् 1917 से 1921 तक 'Authority in the Modern State', 'Foundations of Sovereignty' और 'Studies in the Problem of Sovereignty' नामक ग्रन्थों मे लॉस्की ने बहुलवाद (Pluralism) के समर्थन मे तथा राज्य की सम्प्रभुता के सम्बन्ध मे अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए। अद्वैतवादी या एकलवादी (Monistic) सम्प्रभुता का खण्डन करते हुए उसने राज्य को मानव समुदायों में से एक माना जो सामाजिक उद्देश्यों में उतना ही स्थान रखता है जितना चर्च या श्रमिक-संघ या मुक्त-संघ (Free Mason's Lodge)। राज्य और समाज का विभेद भी स्पष्ट किया गया। व्यक्तिवाद की झलक भी इन शब्दों में दिखाई दी कि "कानूनी सिद्धान्तों का तकाजा कुछ भी क्यों न हो, वास्तव में राज्य के सामने अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व का समर्पण कोई नहीं करता। राज्य व्यक्ति के लिए उसी हद तक सम्प्रभु है जहाँ तक उसकी अन्तरात्मा विद्रोह नहीं करती।" यह कहना उपयुक्त होगा कि उपर्युक्त तीन प्रारम्भिक ग्रन्थों में लॉस्की ने यह आधारशिला रखी जिस पर उसने राज्य के उस दर्शन के भवन का निर्माण किया जो उसकी 'Grammar of Politics' तथा 'The State in Theory and Practice' मे पाया जाता है। लॉस्की के विचारों का स्पष्टीकरण विशद् रूप मे 'Grammar of Politics' मे ही हुआ। इस ग्रन्थ मे राज्य की विवादात्मक समस्या पर तर्कपूर्ण विचार उपलब्ध होते है। इस ग्रन्थ मे सामाजिक सगठन, सम्प्रभुता, अधिकार, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति, सम्पता, संघात्मक शक्ति, राष्ट्रीयता, आर्थिक सवास, न्याय प्रणाली, अन्तर्राष्ट्रीय सगठन आदि पर प्रचलित विचारो का तीव्र खण्डन किया गया है। इसमें कोई संशय नहीं कि नवीन बौद्धिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाली विगत 40 वर्षों म प्रकाशित सम्भवत किसी भी अन्य पुस्तक से स्पष्टता, व्याख्या और उपादेयता में यह कम नहीं है। इसका स्थान विश्व की प्रमुखतम सम्माननीय पुस्तकों में है। अपनी इस महान् पुस्तक को लॉस्की ने सुपरिचित वेब दम्पत्ति (Sidney and Beatrice Webb) तथा उनके द्वारा संस्थापित लन्दन की अर्थशास्त्र व राजनीति शास्त्र की सर्वोच्च संस्था को समर्पित किया। अपने विचारों म परिमार्जन-परिवर्धन करने के बाद लास्की ने यथार्थवाद के गुण ग्रहण करते हुए राज्य को व्यक्ति का हितचिन्तक बताया है और उसक विधायक पक्ष पर प्रकाश डाला है। प्रारम्भ मे ही उसने यह स्वीकार किया है कि "राज्य के सम्बन्ध म चिन्तन करते समय मनुष्य अपने देश-काल और अनुभव की परिधि का ध्यान रखता है।" रूसो, हीगल, ग्रीन आदि सभी न अपनी समकालीन मानसिक पृष्ठभूमि तथा परिस्थिति (Mental Climate) को सर्वमान्य सार्वजनिक सत्य के रूप मे उपस्थित करने का प्रयास किया था। लॉस्की ने यह प्रतिपादित किया कि मनुष्य अपनी विचारधारा क औचित्य और उसकी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए भीषण संघर्ष करता है। वास्तव में दुनिया को नया राजदर्शन (A new political philosophy to a new world) देने का प्रयत्न लॉस्की ने अपने इस अद्वितीय ग्रन्थ मे किया।

सन् 1927 मे लॉस्की ने जो 'Communism' ग्रन्थ लिखा, वह सम्भवत

आन्दोलन ने लॉस्की के जीवन को विशेष रूप से प्रभावित किया। उसका झुकाव श्रेणी-समाजवाद से मार्क्सवाद और जनतान्त्रिक समाजवाद की ओर होता गया। उसके दर्शन मे विलियम जेम्स के परिणामवाद (Pragmatism) का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। लॉस्की ने पूँजीवाद, फासिस्टवाद तथा उपनिवेशवाद की कटु आलोचना की और भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का समर्थन कर भारत में लोकप्रियता प्राप्त की। लॉस्की अन्तर्राष्ट्रीय एकता का प्रबल समर्थक था और इसीलिए उसने हमेशा विश्व-बन्धुत्व का समर्थन किया। यद्यपि उसके विचारों में विरोधाभास और अस्थायी एवं क्षणिक परिवर्तन दिखाई देते हैं, तथापि ये उसकी सदाशयता और सद्भावना से प्रेरित बौद्धिक-मानसिक वातावरण की कमजोरी के परिणाम हैं।

लॉस्की के राजनीतिक विचार
(The Political Philosophy of Laski)

लॉस्की के राजनीतिक विचार राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं और समकालीन विचारों पर उनका व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है। सर्वाधिक उल्लेखनीय बात यह है कि ये विचार सदैव प्राणवान रहे और यूरोप, अमेरिका तथा अन्य देशों में परिस्थितियो के अनुरूप जो भी परिवर्तन हुए उनके अनुसार ये भी आवश्यकतानुसार परिवर्तित होते गए। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने तक लॉस्की का चिन्तन विश्लेषणात्मक और रचनात्मक था, किन्तु तत्पश्चात् उसकी रचनाओ मे प्रचारवाद प्रधान हो गया और उनमे युद्ध से उत्पन्न समस्याओं पर एक क्रमहीन ढग से विचार किया गया। युद्ध की समाप्ति के बाद लॉस्की के पास इतना न समय था और न शक्ति ही कि वह अपनी मौलिक धारणाओ पर पुनर्विचार कर सकता। डॉ. हर्बर्ट डीन का मत है कि "उसकी युद्धोत्तरकालीन समस्याओ की विवेचना का तत्कालीन तथ्यो से कोई विशेष सम्बन्ध नही था। उसकी रचनाएँ मूलत परस्पर विरोधी धारणाओ से युक्त और समय से बहुत पीछे दिखाई देती हैं।"

राज्य की प्रकृति और सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार
(Laski on the Nature of the State and Sovereignty)

लॉस्की ने राज्य के मुकाबले सामाजिक सत्ता को सर्वोच्च माना है और इस धारणा को अस्वीकार किया है कि राज्य और समाज एक हैं, इनमे विभेदात्मक रेखा नही खीची जा सकती। विभिन्न मानव सस्थाओ या समुदायो (Human Associations) की सत्ता मानते हुए उसने राज्य को भी एक तरह की संस्था माना है। उसका विचार है कि समाज मे समुदायो की स्थिति स्वाभाविक है और जीवन, दर्शन तथा शासन-व्यवस्था पर उनका पूरा प्रभाव होता है। समुदायो का प्रभावशाली अस्तित्व इसी से सिद्ध होता है कि उस पर आघात करके हिटलर और मुसोलिनी ने सर्वव्यापी निगमात्मक राज्य (Corporate State) स्थापित किए, किन्तु उनका अस्तित्व अधिक समय तक नही रह पाया। राजनीतिक दल, स्वयंसेवी संस्थाएँ

शिक्षण-प्रणाली, मजदूर आन्दोलन, धार्मिक जागृति, नवीन विचारधाराओं के प्रचार प्रसार आदि द्वारा समाज मे निरन्तर सुधार या परिवर्तन होते रहते हैं। आज के बहुमुखी, विशाल, जटिल एवं अनेकतापूर्ण समाज में सवासों का सर्वाधिक महत्त्व है। यह एक स्वीकृत तथ्य है कि 20वी शताब्दी में श्रमिकों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने वह काम किया है जो राज्य करना नहीं चाहता या अथवा कर नही सकता था। भारत मे विदेशी शासन का अन्त करने मे राष्ट्रीय कांग्रेस और उसकी विभिन्न शाखाओं ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। मिस्र के शासन-परिवर्तन, फारस के तेल सम्बन्धी विवाद, अर्जेन्टाइना मे पेरू के शासन की समाप्ति, रूस मे श्रमिक जनतन्त्र, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे नवीन प्रयोग, अमेरिका मे उच्च जीवन-स्तर, भूमि सुधार व भूदान आन्दोलन का प्रभाव आदि सशक्त उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि राज्य और शासन के बाहर भी कुछ ऐसी प्रभावशाली शक्तियाँ होती हैं जिनकी उपेक्षा भारी विनाश का कारण बन सकती है। ये शक्तियाँ राज्य को एक बडी सीमा तक प्रभावित करती हैं और इनकी पूर्ण उपेक्षा करना किसी भी राज्य के लिए सम्भव नहीं है। तब यह स्वाभाविक परिणाम निकलता है कि राज्य एक सामाजिक सवास से अधिक उपयोगी और शक्तिशाली नहीं है। प्रत्येक सामाजिक सवास अपने अपने ढग से उपयोगी और ग्राह्य है।[1] लेकिन राज्य पर एक ऐतिहासिक दायित्व है और इस दायित्व के कारण वह 'बराबरी वालो मे प्रमुख' (Primus interpares-chief among equals) बना हुआ है। राज्य का यह दायित्व सन्तुलन तथा सामञ्जस्य स्थापित करने का (Co-ordinating Power of the State) है। लॉस्की के कथनानुसार राज्य समाज की महत्त्वपूर्ण स्थिति है न कि सामाजिक ढाँचे का सर्वोच्च शिखर। अन्य सामाजिक उपयोगी सस्थाओं की तरह वह भी एक सस्था है। समाज वास्तव मे सघात्मक (Federal) है और बहुलवादी (Pluralist) भी। कानून निर्माण मे भी समुदाय तथा सस्थाओं के हित को ध्यान मे रखना पडता है। दमनकारी अथवा हानिकारक कानून सशोधित या निरस्त करने होते हैं। राज्य को उच्च स्थान देने का अभिप्राय यह नहीं माना जा सकता कि वह अधिक शक्तिशाली या अनन्त है।

अपने ग्रन्थ *'Grammar of Politics'* तथा 'The State in Theory and Practice' मे लॉस्की ने निरकुश शासन के स्थान पर बहुलवादी सिद्धान्त का समर्थन किया है। उसने बोदाँ, हॉब्स, ऑस्टिन आदि विद्वानो के राज्य के एकलवादी सिद्धान्त (Monistic Theory) पर प्रहार करते हुए इस विचार को अस्वीकार किया है कि राज्य सभी शक्तियो का स्रोत है, वह कानून और नैतिकता से परे है। लास्की के राज्य की सम्प्रभुता की धारणा पर अपने आक्रमण को केन्द्रित करते हुए ऑस्टिन (Austin) की सम्प्रभुता की व्याख्या के तीन अर्थ दर्शाए हैं। प्रथम राज्य एक वैध व्यवस्था (Legal Order) है जिसमें एक निश्चित सत्ता का वास होता है और जो शक्ति के अन्तिम स्रोत के रूप मे कार्य करती है। द्वितीय, इसकी शक्ति की सीमा

1 *Laski* : Grammar of Politics, p 105.

नहीं होती। यह बुद्धिहीन या दोषपूर्ण तरीके से कार्य कर सकती है, किन्तु वैधानिक दृष्टिकोण से उस कार्य का स्वभाव अंकित नहीं किया जा सकता। यदि राज्य-सम्प्रभुता है, तो उसका पालन करना अनिवार्य है। तृतीय, आदेश ही विधि का सार है। इसका अर्थ है 'आपको ऐसा करना चाहिए', या आपको ऐसा नहीं करना चाहिए, अन्यथा ऐसा न मानने पर दण्ड दिया जाएगा।

सम्प्रभुता के सिद्धान्त पर अपने बहुपक्षीय आक्रमण का समारम्भ करते हुए सर्वप्रथम लॉस्की राज्य सम्प्रभुता के असीमित स्वभाव की निन्दा करते हुए कहता है कि—

"किसी भी स्थान पर किसी राज्य-सम्प्रभु ने ऐसी अपरिमित शक्ति धारण नहीं की और ऐसा प्रयोग करने के प्रयोजन के फलस्वरूप सदैव सुरक्षाओं की स्थापना हुई। तुर्की का सुल्तान तक अपनी सत्ता के युवाकाल में स्वयं ऐसे परम्परागत व्यवहार के नियमों से बाधित था जिनका पालन उसके लिए व्यावहारिक रूप से अनिवार्य था। कानून के क्षेत्र में सामाजिक तथ्य का ऐसा कोई तत्त्व नहीं था जिसे वह संशोधित न कर सकता हो, किन्तु व्यवहार में वह इसलिए जीवित रहा क्योंकि उसने उन संशोधनों को लागू करने की इच्छा नहीं की जिनसे वह ऑस्टिन के विधि-शास्त्र के अनुसार सम्प्रभु सिद्ध हो जाता।"

लॉस्की का विचार है कि राज्य और नागरिकों के सम्बन्धों में ऐसी कोई बात नहीं होती जो ऑस्टिन के सिद्धान्त को सिद्ध करती हो या उसके समान भी हो। *कोई भी राज्य अपने नागरिकों पर असीमित एवं निरंकुश शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता।* इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है जिनसे यह प्रमाणित होता है कि राज्य को अपने आन्तरिक समूहों के सकल्पबद्ध प्रतिरोध के सामने झुकना पड़ा है। ब्रिटिश संसद, जिसकी शक्तियों पर कानून की कोई सीमाएँ नहीं हैं, वेल्स खनिकों के विरोध के कारण 'म्यूनिशन एक्ट' की हड़ताल विरोधी धारा को लागू नहीं कर सकी। इसी प्रकार अमेरिकी कांग्रेस को अपनी इच्छा के विरुद्ध भी रेलवे कर्मचारियों के दबाव के कारण एक कानून बनाना पड़ा। लॉस्की ने अमेरिका में अपरिमित सत्ताधारी की स्थिति को अस्वीकार करते हुए लिखा है *वहाँ न तो कांग्रेस को* और न प्रेसीडेंट को ही अपरिमित शक्तियाँ प्राप्त हैं, अतः सैद्धान्तिक रूप में, वहाँ (संयुक्तराज्य अमेरिका में) कोई सम्प्रभु नहीं है क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश—यद्यपि संविधानिक संशोधन से उनकी शक्ति कम की जा सकती है—विधियों का पुनरावलोकन कर सकते हैं। सम्प्रभुता की खोज व्यावहारिक दृष्टि से संघात्मक राज्य में ही नहीं अपितु अन्यत्र भी कठिन है। चूँकि ऑस्टिन के अनुसार सम्प्रभुता निश्चित होनी चाहिए, अतः लॉस्की का कहना है कि निर्वाचक-मण्डल में सम्प्रभुता का वास नहीं हो सकता क्योंकि वह एक निश्चित समूह नहीं है। इस स्थिति में लॉस्की यह मत प्रस्तुत करता है कि हेनरी मेन (Henry Main) का यह विचार उचित है कि "ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ऑस्टिन का सिद्धान्त मूर्खता की सीमा तक काल्पनिक है।" लॉस्की के अनुसार राज्य को अपरिमित शक्ति से विभूषित करने का परिणाम यह है कि हमें "अन्तर्निहित रूप से उस निश्चित भयावह

हीगलवाद को स्वीकार करना पड़ता है जिसने निस्संकोच हमारे सामने एक ऐसे महान् सम्पूर्ण को प्रस्तुत कर दिया है जो स्वयं हमसे अधिक है।"[1]

सम्प्रभुता-सम्पन्न राज्य के सिद्धान्त को लॉस्की नैतिक दृष्टि से भी अमान्य ठहराता है। उसका कहना है कि किसी व्यक्ति से, उसे किसी बात का नैतिक औचित्य समझाए बिना ही आँख मीचकर आज्ञापालन की माँग करना नैतिक रूप से गलत है। यह उसके नैतिक व्यक्तित्व के विकास को कुण्ठित कर देता है। यहाँ लॉस्की व्यक्तिगत अन्तरात्मा तथा विविध सामुदायिक भक्तियों के दावों पर जोर देता है। राज्य को व्यक्ति की भक्ति प्राप्त करने का केवल वहीं तक अधिकार है जहाँ तक उसकी अन्तरात्मा सहमत है, "मुझ पर सत्ता का दावा उसकी नैतिक अपील की मात्रा के अनुपात में ही उचित है।' आदर्शवादी की भाँति यह कहना कि राज्य की आज्ञा का पालन करना इसलिए उचित है कि उसका लक्ष्य वह सामान्य हित है जिसमें हमारा स्वयं का हित भी सम्मिलित है, पर्याप्त नहीं है। कोई भी सरकार ऐसी नहीं होती जो यह दावा न करती हो कि उसका उद्देश्य लोक कल्याण की स्थिति उत्पन्न करना है। भारत में ब्रिटिश शासन भारत की जनता को सभ्य बनाने का उद्देश्य घोषित करता था, तो साम्यवादी श्रमिकों के नाम पर शासन करने का दावा करते हैं। हिटलर और मुसोलिनी भी इसी प्रकार के दावे किया करते थे। किन्तु वास्तविक प्रश्न यह है कि जिन व्यक्तियों को राज्य की आज्ञा का पालन करना है, क्या वे भी ऐसा ही सोचते हैं? वास्तव में व्यक्ति से सरकार की आज्ञा पालन की अपेक्षा की जानी चाहिए जब वह यह अनुभव करे कि सरकार सामान्य हितों का पोषण कर रही है। इसका स्वाभाविक अभिप्राय यह है कि व्यक्ति पहले सरकार के कार्यों के औचित्य का निर्णय कर ले। व्यक्ति की भक्ति राज्य संस्था के प्रति न होकर उसके उद्देश्यों के प्रति होनी है। लास्की की भक्ति केवल एक ऐसे राज्य के प्रति ही थी जिसमें वह अपना नैतिक ध्येय खोज पाए। व्यक्ति वहीं तक राज्य भक्ति प्रदर्शित कर सकता है जहाँ तक उसकी नैतिक उन्नति होती हो। प्रत्येक व्यक्ति को अखण्ड सामाजिक निधि में अपना योगदान देकर उसे समृद्ध बनाना चाहिए और इसके लिए राज्य का अपने अनियन्त्रित, अदेय, अविभाज्य अधिकार का दिवा स्वप्न दूर करना होगा।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि नैतिक और व्यावहारिक दृष्टि से लास्की एकलवादी या अद्वैतवादी (Monist) सम्प्रभुता का कट्टर विरोधी है और उसकी स्पष्ट धारणा है कि इस प्रकार की मरीचिका छोड़ देने पर ही राज्य तथा समाज का कल्याण हो सकता है। राज्य की बात अन्तिम आदेश (Final Prescription) नहीं हो सकती। वह तो केवल दिशा-निर्देश का काम करता है तथा उन लक्ष्यों को स्पष्ट करता है जिस ओर व्यक्ति समाज, सब सब बढ़ना चाहते हैं। समाज अनेकतावादी है। राज्य उसका प्रतिनिधि है, इसलिए राज्य भी अनेकतावादी है और

1 Studies in the Problem of Sovereignty p 208
2 *Laski* Grammar of Politics, pp 240-289

सम्प्रभुता की कल्पना त्याज्य है। अनुत्तरदायी और निरकुश राज्य अधिक दिन तक अस्तित्व मे नही रह सकता। सम्प्रभुता का यह अर्थ लगाना कि राज्य किसी आन्तरिक या वाह्य शक्ति से नियन्त्रित नहीं है, सर्वथा भ्रामक है। आज के अन्तर्राष्ट्रीय युग मे कोई भी देश इस बात का दावा नही कर सकता कि वह दूसरो से बिलकुल अछूता या अप्रभावित है। आन्तरिक दृष्टि से विभिन्न विश्वास, सिद्धान्त, तर्क-पक्ष आदि राज्य का रूपान्तर करते रहते हैं। शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का अर्थ ही राज्य-शक्ति की अविभाज्यता का खण्डन करना है। परिणामवाद अथवा व्यावहारिक उपयोगितावाद (Pragmatism) के अनुसार भी यही स्पष्ट होता है कि राज्य सीमित है, अनेक बन्धन उसे शिथिल बनाते हैं। सम्प्रभुता इस प्रकार बहुलवादी है, और टुकडो मे विभाजित है और यह उचित है।

लॉस्की के तर्कों मे यद्यपि पर्याप्त बल है, तथापि यह कहा जा सकता है कि असीमित सम्प्रभुता पर आक्रमण करते समय लॉस्की प्रथम तो एक ऐसी बात की आलोचना करता है जो सम्प्रभुता सिद्धान्त के समर्थक कहते ही नहीं। सम्प्रभुता के कानूनी सिद्धान्त के अनुसार राज्य कानूनी रूप से सर्वोपरि है, किन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि उस पर नैतिक अथवा भौतिक सीमाएँ नहीं होतीं। "सैद्धान्तिक रूप से यह सिद्धान्त उतना ही अकाट्य है जितना कि यह एक वृत्त की समस्त त्रिज्याएँ (Radii) समान होती हैं। इस धारणा का खण्डन इस आधार पर कभी नही किया गया कि एक विद्यार्थी के द्वारा खीचे हुए वृत्त की त्रिज्याएँ (Radii) समान नहीं होती, इसी प्रकार हम ऑस्टिन के सिद्धान्त का भी इस आधार पर तिरस्कार नहीं कर सकते कि इतिहास मे किसी भी शासक ने वास्तविक रूप से उन शक्तियों का कभी प्रयोग नहीं किया जो सम्प्रभुता सिद्धान्त के अनुसार उसे प्राप्त हैं।" दूसरी बात यह है कि अन्य बहुलवादियो के समान यहाँ भी राज्य और सरकार को एक समझने की भूल की गई है। ऑस्टिन और उसके साथी विश्लेषणवादी न्यायविदो ने सरकार की सम्प्रभुता का नही, प्रत्युत् राज्य की सम्प्रभुता का प्रतिपादन किया है। इतिहास में कभी भी सरकार ने राज्य मे निहित समस्त शक्तियो का प्रयोग करने का प्रयास नहीं किया। बहुलवादी राज्य और सरकार तथा शक्ति पर अधिकार और इसके प्रयोग के अन्तर को स्वीकार करते हुए यह दावा करते हैं कि वास्तविक व्यवहार मे व्यक्ति को प्रभावित करने वाले राज्य के कार्य सरकार के ही कार्य होते हैं और राज्य केवल सरकार के माध्यम से ही कार्य कर सकता है। राज्य की ऐसी शक्तियो को गिराने से कोई लाभ नही जिनका वह कभी प्रयोग ही नहीं कर सकता, चाहे सामान्य व्यक्ति के लिए यह भेद निरर्थक हो। किन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि एक राजनीतिक दार्शनिक के लिए राज्य और सरकार का भेद महत्त्वपूर्ण है। एक राजनीतिक दार्शनिक सरकार को वह शक्तियाँ नही दे सकता जिन्हें वह औपचारिक रूप से राज्य को देता है। वास्तव मे सरकार राज्य की सम्प्रभुता का दावा नहीं कर सकती। राज्य तो स्वभाव से ही व्यक्ति की अपरिमित भक्ति का पात्र है, किन्तु सरकार पर यह बात लागू नहीं होती।

सारांश यह है कि यदि हम राज्य और सरकार में कानूनी और राजनीतिक सम्प्रभुता में, सम्भावित तथा वास्तविक शक्तियों में विभेद करते हैं तो हम राज्य की कानूनी सम्प्रभुता के सिद्धान्त को स्वीकार कर सकते हैं यद्यपि जिस उद्देश्य से प्रेरित होकर लास्की ने असीमित सम्प्रभुता के सिद्धान्त पर आक्रमण किया है, वह अवश्य ही प्रशंसनीय है। लॉस्की का उद्देश्य यह प्रकट करता है कि एक अति केन्द्रीभूत राज्य में व्यक्ति और समुदाय की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। उसके आक्रमण का लक्ष्य हीगल की धारणा का सर्वशक्तिमान राज्य है। वह आदर्शवादियों की कल्पना के उस अति केन्द्रीभूत राज्य का खण्डन करता है जो व्यक्तियों का सामञ्जस्य कुछ निश्चित संस्थाओं के साथ करना चाहता है। लॉस्की की दृष्टि में सब तरह की संस्थाओं की प्रतियोगिता की कसौटी यह है कि वे नागरिकों के कल्याण में कहाँ तक योग देती हैं और इसीलिए वह व्यक्तियों को राज्य के मामले में सक्रिय भाग लेने और यह निर्णय करने का अधिकार देता है कि वह अपने घोषित उद्देश्यों को कहाँ तक पूरा कर रहा है। लॉस्की ने जिन तथ्यों पर बल दिया है वे सत्य हैं, परन्तु उनमें दोष यह है कि वे केवल अप्रासंगिक हैं। आस्टिन और राज्य की सम्प्रभुता के समर्थक यह कभी नहीं कहते कि राज्य की आलोचना या अवज्ञा करना अनैतिक है और न ही वे हीगलवादियों के समान राज्य को नैतिक रूप से सर्वोपरि समझते हैं। उन्होंने तो राज्य के कानूनी आदेशों के नैतिक औचित्य के प्रश्न से स्वयं को बिल्कुल पृथक् रखा है। उन्होंने अपने अन्तःकरण की अवहेलना करने तथा सरकार के कार्यों को अच्छाई-बुराई का निर्णय करने के विवेक का परित्याग करने को नहीं कहा है।

लॉस्की ने सम्प्रभुता-सिद्धान्त की आलोचना अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भी की है। ऑस्टिन के मतानुसार कानून सम्प्रभु का आदेश है, परन्तु लॉस्की का मत है कि कानून सम्प्रभु की आज्ञा मात्र नहीं है बरन् वह परम्पराओं एवं रीति-रिवाजों द्वारा भी निर्मित होता है और उसका पालन स्वयं के औचित्य के कारण होता है। बाह्य रूप से एक सर्वोच्च और स्वाधीन सम्प्रभुता-सम्पन्न राज्य का विचार मानवता के हितों के प्रतिकूल है। निष्ठा की सच्ची इकाई संसार है क्योंकि आज्ञा-पालन की वास्तविक निष्ठा हमारे सहयोगियों के समग्र हितों में निहित है जो केवल किसी राज्य विशेष में नहीं, वरन् विश्व के विभिन्न भागों में रहते हैं। लॉस्की का विचार है कि मानवता की माँगों के आधार पर सम्प्रभुता के सिद्धान्त को राजनीति से निकाल दिया जाए क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी होने के कारण यह राष्ट्रों में युद्ध एवं अनावश्यक प्रतियोगिता को जन्म देता है।

लॉस्की द्वारा राज्य की सम्प्रभुता सम्बन्धी व्यक्ति और समूह के दृष्टिकोण से आलोचना के बाद हम राज्य के संगठन के लिए उसकी रचनात्मक प्रस्थापनाओं पर विचार करते हैं। इस विषय में लॉस्की की धारणाएँ अधिक मान्य हैं। वह राज्य का संगठन इस प्रकार चाहता है कि व्यक्ति और समूहों को अधिकतम स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके। वह व्यक्ति को केन्द्रीय स्थान देता है और व्यक्ति की इच्छाओं पर राज्य की इच्छा को प्रधानता केवल उसी सीमा तक देता है जहाँ तक "उस

इच्छा का निर्माण ऐसी बुद्धिमत्ता के साथ किया जाए जिससे उसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो जाए ।"

लॉस्की की रचनात्मक प्रस्थापनाएँ उसके विख्यात ग्रन्थ 'Grammar of Politics' मे उपलब्ध हैं । राज्य के प्रति अपने दृष्टिकोण मे लॉस्की ने इस ग्रन्थ मे कुछ परिवर्तन प्रदर्शित किया है । सम्प्रभुता पर अपने भीषण आक्रमण को शिथिल करते हुए वह स्वीकार करता है कि कानूनी सम्प्रभुता का सिद्धान्त अकाट्य है यद्यपि उसकी कोई अपनी शक्ति नही है । वह गतिहीन और केवल मात्र औपचारिक है । यहाँ लॉस्की का बहुलवाद भी पूर्वापेक्षा कम कठोर रह जाता है और उसने यह स्वीकार किया है कि राज्य एव अन्य ऐच्छिक समुदायो के स्वरूप मे आधारभूत अन्तर है । प्रमुख अन्तर यह है कि राज्य के पास बाध्यकारी शक्ति होती है जबकि अन्य समुदायो के पास यह नहीं होती । वह यह मानता है कि ऐच्छिक समुदायो को अधिकाधिक स्वतन्त्रता होते हुए भी राज्य को अन्य समुदायो से उच्चतर होना चाहिए ताकि वह उनकी अवांछनीय क्रियाओ पर नियन्त्रण रख सके । लॉस्की ने राज्य की शक्ति औचित्य के विषय मे यह स्वीकार किया है कि उसको यह शक्ति उपभोक्ताओ का प्रतिनिधि होन के नाते एव नागरिको के सामान्य कल्याण मे अधिकतम योग देने की सामर्थ्य प्रदान करने वाले सगठन के नाते प्राप्त होती है । राज्य के पास इतनी बाध्यकारी शक्ति होनी ही चाहिए जिससे वह नागरिको एव समूहो को नियन्त्रण मे रखते हुए अपने सामान्य हितो की पूर्ति कर सके । स्पष्ट है कि विभिन्न समुदायो को अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने के लिए उत्सुक होने पर भी लॉस्की राज्य को उनसे गौण नही अपितु उच्चतर स्थान देना चाहता है ।

लॉस्की राज्य और ऐच्छिक समुदायो के बीच एक अन्तर और करता है । वह यह है कि व्यक्ति ऐच्छिक समुदाय की सदस्यता को त्याग सकता है, परन्तु वह राज्य की सदस्यता से पृथक् नही हो सकता । इसके अतिरिक्त यदि व्यक्ति राज्य के निर्णयो से मतभेद रखता है तो व्यक्ति को इसके लिए दण्ड दिया जा सकता है । इसका स्वाभाविक अर्थ यह है कि व्यक्ति के लिए राज्य की इच्छा का महत्त्व अन्य किसी भी समुदाय की इच्छा से अधिक है । लॉस्की के विचारो मे इस प्रकार का परिवर्तन प्रमुखत दो कारणो से हुआ प्रतीत होता है—प्रथम तो यह है कि उस पर अमेरिका से इङ्गलैण्ड लौट आने पर वैब दम्पत्ति का गम्भीर प्रभाव पडा था और दूसरा यह कि वह इङ्गलैण्ड के मजदूर दल (Labour Party) का सदस्य बन गया था । यह दल इङ्गलैण्ड के सर्वाधिक शक्तिशाली दलो मे से एक था और सन् 1920 के बाद कुछ समय के लिए सत्तारूढ भी रहा ।

सन् 1931 म प्रकाशित लॉस्की के अन्य ग्रन्थ Introduction to Politics' के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय तक वह (लॉस्की) अपने प्रारम्भिक बहुलवाद से और भी अधिक दूर हो गया था । इस ग्रन्थ मे लास्की यह विश्वास व्यक्त करता है कि राज्य का मूल तत्त्व इस बात म निहित है कि राज्य अपनी सीमाओ क अन्तगत रहने वाले सभी व्यक्तियो और समुदायों पर अपनी इच्छा लाद सकता है । वह यह भी स्वीकार करता है कि राज्य की इच्छा अन्य सभी समुदायो

की इच्छा से उच्चतर है क्योंकि राज्य की इच्छा को कानूनी प्रभुता प्राप्त है जबकि अन्य समुदायों की इच्छा को नहीं।

यद्यपि लॉस्की राज्य की बाध्यकारी शक्ति को स्वीकार करता है तथापि वह राज्य की शक्ति की ओर से बहुत सशंकित बना रहता है। कहीं शासक की शक्ति बढ़ न जाए, इस भय से वह सरकार को जनता के प्रति उत्तरदायी बना देने का समर्थन करता है। उसका मत है कि शासक एक लम्बे समय तक अपने उच्च नैतिक स्तर को कायम नहीं रख सकता। एक न एक दिन ऐसा अवश्य आता है जब दूसरों के जीवन के समुचित और न्यायपूर्ण संचालन के उत्तरदायित्व से विमुख होकर शासक अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने लगता है। एक जनतन्त्रीय शासन शक्ति के दुरुपयोग की इस प्रकार की सम्भावनाओं को अन्य शासन-प्रणालियों की अपेक्षा कम कर देता है। जनतन्त्रात्मक शासन-पद्धति में सरकार के भ्रष्ट होने और जनहित की बलि पर अपनी स्वार्थपूर्ति के अवसर न्यूनतम रह जाते हैं। जनतन्त्रात्मक शासन में नागरिकों की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने का एक परम्परागत साधन शक्ति-पृथक्करण (Separation of Powers) और नियन्त्रण तथा सन्तुलन (Checks and Balances) की प्रणाली होती है। लॉस्की इस प्रणाली में कोई विश्वास नहीं रखता क्योंकि उसकी धारणा के अनुसार इस तरह के साधन सरकार को शासितों की इच्छाओं का सम्मान करने के लिए विवश करने में असमर्थ हैं। लॉस्की ने न केवल इन परम्परागत साधनों में अविश्वास व्यक्त किया है, बल्कि इनके वैकल्पिक साधन भी सुझाए हैं। उसका कहना है कि सत्ता केन्द्रों की संख्या में वृद्धि कर देनी चाहिए और ऐसा करने के लिए स्थानीय तथा व्यावसायिक संस्थाओं को शक्ति प्रदान करनी चाहिए।

स्थानीय स्वशासन का विस्तार होने से अधिकाधिक जनता अपने अधिकारों और प्रशासन के प्रति जागरुक और सचेष्ट बन सकेगी। लॉस्की व्यक्तियों के लाभ के लिए राज्य की शक्ति के विकेन्द्रीकरण को अधिक से अधिक अनुकूल समझता है। लॉस्की यह सुझाव देता है कि ऐच्छिक समुदायों को सरकार तथा उसके अभिकर्त्ताओं (Agents) के प्रत्यक्ष संसर्ग में लाना चाहिए। ये ऐसे उपाय हैं जिनके द्वारा सरकार को नागरिकों की वास्तविक इच्छाओं को जानने और अपने निर्णयों में उनकी इच्छाओं को अधिकतम स्थान देने के लिए विवश किया जा सकता है। लॉस्की के इस वाक्य का कि 'सारी शक्ति संघात्मक है' (All Authority is Federal) यही अर्थ है। व्यक्ति अपनी आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक संस्थाओं में भाग लेता है और प्रत्येक संस्था उसके व्यक्तित्व के विकास में अपना योग देती है। चूंकि हमारे जीवन में राज्य का केवल आंशिक योगदान है, अतः राज्य के प्रति आज्ञापालन भी आनुपातिक रूप से आंशिक होना चाहिए। यह राजनीति का प्रथम सिद्धान्त है कि अधिकार और शक्तियाँ कार्यों से सम्बन्धित होते हैं, अतः यह कोई अजीब बात नहीं है कि राज्य हमसे जिस निष्ठा की अपेक्षा करता है वह निष्ठा आंशिक ही होनी चाहिए।

'सत्ता सघात्मक होनी चाहिए'—इसके द्वारा लॉस्की का यह आग्रह है कि "यदि राज्य को मानव आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करने के अपने कर्त्तव्य का समुचित रूप से पालन करना है तो उसे अपने निर्णय मे उन समुदायो की इच्छा को सम्मिलित करना चाहिए जो राज्य तथा व्यक्ति के बीच स्थित हैं।" इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए लॉस्की विभिन्न उपयोगी सुझाव देता है—

(क) ऐच्छिक समुदायो के प्रतिनिधियो को प्रत्येक स्तर पर अधिकारियो से मिलना चाहिए और उन्हें आवश्यक परामर्श देना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक सरकारी विभाग के साथ उससे प्रभावित होने वाले हितो के प्रतिनिधियो के परामर्शदाता निकायो को सम्बद्ध कर दिया जाए।

(ख) सरकार निर्णय करने से पहले इन निकायो से परामर्श करे। इन निकायो को यह अधिकार हो कि वे प्रस्थापित व्यवस्थापन की आलोचना कर सकें और नए व्यवस्थापन के सुझाव दे सकें।

(ग) राज्य के विभिन्न प्रशासनिक विभागो को सलाह देने के लिए ससद् के सदस्यो की समितियाँ बनाई जाएँ। प्रत्येक समिति सम्बन्धित मन्त्री से निरन्तर सम्पर्क स्थापित कर निगाह रखे।

(घ) स्थानीय स्वायत्त-शासन का पुनर्गठन इस भाँति किया जाए कि सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो जाए। स्थानीय शासन के क्षेत्रों का इस प्रकार पुर्नविभाजन हो कि वे अपने द्वारा सम्पादित किए जाने वाले कार्यों के अनुरूप हो जाएँ। यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक स्थानीय निकाय को अपने कार्यों पर अधिकाधिक प्रशासकीय अधिकार प्राप्त हो।

(ङ) प्रत्येक व्यक्तिगत उद्योग पर नियन्त्रण की दृष्टि से एक प्रतिनिधि निकाय हो। इस प्रकार की औद्योगिक परिषदो मे मालिको, उपभोक्ताओ और सरकार के प्रतिनिधि होने चाहिए। इस परिषद् को ऐसे नियमो के निर्माण का अधिकार भी मिलना चाहिए जो सम्पूर्ण उद्योग के लिए स्वीकार्य हो बशर्ते कि उत्पादन का केन्द्रीय मन्त्रालय अन्तिम रूप से उन पर अपनी स्वीकृति दे दे।

सारांशत यह कहा जा सकता है कि अपने ग्रन्थ 'Grammar of Politics' मे लॉस्की ने राज्य-सत्ता और व्यक्ति की स्वतन्त्रता मे सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रशसनीय प्रयास किया है। "वह सामाजिक नियन्त्रण और सामञ्जस्यकारी सस्था के रूप मे राज्य को कायम रखता है और बहुलवादियों की आलोचना का समाधान अधिकतम सम्भव विकेन्द्रीकरण द्वारा करने का प्रयास करता है।"

लॉस्की अपने विचारों पर स्थिर नहीं रहता। वह अपना दिमाग खुला रखता है और वह आवश्यकतानुसार तथा अपने अनुभवो के आधार पर अपने विचारो में परिवर्द्धन-परिमार्जन करने मे सकोच नहीं करता। 'Grammar of Politics' के सन् 1938 के परिवर्द्धित सस्करण का नवीन परिचयात्मक अध्याय यह प्रकट करता है कि लॉस्की ने प्रथम सस्करण मे निरूपित सशोधित बहुलवाद का भी परित्याग कर दिया और राज्य के विषय मे बहुत कुछ मार्क्सवादी धारणा को

अपना लिया। राज्य के स्वरूप के विषय मे मार्क्स के विचारो का अनुकरण करते हुए लॉस्की ने यह विश्वास प्रकट किया कि राज्य का प्रमुख उद्देश्य समाज के वर्ग-सम्बन्धो को सुरक्षा प्रदान करना है। वह राज्य को सामाजिक नियन्त्रण और सामञ्जस्य का एक साधन नही समझता। वह उसकी शक्ति इसलिए सीमित करना चाहता है ताकि वह व्यक्तियो की स्वतन्त्रता का अपहरण न कर सके। इसके विपरीत अब लॉस्की उसे समाज के उत्पादन-साधनो के स्वामी-वर्ग के हाथ मे एक 'कार्यपालिका यन्त्र' समझने लगा और उसकी दृष्टि मे राज्य का उद्देश्य सामान्य हित अथवा मानव कल्याण न होकर समाज के वर्ग-सम्बन्धों को स्थिर रखना हो गया। वर्ग-सम्बन्धो को सुरक्षित रखने के उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह भी अनिवार्य है कि सरकार अधिकाधिक शक्तिशाली बने अर्थात् राज्य अविभाज्य एव अनुत्तरदायी सम्प्रभुता का दावा करे। मार्क्सवाद के प्रभाव मे आकर बाद मे वह जनतन्त्र को पूँजीवादी जनतन्त्र कहने लगा क्योकि उसका प्रमुख उद्देश्य उस सामाजिक एव आर्थिक प्रणाली को कायम रखना था जो पूँजीपतियो ने अपनी शक्ति और विशेषाधिकारो को सुरक्षित रखने के लिए खडी की थी। लॉस्की ने यह विश्वास व्यक्त किया कि पूँजीवाद के स्थान पर समाजवाद की स्थापना सामान्यत क्रान्ति के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से नहीं की जा सकती। मार्क्सवादी भावना के अनुकूल उसने यह भी घोषित किया कि पूँजीवादी जनतन्त्र अन्तत निश्चित रूप से क्रान्ति को जन्म देगा। उसकी पुस्तको 'Democracy in Crisis' एव Parliamentary Government in England' का मुख्य सार यही है। लॉस्की ने मोटे रूप मे साम्यवादियो की इस धारणा को भी स्वीकार किया है कि फासीवाद पतनोन्मुख पूँजीवाद की अन्तिम अवस्था है।

यह स्मरणीय है कि यद्यपि लॉस्की मार्क्स की इस धारणा से सहमत था कि सरकार सदैव समाज के उस वर्ग के हाथो मे रहती है जो उत्पादनो का स्वामी होता है और इसलिए उत्पादनों के सम्बन्धो को सुरक्षा के लिए वह बाध्यकारी शक्ति पर अपना अधिकार रखना आवश्यक समझती है, तथापि लॉस्की ने श्रमजीवी तानाशाही का समर्थन नहीं किया और न ही क्रान्ति के नेतृत्व के लिए एक छोटे से अनुशासित दल को आवश्यक समझा। लॉस्की क्रान्ति का समर्थक था, किन्तु वह हिंसक क्रान्ति के स्थान पर सहमतिपूर्ण क्रान्ति का पक्षधर था। वैधानिक और ससदात्मक जनतन्त्र पर उसका विश्वास था किन्तु समाजवादी सरकार से वह यह आशा करता था कि पुरानी रूढियो को तोडकर नया मार्ग प्रशस्त करे। किंग्सले मार्टिन (Kingsley Martin) के ये शब्द सही हैं कि—

'वह (लास्की) इस बात को तो मानने के लिए तैयार था कि क्रान्तिकारी युग मे नागरिक अधिकारो पर कुछ प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक हो सकता है, परन्तु वह मार्क्सवाद से पूर्णत सहमत नहीं था, क्योकि वह मूलत व्यक्तियों की स्वतन्त्रता मे विश्वास रखता था क्योकि उसे आशा थी कि अधिकांश सम्पत्तिवानो को नवीन व्यवस्था स्वीकार करने के लिए तैयार किया जा सकता है क्योकि वह यह विश्वास करता था कि ऐतिहासिक प्रवृत्तियाँ हिंसात्मक क्रान्ति की ओर हैं, तथापि वह उन्हें अपरिहार्य नहा समझता था।''[1]

1 Kingsley Martin op cit., p 88

कानून पालन की समस्या
(Problem of Obedience to Law)

लॉस्की के मतानुसार नियम-पालन की समस्या से सम्बन्धित तीन प्रश्न उठ सकते हैं—(1) राज्य द्वारा निर्मित कानूनों का पालन क्यों करना चाहिए ? (2) वास्तव में इन कानूनों का पालन क्यों किया जाता है ? (3) क्या कानून-पालन की कोई सीमाएँ हैं ?

लॉस्की बहुलवादी दृष्टिकोण रखने के कारण यह मानता था कि राज्य को अपनी आज्ञाओं के पालन कराने का अधिकार अन्य समुदायों से उच्चतर नहीं है। राज्य के लिए यह उचित है कि वह आज्ञा-पालन कराने सम्बन्धी अपने अधिकार के लिए अन्य समुदायों से प्रतिद्वन्द्विता करे। यहाँ व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह स्वयं इस बात का निर्णय करने के लिए सचेष्ट हो कि राज्य का कोई कार्य विशेष उसके उद्देश्य की पूर्ति मे सहायक है अथवा नहीं। यदि उसका अन्त करण यह स्वीकार करे कि राज्य के कार्य से उसके किसी उद्देश्य की पूर्ति होती है तो व्यक्ति को राजाज्ञा मान लेनी चाहिए अन्यथा उसे राज्य की आज्ञा का पालन करने से इंकार कर देना चाहिए। बिना सोचे विचारे राज्य की आज्ञाओं का पालन करना अपनी आत्मा की आवाज का अनादर करना है।

लॉस्की का कहना है कि कानून का स्रोत न तो राज्य है और न कोई छोटा समुदाय। कानून का स्रोत तो व्यक्ति है जो अपनी अन्तरात्मा के अनुसार कार्य करता है। नागरिक ही वे व्यक्ति हैं जो अपने जीवन मे राज्य कार्यों के परिणामों का अनुभव करते हैं, और इसीलिए वे ही ऐसे व्यक्ति है जो उसके सम्बन्ध मे कुछ कह सकते हैं। वे अपनी अनुमति देकर कानून को मान्यता प्रदान करते हैं, वे उसका अनुमोदन करते हैं क्योंकि उससे उनकी इच्छाओं की तुष्टि होती है। इसलिए श्रेष्ठ कानून वह है जिससे व्यक्तियों की इच्छा की अधिकतम तुष्टि होती है, और औपचारिक अर्थ के अतिरिक्त अन्य कोई भी अर्थ अनुपालन योग्य नहीं है। लॉस्की ने अपने सिद्धान्त के विषय मे कहा है कि यह सिद्धान्त ऐसे कानून को जो प्रजा द्वारा पालन किए जाने का दावा करता है, एक मात्र स्रोत के रूप मे व्यक्ति के अन्त करण (Conscience) द्वारा मान्य करने का प्रयत्न है। यह सिद्धान्त कानून के स्रोत को वही पहुँचा देता है जहाँ उसे वास्तव में होना चाहिए अर्थात् व्यक्ति के अनुमोदन करने वाले मन मे।

लॉस्की के उग्र व्यक्तिवाद का मूल कारण यह है कि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता और स्वत क्रिया-शक्ति को सर्वाधिक मूल्यवान समझता था और व्यक्ति के विचार और कार्य की स्वतन्त्रता को राज्य के आक्रमण से सुरक्षित रखना चाहता था। परन्तु लॉस्की के इस विचार मे दो मुख्य दोष हैं—प्रथम तो यह कि इसे एक बड़े पैमाने पर प्रयोग मे लाने से भ्रान्ति या अराजकता फैलने की सम्भावना रहती है ऐसे विचारों से कानून के प्रति निष्ठा नहीं हो पाती और इस कारण एकता तथा सगठित

सामाजिक जीवन असम्भव हो जाता है। दूसरा दोष यह है कि इस तरह की धारणा व्यक्ति को अनुचित बौद्धिक प्राणी बना देती है। राज्य के प्रत्येक व्यक्ति में यह योग्यता नहीं होती कि वह भले और बुरे कानूनों में अन्तर कर सके। यह असम्भव नहीं है कि एक व्यक्ति का अन्त करण एक गधे का अन्त.करण हो। राज्य की आज्ञाओं का उल्लघन तभी किया जाना चाहिए जबकि परिस्थितियाँ उसके जीवन के मूल्यो और मानदण्ड के विपरीत हो।

अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'Grammar of Politics' में लॉस्की उपर्युक्त धारणा से तनिक हटते हुए यह प्रतिपादित करता है कि राजसत्ता एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए है। *यह उद्देश्य 'समाज के सामान्य हितो की सिद्धि' तथा 'प्रत्येक मानव के अपने* आत्म-विकास के हेतु आवश्यक अधिकारो की सुरक्षा' है। राज्य के कानूनो के कर्त्तव्य पालन का आधार यह है कि ऐसा करना सामाजिक एव सभ्य जीवन के लिए आवश्यक है।

लॉस्की के अनुसार व्यक्ति को दो परिस्थितियो में राज्य की अवज्ञा करने का अधिकार है—प्रथम, जबकि व्यक्ति सगठित रूप से यह अनुभव करे कि राज्य सामान्य हितो की रक्षा नहीं कर रहा है, द्वितीय, जब ऐसा प्रतीत हो कि राज्य आत्म-विकास के आवश्यक अधिकारो का अपहरण कर रहा है। स्पष्ट है कि लॉस्की के मन्तव्यानुसार राज्य नैतिकतापूर्ण नियमों से ही व्यक्तियो के हृदय में भक्ति उत्पन्न कर सकता है।

सन् 1931 तक लॉस्की के विचारो में एक और परिवर्तन हो जाता है। वह Grammar of Politics' में उन अधिकारो का विवेचन करता है जो उसके मतानुसार व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक हैं। प्रमुख अधिकार ये बतलाए गए है—(1) सम्पत्ति का अधिकार, (2) भाषण एव सघ बनाने का अधिकार, (3) पर्याप्त वेतन प्राप्त करने का अधिकार, (4) शिक्षा का अधिकार, (5) जीविकोपार्जन का अधिकार, (6) कार्य करने के उचित घण्टो का अधिकार, (7) राजनीतिक शासन में भाग लेने का अधिकार, एव (8) न्यायिक सरक्षण का अधिकार।

उसकी पुस्तक 'Introduction to Politics' (1931) में लॉस्की के राज्य सम्बन्धी विचार उपर्युक्त विचारो से भिन्न हैं। इसमें उसने राज्य की भक्ति के आधार को बदल दिया है और व्यक्ति के नैतिक विकास की अपेक्षा आर्थिक और सामाजिक सुख को अधिक महत्त्व दिया है। नैतिक जीवन की वह निन्दा नहीं करता अपितु उसका आग्रह भौतिक जीवन पर अधिक है। यहाँ राजभक्ति की कसौटी यह है कि राज्य प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम भौतिक सुख किस सीमा तक प्रदान करता है। यहाँ स्पष्ट ही लास्की मार्क्सवाद से प्रभावित है। आज्ञापालन के व्यक्तिवादी सिद्धान्त की ओर से उदासीन होकर वह अब व्यक्ति के स्थान पर वर्ग पर बल देता है। डीन लिखता है कि—

"लॉस्की की रुचि अब उस अल्पमत में नहीं है जो अन्त करण के नाम पर आज्ञापालन करने से इन्कार करता है, प्रत्युत् उन स्थितियों में है जिनके अन्तर्गत

भारी बहुसंख्यक श्रमिक-वर्ग उस राज्य के प्रति अपनी भक्ति का परित्याग कर देगा जिसके द्वारा उसके शोषकों के हितों का संरक्षण होता है।"

इन विचारों से यही प्रकट होता है कि लॉस्की यहाँ आकर उदारवाद से मार्क्सवाद की ओर उन्मुख हो गया है।

लॉस्की की अधिकारों विषयक धारणा
(Laski on Rights)

हम यह देख चुके हैं कि लॉस्की के विचार से राज-भक्ति का कर्त्तव्य इस बात पर आधारित है कि राज्य व्यक्ति के शुभ-जीवन की व्यवस्था करता है। शुभ-जीवन की प्राप्ति के लिए, जिसका अर्थ लॉस्की ने स्पष्ट नहीं किया है, राज्य के पास उपयुक्त साधन यह है कि वह ऐसी बाह्य परिस्थितियों को कायम रखे जो नागरिकों के व्यक्तित्व के विकास के लिए सर्वाधिक अनुकूल हों। शुभ-जीवन के लिए व्यक्तियों की शक्तियों के विकास हेतु जो आवश्यक शर्तें हैं उन्हीं को अधिकार की संज्ञा दी गई है।

अधिकारों के विषय में लॉस्की के विचार बहुत गम्भीर और भावपूर्ण हैं। व्यक्ति की नैतिक सत्ता (Ethical Contents) का वास्तविकीकरण अधिकारों के अभाव में असम्भव है। लोक-कल्याण की व्यापक दृष्टि से अधिकार अनिवार्य हैं। राज्य अधिकारों का संरक्षक है, अधिकारों का हनन या विरोध करके वह आत्मघात ही कर सकता है। एक राज्य की पहचान उन अधिकारों से होती है जिनकी वह व्यवस्था करता है। राज्य जितनी ही अधिक अपने नागरिकों को सुखी और प्रसन्न रखता है, वह उतना ही अधिक उच्च स्तर का माना जाता है।

राज्य व्यक्ति के हितों का भौतिक साधन है और व्यक्ति-हित सामान्य एवं विशिष्ट अधिकारों में निहित हैं। व्यक्ति के हितों का भौतिक साधन होते हुए भी राज्य अधिकारों का निर्माणकर्त्ता नहीं है बल्कि वह केवल उन्हें मान्यता प्रदान करता है। अधिकारों का अस्तित्व राज्य से पूर्व अथवा राज्य के साथ है। लॉस्की के कथनानुसार—

"अधिकार सामाजिक जीवन की वे स्थितियाँ हैं जिनके बिना सामान्य रूप से कोई भी व्यक्ति अपना सर्वोच्च विकास नहीं कर सकता। अधिकार राज्य से पूर्व भी होते हैं। राज्य उनको स्वीकार करे अथवा न करे, इस बात का अधिकारों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।"

राज्य के अमान्य कर देने पर भी अधिकार रहेंगे और उनकी प्राप्ति के लिए लोग संघर्ष करेंगे। सारा इतिहास अधिकार-दर्शन (Philosophy of Rights) का उदाहरण प्रस्तुत करता है। उन्हें हम इस अर्थ में ऐतिहासिक नहीं कह सकते कि किसी निश्चित अवधि या सीमा के अन्तर्गत मनुष्य ने संघर्ष द्वारा इन्हें प्राप्त किया बल्कि वे ऐतिहासिक इसलिए हैं कि विशेष काल, समाज, सभ्यता, संस्कृति और आवश्यकताओं के अनुकूल इनकी माँग की जाती रही है और भविष्य में भी की जाती रहेगी। अधिकार इस अर्थ में प्राकृतिक नहीं हैं कि उनकी एक स्थायी और

अपरिवर्तनशील सूची तैयार नहीं की जा सकती। वे प्राकृतिक इस अर्थ मे हैं कि कुछ सीमाओ के अधीन तथ्य उनकी माँग करते हैं। अधिकारों मे अवश्य ही एक सार होता है जो समय व स्थान के साथ परिवर्तित होता रहता है।

अधिकारो का अर्थ उस शक्ति से नहीं लिया जाना चाहिए जिससे इच्छा की तुष्टि होती है। मनुष्य मे स्वय को या किसी दूसरे की हत्या करने की इच्छा उत्पन्न हो सकती है, किन्तु उसे कोई सभ्य समाज कदापि मान्यता नहीं दे सकता। यदि इस प्रकार की इच्छाओ को स्वीकार कर लिया जाए तो समाज का अस्तित्व ही दुष्कर हो जाएगा। अधिकार तो वस्तुत सामाजिक जीवन की ऐसी स्थितियाँ हैं जिनके बिना कोई मनुष्य अपने व्यक्तित्व का श्रेष्ठांश व्यक्त नहीं कर सकता। अधिकार इस अर्थ मे अधिकार हैं कि राज्य के नागरिको के लिए उनकी उपयोगिता होती है। वे देश की सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था के विरोधी हो सकते हैं, किन्तु उनकी मान्यता को चुनौती नहीं दी जा सकती क्योंकि वे सम्बन्धित जनो की उन्नति के लिए अनिवार्य हैं।

लॉस्की व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध अधिकार (Right of Individual against State) देने का समर्थक है। उसके अनुसार—

"यह राज्य का कर्त्तव्य है कि वह व्यक्तियो के लिए उन बाह्य स्थितियो की व्यवस्था करे जो उनके चरित्र के विकास के लिए आवश्यक हैं। राज्य पर नागरिक अपने दावे रखता है, इसलिए राज्य को उसके अधिकारो की रक्षा करनी चाहिए। राज्य को उसके लिए ऐसी शर्तों की गारन्टी करनी चाहिए जिसके बिना वह अपना सर्वोत्तम विकास नहीं कर सकता।"

अधिकारो का अस्तित्व उपयोगिता मे है और उपयोगिता कार्यों मे है, इसलिए अधिकार कर्त्तव्यो की सापेक्षता (Correlative of Function) मे है। दूसरे शब्दो मे अधिकारो का कार्यों से भी सम्बन्ध है। प्रत्येक समाज मे व्यक्ति साधारणत राज्य के प्रति दो तरह के अधिकार प्राप्त करता है—एक तो सरक्षण-पोषण का अधिकार जिसके लिए राज्य व्यक्ति के अधिकारो की रक्षा करता है, दूसरे, साधनो का अधिकार जिसके द्वारा राज्य का कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति को अपने पूर्ण विकास के भौतिक तथा अन्य साधन प्रदान करे। इन अधिकारो के साथ ही कर्त्तव्य-पूर्ति के लिए व्यक्ति को बाध्य करना भी राज्य का कार्य माना गया है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि अपना विकास करते समय वह दूसरो के मार्ग मे बाधक न बने। साथ ही सामाजिक प्रगति तथा जन कल्याण (Social Progress and Human Welfare) मे उसे योगदान देना चाहिए। लॉस्की का मत है कि "एक व्यक्ति को प्राप्त अधिकारो की सख्या उसके समाज के प्रति व्यक्तिगत योगदान के अनुरूप होना उचित है। जिन अधिकारो का मैं दावा करता हूँ, वे मेरे योगदान के अनुरूप होने चाहिएँ। योगदान वैयक्तिक होना चाहिए अन्यथा वह कोई योगदान ही नहा..।

लॉस्की का कहना है कि न्यूनतम अधिकार समस्त व्यक्तियो के समान होते हैं और राज्य का यह कर्त्तव्य है कि प्रत्येक व्यक्ति के न्यूनतम अधिकारों की गारटी

करे जिनके बिना कोई भी व्यक्ति रचनात्मक जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। न्यूनतम अधिकारो की प्राप्ति के बाद ही विशिष्ट अधिकारो का प्रश्न उठता है।

लॉस्की के मत से जिस प्रकार मुझे अपनी इच्छा के अनुसार प्रत्येक कार्य करने का अधिकार नही है, उसी तरह राज्य भी मेरे लिए ऐसा स्थान नियत नही कर सकता जो मुझे राज्य मे प्राप्त करना चाहिए। मानव-विकास मे कोई स्थिति स्थायी रूप से निश्चित नही की जा सकती। व्यक्तित्व तो वही स्थान प्राप्त करता है या उसे वही स्थान प्राप्त करना चाहिए जिसमे उसकी सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति हो सके और केवल प्रयोग द्वारा ही वर्तमान वातावरण मे सर्वोच्च स्थिति ज्ञात की जा सकती है। राज्य प्रत्येक व्यक्ति के व्यवसाय का निर्धारक नही बन सकता।

जहाँ तक अधिकारो की रक्षा का प्रश्न है, लॉस्की सांविधानिक सरक्षण की व्यवस्था को महत्त्व नहीं देता। उसके शब्दों मे, 'नि.सन्देह सड़े-गले कागजो से उन्हे अधिक पवित्रता मिलेगी, किन्तु वे उनकी सिद्धि की गारण्टी नहीं करेंगे।" लॉस्की के अनुसार "अधिकारो की सुरक्षा अधिनियमो की औपचारिकता की अपेक्षा स्वभाव और परम्परा का विषय अधिक है।"

अधिकारो की रक्षा के लिए लॉस्की शक्तियो के पृथक्करण-सिद्धान्त को भी विशेष महत्त्व नही देता। इस सिद्धान्त मे अच्छाई केवल यही है कि न्यायाधीश कार्यपालिका से स्वतन्त्र होकर कार्य कर सकते हैं, अत. नागरिको की स्वतन्त्रता अधिक सुरक्षित रहने की सम्भावना रहती है।

लॉस्की के अनुसार अधिकारो की दृष्टि से निम्नलिखित तीन शर्तो की पूर्ति आवश्यक है—

1 राज्य विकेन्द्रित हो ताकि जनता राजकीय मामलो में अधिकाधिक रुचि ले और अपने स्थानीय अधिकारो पर अधिक नियन्त्रण रख सके।

2 केन्द्रीय सरकार के गिर्द पर्याप्त परामर्शदात्री सस्थाएँ हो ताकि उसे प्रमुख समस्याओ पर विशेषज्ञो का परामर्श प्राप्त हो सके। विशेषज्ञो का एक-एक समूह प्रत्येक विभाग के साथ सम्बद्ध हो।

3 राज्य अन्य सघो के आन्तरिक जीवन मे तब तक कोई हस्तक्षेप न कर जब तक कोई समुदाय राज्य को ही बलपूर्वक नष्ट करने की धमकी न दे।

लॉस्की के मतानुसार अधिकारो के स्वस्थ वातावरण मे ही व्यक्ति की रचनात्मक शक्तियो का अभ्युदय होता है और चारित्रिक विशेषताएँ विकसित होती हैं। किन्तु अधिकारो के जोश म व्यक्ति को यह नहीं भूलना चाहिए कि वह किसी सामाजिक समीकरण (Social Equalism) का मूल है, अन्यथा उसकी नागरिकता समाप्त हो जाती है। कानून, सस्था, राज्य—ये सब अधिकारो की पूर्व शर्तें हैं और उनका काम है अधिकारो की पूर्ति करना। लॉस्की ने व्यक्तित्व के विकास के लिए जीवन, सुरक्षा, सम्पत्ति, वेतन, परिश्रम, सेवा, शिक्षा, उत्पादन, वितरण, न्याय-प्राप्ति, आध्यात्मिक एव बौद्धिक विकास, जीवनोपयोगी आवश्यकताओ

की पूर्ति, प्रतिनिधित्व, सामाजिक व राजनीतिक समानता एव स्वतन्त्रता आदि अधिकारो को आवश्यक माना है।

लॉस्की के स्वतन्त्रता और समानता सम्बन्धी विचार

(Laski on Liberty and Equality)

लॉस्की के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारो मे भी समय-समय पर परिवर्तन हुए है। अपनी पुस्तक 'Authority in the Modern State' मे उसने इस मत से असहमति प्रकट की है कि स्वतन्त्रता बन्धनो का अभाव है। वह उसे 'आत्मानुभूति के धनात्मक तथा समान अवसर' की सज्ञा देता है। ग्रीन से सहमत होते हुए उसकी मान्यता है कि स्वतन्त्रता एक ऐसी अवस्था है जिसके बिना मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं है। सन् 1929 मे प्रकाशित 'Grammar of Politics' के द्वितीय सस्करण की भूमिका मे लॉस्की ने यह विचार प्रस्तुत किया था कि स्वतन्त्रता का सार बन्धना के अभाव मे निहित है। सन् 1930 मे प्रकाशित Liberty in the Modern State' मे उसने प्रतिपादित किया कि "स्वतन्त्रता उन सामाजिक अवस्थाओ की सत्ता पर बन्धनो का अभाव है जो आधुनिक सभ्यता मे व्यक्ति के सुख की आवश्यक परिस्थितियो को निश्चित करते हैं।" लॉस्की राज्य की शक्ति को वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विरोधी मानता है। यदि नागरिको की स्वतन्त्रता सुरक्षित रखनी है तो यह आवश्यक है कि राज्य व्यक्ति के प्रति अपनी माँगो की सीमाएँ निश्चित करे।

लॉस्की के विचार मे, सम्भवत मार्क्सवाद के प्रभाव के फलस्वरूप, पुन परिवर्तन दिखाई दिया। सन् 1943 मे प्रकाशित अपनी उत्तरकालीन कृतियो मे उसने लिखा कि स्वतन्त्रता केवल समाज के सर्वोच्च उद्देश्य को निश्चित करने वाली परिस्थितियो के अन्तर्गत प्राप्त हो सकती है। समाज के कुछ सामान्य हित होते है जिनके विरुद्ध किसी भी व्यक्ति को कुछ भी करने की आज्ञा नही दी जा सकती। वे नागरिक जो एक ऐसे महान् उद्देश्य मे भाग लेते हैं जिस पर उन सब की सहमति है, उसकी साधना मे ही स्वतन्त्रता प्राप्त करते हैं।" लॉस्की ने कहा था कि समाज-हित के लिए वैयक्तिक हितो का बलिदान स्वतन्त्रता का निषेध नहीं है।

लॉस्की के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारो मे कुछ भी परिवर्तन हुए हो, उसने अपने इस पूर्ववर्ती विचार का पूर्ण परित्याग कभी नहीं किया कि "स्वतन्त्रता बन्धनो का अभाव है।" इसका आशय यह है कि वह राज्य और वैयक्तिक स्वतन्त्रता को दो विरोधी तत्त्व मानता था। लॉस्की ने स्वतन्त्रता के तीन पहलुओ की ओर सकेत किया है—(i) व्यक्तिगत, (ii) राजनीतिक, (iii) आर्थिक। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता उसे कहते हैं जहाँ व्यक्ति अपनी इच्छानुसार जीवन के उन क्षेत्रो मे उसका प्रयोग करता है जहाँ उसके (व्यक्ति के) प्रयत्नो का फल उसी को प्रभावित करता हो। स्पष्ट ही इस प्रकार का क्षेत्र धर्म है और राज्य को इसमे कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यदि कानून गरीबो को वैधानिक आश्रय नहीं देता तो यह भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हनन है। अत्यधिक जमानत की माँग करना भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर आघात है। राज्य को चाहिए कि वह व्यक्ति को जीवन के निजी सम्बन्धो मे

पूर्ण विकास के लिए अवसर दे। राजनीतिक स्वतन्त्रता से लॉस्की का आशय है कि व्यक्ति को राज्य के कार्यों मे भाग लेने, निर्वाचित होने, विचार व्यक्त करने राज्य की आलोचना करने, प्रतिनिधि चुनने आदि की स्वतन्त्रता प्राप्त हो। शिक्षा और प्रेम की स्वतन्त्रता श्रेष्ठ राजनीतिक स्वतन्त्रता की आवश्यक शर्तें हैं। आर्थिक स्वतन्त्रता का आशय है कि हर व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार रोजी कमाने का अवसर प्राप्त हो और नागरिक बेकारी से मुक्त रहे। आर्थिक स्वतन्त्रता मे लॉस्की उद्योग सुरक्षा, अवसर, काम करने और वेतन प्राप्त करने आदि की स्वतन्त्रताओं का समर्थन करता है। उसकी दृष्टि मे आर्थिक स्वतन्त्रता का विशेष महत्त्व है। 'राजनीतिक समानता तब तक व्यावहारिक नहीं हो सकती जब तक नागरिको को वास्तव मे आर्थिक समानता और राजनीतिक महत्ता के अधिकार प्रदान न किए जाएँ।" आर्थिक स्वतन्त्रता राष्ट्रीय जीवन का प्राण है।

स्वतन्त्रता का अधिकारो से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अधिकारों के बिना स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है क्योंकि उनका सम्बन्ध व्यक्तित्व की आवश्यकताओं से है। स्वतन्त्रता स्वस्थ सक्षम वातावरण की सक्रिय स्थापना है जिसकी छत्र-छाया मे ही उच्चतम मानवीय विकास सम्भव है। इस प्रकार आत्म-हत्या पर रोक स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं है क्योंकि आत्म-हत्या तो स्वतन्त्रता का भीषण दुरुपयोग है। इसी तरह यदि कानून बच्चो को उचित शिक्षा देने का निर्देश देता है तो स्वतन्त्रता पर कोई आघात नहीं करता। सुविधापूर्ण, सुखदायक तथा उचित जीवनयापन मे सहायक नियमों को मानने से स्वतन्त्रता का हनन नहीं होता। जिन नियन्त्रणों से समाज का लाभ होता है, वे स्वागत योग्य हैं। स्वतन्त्रता का पतन तब होता है जब व्यक्तियो मे उद्यम और साहस का लोप होने लगता है।

लॉस्की के अनुसार स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए कुछ शर्तें आवश्यक हैं—प्रथम, समाज मे कोई विशेष सुविधा प्राप्त वर्ग न हो। द्वितीय, कुछ व्यक्तियों के अधिकार दूसरे व्यक्तियो की इच्छा पर निर्भर न हो, सामान्य नियम शासको और शासित दोनो के लिए मान्य हो। तृतीय, शक्ति पर सबकी समान पहुँच हो अर्थात् राजनीतिक शक्ति पर किसी वर्ग विशेष का एकाधिकार न हो। चतुर्थ, राज्य पक्षपातरहित आचरण करे। पचम, शिक्षा और आर्थिक सुरक्षा की समुचित व्यवस्था हो।

लॉस्की ने स्वतन्त्रता के साथ समानता को आवश्यक माना है क्योंकि समानता के बिना स्वतन्त्रता एकांगी और अपूर्ण है। लॉस्की की दृष्टि मे समानता का अर्थ है कि समाज मे किसी भी व्यक्ति को ऐसा स्थान नहीं दिया जाएगा जिससे वह 'अपने पड़ोसी पर इस प्रकार छा जाए कि उस पड़ोसी की नागरिकता का अन्त हो जाए। नागरिकता के लाभो मे सबको पर्याप्त भाग मिलना चाहिए। राज्यीय प्रश्नो के निर्णयो मे सबकी बातो पर ध्यान दिया जाना चाहिए। विशेषाधिकारो का अन्त समानता की महत्त्वपूर्ण माँग है। जन्म और सम्पत्ति के कारण विशेषाधिकारो के अस्तित्व के लिए कोई नैतिक औचित्य नहीं हो सकता। उन्नति और विकास के लिए

सबको समान अवसर प्राप्त होने चाहिएँ । लॉस्की का आशय यह नहीं है कि सर्वथा एकरूपता विद्यमान हो । वह सबके लिए पर्याप्त अवसरों की माँग करता है अर्थात् व्यक्तियों को वे सब अवसर बिना भेदभाव के प्रदान किए जाने चाहिए जो उनके विकास के लिए अनिवार्य हो ।" पूर्ण समानता तो अव्यावहारिक है क्योंकि जब तक मानवीय आवश्यकताओं, इच्छाओं और क्षमताओं में भिन्नता रहेगी तब तक व्यवहार और पुरस्कार में एकदम एकरूपता नहीं आ सकती । समानता का अर्थ तो समानता लाने वाली प्रक्रिया से है । यह आवश्यक है कि न्यूनतम स्तर पर समानता हो । समानता अधिकांश में अनुपातों की समस्या है । हर व्यक्ति को वे सभी वस्तुएँ मिलनी चाहिए जिनके अभाव में जीवन सारहीन है ।

लॉस्की का व्यक्ति की गरिमा और सामाजिक उपयोगिता में पूर्ण विश्वास था । सामाजिक और आर्थिक स्थिति में भेदभाव तभी स्वीकार किए जा सकते हैं जब सम्पूर्ण समाज के लिए समानता का न्यूनतम स्तर प्राप्त हो जाए । पहले हर व्यक्ति को एक कमरा मिल जाए तभी कुछ व्यक्तियों का वैभवशाली भवनों में निवास स्वीकार किया जा सकता है । पहले सबको साधारण भोजन उपलब्ध हो जाए तभी कुछ व्यक्तियों के लिए बढ़िया दावतों का आयोजन उचित माना जा सकता है । सबको आत्म-विकास के लिए समुचित अवसर प्राप्त हो, इसके लिए कुछ लोगों की स्वतन्त्रता को सीमित करना आवश्यक है । धन के अधिक न्यायपूर्ण और समान वितरण के लिए ही राज्य को नियोजन और आर्थिक व्यवस्था पर नियन्त्रण करना पड़ता है ।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि जब लॉस्की यह मान लेता है कि अधिकाधिक समानता लाने के लिए कुछ व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को नियन्त्रित करना आवश्यक है तो उसका यह कथन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है कि स्वतन्त्रता और समानता एक ही आदर्श के दो पहलू हैं । इसके विपरीत ये दोनों एक-दूसरे के विरुद्ध सिद्ध होते हैं । जब किसी ऐसे समाज में जिसमें सम्पूर्ण आर्थिक नियोजन द्वारा समानता लाने का प्रयास किया जाता है, तो अनेक व्यक्तियों की पहल करने की शक्ति और उनकी स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ता है, अर्थात् उनकी स्वतन्त्रता का क्षेत्र बहुत सकुचित हो जाता है । अर्थव्यवस्था पर कठोर नियन्त्रण व्यक्ति की प्रेरणा एवं स्वतन्त्र निर्णय-शक्ति को समाप्त कर देता है । अत लॉस्की के इस विचार से सहमत नहीं हुआ जा सकता कि "समानता की ओर बढ़ना स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए ही प्रयास है ।" अन्ततोगत्वा स्वतन्त्रता और समानता परस्पर विरोधी सिद्ध होती है । एक को खोकर ही दूसरी को अधिक मात्रा में प्राप्त किया जा सकता है । सम्भवत इस बात को ध्यान में रखने के कारण ही लॉस्की ने यह आग्रह किया कि स्वतन्त्रता और समानता दोनों का व्यावहारिक प्रयोग होना चाहिए और इनका व्यावहारिक प्रयोग होने पर ही विश्व-सहयोग सम्भव है ।

सम्पत्ति के विषय में लॉस्की के विचार (Laski's Views on Property) - सम्पत्ति के विषय में लॉस्की के विचार प्राय निश्चित हैं । सर्वप्रथम वह वर्तमान युग की सम्पत्ति-प्रथा का विश्लेषण करता है । उसका विचार है कि प्रत्येक समाज में

अधिक सम्पत्तिशाली व्यक्तियों की संख्या कम होती है। यह आवश्यक नहीं कि ऐसे स्वामित्व का कर्त्तव्यों के सम्पादन या गुणों के अर्जन से सम्बन्ध हो। सम्पत्ति का स्वामित्व किसी धनी व्यक्ति की सन्तान मात्र होने या उसका उत्तराधिकारी होने से प्राप्त हो जाता है। सम्पत्ति के स्वामित्व का अर्थ है पूँजी पर नियन्त्रण और इसका आशय है कि श्रमिकों के जीवन को निर्धारित करने का अधिकार, क्योंकि श्रमिक अपनी आजीविका के लिए अधिकांशत उत्पादन की पूँजीवादी व्यवस्था पर निर्भर होते हैं। आधुनिक युग में उद्योग-धन्धों का अत्यधिक विकास हुआ है और इसलिए पहले की अपेक्षा पूँजी की शक्ति में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई है। लॉस्की का विचार है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रसार राज्य को बहुत कुछ ऐसी संस्था' में परिणत कर देता है जिस पर व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्वामियों का नियन्त्रण हो जाता है और सम्पत्तिहीन लोगों के कोई अधिकार नहीं होते। किन्तु आधुनिक युग में श्रमिकों की 'सहयोग और एकता' की शक्ति ने पूँजीपतियों को अवश्य ही इस बात के लिए बाध्य कर दिया है कि वे श्रमिकों को कुछ सुविधाएँ प्रदान करें। मानवीय भावनाओं ने भी इस कार्य में अपना योगदान किया है।

उपर्युक्त स्थिति का ही यह परिणाम है कि वर्तमान सम्पत्ति प्रथा में उत्पादन किसी निश्चित योजना के अनुसार नहीं होता और उसमें विनाश के लक्षण विद्यमान रहते हैं। सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं का इस तरह वितरण नहीं हो पाता जिससे लोगों की आवश्यकताओं से सम्बन्ध स्थापित हो सके। जब आवश्यकता आवासी मकानों की होती है तो सिनेमा स्थापित किए जाते हैं। धन का व्यय मकानों के लिए करना आवश्यक है, लेकिन व्यय किया जाता है युद्ध-पोत बनाने पर। वस्तुएँ आवश्यकता के लिए तैयार न की जाकर केवल लाभ के लिए तैयार की जाती हैं। अनेक गलत वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है। जो वस्तुएँ उत्पादित की जाती हैं उनका गलत ढंग से वितरण कर दिया जाता है। प्राकृतिक साधनों को भी मिलावट द्वारा इसलिए दूषित कर दिया जाता है कि उनसे व्यक्तिगत लाभ प्राप्त हो सकें। व्यक्तिगत लाभ के उद्देश्य से ही व्यवस्थापकों (Legislators) और ज्ञान-स्रोतों को भी भ्रष्ट एवं विकृत कर दिया जाता है।

वर्तमान सम्पत्ति प्रथा कितनी अपर्याप्त है, इसे लॉस्की ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"यह मनोवैज्ञानिक रूप से अपर्याप्त है क्योंकि यह मुख्यत भय उत्पन्न कर ऐसे गुणों के संचार को अवरुद्ध करती है जो उन्हें पूर्ण जीवन-निर्वाह के योग्य बनाते हैं। यह नैतिक दृष्टि से इसलिए अपर्याप्त है क्योंकि यह उन व्यक्तियों को अधिकार देती है जिन्होंने उसके उपार्जन हेतु कुछ भी नहीं किया है, जब इसका उपार्जन किया गया तो सामाजिक हित को ध्यान में नहीं रखा गया। वर्तमान सम्पत्ति-प्रथा समाज के एक भाग को दूसरों का रक्तपिपासु बनाती है तथा दूसरों को साधारण जीवन-यापन करने के अवसर तक से वंचित कर देती है। यह प्रथा आर्थिक दृष्टि से भी अपर्याप्त है क्योंकि यह अर्जित धन को इस तरह वितरित नहीं कर पाती जिससे वे लोग स्वस्थ और सुरक्षित हो सकें जो इसकी प्रक्रियाओं पर जीवित रहते हैं। इन

सब बातो के परिणामस्वरूप ही इस प्रथा ने जनता के विशाल भाग की आस्था खो दी है। कुछ लोग घृणा करते हैं, बहुमत इसके प्रति उदासीन है। यह राज्य मे उद्देश्य के उस विचार का सचार नहीं करती जिसके द्वारा राज्य समृद्धिशाली होता है।"

वर्तमान सम्पत्ति प्रथा पर लॉस्की की आलोचना का जवाब देते हुए अनेक लोगों द्वारा इस प्रथा का समर्थन किया गया है। उनके तर्क सक्षेप मे इस प्रकार हैं—

1 यह आवश्यक है कि मनुष्य को सामान्यत कार्य करने के लिए प्रेरणा प्राप्त होती रहे। व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार इस प्रेरणा की पूर्ति करता है, लोगो मे कार्य करने का उत्साह उत्पन्न करता है और इस तरह अन्त मे समाज को लाभान्वित करता है। इस तर्क मे बल है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता तथापि इसके समर्थक यह भूल जाते हैं कि समाज का लाभ तभी सम्भव है जब समाज के लिए आवश्यक वस्तुओ का उत्पादन किया जाए और साथ ही जनता मे उनका ठीक प्रकार से वितरण हो। केवल व्यक्तिगत लाभ के उद्देश्य से हानिकारक वस्तुओ का उत्पादन समाज को वांछित लाभ नही पहुँचा सकता।

2 नैतिक दृष्टि से सम्पत्ति न्यायप्रद है। सम्पत्ति की प्राप्ति व्यक्ति के प्रयत्नो का परिणाम है। अपने श्रम का प्रतिफल प्राप्त करने के लिए ही मनुष्य श्रम करता है और इसमे कोई अनुचित या अन्यायपूर्ण बात नहीं है। यह उचित है कि एक व्यक्ति अपनी आविष्कृत वस्तु से लाभान्वित हो, लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि वह वस्तु समाज के लिए लाभकारी हो।

3 सम्पत्ति उन गुणो की जन्मदाता है जो समाज के लिए आवश्यक हैं। सम्पत्ति पारिवारिक प्रेम, दया, उदारता, आविष्कार, वृत्ति, शक्ति आदि गुणो को बढ़ावा देती है। समर्थको का यह तर्क इस दृष्टि से विशेष ठोस नहीं है कि सम्पत्ति-विहीन व्यक्ति भी इन गुणो को प्राप्त कर सकते हैं और इस तरह सम्पत्ति और गुणो मे आवश्यक सम्बन्ध नही होता।

4 सम्पत्ति के समर्थको का विचार है कि सम्पत्ति केवल प्रभावशाली मांगो की पूर्ति का फल है किन्तु ये समर्थक भूल जाते हैं कि यह भी सर्वथा सम्भव है कि जिस प्रभावशाली मांग के लिए उपभोक्ता मूल्य चुका सकता है, वह समाज के लिए हानिकारक भी हो सकती है। उदाहरणार्थ, अश्लील साहित्य के लिए अथवा बाजारू स्त्रियो के लिए प्रभावशाली मांग हो सकती है, इनका उपभोक्ता अधिक भुगतान कर सकता है, परन्तु क्या कोई बुद्धिमान व्यक्ति इन वस्तुओ को समाज के लिए उपयोगी मान सकता है।

5 अन्त मे, ऐतिहासिक आधार पर सम्पत्ति-प्रथा का औचित्य सिद्ध किया जाता है। यह कहा जाता है कि प्रगतिशील समाज वही है जो व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार पर निर्मित है। पिछड़े हुए समाज समष्टिवादी आधार पर स्थित हैं। यह ठीक है कि इस विचार मे सत्य का पर्याप्त अंश है, किन्तु गुणात्मक दृष्टि से यह खोखला है। ऐतिहासिक दलील एक भ्रान्ति है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का इतिहास उन विभिन्न सीमाओ से परिपूर्ण है जो इसमे निहित शक्तियों के प्रयोग पर लगी है।

लॉस्की मार्क्सवादी के रूप में (Laski as a Marxist)

मार्क्स के सिद्धान्तों को वैज्ञानिक दृष्टि से ग्रहण करने वालों में लॉस्की का नाम प्रमुख है। मार्क्स के हृदय में सामाजिक न्याय के लिए एक तड़प और दलित वर्ग के लिए गहरी सहानुभूति थी। इसलिए यदि वह मार्क्सवाद की ओर आकृष्ट हुआ तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। मार्क्स की ओर उसका आकर्षण विशेष महत्त्वपूर्ण इसलिए प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में वह मार्क्स के मूलभूत सिद्धान्तों को ठुकराता रहा था। उसने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या और मूल्य के श्रम-सिद्धान्त से असहमति प्रकट की थी। 'Karl Marx' नामक अपने निबन्ध में लॉस्की ने मार्क्स की इस धारणा को कि समस्त राजनीतिक घटनाचक्र आर्थिक स्थितियों में निर्धारित होता है, गलत समझकर ठुकरा दिया था। उसने मार्क्स के इस विश्वास में भी अनास्था प्रकट की कि पूँजीवाद से समाजवाद पर आवर्तन हिंसा द्वारा ही हो सकता है। लॉस्की का विचार था कि हिंसा का समाजवादी लक्ष्य से मेल नहीं बैठता, क्योंकि समाजवादी लक्ष्य तो एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना करना है जिसमें मानवीय सहयोग एवं सामञ्जस्य की प्रवृत्तियाँ पूर्णतः मुखरित हो सकें। साथ ही लॉस्की की यह मान्यता भी थी कि आधुनिक सरकारें सैनिक दृष्टि से इतनी सबल हैं कि उनके विरुद्ध हिंसात्मक क्रान्ति की सफलता की आशा करना व्यर्थ है।

लेकिन ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, लॉस्की के विचारों में परिवर्तन आता गया। लॉस्की का दृष्टिकोण अधिक सन्तुलित और समीक्षात्मक होता गया। लॉस्की इस व्यावहारिक परिणाम पर पहुँचा कि किसी भी वर्ग द्वारा स्वेच्छा से शक्ति के परित्याग की आशा नहीं की जा सकती। सम्पत्तिशाली लोग केवल इन तर्कसंगत युक्तियों से आश्वस्त नहीं किए जा सकते कि समानता और न्याय के लिए उत्पादन के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का स्वामित्व वांछनीय है। इस धारणा पर पहुँचने पर लॉस्की मार्क्सवादी बन गया। सन् 1931 में उसने यह स्वीकार किया कि मार्क्स के इतिहास की भौतिक व्याख्या मोटे रूप में सही है, हालांकि उसका प्रत्येक विवरण सही नहीं कहा जा सकता।

लॉस्की के हिंसा-विरोधी विचारों में भी बहुत परिवर्तन हुआ। सन् 1931 से पूर्व तक वह विकासवादी और लोकतन्त्रीय समाजवाद में पूर्ण विश्वास करता था, किन्तु तत्पश्चात् उसकी प्रवृत्ति क्रान्तिकारी समाजवाद की ओर बढ़ने लगी। सन् 1933 में प्रकाशित अपने ग्रन्थ 'Democracy in Crisis' में लॉस्की ने शान्तिपूर्ण उपायों से समाजवाद की स्थापना के बारे में गम्भीर सन्देह प्रकट किया। उसने बताया कि इतिहास ऐसा कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता कि शासक-वर्ग ने कभी उदारतापूर्वक शक्ति का परित्याग किया हो। यह विश्वास करना मानव स्वभाव के प्रतिकूल होगा कि पूँजीपति-वर्ग स्वयं अपने विशेषाधिकार का परित्याग कर अपनी शक्ति के विनाश को निमन्त्रित करेगा। अतीतकाल में क्रान्ति द्वारा ही वर्ग-व्यवस्था में परिवर्तन हुए हैं। अतः भविष्य में इससे भिन्न अनुभव किए जाने का कोई कारण दिखाई नहीं देता। दूसरे शब्दों में, लॉस्की की यह मान्यता बन गई कि

वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त एक सजीव सिद्धान्त है और क्रान्ति ही सामाजिक परिवर्तन की जननी है।

यह स्मरणीय है कि क्रान्ति का समर्थक होते हुए भी लॉस्की क्रान्तिकारी नहीं था। उसने रूस की साम्यवादी क्रान्ति और समाजवादी व्यवस्था को मान्यता अवश्य दी और उसे उपयोगी भी समझा, तथापि साम्यवाद के अन्तर्राष्ट्रीय रूप अथवा आक्रामक-विस्तारवादी (Expansionist) स्वरूप की घोर निन्दा की। वह वहीं तक मार्क्सवादी था जहाँ तक समाज की अर्थ-व्यवस्था बदल कर जनतन्त्र लाने का प्रश्न था। दूसरे शब्दों मे, उसने मार्क्सवादी पद्धति (Methodology) को बौद्धिक रूप में ग्रहण किया था। उसकी मानसिक रुचि तो ऐतिहासिक व्याख्या, आर्थिक-विश्लेषण, अतिरिक्त मूल्य, वर्ग-संघर्ष आदि सिद्धान्तों के प्रति अधिक थी। लॉस्की मार्क्सवाद को रूढ़ (Orthodox) अर्थ मे ग्रहण नही करना चाहता था। देशकाल की उपेक्षा तथा साध्य-साधन का विभ्रम पैदा करके मार्क्सवाद असफल ही होता है। इसलिए लॉस्की के अनुसार सच्चा मार्क्सवादी जनतन्त्रात्मक समाजवाद का सुस्थिर रूप ही ग्रहण करेगा। इसका मुख्य कारण यह है कि लॉस्की प्रथम तो किसी दल विशेष की तानाशाही का घोर विरोधी था क्योंकि तानाशाही मानव-सभ्यता और संस्कृति के लिए अभिशाप होती है, चाहे उसका स्वरूप कुछ भी क्यो न हो। दूसरे, लॉस्की नौकरशाही का कटु आलोचक था। उसका विश्वास था कि नौकरशाही अपनी शक्ति कायम रखने के लिए सरकार को पंगु, जनता को असहाय और परिवर्तन को अवरुद्ध बनाए रखती है। सारांश मे, मार्क्सवाद के हिंसा-प्रयोग को स्वीकार करते हुए भी लॉस्की का आग्रह इस बात पर था कि समाजवादी क्रान्ति लाने के लिए लोकतन्त्रीय समाजवादियों को सांविधानिक साधनो का प्रयोग करते रहना चाहिए। वर्ग-संघर्ष मे विश्वास करते हुए भी लॉस्की ने साम्यवादियो के इस सिद्धान्त मे विश्वास नही किया कि समाजवादियो को हिंसात्मक क्रान्ति की तैयारी करनी चाहिए और क्रान्ति-विरोधी शक्तियो के विरुद्ध क्रान्ति की रक्षा करने के लिए श्रमजीवी वर्ग की तानाशाही स्थापित करनी चाहिए। सम्भवत लेबर पार्टी का सदस्य होने के कारण लॉस्की का सांविधानिक साधनो की उपयोगिता मे विश्वास हो गया था, इसीलिए उसने यह प्रतिपादित किया कि साम्यवादी आतंक का निराकरण प्रजातान्त्रिक विकास से ही सम्भव है।

लॉस्की ने आत्मरक्षा के लिए ही हिंसा का समर्थन किया और कहा कि हिंसा का प्रयोग केवल तभी अनिवार्य होगा जब पूँजीपति सांविधानिक साधनो द्वारा समाजवादी कार्यक्रम को पूरा करने के मार्ग मे बाधाएँ प्रस्तुत करें।

उल्लेखनीय है कि प्रजातान्त्रिक विकास मे अपनी आस्था के बावजूद लॉस्की के मन मे रूसी प्रयोगो के प्रति हमेशा सद्भावना रही। रूसी क्रान्ति के पक्ष मे लॉस्की ने मौलिक तर्क प्रस्तुत किए और कहा कि इस क्रान्ति ने जनता और नेतृत्व के मध्य नवीन प्रतिभा का स्रोत प्रवाहित किया। इसने जनवादी शिक्षा का व्यापक प्रचार किया, महिलाओं का उद्धार किया तथा जातियो और वर्गों की मूलभूत समस्याओं का स्थायी निराकरण प्रस्तुत किया।' योजनाबद्ध उत्पादन के लिए इस

क्रान्ति ने समाज के आर्थिक व राजनीतिक ढांचे मे प्रत्याशित परिवर्तन किए। विज्ञान की नई खोजो और अध्ययन की नई दिशाओ को प्रकाश मे लाने के लिए इसका अनुदान अद्वितीय था। औद्योगिक प्रगति मे इसने आशातीत सफलता प्राप्त की तथा न्याय और सुधार के लिए नवीन व्यवस्था का सूत्रपात किया। एक वाक्य मे यह कहा जा सकता है कि इस जनप्रिय प्रयोग ने सदियो से पिछड़ी हुई जनता को प्रेरणा, नवीन सूझ और शक्ति प्रदान की। लॉस्की के इस प्रतिपादन से यह अनुमान नहीं लगाना चाहिए कि उसने रूसी व्यवस्था के केवल प्रशसात्मक गीत ही गाए। वास्तविकता यह है कि उसने इस बारे मे एक सन्तुलित और समीक्षात्मक दृष्टिकोण अपनाया। उसने रूसी क्रान्ति और व्यवस्था के उन तथ्यों की आलोचना की जिनसे प्रतिक्रियावाद को समर्थन मिलता है और अशान्ति का वातावरण तैयार होता है।

अन्त मे, लॉस्की के मार्क्सवादी विचारो पर प्रकाश डालते हुए किंग्सले मार्टिन के शब्दो मे कहा जा सकता है कि—"उसकी युक्तियाँ मार्क्स से भले ही ली गई हो, किन्तु अन्तिम परीक्षण तक वह लेनिन की अपेक्षा विलियम मौरिस (William Morris) का समर्थक प्रतीत होता है। यदि वह मार्क्सवादी था तो उसका कारण यह था, जैसा कि उसके मित्र लुईस लेवी (Louis Levy) ने बताया, कि 'कार्ल मार्क्स का समाजवाद अनिवार्य रूप से मानवतावादी था', तथा जोरेस ब्लूम और हैरॉल्ड लॉस्की सभी समाजवादी थे जिन्होने 'मार्क्सवाद के उस मानवीय पक्ष' पर बल दिया और 'वैज्ञानिक समाजवाद के आविष्कारक को फ्रांस के क्रान्तिकारी चिन्तन की मुख्य धाराओ से सयुक्त किया।' इसी बात को दूसरे शब्दो मे इस प्रकार कहा जा सकता है कि उसने विलियम मौरिस की भाँति यह स्वीकार किया कि समाजवाद और भ्रातृत्व एक ही बात है और जो मध्यमवर्गीय समाजवादियो मे बहुत कम सामान्य है। वास्तव मे उसका व्यवहार ऐसा था कि वह एक समानतापूर्ण समाजवादी समाज मे सदैव प्रसन्न रहता यदि उसे लगातार बोलते रहने और अध्ययन करने की स्वतन्त्रता प्राप्त होती।"

प्रजातन्त्र और अन्तर्राष्ट्रीयता

लॉस्की ने प्रजातन्त्र को मानवता के लिए आदर्शतन्त्र स्वीकार किया। उसका विश्वास था कि व्यक्तित्व का समग्र विकास एक यथार्थ प्रजातन्त्र मे ही सम्भव है। ससदात्मक प्रजातन्त्र समाज की सामूहिक बुद्धि का व्यवस्थित विकास है जिसमे जनता की जागृति और शासन के परिवर्तन-विकल्प एक-दूसरे के पूरक हैं। किन्तु प्रजातन्त्र का सबसे बड़ा शत्रु पूँजीवाद है। प्रजातन्त्र और पूँजीवाद कभी एक साथ नहीं चल सकते। पूँजीवाद स्वरूप प्रजातन्त्र को धारण करता है, लेकिन उसकी आत्मा निकृष्टतम अधिनायकत्व की सूचक होती है। पूँजीवाद से प्रजातन्त्र पर भीषण सकट तब आता है जब सम्पत्तिशाली वर्ग अपने स्वार्थों और अधिकारो के लिए लड़ने पर कटिबद्ध हो जाता है। प्रजातन्त्र से लॉस्की का आशय है कि समाज के सभी सदस्य सुख की प्राप्ति मे समान रूप से अधिकारी हैं। समाज मे विषमता की मात्रा न्यूनतम होनी चाहिए।

लॉस्की ने वर्तमान निर्वाचन-प्रथा को भी अपनी आलोचना का शिकार बनाया। उसने कहा कि "यह बात प्रजातन्त्र के विरुद्ध है कि प्रति पाँच वर्ष मे एक बार मतपेटियो के पास जाकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली जाए। इसका अर्थ तो यह हुआ कि सरकार, पाँच साल मे केवल एक दिन अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करती है और शेष दिनो स्वेच्छाचारी रहती है।" लॉस्की के अनुसार, "घोषणा-पत्र, कार्यक्रम, निर्वाचन-मच (Platform), चुनावो के समय के वायदे, ये सब व्यावहारिक दृष्टि से निरर्थक सिद्ध होते हैं क्योंकि शासक-दल इनका उपयोग अपने क्षणिक लाभ के लिए करते हैं। आदर्श प्रजातन्त्र वह है जिसमे समाज द्वारा निश्चित मतो को कार्यरूप मे परिणत किया जाए और महत्त्वपूर्ण प्रश्नो के निर्णय मे जनता की राय अनिवार्य रूप से ली जाए। ऐसा प्रजातन्त्र पूँजीवाद पर स्थित न होकर समाज की आधारशिला पर निर्मित होगा। प्रतिक्रियावादी पूँजीवाद की जगह पुरोगामी प्रजातन्त्र मानवता के लिए वरदान सिद्ध होगा।"

विश्व-एकता एव अन्तर्राष्ट्रीयता के सम्बन्ध मे लॉस्की के विचार स्पष्ट एव आत्मविश्वासपूर्ण हैं। वह समस्त विश्व का एक ही धर्म स्वीकार करता है जो मानवता है। इस मानवता की रक्षा करना प्रत्येक राज्य का कर्त्तव्य है। 'एक विश्व' (One World) का स्वप्न जिस दिन साकार होगा उस दिन मानवता के नए मूल्यो की प्राण-प्रतिष्ठा होगी। लॉस्की का विश्वास था कि राज्य की सम्प्रभुता अन्तर्राष्ट्रीयता विरोधी है और राज्यो में जो क्षेत्रीय तथा आर्थिक विषमता विद्यमान है उसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय एकता के मार्ग मे बाधा उपस्थित होती है। विश्व-सगठन तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव की वृद्धि के लिए वह सघवाद की धारणा को सुदृढ बनाने का समर्थक था। उसका मत था कि सयुक्त राष्ट्रसघ विश्व के लिए नवीन आशा है, लेकिन उसे रचनात्मक कार्यों द्वारा ससार के पिछड़े हुए देशो की समृद्धि मे वृद्धि करनी चाहिए। वस्तुतः एक शान्ति-प्रचारक एव युद्ध-विरोधी विचारक के रूप मे लॉस्की का सर्वत्र उल्लेख किया जाता है। वह कहा करता था कि अपना शासन करते समय लोगों को भ्रातृत्व के नियमो का पालन करना चाहिए क्योंकि बिना भ्रातृत्व के स्वतन्त्रता सम्भव नहीं। मानवता की मुक्ति के लिए उसने विश्व-शान्ति की समस्या को स्थायी रूप से सुलझाने का समर्थन किया।

लॉस्की के दर्शन का मूल्यांकन
(An Estimate of Laski's Philosophy)

लॉस्की ने राजनीति पर इतना लिखा है कि इस युग मे उसकी टक्कर के लेखक बहुत कम हुए हैं। उसके गम्भीर विचारो की छाप सन् 1930 के बाद के इगलैण्ड पर स्पष्ट है। सन् 1930–40 के बीच के समय को 'लॉस्की युग' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। ससार के विभिन्न देशो मे लॉस्की के ग्रन्थो और लेखो को विशेष रुचि और सम्मान से पढा जाता है और उनके महत्त्व को अनुभव किया जाता है। लॉस्की के अनेक सुयोग्य शिष्यो ने उच्च राजनीतिक पदों को सुशोभित किया है। किंग्सले मार्टिन लॉस्की की तुलना मॉण्टेस्क्यू और टॉकविल से करते हुए

कहता है कि 12वीं शताब्दी के बाद के लोकतन्त्रीय विचार और संस्थाओ का जितना गहन तथा मौलिक ज्ञान लॉस्की को था उतना यूरोप और अमेरिका मे सम्भवतः अन्य किसी को नही था। इसके विपरीत हर्बर्ट डीन जैसे आलोचको का विचार है कि एक राजनीतिवेत्ता और सैद्धान्तिक विचारक के रूप मे लॉस्की उस उत्कृष्टता और विशिष्टता का भी प्रदर्शन नहीं कर सका जिसकी उसके प्रारम्भिक लेखो को देखते हुए आशा थी। लॉस्की के मूल्य और महत्त्व के विषय मे आलोचको मे वस्तुत बडा मतभेद है। डीन सरीखे आलोचको ने तो लॉस्की मे सन् 1930 के उपरान्त बौद्धिक ह्रास के दर्शन किए हैं। मिशिगन स्टेट कॉलेज के प्रो कैरोल हॉकिंस के अनुसार सन् 1931 के बाद लॉस्की एक विद्वान् की अपेक्षा प्रचारक अधिक बन गया।

इसमे कोई सशय नहीं कि महान् शिक्षाशास्त्री लॉस्की ने अपनी अद्भुत प्रतिभा द्वारा विद्यार्थियो की विचार-शक्ति को प्रस्फुटित किया और उनकी कल्पना को सजीव व जाग्रत बनाया, कलम के धनी के रूप मे उसने ब्रिटिश जनमत को युद्ध के क्रान्तिकारी परिणामो से परिचित कराया; एक बहुमुखी विचारक के रूप मे उसने स्वतन्त्रता और सत्ता के पारस्परिक सम्बन्ध की चिरकालीन समस्या को बीसवी शताब्दी के विशेष प्रसग मे प्रस्तुत किया; तथापि इससे भी इन्कार नही किया जा सकता कि डॉ हर्बर्ट डीन जैसे आलोचको के निष्कर्ष मे काफी सत्यता है। लॉस्की के प्रारम्भिक लेख जितने गहन थे, उनके अनुरूप वह अपनी प्रतिभा का प्रस्फुटन नही कर पाया और प्रथम श्रेणी का विचारक नहीं बन सका। स्वय डीन के शब्दो मे—"लॉस्की की रचनाओ से पाठकों को प्राय ऐसा आभास नही मिलता कि लेखक किसी विचार से जूझ रहा है। उसमे कोई सघर्ष की भावना नहीं है। ऐसी किसी भावना की अनुभूति नहीं होती कि हम एक जटिल विषय और एक ऐसे शक्तिशाली मस्तिष्क मे कोई ऐसा सघर्ष देख पाते हो जो उसके विश्लेषण की शक्ति को अपनी सीमाओ तक और सम्भवत. उससे भी एक कदम आगे ले जाने के लिए सकल्पबद्ध हो।"

लॉस्की की अन्य दृष्टि से भी आलोचना की गई है। उसके चिन्तन मे दो परस्पर विरोधी तत्त्व मिलते हैं। एक तरफ तो वह वैयक्तिक स्वतन्त्रता का पोषक है और दूसरी तरफ वह समानता के सिद्धान्त का उपासक है। राज्य-सत्ता से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए उसने सम्प्रभुता-सिद्धान्त पर प्रहार किया है। लॉस्की के प्रारम्भिक विचार बहुलवादी थे, लेकिन जब उसने देखा कि एक विषमतापूर्ण समाज मे स्वतन्त्रता सच्चे अर्थों मे कायम नही रह सकती, तो वह मार्क्सवादी बन गया और उसने समाज की आर्थिक व्यवस्था पर राजकीय नियन्त्रण की माँग प्रस्तुत की। लॉस्की के इन्ही विचारो के कारण आलोचको ने उसे रूसी प्रचारक तक कह डाला है और अमेरिका तथा यूरोप के प्रतिक्रियावादी खेमो मे उसके विचारो को भयानक माना गया है। दूसरी और साम्यवादियो ने उसे पथभ्रष्ट विभेदक तक की सज्ञा दी। किन्तु सच्चाई यह है कि उसने पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच जनतन्त्रीय समाजवाद की प्रबल विचारधारा का प्रतिपादन कर एक नया मार्गदर्शन किया है। मैक्स-लर्नर एव एबस्टीन जैसे समीक्षको की धारणा है कि

लॉस्की अपने प्रारम्भिक उदारवाद से कभी मुक्त नहीं हो सका और उसने उदारवाद तथा मार्क्सवाद को मिश्रित करने का कठिन कार्य पूर्ण करने का प्रयत्न किया। हम इसको लॉस्की के चिन्तन का गुण भी मान सकते हैं और दोष भी। लॉस्की विश्व को एक सुनिबद्ध और गहन राजनीतिक दर्शन क्यों नहीं दे सका, इसका एक कारण डॉ डीन के अनुसार यह है कि वह प्रायः एक ऐसा सरल सूत्र खोजने को सचेष्ट रहता था जिससे विभिन्न सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं का समाधान किया जा सके। पहले लॉस्की बहुलवादी सिद्धान्त में आस्था रखते हुए यह कहता था कि राज्य के अनेक कार्यों को स्थानीय समूह तथा औद्योगिक प्रबन्ध की विशिष्ट एवं विकेन्द्रित संस्थाओं को हस्तान्तरित कर देना चाहिए। लेकिन बाद में वह समाज की आर्थिक व्यवस्था पर सरकार के नियन्त्रण को उचित ठहराने लगा और अन्त में समाज की सभी समस्याओं का समाधान उसे मार्क्सवाद में दिखाई दिया। पर यह स्मरणीय है कि समय-समय पर लॉस्की के साधनों में चाहे कितने ही परिवर्तन क्यों न आए हों, उसका साध्य सदैव अपरिवर्तित ही रहा। वह साध्य था—स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व की प्राप्ति।

लॉस्की ने आज्ञापालन के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया वह भी दोषपूर्ण है। उसकी यह मान्यता कि प्रत्येक व्यक्ति को उसी कानून का पालन करना चाहिए जो उसके अन्तःकरण के अनुसार हो, अराजकता का कारण बन सकती है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्तःकरण के विरुद्ध होने के कारण कानूनों की अवहेलना करने लगे तो लोगों में आज्ञापालन का भाव ही लुप्त हो जाएगा। साथ ही यह भी सत्य है कि हर व्यक्ति में राज्य के कानूनों का औचित्य परखने की क्षमता भी नहीं होती। राजाज्ञापालन के विषय में लॉस्की के विचारों की तुलना में ग्रीन के विचार अधिक उचित तथा मान्य हैं। ग्रीन का विचार है कि व्यक्ति राजाज्ञा का पालन इसलिए करते हैं क्योंकि राजाज्ञा सामान्य हित को अभिव्यञ्जक होती है।

लॉस्की के विचार में हम जो असंगतियाँ देखते हैं वास्तव में वे समय-समय पर उसके बदलते हुए दृष्टिकोण का परिणाम है। किन्तु इन असंगतियों के आधार पर ही यह बात असत्य नहीं हो जाती कि वह 20वीं शताब्दी का एक महान् विचारक था। उसने अपना जीवन समाज की सेवा के लिए अर्पित किया और आधुनिक समस्याओं को सुलझाने का प्रशंसनीय प्रयास किया। वह अत्यधिक मानवतावादी था और वर्ग हित के लिए ही नहीं प्रत्युत् सम्पूर्ण समाज के हित के लिए चिन्तित था। अध्यापक होकर सक्रिय राजनीति में अभिरुचि ही नहीं बल्कि प्रत्यक्ष योगदान करना, लॉस्की की मौलिकता और विशेषता थी। उसने बहुलवाद, प्रजातन्त्र, अन्तर्राष्ट्रीयता आदि को व्याख्या तर्कसम्मत और बौद्धिक दृष्टिकोण से की। इन विषयों पर उसके विचार लगभग सर्वमान्य हैं। लॉस्की का व्यक्तित्व विविधता से पूर्ण था। एक विद्वान्, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, लेखक, पत्रकार, समाजसेवी, शिक्षक और मित्र के रूप में उसने पर्याप्त ख्याति अर्जित की। उसके व्यक्तित्व में वे सभी पक्ष पुनः मिलकर उसकी मौलिकता की पुष्टि करते हैं।

---

10 गाँधीवादी राजनीतिक विचार

(Gandhian Political Ideas)

गाँधीवादी राजनीतिक दर्शन को किसी निश्चित सिद्धान्त अथवा सूत्र की परिधि में बाँधने का प्रयास नहीं करना चाहिए क्योंकि इसके प्रणेता गाँधीजी स्वयं किसी एक विचार अथवा मत के पोषक नहीं थे। प्रत्येक बात को उसके गुणों की श्रेष्ठता के आधार पर स्वीकार करने के कारण गाँधीवादी दर्शन में अनुदारवाद, उदारवाद, समाजवाद, साम्यवाद, अराजकतावाद, राष्ट्रवाद आदि विभिन्न विचार-धाराएँ सम्मिलित दिखाई देती हैं। गाँधीवादी दर्शन सरल होते हुए भी व्यापक है, स्पष्ट होते हुए भी बहुमुखी और विभिन्नतापूर्ण है। इसे किसी भी राजनीतिक दर्शन के रूप में प्रस्तुत करना कठिन है। फिर भी महात्मा गाँधी के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और नैतिक आदर्शों को सामूहिक रूप से हम गाँधीवाद अथवा गाँधीवादी दर्शन की संज्ञा दे सकते हैं। डॉ पट्टाभि सीतारमैय्या के शब्दों में, "वस्तुत: गाँधी-दर्शन उन सिद्धान्तों और नीतियों से मिलकर ही बना है जिनका वे पक्ष पोषण करते हैं और गाँधीवाद से अभिप्राय उस दर्शन से है जिसने उनके जीवन और चरित्र, उनके कार्य और सिद्धियों, उनके उपदेशों और शिक्षाओं को नया रूप प्रदान किया।" गाँधीवादी दर्शन इतना विशाल और महान् है कि इसमें विश्व के सभी कोने के सन्तों की शिक्षाएँ आकर सम्मिलित हैं। गाँधीवादी राजनीतिक दर्शन को भली-भाँति समझने के लिए उचित यही है कि हम महात्मा गाँधी के प्रमुख राजनीतिक विचारों की संक्षेप में एक-एक करके विवेचना करें।

महात्मा गाँधी
(Mahatma Gandhi, 1869-1948)

जीवन-परिचय

महात्मा गाँधी, जिनका वास्तविक नाम मोहनदास करमचन्द गाँधी था, आधुनिक युग के भारतीय राजनीति के ऐसे सन्त विचारक थे जिन्होंने राजनीति का आध्यात्मीकरण किया और भारतीय स्वाधीनता-संघर्ष को सत्य तथा अहिंसा के बल पर संचालित कर न केवल देश के राजनीतिक जीवन को नई गति और नूतन दिशा प्रदान की बल्कि सम्पूर्ण मानवता के लिए अमूल्य धरोहर छोड़ी।

महात्मा गाँधी का जन्म 2 अक्तूबर, 1869 को काठियावाड़ में पोरबन्दर नामक स्थान पर एक धार्मिक परिवार में हुआ। मैट्रिक पास करने के बाद कानून की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए वे सन् 1888 में इंग्लैण्ड गए। सन् 1891 में भारत लौटने पर उन्होंने वकालत शुरू की। सन् 1893 में एक मुकदमे के सिलसिले

मे वे दक्षिण अफ्रीका गए । वहाँ गए थे केवल एक वर्ष के लिए, किन्तु रहे वहाँ 20 वर्ष से भी अधिक । अफ्रीका मे उन्होने उस अत्याचार व अन्याय के विरुद्ध अहिंसात्मक सघर्ष किया जो वहाँ की गोरी सरकार प्रवासी भारतीयो पर जाति और रग के नाम पर कर रही थी । अफ्रीका मे ही उन्होंने अपने महान् अस्त्र 'सत्याग्रह' का सफल प्रयोग किया । 'अहिंसा की तलवार' से लडे गए सफल सघर्ष ने महात्मा गांधी को भारत के भावी नेता के रूप मे अपनी भूमिका अदा करने की योग्यता प्रदान की । अफ्रीका मे अहिंसात्मक सघर्ष की जो तकनीक उन्होने विकसित की, उसका भारत के स्वातन्त्र्य-सग्राम मे सफल प्रयोग किया गया ।

सन् 1914 मे भारत लौटने पर बम्बई की जनता ने मोहनदास करमचन्द गांधी को 'महात्मा' की उपाधि दी । भारत लौटने के तुरन्त बाद महात्मा गांधी देश की राजनीति मे सक्रिय रूप से भाग लेने लगे । सन् 1915 से 1948 तक उन्होने देश की स्वतन्त्रता के लिए अथक् परिश्रम किया । अगस्त, 1920 मे लोकमान्य तिलक की मृत्यु के बाद कांग्रेस मे उनका सर्वोपरि नेतृत्व कायम हो गया । भारत के स्वाधीन होने तक उन्होने अहिंसात्मक तरीके से विदेशी हुकूमत के विरुद्ध सफल सघर्ष किया । 'अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन' और 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' उनके ही नेतृत्व मे हुए जिनसे सम्पूर्ण देश मे राष्ट्रीय जागरण की लहर फैल गई । अहिंसात्मक आन्दोलन के दौरान जब कभी हिंसात्मक वातावरण बना, तभी उन्होने आन्दोलन को स्थगित कर दिया, चाहे वे सफलता के निकट ही क्यो न पहुँच गए हों । महात्मा गांधी ने अपने आचरण और कार्य से स्पष्ट कर दिया कि उनके जीवन मे सत्य और अहिंसा का सर्वोपरि स्थान था और वे राजनीतिक समस्या का समाधान आध्यात्मिक तथा नैतिक बल द्वारा करना चाहते थे । गांधीजी की प्रेरणा से ही अगस्त, 1942 मे विख्यात 'भारत छोडो' आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जिसने सम्पूर्ण शासनतन्त्र को हिला दिया । गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया गया । जेल मे उन्होंने 21 दिन का ऐतिहासिक उपवास किया । सन् 1944 मे उन्हें कारावास से मुक्त किया गया । इस समय जिन्ना के नेतृत्व मे 'पाकिस्तान आन्दोलन' का जोर था । गांधीजी ने जिन्ना से पाकिस्तान सम्बन्धी समस्या सुलझाने के लिए वार्ता चलाई जो विफल रही । बाद मे केबिनेट मिशन के निर्णयो के अनुरूप सविधान सभा के चुनावो मे गांधीजी के नाम पर ही कांग्रेस को चुनाव जीतने मे अभूतपूर्व सफलता मिली । केबिनेट मिशन की घोषणा के अनुसार सन् 1946 मे अन्तरिम सरकार की स्थापना हुई और फिर माउण्टबेटन की भारत-विभाजन योजना के अनुसार सन् 1947 का भारतीय स्वाधीनता विधेयक पारित हुआ जिसने भारत और पाकिस्तान नामक दो राज्यों को जन्म दिया । प्रारम्भ मे गांधीजी ने विभाजन की योजना का विरोध करते हुए घोषणा की थी कि भारत का विभाजन मेरी लाश पर होगा, परन्तु उन्हे परिस्थितियो के आगे विवश होना पडा । गांधीजी ने देश के इस विभाजन को आध्यात्मिक विनाश का नाम दिया ।

स्वाधीनता के बाद दोनों देशों मे साम्प्रदायिकता की ज्वाला भडक उठी ।

गांधाजी ने अपना शेष जीवन साम्प्रदायिकता की इस भयंकर आग को शान्त करने मे होम दिया। 30 जनवरी, 1948 को एक प्रार्थना-सभा मे होठो पर ईश्वर का नाम लेते हुए वे धर्मान्ध नाथूराम गोडसे की गोलियों से शहीद हुए।

गांधीजी की मृत्यु भी उनके जीवन की तरह अकारथ नहीं गई। उनके बलिदान से वे विचार और सिद्धान्त और भी अधिक सजीव तथा प्रभावकारी हो उठे जिनके लिए उन्होने जीवन-भर संघर्ष किया था। जीवन-भर वे सुकरात और बुद्ध की तरह सत्य और अहिंसा पर डटे रहे। उन्होंने अपना सम्पूर्ण राजनीतिक और सामाजिक युद्ध इन्हीं सिद्धान्तो के आधार पर लडा था। मृत्यु के बाद वे अपनी जीवितावस्था की अपेक्षा अधिक प्रभावी हो उठे। ससार में करोड़ो व्यक्ति आज उनके विचारो और सिद्धान्तो से अनुप्राणित हैं।

आध्यात्मिक आदर्शवाद
(Spiritual Idealism)

महात्मा गांधी ने ईश्वर, सत्य, नैतिकता आदि पर जो विचार प्रकट किए वे एक ही ताने-बाने मे बुने हैं, उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। उनकी ईश्वर की अवधारणा सत्य की अवधारणा से पृथक् नही थी और नैतिक अनुभूति ईश्वर के अस्तित्व की सर्वश्रेष्ठ कसोटी थी। इस प्रकार ईश्वर नैतिक नियम का ही दूसरा नाम हो जाता है।

ईश्वर (God)

महात्मा गांधी को विश्वास था कि सत्य ही ईश्वर है, सत्य से इकार करना ईश्वर के अस्तित्व से इकार करना है। ईश्वर करुणा का सागर है जो अपनी सत्ता मनवाने का इच्छुक नहीं है पर जिसका प्रभाव ही ऐसा है कि हम उसके आगे नतमस्तक होने मे गौरव और सन्तोष का अनुभव करते हैं। ईश्वर के अस्तित्व को सीमित प्रमाणित करना असम्भव है। जगत् मे सर्वत्र एक ही व्यवस्था के दर्शन होते हैं, प्रत्येक पदार्थ और प्राणी एक अटल नियम से बँधा हुआ है। यह नियम अन्धा नहीं है क्योकि हमारा आचरण किसी अन्धे नियम के अनुसार निर्देशित नही हो सकता। चारो ओर परिवर्तन का नियमित चक्र चल रहा है। इन बातो के पीछे कोई चेतना-शक्ति अवश्य है जो बदलती नही। यह चेतना शक्ति निर्माण और सहार की स्वामिनी है। यह सत्ता ईश्वर के सिवाय और कुछ नहीं हो सकती।

गाँधी का भगवान् बुद्धि से नहीं, वरन् श्रद्धा से जाना जा सकता है। श्रद्धा की प्रकाश किरण से ही ईश्वर का साक्षात्कार सम्भव है। ईश्वर सर्वव्यापी है और हर मनुष्य के हृदय म उसका निवास है। यदि हृदय को श्रद्धापूर्वक टटोलो, निष्पाप रहो, सदैव नैतिक अनुभूति मे तल्लीन रहो तो ईश्वर का अवश्य ही आभास मिलेगा।

ईश्वर शुभ-अशुभ का स्वामी है, पर स्वय अशुभ नहीं है। उसने बुराई पैदा की है पर खुद उससे अछूता है। बुराई से युद्ध करना ईश्वर-ज्ञान प्राप्त करने का एक सबल मार्ग है। ईश्वर हमारे लिए अस्पष्ट इसलिए है कि हम उसके 'वर्णनातीत' रूप का बखान नहीं कर पाते। सब उसका अपने-अपने ढग से वर्णन करते हैं पर

इसमे दोष कुछ भी नहीं है। यह तो एक वरदान है क्योकि, "इससे प्रत्येक मनुष्य उसे अपने ढग से देख सकता है, ईश्वर सबके लिए सब कुछ बन सकता है।" गांधीजी ने अपनी इस धारणा से धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय बुद्धि का परिचय दिया। यदि हम इस समन्वयकारी मार्ग का अनुसरण करें तो आज की साम्प्रदायिक समस्या का निदान दूर नहीं होगा।

गांधीवादी चिन्तन मे ईश्वर वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक दोनो है। वैसे गांधीजी के मस्तिष्क और हृदय की पृष्ठभूमि वैयक्तिक ईश्वर को स्वीकार करने के लिए ही प्रेरित होती थी। उनका विश्वास था कि ईश्वर हमारी भक्ति और प्रार्थना का अधिकारी है, उसकी शक्ति और अच्छाई जीवन मे मूर्तरूप मे प्रतिबिम्बित होनी चाहिए। ईश्वर को वैयक्तिक रूप मे देखने पर ही वह हमारे लिए सत्य होता है। किन्तु गांधीजी के विचारो में एक और प्रवृत्ति भी है जो उन्हे वैयक्तिक ईश्वर की अवधारणा से दूर ले जाती है। इस सम्बन्ध मे उनका एक स्पष्ट कथन इस प्रकार है—"मैं ईश्वर को व्यक्ति नही मानता।" "ईश्वर का नियम और ईश्वर दो पृथक् पदार्थ या तथ्य नही हैं जैसे कि लौकिक राजा और उसके नियम पृथक् होते हैं। ईश्वर तो प्रत्यय है, स्वय नियम है, अत ईश्वर द्वारा नियम भग किए जाने की कल्पना असम्भव है।" और भी, "समस्त जीवन का सचालन करने वाला नियम ही ईश्वर है नियम और नियम का सृष्टा एक ही है।" गांधीजी का यह विचार हमे अनिवार्य रूप से 'सत्य' के निकट ले आता है क्योकि उन्होने प्राय सत्य के रूप मे नियम की चर्चा की है। सर्वोच्च सत्ता को जब सत्य स्वरूप माना गया है तो उसका स्वाभाविक अर्थ है वैयक्तिक के स्थान पर निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण की स्वीकृति।

गांधीजी ने ईश्वर को मानवता से कभी पृथक् नही माना। उन्होने 'ईश्वर' शब्द का अर्थ-विस्तार किया और उसे 'दरिद्रनारायण' की सज्ञा दी जिसका आशय है 'गरीबों का ईश्वर'। उन्होंने स्पष्ट शब्दो में घोषणा की—"मैं उस ईश्वर के अलावा जो लाखो मूक जनो के हृदय मे निवास करता है और किसी ईश्वर को नही मानता।" इस तरह गांधीजी ने स्वर्ग के भगवान को धरती पर उतार दिया, उसे अलौकिक से लौकिक बना दिया, मनुष्यो मे सयुक्त कर दिया। उन्होने कहा कि ईश्वर अदृश्य है, इसलिए यदि हम अदृश्य की सेवा करें तो पर्याप्त है। दृश्य ईश्वर की सेवा का अर्थ है गरीब की सेवा और यही हमारे सार्वजनिक जीवन का अर्थ भी है। यदि हमे जनता की सेवा करनी है, तो हमे भगवान का नाम लेकर गरीबो के बीच जाकर उनके दुख दर्द दूर करने की कोशिश करनी चाहिए। हम कह सकते हैं कि महात्मा गांधी ने इस प्रकार ईश्वर का सामाजीकरण भी किया और मानवीकरण भी।

गांधीजी ने ईश्वर को महान् लोकतन्त्रवादी की सज्ञा भी दी थी। उनका कहना था कि ईश्वर सबसे बडा लोकतन्त्रवादी इसलिए है कि उसने हमे बुराई और अच्छाई के बीच अपना चुनाव खुद कर लेने की खुली छूट दे रखी है। अगर हम चाहते हैं कि हमारा अस्तित्व कायम रहे तो हमे सदा ईश्वर की इ
चाहिए। "हम उसी बशी की तान पर नाचते रह ना कल्याण हो ... ।

प्रार्थना मे महात्मा गांधी का अटूट विश्वास था। प्रार्थना आत्मा की इच्छा की अभिव्यक्ति है। प्रार्थना उस सर्वोच्च सत्ता अर्थात् ईश्वर के प्रति दैविक श्रद्धांजलि है। जो व्यक्ति ईश्वर मे आस्था रखते हैं उनके लिए प्रार्थना जीवन का वह तत्त्व है जो उन्हे सन्मार्ग की ओर अग्रसर करता है।

गांधीजी ने ईश्वर को सत्य तथा प्रेम और अन्त.करण की सज्ञा भी दी। अपने विचारो के विकास की अवस्था मे उन्होने 'ईश्वर सत्य है' इस कथन को बदल कर 'सत्य ईश्वर है' कर दिया। अन्तिम विश्लेषण मे उनके अनुसार, 'सत्य ही ईश्वर है।' वास्तव मे 'ईश्वर सत्य है' की जगह 'सत्य ही ईश्वर है' की अभिव्यक्ति मनोवैज्ञानिक रूप से बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'ईश्वर सत्य है' उक्ति से ऐसा लगता है कि ईश्वर की सत्ता के विषय मे किसी को सन्देह नहीं होना चाहिए। ईश्वर विषयक इस परम्परागत विचार से नास्तिक लोग सहमत नही हैं। इसके अतिरिक्त 'ईश्वर सत्य है' कहने मे एक अन्य कठिनाई यह है कि ईश्वर का नाम करोड़ो लोगो ने लिया है और उसके नाम पर अवर्णित अत्याचार किए गए हैं, अतः यदि 'सत्य' शब्द को ईश्वर के बाद न लगाकर ईश्वर से पहले लगा दिया जाए अर्थात् यदि 'सत्य' को ईश्वर समझा जाए तो इस पर नास्तिको को भी कोई आपत्ति नही हो सकती क्योकि वे भी सत्य की खोज करना चाहते हैं। 'सत्य ईश्वर है', इस उक्ति का आशय यह है कि ईश्वर यदि सत्य से भिन्न है तो हमे उसकी कोई परवाह नहीं करनी चाहिए। इस धारणा को सारी मानव-जाति अपना सकती है। इसमे सन्देह नही कि सत्य सम्बन्धी विवाद भी उतने ही अधिक रहे हैं जितने ईश्वर-विषयक विवाद, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से गांधीजी का यह विचार ठीक है कि भिन्न-भिन्न मान्यताओ वाले व्यक्ति भी सत्य के मच पर एकत्रित हो सकते हैं। इस तरह सत्य जीवन मे एकता लाने वाला तत्त्व बन जाता है और उसे ईश्वर से भी पहले स्थान देना उचित ही है। एन के बोस ने इस तथ्य को बहुत ही स्पष्ट रूप से इन शब्दो मे प्रकट किया है—"अपनी बदलती हुई मान्यता के कारण गांधीजी भी ऐसे व्यक्तियो को भी सहखोजियो के रूप मे साथ ले सकते थे जो मानवता या अन्य किसी व्यक्ति को अपना ईश्वर मानते हैं और 'जिसके लिए वे अपना सर्वस्व त्यागने को तैयार हैं। सत्य को सर्वोच्च स्थान देने से गांधीजी सचमुच उदार हो गए और उन्होने अपने से भिन्न किसी भी ईश्वर की पूजा करने वाले प्रत्येक अन्य ईमानदार व्यक्ति के हृदय से पृथकता के सभी चिह्न मिटा दिए।"

वास्तव मे 'सत्य ही ईश्वर है' कहकर गांधीजी उन लोगों को अपना अनुयायी बना सके जो मानवता को अपना उपास्य देव समझते थे। अन्त मे, इसका अर्थ यह भी है कि सत्य से तनिक-सा भी डिगना अपने को दैविक तत्त्व से अलग कर लेना है जिसके परिणामस्वरूप आध्यात्मिक पतन निश्चित है। जो लोग ईश्वर को पाना चाहते हैं उन्हें दूसरो के साथ आचरण करने में पूर्ण सत्य का पालन करना चाहिए। इसका स्वाभाविक अर्थ यह हुआ कि जो लोग सत्य को विशेष महत्त्व नहीं देते वे सच्चे सत्याग्रही बनने के योग्य नहीं हैं।

सत्य (Truth)

गांधीजी ने सत्य के तत्त्व को स्पष्ट करते हुए उसके सद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही पक्षों पर बल दिया। सत्य की अवधारणा में वे इतने लीन हुए कि उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ही सत्य की खोज में अर्पित कर दिया। उन्होंने घोषणा की कि सत्य के सिवाय अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। ईश्वर का सच्चा नाम सत् या सत्य है, इसलिए 'ईश्वर सत्य है' ऐसा कहने की अपेक्षा 'सत्य ही ईश्वर है', ऐसा कहना अधिक उचित है। सत्य गांधीजी के तत्त्व-ज्ञान का केन्द्र है। उसके अनुसार हमारा प्रत्येक व्यवहार और कार्य सत्य के लिए होना चाहिए। सत्य के अभाव में किसी भी नियम का सही तरह पालन नहीं किया जा सकता। वाणी, विचार और आचार में सत्य का होना ही सत्य है। सत्य की अर्चना ही ईश्वर की सच्ची भक्ति है।

गांधीजी ने सम्पूर्ण जीवन को सत्य में देखना चाहा। उन्होंने बताया कि जैसे एक रेखा में प्रत्येक स्थान पर बिन्दु होते हैं वैसे ही जीवन या विश्व में प्रत्येक स्थान पर सत्य है। परन्तु जैसे रेखा में साधारणतः दर्शक बिन्दु को नहीं देख पाते, वैसे ही इस जीवन में सत्य का साक्षात्कार नहीं कर पाते। सत्य की सिद्धि तो तभी सम्भव है जब हम अपनी दृष्टि को सदैव निर्दोष और निर्मल रखें।

गांधीजी का सत्य कल्पित सत्य नहीं है, अपितु स्वतन्त्र और चिरस्थायी सत्य है। उन्होंने विशुद्ध वैज्ञानिक की भाँति सत्य को अन्तिम माना। गांधी-चिन्तन में सत्य वही है जो ध्रुव है, अटल है, अपरिवर्तनीय है। सत्य की खोज करने का ढंग भी एक वैज्ञानिक के समान प्रयोगात्मक है। सत्यान्वेषण के लिए आत्म-शुद्धि आवश्यक है और आत्म शुद्धि के लिए कुछ उपकरण आवश्यक हैं जैसे सत्य (Truth), अहिंसा (Non-violence), अस्तेय (Non stealing), अपरिग्रह (Non-possession), ब्रह्मचर्य (Celibacy) आदि। गांधीजी के अनुसार सत्य अन्तरात्मा की आवाज है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति की अन्तरात्मा सदैव सत्य का दर्शन नहीं कराती। वह संस्कार-भेद आदि के कारण शुद्ध-अशुद्ध होती है।

दैनिक जीवन में सत्य सापेक्ष (Relative) है, लेकिन इस सापेक्ष सत्य के माध्यम से एक निरपेक्ष (Absolute) सत्य पर पहुँचा जा सकता है और यह निरपेक्ष सत्य ही जीवन का चरम लक्ष्य है। इसकी प्राप्ति ही मनुष्य का परम धर्म है। यह तथ्य केवल भावात्मक सत्य (Abstract Truth) नहीं है। इसकी प्राप्ति साधारण जीवन में की जा सकती है। उदाहरणार्थ, सभी मनुष्यों का साथ-साथ पुनरुत्थान अर्थात् सर्वोत्तम परम लक्ष्य है। यह एक निरपेक्ष सत्य है। इसे हम चरम वास्तविकता (Absolute Reality) भी कह सकते हैं। गांधीजी के अनुसार 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' का सिद्धान्त एक हृदयहीन सिद्धान्त है जिससे मानवता को बहुत हानि हुई है। वास्तव में सभ्य और मानवीय सिद्धान्त तो 'सभी व्यक्तियों को अधिकतम सुख' है जिसे पूर्ण आत्मोत्सर्ग द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। सर्वोदय जीवन का अन्तिम लक्ष्य है जिस तक पहुँचने के लिए अनेक पड़ाव आते हैं। सर्वोदय के लिए

आवश्यक है कि गरीबों और दलितों का शोषण बन्द हो, सभी देश स्वतन्त्र हों, संसार में आर्थिक और सामाजिक समानता हो। ये पडाव सापेक्ष सत्य हैं जिनके माध्यम से निरपेक्ष सत्य अर्थात् चरम लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है। कहने का सार यह है कि नंगे को वस्त्र-दान, भूखे को अन्न-दान और बेघर को आश्रय-दान करना सत्य है। यही ईश्वर है और इसे ही प्राप्त करना चाहिए।

गांधीजी के सत्य के क्षेत्र में केवल व्यक्ति का ही नहीं, वरन् समूह और समाज का भी समावेश है। गांधीजी के अनुसार सम्पूर्ण (मन, वचन, कर्म) सत्य का पालन धर्म, राजनीति, अर्थनीति, परिवार सब में होना चाहिए। व्यक्ति और समाज का कोई पक्ष सत्य से विरक्त नहीं होना चाहिए। राजनीति में सत्य के पूर्ण पालन का उनका नवीन प्रयोग विश्व-इतिहास के लिए एक अविस्मरणीय घटना है।

नैतिक पवित्रता पर बल और साधन की श्रेष्ठता में विश्वास

महात्मा गांधी नैतिक पवित्रता पर कितना बल देते थे, यह उनके धर्म, ईश्वर और सत्य की अवधारणा से स्पष्ट है। उन्होंने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी विचारों में और अपने सम्पूर्ण जीवन में आध्यात्मिकता तथा नैतिकता को प्रधानता दी थी। वस्तुत गांधी चिन्तन राजनीतिक विचार-दर्शन की अपेक्षा एक नैतिक जीवन-दर्शन अधिक है। गांधीजी का विश्वास था कि मनुष्य की सम्पूर्ण राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ अपने मूल रूप में नैतिक समस्याएँ है। इन समस्याओं का निराकरण तभी सम्भव है जब मनुष्य पवित्र आचरण और हृदय की शुद्धि पर अधिक बल दे। गांधीजी नैतिक नियमों के आधार पर सम्पूर्ण समस्याओं का समाधान और सम्पूर्ण मानव-जाति की एकता चाहते थे।

नैतिक पवित्रता पर बल देने का यह स्वाभाविक परिणाम था कि गांधीजी साधन और साध्य दोनों की पवित्रता में विश्वास करते थे। वे कहा करते थे कि साधन और साध्य एक-दूसरे से चोली-दामन की तरह सम्बद्ध है और एक की अपवित्रता दूसरे को भी भ्रष्ट कर देती है। अत यदि साध्य उत्तम हैं तो उसे प्राप्त करने के साधन भी उतने ही उत्तम होने चाहिएँ। पवित्र साध्य के लिए यदि उतना ही पवित्र साधन न मिले तो उस साध्य को भी छोड देना चाहिए। गांधीवाद का 'साधनों की पवित्रता' का विचार ही उन्हें मार्क्सवाद से भिन्न करता है। मार्क्सवाद एक वर्गहीन समाज के आदर्श की प्राप्ति के लिए खूनी क्रान्ति का उपदेश देता है जबकि गांधीजी की मान्यता थी कि खून की बूँद गिरते ही जिस कीमत पर वर्गहीन समाज मिलता है वह कीमत महँगी है। गांधीजी तो खून की एक बूँद गिराए बिना ही वर्गहीन समाज की स्थापना में विश्वास रखते थे।

साधनों की पवित्रता के विचार द्वारा गांधीजी ने राजनीति में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया। राजनीति की कला को उनकी यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन मानी जा सकती है। गांधीजी के अनुसार साधन बीज के समान है और साध्य वृक्ष के समान। यहाँ 'बोया पेड बबूल का तो आम कहाँ ते खाया' की लोकोक्ति प्रतिध्वनित होती है। महात्मा गांधी की यह धारणा ईसाई सभ्यता पर प्रहार करती है।

अहिंसा का दर्शन
(Philosophy of Non-violence)

आध्यात्मिक आदर्शवादी महात्मा गांधी का स्वभावत. अहिंसा मे अटूट विश्वास था। यदि अहिंसा को निकाल दें तो गाँधी-दर्शन निर्जीव शरीर मात्र रह जाता है। महात्मा गांधी की अहिंसा कोई निषेधात्मक धारणा नहीं थी वरन् बुराई से अच्छाई को जीतने का सिद्धान्त था, प्राणी मात्र के प्रति मनसा, वाचा, कर्मणा सद्भावना रखने का विचार था, सर्वोच्च प्रेम और आत्म-बलिदान की धारणा थी जिसमे घृणा के लिए कोई स्थान नही था। अहिंसा विरोधी से भी प्यार का सन्देश देती है पर इसका आशय यह नहीं है कि गाँधी विपक्षी अथवा किसी की हिंसा या बुराई के सम्मुख झुकने का उपदेश देते थे। उनका तो कहना था कि विपक्षी की बुराई को प्रेम द्वारा दूर करने मे अहिंसा निहित है। जो व्यक्ति हिंसा का उत्तर प्रेम स देते हैं तो निश्चित है कि उन्हे प्रेम ही प्राप्त होगा, चाहे वह जल्दी मिले या देर से।

गाँधीवादी दर्शन के अनुसार अहिंसा तीन प्रकार की हो सकती है—जाग्रत अहिंसा (Enlightened Non-violence), औचित्यपूर्ण अहिंसा (Reasonable Non-violence), एव भीरुओं की अहिंसा (Non-violence of the cowards)। जाग्रत अहिंसा वह है जो व्यक्ति मे अन्तरात्मा की पुकार के अनुसार स्वभावत उत्पन्न होती है और व्यक्ति अहिंसा को आन्तरिक विचारो की नैतिकता के कारण स्वीकार करता है। यह अहिंसा का सर्वोत्कृष्ट रूप है जिसमे असम्भव को सम्भव बना देने की शक्ति है। औचित्यपूर्ण अहिंसा वह है जो जीवन के क्षेत्र विशेष मे आवश्यकता पडने पर औचित्य के अनुसार एक नीति के रूप मे अपनाई जाए। अहिंसा का यह रूप दुर्बल व्यक्तियो के लिए है पर ईमानदारी और दृढता से पालन करने पर यह अहिंसा काफी लाभदायक सिद्ध हो सकती है। भीरुओं की अहिंसा तो निकृष्ट अहिंसा है। 'कायरता और अहिंसा आग तथा पानी की भाँति एक साथ नही रह सकते।" अपनी नपुंसकता को छिपाने के लिए अहिंसा का आवरण धारण करने से तो हिंसक होना अधिक अच्छा है क्योंकि हिंसक मे साहस होता है तथा उससे यह आशा की जा सकती है कि किसी-न-किसी दिन वह अहिंसक बन जाएगा। कायर से इस प्रकार की आशा नहीं की जा सकती।

महात्मा गांधी ने जीवन के व्यावहारिक प्रयोग से यह सिद्ध किया कि अहिंसा आत्म बल की प्रतीक है और यह ऐसा अमोघ शस्त्र है जो कभी खाली नही जा सकता। अहिंसा को वैयक्तिक आचरण तक ही सीमित न रहकर मानव-जीवन की प्रत्येक परिस्थिति मे लागू किया जाना चाहिए। गांधी की अहिंसा मोक्ष-प्राप्ति का ही साधन नही है वरन् सामाजिक शान्ति राजनीतिक व्यवस्था, धार्मिक समन्वय और पारिवारिक निर्माण का भी साधन है।

महात्मा गाँधी ने समस्त मानवीय समस्याओं और व्यथाओं के निराकरण के लिए बहुमुखी अहिंसा का उपदेश दिया जिसे उन्होने कभी-कभी प्रेम, मानव-सहयोग आदि की संज्ञा दी। उनकी एक मूलभूत मान्यता यह थी कि अहिंसा जन-साधारण

के लिए तो आवश्यक ही है, नेताओं को विशेष रूप से इसका पालन कर जनता के सामने आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए। अहिंसावादी नेताओं को अहिंसा के अनुपालन के लिए सयमी बनना चाहिए अर्थात् सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह 'पचशील' का पालन करना चाहिए। गांधीजी के इस विचार को प्राय 'काल्पनिक साधुवाद' कहा जाता है, लेकिन यह उपहास नासमझी और सकुचितता का द्योतक है। महात्मा गांधी ने अपने जीवन मे इस सयम का पालन करके यह सिद्ध कर दिया था कि किसी भी प्रयासोन्मुख व्यक्ति के लिए यह असम्भव नहीं है। गांधीजी का विशेष आग्रह इस बात पर था कि सत्याग्रही नेताओ का अहिंसा और सयम के आदर्श से हटना समाज के लिए घातक होगा। हम आज की परिस्थितियो मे इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि नेताओ का सयमित और नि.स्वार्थी होना कितना आवश्यक है। गांधीजी की सयम-व्यवस्था वास्तव मे 'शाश्वत सामाजिक अपेक्षा और आवश्यकता' पर केन्द्रित है। उनके ब्रह्मचर्य व्रत (जिसमे काम-वासना पर नियन्त्रण और चरित्र की शुद्धि की भावना निहित है) का उपहास किया जाता है लेकिन यह विचित्र सयोग है कि आज न केवल भारत वरन् विश्व के अधिकांश देश अनियन्त्रित काम-वासना और चरित्र-पतन के दुष्परिणामों से चिन्तित हैं। परिवार-नियोजन के कृत्रिम साधनों द्वारा उन्हीं उद्देश्यो की पूर्ति के प्रयत्न किए जा रहे हैं जिनकी ओर महात्मा गांधी का सकेत था। इस महात्मा ने ब्रह्मचर्य द्वारा नैतिक और सामाजिक उत्थान की कामना की थी जिसमे अनावश्यक सन्तानोत्पत्ति पर प्रतिबन्ध की भावना भी निहित मानी जानी चाहिए।

आज गांधीवादी अहिंसा की धारणा का उपहास किया जाता है जबकि वास्तविकता यह है कि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे तथा सामाजिक, आर्थिक समस्याओ के सन्दर्भ मे गांधीवादी तकनीक और कार्यक्रम को प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप मे व्यापक समर्थन मिल रहा है। जब जनता से, विशेषकर पूंजीपतियों से, स्वेच्छापूर्वक आत्म-त्याग की बात कही जाती है तो क्या यह गांधीवादी तकनीक नहीं है? राष्ट्रों से अन्तर्राष्ट्रीय आचरण-सहिता के पालन का आग्रह किया जाता है, सयुक्त राष्ट्रसघ हिंसा, नर-सहार, बीमारियो, आर्थिक विषमताओ, मानवीय असमानताओ का उन्मूलन चाहता है तो क्या ये बातें गांधीवादी दर्शन में सम्मिलित नहीं हैं? क्या हम इससे इन्कार कर सकते हैं कि दैनिक निजी सम्बन्धों से लेकर जटिल अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो तक के सभी मानवीय क्रिया-कलाप मूल रूप से प्रेम और सहयोग पर आश्रित हैं? वास्तविकता तो यही है कि किसी भी समाज मे आज तक केवल बल-प्रयोग से स्थायी शान्ति और व्यवस्था कायम नहीं रखी जा सकी है। हर युग मे सभ्य समाज का मूलाधार शान्ति और सहयोग की व्यापक भावना ही रही है। यदि हिंसा और असहयोग ही जीवन के नियम होते तो क्या मुट्ठीभर सिपाहियों द्वारा शान्ति और व्यवस्था के प्रयत्न सफल होते? पुनश्च, यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है कि युद्दरत पक्षों के विवादों का अन्तिम निपटारा शस्त्रों की टकार से नहीं बल्कि युद्धोत्तर शान्ति-वार्ताओ द्वारा हुआ है।

स्पष्ट है कि महात्मा गाँधी ने जिस अहिंसा, शान्ति और सयम का सन्देश दिया वह गम्भीर चिन्तन और क्रियान्वयन की अद्वितीय सामग्री है जिसे ठुकराने मे मानव-जाति का कल्याण नहीं है। महात्मा गाँधी के विचार ऐसे नही हैं जो काल्पनिक हो और जीवन-क्षेत्र मे प्रयुक्त न हो सकते हों। तभी तो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे तथा सामाजिक-आर्थिक समस्याओ के सन्दर्भ मे गाँधीवादी तकनीक और कार्यक्रम की न केवल भारतीय अहिंसावादियो ने बल्कि प्रमुख पाश्चात्य दार्शनिको वैज्ञानिकों और राजनेताओ ने भी पुष्टि की है। इनमे बर्ट्रेण्ड रसेल, सोरोकिन, अर्नोल्ड टॉयनबी, ममफर्ड, आइंसटाइन, लॉर्ड पैथिक लारेंस आदि उल्लेखनीय हैं। महात्मा गाँधी की अहिंसात्मक प्रतिरोध की तकनीक तथा आर्थिक एव औद्योगिक विकेन्द्रीकरण की योजना पश्चिम मे भी विशेष दिलचस्पी का विषय बन गई है।

इस सन्दर्भ मे प्रश्न उठता है कि क्या मनसा, वाचा, कर्मणा पूर्ण अहिंसा का आदर्श व्यावहारिक है। महात्मा गाँधी ने एक व्यवहारवादी के रूप मे स्वीकार किया कि पूर्ण अहिंसा की सिद्धि मनुष्य नही कर सकता, वह तो केवल ईश्वर का गुण है। उन्होंने उन परिस्थितियो की ओर सकेत किया जिनमे मनुष्य के लिए हिंसा से बचना कठिन है—

(क) जीवन के भरण-पोषण के लिए जितनी हिंसा अनिवार्य हो, वह क्षम्य है। शरीर ईश्वर की धरोहर है, अत उसके पोषण और सरक्षण के लिए यदि अनजाने हिंसा हो जाए तो यह मनुष्य की विवशता है। "मानव-जीवन और सम्पत्ति को हानि पहुँचाने वाले जीव-जन्तुओ को समाप्त किया जा सकता है। जगल मे अचानक जगली पशु आक्रमण कर दे तो उसका वध 'सकटकालीन कर्त्तव्य' (Duty in distress) है।" कहने का आशय यह है कि "शरीर की मर्यादाओ को अच्छी तरह समझ कर हमे अपने भीतर जो भी शक्ति है उसके सहारे अहिंसा के आदर्श की ओर बढ़ते रहने का प्रयत्न करना चाहिए, परन्तु हम बाह्य हिंसा से सर्वथा मुक्त नही रह सकते।"

(ख) आश्रितो की रक्षा के लिए की गई हिंसा भी अनिन्दनीय है।

(ग) जब रोग असाध्य हो, सभी उसके जीवन से निराश हो जाएँ, हर प्रकार की सेवा और सहायता बेकार हो जाए तो प्राणी को कष्ट से मुक्ति दिलाने के लिए शरीरान्त क्षम्य है। महात्मा गाँधी ने कहा था—"यदि मेरा पुत्र भी तडप रहा हो और उसका कोई इलाज न हो तो मुझे उसके जीवन को समाप्त करना अपना कर्त्तव्य समझना चाहिए।"

यद्यपि आपत्ति उठाई जाती है कि एक ऐसे आदर्श की क्या उपयोगिता है जिसे हम पूर्णत व्यवहार मे न ला सकें, पर महात्मा गाँधी का कहना था कि वह आदर्श जो पूर्ण रूप से व्यवहार मे परिणत किया जा सके, एक तुच्छ आदर्श होगा। जीवन का आनन्द लक्ष्य को प्राप्त करने मे नहीं, बल्कि उसके लिए सदैव प्रयत्न करते रहने मे है। हम उसके निकट पहुँच सकते हैं, लेकिन उसे पूरी तरह कभी प्राप्त नहीं कर सकते। अहिंसा का आदर्श गणित-शास्त्र के उस बिन्दु के समान है जिसकी पूर्ण

उपलब्धि तो सम्भव नही है, लेकिन यथार्थ जीवन मे जिसके निकट हम अवश्य पहुँच सकते हैं। जिन्हें हम अहिंसा का अपवाद कहकर पुकारते हैं, वे वास्तव मे ऐसे अपवाद नहीं हैं जो इस सिद्धान्त को गलत सिद्ध करते हों। वे तो मनुष्य की अपूर्णताओं से उत्पन्न होने वाली स्थितियाँ हैं जो अहिंसा के पुजारी को अहिंसा की कला मे और अधिक पूर्णता प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती हैं।

गाँधीजी और उनका धर्म
(Gandhi and his Religion)

गाँधीजी ने मानव-इतिहास मे धर्म की सृजनात्मक शक्ति को स्वीकार किया। धर्म उनके लिए ससार के नैतिक अनुशासन की व्यवस्था थी, अतः उन्होने बोल्शेविक-वाद (Bolshevism) मे निहित हिंसा और नास्तिकता की निन्दा की। उन्होने तत्कालीन इतिहास और समाज मे धर्म के विकृत रूप को देखा, अतः अपने प्रयोगों और निष्कर्षों के आधार पर धर्म की पुनः एक व्यापक व्याख्या प्रस्तुत की।

गाँधीजी ने धर्म को जीवन और समाज का आधारभूत तत्त्व माना। उन्होने धर्म के क्षेत्र मे ससार के प्रत्येक कार्य, व्यक्ति के प्रत्येक पक्ष और समाज के प्रत्येक अग को सम्मिलित किया। उन्होंने कहा कि धर्म से उनका अभिप्राय किसी औपचारिक और रूढिगत धर्म से नही, वरन् विश्व के व्यवस्थित नैतिक अनुशासन से है। उनके धर्म का अर्थ सम्प्रदायवाद नहीं है। उनका धर्म मानव-समाज का शाश्वत् तत्त्व है जो हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत से परे है।

गाँधीजी की हिन्दू धर्म मे आस्था किसी वर्गवाद या सम्प्रदायवाद के कारण नहीं थी, बल्कि इसलिए थी कि यह धर्म अन्य सब धर्मों के साथ शान्तिपूर्वक रहने मे विश्वास करता है और यह दावा नहीं करता कि सत्य एकमात्र उसी मे है। गाँधीजी के ही शब्दो मे, "हिन्दू धर्म शारीरिक वासनाओं के परित्याग का धर्म है ताकि आत्मा निर्मल हो सके और इसीलिए यह आत्मसयम की उच्चतम सीमा पर पहुँच गया है। हिन्दू धर्म कोई निषेधात्मक धर्म नही है और इसीलिए यह धर्म निषेध करने वाला या मिशनरी धर्म भी नहीं है। हर एक आदमी के लिए अपना निज का धर्म रहे और सब धर्म एक दूसरे के साथ शान्ति से रहें, यही हिन्दू धर्म है।"

गाँधीजी ने मानवतावादी धर्म का पोषण किया जिसका चरम लक्ष्य सेवा है। गाँधी-धर्म के प्रमुख तत्त्व हैं—सत्य, प्रेम और अहिंसा। उन्होने कहा कि "यदि मनुष्य कहलाना है तो दैहिक, मानसिक और सांस्कृतिक गुणों का विकास इन्हीं तत्त्वो पर आधारित होना चाहिए। गाँधीजी का धर्म दैहिक तत्त्व की उपेक्षा नही करता। वे व्यक्तित्व के पूर्ण विकास मे ही मोक्ष की स्थिति मानते थे। उनका कहना था कि मोक्ष का अर्थ हर प्रकार की पवित्रता है।.........अमरत्व तो आत्मा का गुण है। उसके लिए सब शरीर को निर्मल बनाने का प्रयत्न करें।" अपनी इस व्याख्या द्वारा गाँधीजी ने व्यक्तित्व के दैहिक तत्त्व को भी धर्म के अन्तिम लक्ष्य अथवा अमरत्व से सम्बन्धित कर दिया। उन्होने व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और आचारात्मक पक्षो को धर्म से सयुक्त किया।

किंग्सले डेविस, इजर आदि समाज-शास्त्रियों का मत है कि धर्म प्रधानतः मृत्यु और संवेगात्मक अशान्ति की समस्या के प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करता है, मोक्ष का मोहक लक्ष्य सामने रखता है और अपनी संस्थाओं को कल्याणकारी तथा उपयोगी कार्य के लिए प्रेरित करता है। धर्म के ये तीनों प्रकार के कार्य व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होते हैं और गांधी-धर्म में तीनों कार्यों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। गांधीजी के धर्म की अवधारणा ने मृत्यु का भय दूर करने का व्यावहारिक प्रयत्न किया है। गांधी-दर्शन आत्मा की अमरता के सिद्धान्त को स्वीकार कर यह मानता है कि जन्म-मरण ईश्वर की इच्छा से होता है और इन अटल नियमों को बदलना मानव-शक्ति से परे है। अतः जब मृत्यु निश्चित है, तो उससे भय खाना मूर्खता है।

गांधीजी ने 'निष्काम कर्म' का उपदेश दिया। उन्होंने कहा—"जो मनुष्य परिणाम पर ही ध्यान केन्द्रित करता रहता है, वह बहुधा कर्त्तव्य-भ्रष्ट हो जाता है। उसे अधीरता घेरती है जिससे वह क्रोध के वशीभूत हो जाता है और फिर वह अकरणीय कर्म भी करने लग जाता है।" आशय यह है कि गांधी-धर्म परिणाम के प्रति आसक्ति को उचित नहीं समझता। श्रेष्ठ कर्म वही है जो बन्धनमुक्त होकर किया जाता है। कर्म का त्याग पतन और अधर्म है। मानव हृदय में अच्छाई और बुराई की शक्तियों का निरन्तर युद्ध चलता रहता है और कर्म-योग बुराई की शक्तियों के उन्मूलन तथा सत्य और सद्गुण की विजय का सन्देश देता है। धर्म का अभिप्राय है कि मनुष्य अपनी पाशविक प्रकृति पर विजय प्राप्त कर स्वयं को ईश्वर से तथा अपने ही साथी अन्य मनुष्यों से सम्बद्ध कर ले। धर्म केवल व्यक्तिगत सिद्धि का ही नहीं, वरन् शक्तिशाली सामाजिक बन्धन का भी साधन है। सहिष्णुता, न्याय, भ्रातृत्व, शान्ति और सबके प्रति प्रेम पर आधारित धर्म ही इस विश्व के अस्तित्व का आधार बन सकता है।

गांधीजी का धर्म जाति और रूढ़ियों से मुक्त है। उसमें वैज्ञानिकता है। गांधी धर्म का मुख्य आधार नीति की शुद्धता है जिसमें त्याग, तपस्या और मानव-सेवा को महत्त्व प्राप्त होता है। विश्व के विभिन्न धर्म रूढ़ियों और अन्धविश्वासों की मोटी परत से दबे हुए क्रन्दन कर रहे हैं। रूढ़ि और अन्धविश्वास जब धर्म पर अपना अधिकार जमा लेते हैं तो समाज टुकड़े-टुकड़े हो जाता है और विध्वंस तथा विनाश का तांडव होने लगता है। ऐसा धर्म सही अर्थों में धर्म नहीं होता। वह तो अविवेक और अन्धविश्वास है। धर्म विवेकहीन और हृदयहीन रूढ़ियों के बन्धन को स्वीकार नहीं करता। वह धर्म धर्म नहीं हो सकता जिससे सत्य का हनन होता हो, नैतिकता का ह्रास होता हो और आत्मा का पतन होता हो। गांधी-धर्म ज्ञान के साथ कदम से कदम मिलाकर चलता है। एक वैज्ञानिक प्रवृत्ति में तटस्थता, धैर्य, अध्यवसाय, जिज्ञासा और रचनात्मक कल्पना—ये प्रमुख पाँच गुण होते हैं और गांधीजी की धार्मिक अवधारणा में ये पाँचों गुण विद्यमान हैं।

गांधीजी ने धर्म और संस्कृति को भी संयुक्त किया है। उन्होंने आदर्श सांस्कृतिक प्रमाणों की जो रूपरेखा प्रस्तुत की है, उसकी मूल भावना धार्मिक है। सत्य, अहिंसा या प्रेम, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह—इन सबको मानव-जीवन के लिए सार्वभौमिक मूल्य है। संस्कृति के विभिन्न कार्य इन्हीं मूल्यों पर आधारित होने चाहिए। इस तरह गांधीजी की संस्कृति आत्म-केन्द्रित या स्वार्थवादी नहीं है बल्कि परमार्थवादी है। वह निरकुश और विनाशकारी नहीं है, बल्कि सहयोगी, रचनात्मक और कल्याणकारी है।

गांधी-धर्म सद्भावना तथा सहिष्णुता का धर्म है जो सभी धर्मों में विश्वास करता है। यद्यपि सिद्धान्त रूप मे ईश्वर एक है और सभी लोगो का धर्म एक होना चाहिए लेकिन मनुष्यो और उनकी प्रकृति की विभिन्नता के कारण उनके अलग-अलग रूप हैं और रहेंगे। पर विभिन्न धर्मों का अस्तित्व होते हुए भी आवश्यकता इस बात की है कि उनमे परस्पर संघर्ष न हो, एक दूसरे के प्रति घृणा का भाव पैदा न हो और एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता, सद्भावना और समादर की वृत्ति का विकास हो। गांधीजी की पारिभाषिक शब्दावली में 'सर्व धर्म समभाव' का स्वभाव बनाना चाहिए। अर्थात् "सदैव यह मानना चाहिए कि दूसरे धर्म भी आगे बढ़ें और मेरा धर्म भी, दूसरे धर्म भी अच्छे बनें और मेरा धर्म भी, दूसरे धर्म भी नष्ट न हों और मेरा धर्म भी।"

गांधीजी का राजनीतिक दर्शन
(Gandhi's Political Philosophy)

गांधीजी को इस बात से बड़ा क्लेश पहुँचता था कि विश्व-राजनीति में मैकियावली प्रवृत्ति की ही प्रधानता हो अर्थात् धर्मरहित राजनीति का साम्राज्य हो, छलछद्म-युक्त राजनीति की प्रमुखता हो, नीति-निरपेक्ष राजनीति का बोलबाला हो। गांधीजी ने, जिनका धर्म मानवतावादी था, राजनीति के प्रचलित स्वरूप को देखकर यह अनुभव किया कि कुटिल राजनीति मानवता के लिए किसी भी दशा मे उचित नहीं है। राज्य और राजनीति मानव-कल्याण के साधन हैं। अपनी इसी अनुभूति के आधार पर उन्होने अपने राजनीतिक दर्शन का महल खड़ा किया।

राजनीति का आध्यात्मीकरण
(Spiritualisation of Politics)

गांधीजी का यह दृढ़ विश्वास था कि 'जैसे साधन होंगे वैसे ही साध्य होंगे।' अतः उन्होने राजनीति के प्रचलित मूल्यों को अस्वीकार किया और राजनीति मे शुद्ध धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए पूर्ण प्रयत्न किया। उन्होने घोषणा की कि धर्मरहित राजनीति पाप है। उन्होंने गोखले की भाँति ही राजनीति का आध्यात्मीकरण करना चाहा। गांधीजी ने कहा कि धर्म समाज का अभिन्न अंग है और राजनीति को धर्म से पृथक् नहीं किया जा सकता। उन्होंने घोषणा की—'मेरे लिए धर्म विहीन राजनीति कोई चीज नहीं है। नीति-शून्य राजनीति सर्वथा त्याज्य है।" उन्होंने यहाँ तक कह डाला—"राजनीति धर्म की अनुगामिनी है। धर्म से शून्य राजनीति मृत्यु का एक जाल है क्योंकि उससे आत्मा का हनन होता है।"

धर्म गाँधीजी के जीवन का प्राण था और उन्होंने राजनीति में प्रवेश ही यह देखकर किया कि राजनीति धर्म-हीन होती जा रही है तथा एक आवश्यक बुराई बन गई है। उन्हीं के शब्दों में, "यदि मैं राजनीति में भाग लेता हूँ तो केवल इसलिए कि राजनीति हमें एक साँप की भाँति चारों ओर से घेरे हुए है। मैं साँप से लड़ना चाहता हूँ...... मैं राजनीति में धर्म का प्रवेश चाहता हूँ।" गाँधीजी एक महान् कर्मयोगी थे जो राजनीति में धर्म का समावेश कर नैतिकता के उस दोहरे मापदण्ड को मिटाना चाहते थे जो ऐसे शब्दों में व्यक्त होता कि 'राजनीति राजनीति है' और 'व्यापार व्यापार है।' गाँधीजी का विश्वास था कि सच्चा धर्म कर्तव्य-प्रेरक होता है और राजनीतिक क्रियाशीलता इसमें सम्मिलित है। राजनीति देश-धर्म है जिससे पृथक् होकर व्यक्ति आत्मघात करता है। निष्प्राण मूर्ति-पूजा के स्थान पर वे मानव-पूजा में विश्वास करते थे। राजनीति उनकी दृष्टि में धर्म और नैतिकता की एक शाखा थी। इसीलिए उन्होंने कहा कि राजनीति शक्ति और सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए संघर्ष नहीं है, बल्कि वह लाखों पद-दलितों को सुन्दर जीवन-यापन करने योग्य बनाने, मानवीय गुणों का विकास करने, उन्हें स्वतन्त्र और बन्धुत्व तथा आध्यात्मिक गहराइयों व सामाजिक समानता के बारे में प्रशिक्षित करने का निरन्तर प्रयास है। राजनीति में धर्म का समावेश सत्य और न्याय की प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होना है। "धर्म से पृथक् राजनीति एक मृत देह के समान है जिसको जला देना ही उचित है।"

राजनीति को धर्मानुमोदित मानने से गाँधीजी का यह अभिप्राय नहीं था कि राजसत्ता धर्माधिकारियों के हाथों में सौंपी जानी चाहिए अथवा राज्य को किसी धर्म विशेष या सम्प्रदाय विशेष का प्रचारक बनना चाहिए। उनका आदर्श तो सर्वोदय समाज व्यवस्था का था जिसमें राज्य धर्म-निरपेक्ष हो, राजनीति धर्म के सार्वभौमिक नियमों—सत्य, अहिंसा, प्रेम, सेवा आदि का अनुशीलन करे। गाँधीजी ने कहा कि राजनीतिज्ञों को सब धर्मों के प्रति समान भाव रखना चाहिए और सार्वजनिक जीवन में नीति-धर्म के सार्वभौमिक मूल्यों पर अटल रहना चाहिए।

गाँधीजी ने धर्म और राजनीति के एक होने का प्रमाण अपने कार्यों से दिया। उन्होंने देश के स्वातन्त्र्य आन्दोलन का एक सन्त की तरह संचालन किया। उन्होंने निरंकुश विदेशी शासन का सामना प्रेम व अहिंसा पर आधारित आत्मा की नैतिक शक्ति से किया और अन्त में अपने अहिंसात्मक विद्रोह के सामने ब्रिटिश सरकार को इतना असहाय बना दिया कि वह जनता के प्रतिनिधियों को शासन सत्ता सौंप कर हट गई।

गाँधीजी ने राजनीति को धर्म के रंग में रंग कर नैतिक मूल्यों पर आधारित किया। उन्होंने राजनीति से विग्रह, विघटन, विद्रोह और विनाश की प्रवृत्तियों के उन्मूलन पर जोर दिया तथा राजनीति में भावना, सहयोग, समन्वय और संगठनात्मक तत्त्वों का अधिकतम समावेश करना चाहा।

गाँधीजी ने पाश्चात्य प्रजातन्त्रीय राजनीति को इसलिए पसन्द नहीं किया क्योंकि उसमें पूँजीवादी प्रथाओं और शोषण को खुली छूट है। पाश्चात्य प्रजातान्त्रिक

राजनीति पूँजीवाद के असीम और निर्बाध विस्तार मे विश्वास करती है। महात्मा गाँधी की दृष्टि मे यह प्रवृत्ति एक तरह की नाजीवादी और फासीवादी प्रवृत्ति है। गांधीजी ने पाश्चात्य राजनीति की गन्दी प्रवृत्तियो पर प्रहार करते हुए स्पष्ट शब्दो मे घोषणा की कि "ब्रिटेन ने अप्रजातान्त्रिक तरीको से भारत को जीता है और दक्षिणी अफ्रीका तथा संयुक्तराज्य अमेरिका के दक्षिणी भागो मे रंगभेद और जातिवाद की नीतियाँ प्रजातन्त्र के प्रति घोर अपराध हैं। गांधीजी का यह दृढ विश्वास था कि केवल अहिंसा द्वारा ही सच्चे प्रजातन्त्र की स्थापना हो सकती है क्योंकि हिंसा के प्रयोग का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि विरोधियो का दमन कर उनका सफाया करके सारा विरोध समाप्त कर दिया जाएगा। ऐसे वातावरण मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता विकसित नही हो सकती। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता विशुद्ध अहिंसा के वातावरण मे ही पूरी तरह क्रियाशील हो सकती है।"

गांधीजी ने भारत मे 'सच्चे प्रजातन्त्र' की कामना की। किन्तु वे एक यथार्थवादी थे अत इस कल्पना मे नही बहे कि भविष्य का भारत सैन्य विहीन होगा और पूर्ण अहिंसा का पालन करेगा। फिर भी उन्होने यह कामना की कि उनका भारत अधिकाधिक अहिंसा के आधार पर सच्चा प्रजातन्त्र स्थापित करने की दिशा मे अग्रसर होगा।

गांधीजी का राजनीति के आध्यात्मीकरण का विचार कोरा विचार ही नहीं था अपितु उन्होने अपने जीवनकाल मे उसे कार्यान्वित भी किया। उन्होने सत्य, अहिंसा आदि धार्मिक-नैतिक सिद्धान्तो का राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र मे जो सफलतापूर्वक प्रयोग किया उसे सम्पूर्ण विश्व के राजनीतिज्ञो ने उसकी आश्चर्य और श्रद्धा से सराहना की। एक सन्त राजनीतिज्ञ के रूप मे उन्होने विश्वव्यापी ख्याति अर्जित की। 'राजनीति मे धर्म का समन्वय' आधुनिक पीडित मानवता को उनकी सबसे महान् देन है।

सत्याग्रह (Satyagrah)

सत्याग्रह का गांधी-दर्शन गांधीवादी सत्य की अवधारणा का स्वाभाविक परिणाम है। गांधीजी का राजनीतिक दर्शन उनकी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि मे ही विकसित होता है। राजनीति के युद्ध-क्षेत्र मे उन्होने जिस सत्याग्रह रूपी हथियार की अनोखी खोज की, वह भी आध्यात्मिकता क आधार पर ही प्रतिपादित है। सत्याग्रह ने न केवल युद्ध-कला को प्रभावित किया है वरन् आए दिन होने वाली क्रान्तियो को भी दिशा प्रदान की। इसने मानवीय गुण और विचारधारा को निकट से प्रभावित किया। गांधीजी का सत्याग्रह एक आदर्श है, कर्मयोग का एक व्यावहारिक दर्शन है तथा एक सक्रिय अवधारणा है जिसकी परीक्षा प्रारम्भ मे मर्यादित क्षेत्रो म की जा चुकी है और जो सफल सिद्ध हुई है। अब विस्तृत क्षेत्र मे और विशेषकर ससार की विस्फोटक स्थिति मे सत्याग्रह रूपी अस्त्र की परीक्षा होनी शेष है। सत्याग्रह का शाब्दिक अर्थ है—'सत्य पर आग्रह'। सत्याग्रह के सम्पूर्ण दर्शन का आधार यह है कि सत्य की ही जीत होती है। सत्य का सिद्धान्त जीवन के सभी

क्षेत्रो मे लागू हो सकता है और इसका महत्त्वपूर्ण आधार सत्य एव अहिंसा है। गांधीवाद का मूल तत्व सत्याग्रह वह केन्द्र बिन्दु है जिसके चारो ओर उनकी अन्य अवधारणाएँ—जैसे राजनीति का आध्यात्मीकरण, साधनो तथा साध्य की एकता, विश्व की नैतिक प्रकृति और अपने सिद्धान्तो के लिए मर-मिटने तक का सकल्प आदि चक्कर काटती हैं।

सत्याग्रह के सिद्धान्त का अर्थ है—अपने विरोधी को पीडा पहुँचाने के बजाय स्वय को पीडा पहुँचाकर सत्य की रक्षा करना। सत्याग्रह का अभिप्राय है—सभी प्रकार के अन्याय, दबाव और शोषण के विरुद्ध विशुद्धतम आत्मशक्ति का प्रयोग। कष्ट और आस्था आत्म-शक्ति के विशेष गुण हैं। सत्याग्रह एक आध्यात्मिक पद्धति है जिसमे अपने अत्याचारियो के विरुद्ध कोई द्वेष-भाव न रखते हुए अपनी अन्तरात्मा की आवाज का अनुसरण किया जाता है और किसी भी परिस्थिति मे सत्य के प्रतिपादन से पीछे नही हटा जाता। इस अर्थ मे डेनियल, सुकरात, प्रह्लाद और मीराबाई आदर्श सत्याग्रही थे। एक सत्याग्रही अपने विरोधी की कष्ट देने की शक्ति का मुकाबला अपने कष्ट सहने की शक्ति से करता है। गांधीजी ने इसे आत्मबल की सज्ञा दी है। आत्मा के अस्तित्व और उसकी वास्तविकता मे विश्वास सत्याग्रह के नैतिक शस्त्र के प्रयोग की पहली शर्त है। यदि सघर्ष मे सत्याग्रही की मृत्यु भी हो जाए तो भी उसका अन्त नही होता, बल्कि विरोधी को सत्य देखने की सामर्थ्य देने के लिए कभी-कभी बलिदान आवश्यक हो जाता है।

गांधीजी का कहना था कि सत्याग्रह का सिद्धान्त कोई नवीन सिद्धान्त नही है अपितु यह तो 'पारिवारिक जीवन का राष्ट्रीय जीवन मे विस्तार मात्र' है। पारिवारिक विवादो और मतभेदो को साधारणत प्रेम के नियम द्वारा सुलझाया जाता है और सत्याग्रह मे भी प्रेम और सत्य के बल पर तथा अहिंसा के अमोघ अस्त्र द्वारा विरोधो का मुकाबला किया जाता है।

सत्याग्रही विचार और व्यवहार के विभेद से बचते हुए आत्मानुशासन और लोकानुशासन से बँधा रहता है। जनता-जनार्दन की सेवा का आजीवन व्रत लेना सत्याग्रही का श्रेष्ठ सकल्प है। सत्याग्रह का उद्देश्य है विरोध का अन्त करना, न कि विरोधी का। सत्याग्रही के सामने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श रहता है। किन्तु इस आदर्श की पूर्ति तभी सम्भव है जब व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन म अहिंसा का पालन करे। जो अपने व्यक्तिगत जीवन मे सत्याग्रही और अहिंसावादी नही है, वह सार्वजनिक विषयो मे अहिंसावादी नही बन सकता। सत्याग्रह के सार्वजनिक प्रयोग से पूर्व यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने हृदय को टटोल कर देख ले और स्वय पर नियन्त्रण कर ले। आन्तरिक चरित्र के अभाव मे सत्याग्रही प्रभावहीन रहेगा। एक सत्याग्रही का अहिंसात्मक युद्ध म भाग लेने से पूर्व इन्द्रिय-निग्रह, सरल जीवन, सत्य के प्रति निष्ठा और नियम पालन का भली-भाँति प्रशिक्षण ले लेना आवश्यक है।

सत्याग्रह स्वाश्रित है। इसके प्रयोग करने से पूर्व विरोधी की अनुमति आवश्यक नहीं होती। वस्तुत जब विरोधी प्रतिरोध करता है तो यह बहुत अधिक प्रकाशमान होता है। "सत्याग्रही अपने विरोधी के सम्मुख अपना आध्यात्मिक व्यक्तित्व प्रदर्शित करता है और उसके हृदय मे यह भावना उत्पन्न कर देता है कि अपने व्यक्तित्व को हानि पहुँचाए बिना उसे हानि न पहुँच सके।" इस प्रकार सत्याग्रह का अन्तिम विश्लेषण 'आत्मानुभूति और सयोग' की कला द्वारा आगे बढ़ना है।

गांधीजी का सत्याग्रह सामाजिक और राजनीतिक विघटन का फार्मूला नहीं है। एक सत्याग्रही को राज्य के नागरिक और नैतिक कानूनो का पालन करना चाहिए और यदि यह राज्य के किन्हीं नैतिक कानूनो का विरोध करता है तो ऐसा करते हुए यह ध्यान मे रखना चाहिए कि उसके कार्यों से सामाजिक सरचना अव्यवस्थित न हो। गांधीजी ने सत्याग्रही के लिए नैतिक अनुशासन के कठोर नियम भी प्रतिपादित किए थे। सन् 1921 मे उन्होंने सत्याग्रही कार्यकर्त्ताओं के लिए एक अनुशासन सम्बन्धी प्रतिज्ञा निकाली थी तथा सन् 1930 मे उनके लिए 19 नियम निर्धारित किए थे, किन्तु 26 मार्च, 1939 के अपने एक लेख में उन्होंने सत्याग्रह के लिए कम से कम निम्नलिखित योग्यताएँ आवश्यक मानी थीं—ईश्वर पर अटल विश्वास, सत्य और अहिंसा मे श्रद्धा, मानवीय अच्छाई मे विश्वास, शुद्ध जीवन-यापन, लक्ष्य पर मर मिटने की भावना, स्वभावत खद्दर धारण और सूत कातना, निर्व्यसन, अनुशासनप्रियता और जेल के नियमों का पालन, केवल उन नियमो को छोड़कर जो उसकी मान-हानि के लिए विशेष तौर पर बनाए गए हो। गांधीजी ने कहा कि सत्याग्रही कार्यकर्त्ताओ को रचनात्मक कार्यक्रम के प्रति गम्भीर दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। नेताओं, कार्यकर्त्ताओ तथा अहिंसात्मक सगठनों को जनता मे सत्याग्रह का प्रचार करना चाहिए।

सत्याग्रह की तकनीक—सत्याग्रह की कोई एक प्रविधि अथवा तकनीक (Technique) नही है। सत्याग्रह की तकनीक (1) असहयोग (Non-co-operation), (2) सविनय अवज्ञा (Civil Disobedience), (3) हिजरत (Hijrat), (4) उपवास (Fasting), और (5) हड़ताल (Strike) के रूपो मे प्रकट होती है।

1 सत्याग्रही असहयोग आन्दोलन के विस्तार मे हड़ताल, सामाजिक बहिष्कार और धरना—ये अहिंसात्मक उपाय बड़े सहायक हैं। हड़ताल का उद्देश्य कार्य को बन्द कर जनता, सरकार और सम्बन्धित सस्था के मस्तिष्क को प्रभावित करना है। किन्तु हड़ताल के विषय में यह आवश्यक है कि प्रथम तो हड़तालें जल्दी-जल्दी न हो अन्यथा उनका प्रभाव समाप्त हो जाएगा, और द्वितीय, वे पूर्णत स्वेच्छापूर्वक स्नेहपूर्ण व्यवहार और अहिंसात्मक प्रचार का परिणाम हों। सामाजिक बहिष्कार (Social boycott) का अभिप्राय उन समाज कटको का बहिष्कार करना है जो जनमत की अवहेलना करते हैं और उससे सहयोग नहीं करते। पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि ऐसे व्यक्तियो को आवश्यक समाज-सेवा से वचित

कर दिया जाए या अनादर और गालियों से उनके जीवन को असह्य बना दिया जाए। घरना (Picketing) भी दबावरहित अर्थात् समझाने-बुझाने वाला होना चाहिए। बैठकर धरना देना तो अत्याचार, जंगलीपन और हिंसा का एक रूप होगा।

भारत में सन् 1920–22 में गांधीजी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया गया था जिसके कार्यक्रम इस प्रकार थे—(i) सरकारी उपाधियों और पदों का त्याग तथा स्थानीय संस्थाओं की सदस्यता से त्याग-पत्र देना, (ii) सरकारी उत्सवों और दरबारों में भाग न लेना, (iii) सरकारी या सरकारी सहायता-प्राप्त या सरकार के अधीन स्कूलों और विद्यालयों का बहिष्कार तथा विभिन्न प्रान्तों में राष्ट्रीय शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं की स्थापना करना, (iv) सरकारी अदालतों का वकीलों और मुकद्दमेबाजों द्वारा बहिष्कार किया जाना तथा आपसी विवादों के निपटारे के लिए पंचायती अदालतों की स्थापना करना, (v) सैनिकों एवं कर्मचारियों द्वारा विदेश में नौकरी का बहिष्कार, एवं (vi) स्वदेशी माल का प्रचार तथा विदेशी माल का बहिष्कार।

महात्मा गांधी ने असहयोग आन्दोलन को चरम शिखर पर पहुँचा दिया, लेकिन जनता द्वारा हिंसात्मक वातावरण पैदा होते ही उन्होंने फरवरी, 1922 में आन्दोलन स्थगित कर दिया और इस बात की कोई परवाह नहीं की कि आन्दोलन के उद्देश्यों द्वारा सफलता पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

2 सविनय अवज्ञा (Civil Disobedience) को गांधीजी ने सबसे अधिक प्रभावशाली और क्रान्ति का रक्तहीन रूप बताया जिसका उद्देश्य 'अनैतिक नियमों' को तोड़ना था। इसके द्वारा 'प्रतिरोधी का विरोध अहिंसात्मक ढंग से प्रकट किया जाता है।' गांधीजी ने कहा कि "सविनय अवज्ञा हृदय से आदरपूर्ण और संयत तथा कुछ अच्छे सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए और इसके पीछे घृणा और शत्रुता की कोई भावना नहीं होनी चाहिए।"

3. हिजरत (Hijrat) सत्याग्रह की तीसरी तकनीक है जिसका अर्थ है स्थायी निवास-स्थान से अन्य स्थान को चले जाना। गांधीजी ने इस तकनीक की सलाह उन लोगों को दी "जो अत्यन्त दुःख अनुभव करते हैं और एक स्थान पर आत्म-सम्मान के साथ नहीं रह सकते तथा जो अहिंसापूर्ण ढंग से अपनी रक्षा नहीं कर सकते।"

4 उपवास (Fasting) सत्याग्रह का एक अत्यन्त शक्तिशाली रूप है। गांधीजी ने इस धार्मिक वृत्ति को विज्ञान के रूप में परिणत कर दिया। उन्होंने उपवास को वैयक्तिक साधन से सामाजिक साधन बना दिया। उनकी मान्यता थी कि सार्वजनिक उपवास जनता की प्रारम्भ शक्ति में वृद्धि करता है, पिछली भूलों के प्रति सावधान करता है, अन्याय का अहिंसात्मक प्रतिरोध करने की क्षमता प्रदान करता है और विपथगामी लोगों में सद्भावना का प्रचार करता है। उपवास में विपक्षी को कष्ट न देकर स्वयं कष्ट सहन किया जाता है। यह आत्म-पीड़न विपक्षी के हृदय में न्याय और सत्य को जगाता है।

5 हड़ताल (Strike) को भी गाँधीजी ने सत्याग्रह का एक अस्त्र बताया था। उन्होंने कहा कि अपने वैध कष्टों को दूर कराने के लिए यह श्रमिकों का एक शस्त्र है। किन्तु सत्याग्रहियों की हड़ताल भावना और व्यवहार में पूर्णत अहिंसक होनी चाहिए। हड़ताल का कारण न्यायपूर्ण होना चाहिए। हड़ताल को अहिंसात्मक बनाने के लिए गाँधीजी ने इस बात पर भी बल दिया कि लोगों को कुछ हस्तकला आनी चाहिए ताकि लम्बी हड़तालों के समय उन्हें अपने भरण-पोषण में कोई विशेष कठिनाई न हो।

सत्याग्रह के जिन विभिन्न रूपों की चर्चा यहाँ की गई है, वे ही सत्याग्रह के सम्पूर्ण रूप नहीं हैं। किशोरीलाल मशरूवाला ने लिखा है—"सत्याग्रह जितनी रीतियों से हो सकता है उन सब को गिनाया नहीं जा सकता। अधर्म का स्वरूप उसकी तीव्रता, उसका आचरण करने वाले व्यक्ति या समाज की विशेषताएँ, उसका और अपना सम्बन्ध, हमारा तथा जिसका पक्ष हमने लिया है उसकी जीवन में उस अधर्म को मिटा डालने की प्राप्त आत्म सिद्धि इन सब बातों पर सत्याग्रह की पद्धति, प्रकार और मात्रा निर्भर होती है। इस प्रकार सत्याग्रह में समझाने बुझाने से लेकर उपवास, असहयोग, सविनय अवज्ञा, कुटुम्ब-समाज राज्य का त्याग, अपने न्यायपूर्ण अधिकार का शान्तिपूर्वक उपयोग और यह सब करते हुए जो संकट आ जाएँ उनको सह लेना, आदि सत्याग्रह के अनेक रूप होते हैं।'

सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध—सत्याग्रह से निष्क्रिय प्रतिरोध का भ्रम हो सकता है, पर यह निष्क्रिय प्रतिरोध से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार उत्तरी ध्रुव दक्षिणी ध्रुव से। निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बल का अस्त्र है जबकि सत्याग्रह बलवानों का। निष्क्रिय प्रतिरोध शीघ्र राजनीतिक परिवर्तन का शस्त्र है जबकि सत्याग्रह आत्मशक्ति के बल पर सचालित किया जाने वाला नैतिकता का अस्त्र है। *निष्क्रिय प्रतिरोध में उद्देश्य-पूर्ति के लिए भौतिक शक्ति या हिंसा का प्रयोग* न्यायोचित हो सकता है जबकि सत्याग्रह प्रत्येक रूप में हिंसा के प्रयोग को निषिद्ध ठहराता है। निष्क्रिय प्रतिरोध में विवशतापूर्वक विरोधी के कार्यों को सहन किया जाता है और नकारात्मक कार्य किए जाते हैं जबकि सत्याग्रह में अत्याचारों को हँस कर सहन किया जाता है और सकारात्मक कार्य किए जाते हैं। प्रतिरोध में व्यक्ति की आन्तरिक सिद्धि जैसी कोई भावना निहित नहीं होती, किन्तु सत्याग्रह में आत्म-सिद्धि का होना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग केवल सीमित क्षेत्र में हो सकता है जबकि सत्याग्रह का प्रयोग विश्व व्यापी हो सकता है। गाँधीजी का सत्याग्रह जीवन और राजनीति का दर्शन है जो एक निरकुश शासन की *सम्पूर्ण सरचना को पगु बना देने के लिए सामूहिक प्रतिरोध का सहारा लेता है।*

विदेशी आक्रमण और युद्ध के विरुद्ध सत्याग्रह—अहिंसा की प्रतिरोधात्मक शक्ति में गाँधीजी की महान् आस्था थी। सत्याग्रह विरोधी के हिंसात्मक युद्ध में काम आने वाले शस्त्रों को किस तरह व्यर्थ और प्रभावहीन बना देता है, यह दक्षिणी अफ्रीका के जनरल स्मट्स के इन शब्दों से प्रकट है—

"मैं तुम्हारे लोगों को बिलकुल पसन्द नहीं करता और मैं उनकी सहायता करने की रत्ती भर भी परवाह न करता, पर मैं क्या करूँ ? तुम हम लोगों की जरूरत के समय मदद करते हो। हम तुम पर कैसे हाथ उठा सकते हैं ? मैं अक्सर यह चाहता हूँ कि तुम हिंसा के मार्ग पर चलते और अंग्रेज हड़तालिया के समान हिंसा का आश्रय लेते और तब हम आपको बताते कि आपसे कैसे निपटा जाता है, परन्तु तुम तो अपने शत्रु को भी क्षति नहीं पहुँचाते। तुम आत्म-पीडन द्वारा ही विजय चाहते हो और स्वयं पर आरोपित शिष्टाचार तथा वीरतापूर्ण मर्यादाओं का भी उल्लंघन नहीं करते, और यही चीज हमें असहाय बना देती है।"

भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध गाँधीजी ने जब अहिंसा और सत्याग्रह का प्रयोग किया तो अंग्रेज सैनिक अधिकारी चक्कर में पड गए। एक आयरिश सैनिक अधिकारी ने स्टेनले जोस को बताया कि "यदि वे उन शस्त्रों से लडें जिन्हें हम समझते हैं तो हम उन्हें कुछ कर दिखाएँ।" गाँधीजी के सत्याग्रह पर टिप्पणी करते हुए स्टेनले जोस ने कहा —"गाँधीजी सैनिकों के कवच को विदीर्ण कर रहे थे और उनके हृदय तथा अन्त करण पर आघात कर रहे थे जबकि एक महान् राष्ट्र उलटकर प्रहार कर रहा था, परन्तु उसकी अन्तरात्मा पर जो चोट पड रही थी उससे वह कराह रहा था।"

महात्मा गाँधी ने अबीसीनिया के निवासियों, चैकों, पोलों तथा आक्रमण से पीडित अन्य पक्षों को परामर्श दिया था कि वे आक्रमणकारियों के विरुद्ध अहिंसात्मक प्रतिरोध की नीति अपनाएँ। चीनियों से उन्होंने कहा था—"यदि चीनी लोग उनकी विचारधारा की अहिंसा को अपनाते तो जापान के विनाशकारी नवीनतम यन्त्रों का कोई उपयोग न रहता।" चीनी जापानियों से कहते—"अपने समस्त यन्त्रों को ले आओ, हम आधी जनसंख्या प्रस्तुत करते हैं परन्तु शेष 20 करोड तुम्हारे सामने घुटने नहीं टेकेंगे। यदि चीनी ऐसा करते तो जापान चीन का दास हो जाता।' गाँधीजी की दृढ मान्यता थी कि अहिंसात्मक प्रतिरोध अपनी मानसिक शक्तियों के प्रयोग से आक्रमणकारी पर निरन्तर एक ऐसा 'आक्रमण' करता रहता है जिसमें अन्तिम विजय उसी की होती है।

गाँधीजी ने आक्रमण-प्रतिरोध की जो तकनीक बतलाई वह मूलत दो चरणों में विभक्त है। प्रथम चरण में, आक्रमण के समय तथा संग्राम के बीच, अनुशासित ढंग से द्वेष-रहित अहिंसात्मक प्रतिरोध करना चाहिए। द्वितीय, महायुद्ध के दौरान जब भारत के पूर्वी सीमान्त पर जापानी आक्रमण हुआ तब गाँधीजी ने देशवासियों को सलाह दी कि "इस प्रकार के अहिंसात्मक प्रतिरोध के मूल में यह दृढ धारणा है कि यथासमय आक्रांता अहिंसक सेनानियों की हत्या करते-करते मन और शरीर से ऊब जाएगा, और तब बहुत जल्दी ही वह यह सोचने पर विवश हो — आखिर वह कौनसी विलक्षण शक्ति है जो वार नहीं करती बल्कि है और तब वह स्वयं नर-संहार को रोक देगा।"

महात्मा गांधी ने आक्रमण-प्रतिरोधक की जो तकनीक बतलाई वह सत्याग्रह पद्धति का ही विस्तार मात्र है। उन्हें सत्याग्रह के व्यापक प्रयोग की सफलता में कोई सन्देह नहीं था। यदि अहिंसात्मक प्रतिरोध के बावजूद आक्रान्ता नर-संहार न रोकते हुए प्रदेश पर आधिपत्य जमा लें तो आक्रमण-प्रतिरोध की तकनीक का दूसरा चरण शुरू कर देना चाहिए। इस स्थिति में अधीनस्थ प्रदेशवासियों का यह कर्त्तव्य होगा कि वे आक्रान्ता के प्रति पूर्ण असहयोग का रवैया अपनाएँ। जनता के सम्पूर्ण असहयोग के आगे अन्त में हमलावर को विवश होकर चला जाना पड़ेगा।

यद्यपि आज के हिंसा-प्रतिहिंसा के वातावरण में महात्मा गांधी की व्यापक *सत्याग्रह-पद्धति अथवा प्रतिरोध-तकनीक अव्यावहारिक प्रतीत होती है, तथापि इसका* परीक्षण करने पर ही इसकी वास्तविक शक्ति सिद्ध होगी। इतिहास बतलाता है कि हिंसा और अत्याचार के बल पर कभी भू-प्रदेश अधीन नहीं रखे जा सके हैं। यह बड़ी सारगर्भित बात है कि युद्ध-समर्थक अमेरिकी राजनेता जॉर्ज केन ने कुछ वर्ष पूर्व 'राइथ व्याख्यानमाला' में महात्मा गांधी की हिंसात्मक आक्रमण तकनीक को आधुनिक परिस्थितियों में विशेषकर सम्भावित परमाणु-युद्ध के सन्दर्भ में प्रतिरक्षा की एकमात्र उपयोगी तकनीक घोषित किया था।

अन्त में, यह भी उल्लेखनीय है कि सत्याग्रह में संख्या का महत्त्व नहीं होता *और सफलता बहुमत के कारण नहीं अपितु अल्पमत के कारण प्राप्त होती है,* भौतिक दृष्टि से बलवान व्यक्तियों के कारण नहीं, बल्कि नैतिक दृष्टि से शक्तिशाली व्यक्तियों के कारण होती है। सत्याग्रह के मार्ग में आत्मा की आवाज सर्वोच्च होती है और यदि किसी भी सरकार के आदेश और कानून आत्मा की आवाज के विरुद्ध होते हैं तो आत्म-बल से उनका प्रतिरोध करना होता है चाहे इसमें बहुमत का समर्थन मिले या न मिले। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में अनेक ऐसे अवसर आए जब गांधीजी ने अकेले ही किसी कानून या व्यवस्था का विरोध करने की घोषणा की, क्योंकि मान्यता थी कि "बुराई के साथ असहयोग एक पवित्र कर्त्तव्य है।"

हिंसक क्रान्ति की तुलना में सत्याग्रह की श्रेष्ठता

मार्क्स-लेनिनवादी सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन के लिए पूँजीवाद तथा शोषण की समाप्ति व वर्गहीन और राज्यहीन लोकतन्त्र की स्थापना के लिए हिंसापूर्ण क्रान्ति को *अनिवार्य समझते हैं जबकि सत्याग्रह के रूप में एक ऐसा मानवतावादी* अहिंसात्मक साधन हमें उपलब्ध है जिसके द्वारा उपर्युक्त उद्देश्यों की प्राप्ति बहुत ही शान्तिपूर्ण ढंग से अवांछित तत्त्वों के हृदयों पर विजय पाकर की जा सकती है। आज के युग में *हिंसापूर्ण क्रान्ति के स्थान पर सत्याग्रह द्वारा लाई गई क्रान्ति ही* स्थायी बन सकती है। हिंसक क्रान्ति की तुलना में सत्याग्रह की श्रेष्ठता इन तथ्यों से स्पष्ट है—

1 मार्क्सवादी-लेनिनवादी हिंसक क्रान्ति वर्ग-संघर्ष की धारणा के आधार पर चलती है जबकि समाज वास्तव में सहयोग पर स्थिर है। सत्याग्रह इसी सहयोग को प्रोत्साहन देता है।

2. क्रान्ति निरंकुशता और हत्याकाण्ड पर बल देती है जबकि सत्याग्रह आन्तरिक सुधार पर। स्पष्ट है कि अन्तरात्मा को प्रभावित करने वाला साधन सर्दव श्रेष्ठ होता है क्योंकि उसके परिणाम स्थायी होते हैं। क्रान्ति-जन्य प्रभाव तभी तक स्थिर रह सकते हैं जब तक पाशविक शक्ति और हिंसा का आतंक रहता है।

3. हिंसा मानवता के पतन का मार्ग है। एक बार पाशविक प्रवृत्तियों के उदय हो जाने पर उनसे छुटकारा पाना कठिन है। सत्याग्रह का युद्ध आत्मा की तलवार से लड़ा जाता है जिससे न केवल स्वयं की आत्म शुद्धि होनी है बल्कि विरोधी का हृदय परिवर्तन भी हो जाता है।

4 हिंसा अलोकतान्त्रिक है, सत्याग्रह पूर्ण लोकतान्त्रिक, तथा हिंसा अनैतिक है सत्याग्रह पूर्ण नैतिक।

5 हिंसा वह अस्त्र है जिसका प्रयोग समर्थ और शक्तिवान ही कर सकते हैं। सत्याग्रह मे प्रेम तत्त्व की प्रधानता होती है, अत उसका प्रयोग आबाल-वृद्ध-नारी कर सकते हैं। हिंसा शारीरिक बल पर आधारित है *तथा सत्याग्रह आत्मिक* बल पर।

6 हिंसा से आज तक किन्हीं समस्याओ का समाधान नहीं हुआ। समस्याओं का हल तो पारस्परिक वार्ता और सहयोग द्वारा होता है। सत्याग्रह विरोधी के मन का मैल धोता है, तथा उसके हृदय मे सहयोग और गुणो का सचार करता है। अत सत्याग्रह द्वारा प्रश्नो का स्थायी निर्णय हो सकता है।

7 हिंसा से अन्याय और अत्याचार की विजय होती है जबकि सत्याग्रह स सत्य और न्याय की विजय होती है।

8 आधुनिक शक्तिशाली राज्यो म हिंसक क्रान्तियो *का सफल होना अति* सदिग्ध है। *इसके विपरीत सत्याग्रह की सफलता की सम्भावनाएँ बहुत प्रबल हैं क्योंकि* इसके द्वारा राज्य के विरुद्ध अस्त्र-बल प्रयुक्त नहीं होता बल्कि शासनतन्त्र को आत्मबल के आधार पर अनुकूल परिवर्तन के लिए तैयार किया जाता है। क्या पश्चिमी पाकिस्तान घोर अत्याचार और निर्मम नर-सहार द्वारा बगला देशवासियों को सदा के लिए अपने अधीन बनाए रख सका? क्या तलवार के जोर पर वह बगला देशवासियों का हृदय परिवर्तन कर सका? स्पष्ट है कि ऐसा कभी नहीं हो सकता। यह तो तभी सम्भव है जब प्यार और सहयोग की आधारभूमि स्थापित की जाए। गांधीवाद के अनुसार, बगलादेश के 7 करोड से भी अधिक नागरिक पश्चिमी पाकिस्तान के विरुद्ध सत्याग्रह कर बैठे और सुनिश्चित रूप म अतिअल्पकाल्प मे ही अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया।

इस सम्पूर्ण विववेचन से स्पष्ट है कि सत्याग्रह के साधन का आविष्कार महात्मा गांधी की एक बहुत बडी देन है। सत्याग्रह का विचार पहले पारिवारिक क्षेत्र तक ही सीमित था। हमारे ऋषि-मुनियों ने *सत्याग्रह और अहिंसा का प्रयोग* वैयक्तिक और पारिवारिक क्षेत्र *तक ही किया था। लेकिन गांधीजी ने इस सामूहिक* और व्यापक रूप प्रदान किया तथा सम्पूर्ण सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में इसका

सफल प्रयोग कर दिखाया। स्वतन्त्रता-संघर्ष के समय सत्य और अहिंसा के आधार पर ही महात्मा गांधी ने देशवासियों मे चेतना, आत्म-विश्वास और स्फूर्ति का कुछ ही वर्षों में इतना संचार कर दिया था जो सम्भवत दूसरे उपायों से कई पीढ़ियो मे भी न हो पाता। अहिंसात्मक असहयोग और सविनय अवज्ञा आन्दोलन यद्यपि देश के लिए स्वतन्त्रता अविलम्ब अर्जित नहीं कर सके, तथापि इनसे राष्ट्रीय जीवन मे इतना प्रबल जागरण आया कि जहाँ सन् 1920–22 मे लगभग एक लाख लोग हँसते-हँसते जेलो मे चले गए थे वहाँ सन् 1930–33 मे यह सख्या बढकर लगभग 5 लाख हो गई और विदेशी शासन एक बारगी डगमगा गया। बम्बई के गवर्नर सर जॉर्ज लॉयर्ड ने स्वीकार किया कि सन् 1920–21 का आन्दोलन ससार के इतिहास मे ऐसा महान् परीक्षण था जिसकी सफलता मे केवल एक इच की ही कसर रह गई थी।

इसमे सन्देह नही कि सत्याग्रह बहुत ही उत्कृष्ट साधन है जिसके बल पर हम अपनी सार्वजनिक और राजनीतिक समस्याओ का निदान कर सकते हैं, तथापि इसका अनुचित प्रयोग अवांछनीय है। गलत उद्देश्यो के लिए, राष्ट्रीय हित की कीमत पर स्थानीय हितो की पूर्ति के लिए, बडे हितों को बलिदान कर छोटे हितो के सरक्षण के लिए कलुषित हृदय से सत्याग्रह करना तो इसे बदनाम करना है। स्वाधीन भारत मे समय-समय पर जो सत्याग्रह और अहिंसात्मक आन्दोलन हुए हैं, उनमे से अधिकांश मे इसी प्रकार की मनोभावना प्रबल रही है। अत हमारा कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि हम 'साध्य और साधन' दोनो की उत्कृष्टता मे विश्वास रखते हुए चलें तथा सत्याग्रह के साधन का उच्च ध्येय की पूर्ति के लिए सच्चे हृदय से प्रयोग करना सीखें। गांधीजी के इस शस्त्र को उपहास का पात्र न बनाएँ।

राज्य और समाज के बारे में गांधीजी के विचार

गांधीजी के राज्य-सम्बन्धी विचार दार्शनिक अराजकतावादी जैसे थे। उनका मत था कि राज्य एक आवश्यक दुर्गुण है जो मानव-जीवन के नैतिक मूल्यो पर आघात करता है। राज्य के विरुद्ध गांधीजी का पहला तर्क यह था कि राज्य का मूल हिंसा है। राज्य एक ऐसी सस्था है जो मनुष्य नित्यप्रति के जीवन मे उस पर बल-प्रयोग द्वारा दबाव डालती है। इसकी जडें हिंसा मे गडी हुई हैं। गांधीजी का कहना था कि राज्य द्वारा पुलिस, न्यायालय और सैनिक शक्ति के माध्यम से व्यक्तियो पर अपनी इच्छा थोपी जाती है। राज्य के विरुद्ध गांधीजी का दूसरा तर्क यह था कि राज्य एक बाध्यकारी शक्ति है जो मानव के व्यक्तित्व के विकास को कुण्ठित करती है। सन् 1934 मे उन्होने एक अवसर पर कहा था— मैं राज्य की शक्ति मे किसी भी प्रकार की वृद्धि को अधिकतम भय की दृष्टि से देखता हूँ।" यद्यपि देखने मे ऐसा लगता है कि राज्य कानून द्वारा शोषण का कम कर रहा है, तथापि वास्तविकता यह है कि राज्य मानव व्यक्तित्व का विनाश कर उसको सबसे बडी हानि पहुँचाता है। गांधीजी की मान्यता थी कि राज्य आज्ञा देता है और आज्ञा अपने साथ व्यक्ति के कार्यों का नैतिक मूल्य कायम नहीं रख सकती। राज्य के विरोध मे गांधीजी का

तीसरा तर्क यह था कि अहिंसा पर आधारित किसी भी आदर्श समाज में राज्य सर्वथा अनावश्यक है। यद्यपि बंकुनिन, क्रोपोटकिन और अन्य अराजकतावादी भी राज्य को अनावश्यक और व्यर्थ समझते थे, किन्तु उनकी युक्तियों के विपरीत गांधीजी की युक्ति पूर्णत नैतिकता पर आधारित थी।

उनके अनुसार राज्य का प्रथम कार्य सामाजिक आचरण को अनुशासित करना है। 2 जुलाई, 1931 के 'यग इण्डिया' मे उन्होने लिखा था—

"मेरे लिए राजनीतिक शक्ति कोई ध्येय नहीं है, बल्कि जनता के लिए एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अपनी दशा सुधार सके। *राजनीतिक शक्ति का अर्थ राष्ट्रीय प्रतिनिधियो द्वारा राष्ट्रीय जीवन को नियमित करने की क्षमता है। यदि राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण हो जाए कि वह स्वय नियमित अर्थात् आत्मानुशासित हो सके तो किसी प्रतिनिधित्व की कोई आवश्यकता नही होगी। तब वह एक प्रबुद्ध अराजकता (Enlightened Anarchy) की स्थिति होगी। ऐसी अवस्था मे प्रत्येक व्यक्ति स्वय अपना शासक होगा जो स्वय पर इस प्रकार शासन करेगा कि वह अपने पडोसी के लिए किसी भी रूप मे अधिक नही बनेगा। अत आदर्श अवस्था मे कोई राजनीतिक सत्ता नही होगी क्योकि उसमे कोई राज्य नहीं होगा।*"

गांधीजी राज्य को एक आवश्यक बुराई समझकर उसको तिरस्कृत करते थे क्योकि उनकी यह धारणा थी कि मनुष्य मूलत एक आध्यात्मिक प्राणी है जिसका वास्तविक स्वभाव स्वतन्त्रता है। ग्रीन की भांति उनका भी विश्वास था कि मानव आत्मा की स्वतन्त्रता चाहता है। लेकिन जहाँ ग्रीन का विश्वास था कि स्वतन्त्रता के लिए अधिकार आवश्यक है और अधिकारो के लिए राज्य आवश्यक है, वहाँ गांधीजी के अनुसार सच्ची स्वतन्त्रता का अर्थ था पूर्ण आत्मानुशासन और आत्म-सयम अथवा आन्तरिक स्वराज्य जो केवल प्रबुद्ध अराजकता की स्थिति मे ही सम्भव है।

इस तरह स्पष्ट है कि राज्य के प्रति गांधीजी का दृष्टिकोण अराजकतावादी था। समाज के विषय में गांधीजी का दृष्टिकोण बहुत व्यापक था। उन्होने अहिंसात्मक राज्यहीन आदर्श समाज की कल्पना की थी। इस समाज मे प्रत्यक व्यक्ति अपना शासक स्वय होगा जो अपना शासन इस प्रकार करेगा कि वह अपने पडोसी के मार्ग मे बाधक सिद्ध न हो। इस अहिंसक आदर्श समाज मे प्रत्येक गाँव एक प्रजातन्त्र या एक पंचायत होगा जिसे पूर्ण सत्ता प्राप्त होगी तथा प्रत्येक गाँव स्वावलम्बी और स्वायत्तशासी होगा। बाह्य आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए उसे अहिंसा की शिक्षा द्वारा तैयार किया जाएगा। इस स्वाधीन समाज मे पडोसियो या ससार के किसी देश से स्वेच्छापूर्वक सहायता लेने या उन पर निर्भर रहने का बहिष्कार नही होगा। ऐसा समाज उत्तम सस्कृति और सभ्यता वाला होगा जिसमे प्रत्येक स्त्री-पुरुष को इसका ज्ञान होगा कि उसे क्या चाहिए और इससे भी अधिक यह ज्ञान होगा कि किसी को ऐसी चीज की इच्छा नही करनी चाहिए जो उस दूसरो

के समान श्रम से न मिल सकती हो। आदर्श समाज मे ग्राम एक लचीले सघ में सगठित होगे और सघ का आधार शक्ति न होकर नैतिकता होगी। सघ के पास पुलिस या सेना शक्ति नही होगी। यह समाज विकेन्द्रित होगा जिसमे जीवन सरल और सभ्यता ग्रामीए होगी। इस अहिंसात्मक समाज का जो सामाजिक-आर्थिक ढाँचा होगा वह आज के ढाँचे से बहुत भिन्न होगा। उसमे बडे-बडे नगरो, पुलिस, कानूनी न्यायालय, जेल, भारी उद्योग और सवादवाहन के लिए कोई स्थान नहीं होगा। यह अहिंसात्मक समाज सरकार से मुक्त होगा क्योकि अहिंसा के सिद्धान्त का पूर्णत पालन करने से प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक स्वय होगा और स्वत अपने सामाजिक कर्त्तव्य का पालन करेगा।

गांधीजी ने यद्यपि पूर्ण अहिंसात्मक और राज्यहीन समाज की कल्पना की थी, किन्तु वे स्वप्नलोकीय विचारक न होकर एक यथार्थवादी विचारक थे। वे यह जानते थे कि वास्तविक मानव जीवन मे पूर्ण अराजकता की अवस्था स्थापित होना सम्भव नही है। वे समझते थे कि आधुनिक समय मे समाज के सभी सदस्यो से पूर्ण आदर्श नैतिकता की आशा करना अव्यावहारिक है। अत उन्होने, प्लेटो के समान मानव दुर्बलताओ को ध्यान मे रखते हुए सर्वोत्तम राज्य का प्रतिपादन किया अर्थात् यह स्वीकार किया कि सम्पूर्ण ससार मे एक प्रधान रूप से अहिंसात्मक राज्य तो सम्भव है किन्तु पूर्णत अहिंसात्मक राज्यहीन समाज नही। उन्होने यह स्वीकार किया कि समाज मे मानव के सामाजिक आचरण को विनियमित करने के लिए एक प्रकार की सरकार अथवा राजनीतिक सत्ता अवश्य होनी चाहिए बशर्ते कि वह कम से कम शासन करे। थोरू (Thoreu) की भाँति उनका दृढ विश्वास था कि "वही सरकार सर्वोत्तम है जो कम से कम शासन करती है।" गाँधीजी मनुष्य के स्वावलम्बी जीवन के समर्थक थे और चाहते थे कि राज्य अपने कार्यों को कम क्षेत्रो तक सीमित कर दे। राज्य के अनुचित और अनावश्यक हस्तक्षेप को वे अप्रजातान्त्रिक मानते थे। उनका कथन था कि एक राष्ट्र जो राजकीय हस्तक्षेप के बिना अपना कार्य सुगमता और प्रभावशाली ढग से करता है, वह वास्तव मे सच्चे रूप मे प्रजातन्त्रात्मक है। जहाँ ऐसी व्यवस्था नहीं है, वहाँ शासन-प्रणाली केवल नाम मात्र के लिए ही प्रजातन्त्रीय होती है। गाँधीजी राज्य को एक साध्य न मान कर साधन मानते थे, अपने अहिंसात्मक लोकतन्त्र मे, जो उनके राज्यहीन समाज के आदर्श के सबसे निकट है, गाँधीजी जिस सरकार की सत्ता का समर्थन करते थे, वह विभिन्न सामाजिक समस्याओ का अहिंसात्मक ढग से निराकरण करने वाली थी। इसमे सशस्त्र पुलिस हो सकती है, किन्तु इसका स्वरूप और आचरण अहिंसात्मक होगा, शस्त्रो का प्रयोग बहुत ही कम किया जाएगा। वास्तव मे पुलिस दण्डनायक न होकर सुधारक होगे। इस अहिंसा प्रधान राज्य के जेलखाने भी सुधारगृह होगे।

गाँधीजी का विश्वास था कि प्रजातन्त्र को अहिंसात्मक साधन द्वारा मूर्तिमान किया जा सकता है। परन्तु वे लोकतन्त्र की बहुमत सम्बन्धी समस्या के प्रति जागरुक

थे। उनका विचार था कि लोकतन्त्रात्मक शासन के सुचारु संचालन के लिए बहुसंख्यकों की भाँति अल्पसंख्यकों का सहयोग भी आवश्यक है, क्योंकि "बहुमत द्वारा एक जीवित श्रद्धा का निर्माण नहीं हो सकता, बहुमत द्वारा निर्मित सरकारों का एक दुष्प्रभाव व्यभिचार है।" गाँधीजी ने कहा कि बहुमत को अल्पसंख्यकों के विचारों का स्वागत करना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि बहुमत सदैव सत्य हो। सार्वजनिक हित, जो प्रत्येक लोकतन्त्रात्मक शासन का मौलिक गुण है, एक वर्ग अथवा व्यक्ति द्वारा भी प्रस्तुत किया जा सकता है। यह कहना असत्य है कि बहुमत सदैव शक्तिशाली होता है। एक प्रतिभाशाली व्यक्ति एक हजार मूर्खों से निश्चय ही अच्छा है। गाँधीजी ने बतलाया कि सच्चे लोकतन्त्र के अन्तर्गत बहुमत में आलोचना सहन करने की क्षमता होनी चाहिए और अल्पसंख्यक वर्ग को भी बहुमत की उचित बातें स्वीकार करनी चाहिए।

प्रतिनिधि प्रणाली, संसदीय व्यवस्था आदि पर विचार

महात्मा गाँधी ने प्रजातन्त्र के चुनाव और प्रतिनिधित्व प्रणाली के बारे में भी विचार व्यक्त किए थे। चुनावों के प्रति उनका कुछ अच्छा विचार नहीं था। उनका कहना था कि चुनाव के सम्बन्ध में लोग प्रसन्नतापूर्वक विश्वास करते हैं कि ऐसा करके वे स्वशासन की स्थापना करते हैं। किन्तु उनका यह विश्वास कभी पूर्ण नहीं हो पाता। इसके विपरीत चुनावों द्वारा एक शोषणकारी वर्ग जन्म लेता है जिसके द्वारा व्यक्ति का नैतिक पतन कर दिया जाता है। उन्होंने 'हिन्द स्वराज्य' में एक बार लिखा था—"सदस्यगण अपने राजनीतिक दल को बिना विचारे ही मत प्रदान करते हैं। तथाकथित अनुशासन उनको ऐसा करने को बाध्य करता है। यदि अपवाद के रूप में कोई व्यक्ति अपना स्वतन्त्र मत प्रदान कर दे तो उसको गद्दार समझा जाता है।" इसके अतिरिक्त चुनावों में अत्यधिक व्यय किया जाता है और इसमें जो प्रचार होता है वह व्यक्ति को अनेक झूठी बातें कहने को प्रेरित करता है। इसके द्वारा हरामखोरों और स्वार्थियों को पर्याप्त लाभ मिलता है। फिर भी गाँधीजी जानते थे कि व्यावहारिक रूप में चुनावों से बचना सम्भव नहीं है। अतः वे चाहते थे कि निर्वाचन में जो प्रत्याशी खड़े हों, उनकी अर्हताएँ विशेष रूप से कठोर हों। देश के प्रशासन में भाग लेने वाले प्रत्याशी निःस्वार्थी हों, योग्य हों, ईमानदार हों, पद-लोलुप न हों, अपनी प्रशंसा के भूखे न हों, अपने राजनीतिक विरोधियों के प्रति अहिंसक हों और मतदाताओं को भ्रष्ट करने का प्रयत्न करने वाले न हों। गाँधीजी तो यह भी नहीं चाहते थे कि कोई प्रत्याशी मतों के लिए प्रार्थना करे। "प्रत्याशी केवल मतदाताओं की सेवा करके उनके मत प्राप्त करें।" गाँधीजी सभी नागरिकों (स्त्री-पुरुष) को मतदान का अधिकार देना चाहते थे और मताधिकार के लिए एक अर्हता को अनिवार्य मानते थे कि वह कुछ श्रम करता हो। उनका कहना था कि सम्पत्ति मताधिकार का आधार नहीं होनी चाहिए। कोई व्यक्ति हाथ से श्रम करके जीविकोपार्जन करता है या नहीं, यह मताधिकार की कसौटी होनी चाहिए।

गांधीजी ने सन् 1931 और 1942 मे पचायतो के लिए अप्रत्यक्ष चुनावों का समर्थन किया था। वे सत्ता के विकेन्द्रीकरण के पक्ष मे थे और इस दृष्टि से उन्हे गावों के लिए प्रत्यक्ष चुनाव-पद्धति अधिक उपयुक्त व लाभदायक प्रतीत हुई। गांधीजी चाहते थे कि ग्राम पचायतें ग्रामो का शासन सचालन करें, ग्राम पचायतो से जिले के प्रशासन अधिकारी चुने जाएँ, जिलों के प्रशासन प्रान्तीय प्रशासन के लिए प्रतिनिधि चुनें और प्रान्तीय प्रशासन देश के राष्ट्रपति का निर्वाचन करें।

उल्लेखनीय है कि गांधीजी का मूलत. ससदीय पद्धति के सम्बन्ध मे कोई अच्छा मत नहीं था। उन्होने 'हिन्द स्वराज्य' में ब्रिटिश ससद की तुलना एक पतित औरत एव वेश्या से की थी जिसके द्वारा कोई भी अच्छा कार्य अपनी इच्छा से नहीं किया जाता। यह हमेशा याचिकाओं और अन्य दबाव के माध्यम से कार्य करती है। इसे वेश्या इस दृष्टि से कहा गया क्योंकि इसका कोई वास्तविक स्वामी नही होता। यह बदलते हुए प्रधान मन्त्रियों के नियन्त्रण मे रहती है जो कल्याण की अपेक्षा सदैव सत्ता का ख्याल रखते हैं। व्यवस्थापन मे भी गांधीजी का अधिक विश्वास नहीं था। उनका कहना था कि यदि हम यह मानते हैं कि केवल कानून पारित करने से बुराइयो को दूर किया जा सकता है तो यह एक प्रकार से अपने आपको धोखा देना है। मूल बात यह है कि हृदय-परिवर्तन हो। हृदय-परिवर्तन बिना व्यवस्थापन प्रभावहीन रहेगा। गांधीजी के कथनानुसार, "एक लोकप्रिय राज्य लोकमत जाने बिना कभी कार्य नहीं कर सकता। यदि वह उसके विरुद्ध हो जाता तो स्वय ही नष्ट हो जाएगा।" महात्मा गांधी ने ससदीय कार्यों की गणना राष्ट्रीय क्रियाओं के सबसे कम महत्त्वपूर्ण भाग के रूप में की थी। उनके अनुसार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एव उल्लेखनीय कार्य तो उसके बाहर ही किए जाते हैं। इसी दृष्टि से उन्होने अधिकार-पत्र की उपयोगिता पर भी अधिक जोर नहीं दिया। यदि इन अधिकारो को अच्छी तरह से प्रकाशित नहीं किया जाता तो इसका बहुत कम महत्त्व होगा। उन्होंने कहा कि जब तक व्यक्ति मे मानवता और निर्भीकता नहीं आती, तब तक हमारे कोई भी अधिकार हमारी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकते।

गांधीजी का मत था कि कानून हमेशा आत्म-रक्षा के लिए होने चाहिए। यदि वे उन्नति और विकास को अवरुद्ध करते हैं तो बेकार हैं और उनको एक तरफ रख देना चाहिए। कोई भी मानव कानून स्थायी रूप से व्यक्ति के लिए बाध्यकारी नहीं हो सकते।

राष्ट्रवाद एव अन्तर्राष्ट्रीयवाद

महात्मा गांधी भारत के व्यापक क्षेत्र मे राजनीति को लेकर प्रविष्ट हुए। अत भारतीय जनता ने अधिकांशत उन्हे राजनीतिक नेता और देशभक्त राष्ट्रवादी के रूप मे ही पहचाना। पर राष्ट्रवाद की सीमा में आजकल व्यावहारिक रूप से जिन बातो का समावेश होता है गांधीजी का राष्ट्रवाद, उनका देश-प्रेम और उनकी राजनीति स्पष्टत. उन बातो से भिन्न थी। जो राष्ट्रवाद आज दुनिया के लिए घातक सिद्ध हो रहा है, जिसने मानव हृदय के सत्य और सुन्दर स्वरूप का गला घोट

दिया है और जो ससार की शान्ति के लिए एक महान् खतरा बन गया है, गांधीजी उस राष्ट्रवाद के समर्थक नही थे। यदि गहराई से देखा जाए तो दो बातें विद्युत् प्रकाश की तरह स्पष्ट चमकती हुई दिखाई देती हैं—एक तो यह है कि उनका राष्ट्रवाद जीवन की साधना का एक अग था, वह ध्येय न होकर साधन था, और दूसरी बात यह कि उनका राष्ट्रवाद राजनीति की अपेक्षा नैतिक अधिक था। गांधीजी के राष्ट्रवाद की नींव भौतिक आकांक्षाओ पर आश्रित न होकर, जीवन की श्रेष्ठता और आध्यात्मिक सिद्धान्तो पर आश्रित थी।

महात्मा गांधी ने राष्ट्रवाद को हमारे सामने अत्यन्त शुद्ध रूप मे प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि जहाँ भारत एक राष्ट्र है, वहाँ वह विश्व का एक महत्त्वपूर्ण अग भी है। सारांश मे गांधीजी का राष्ट्रवाद उनके विश्व-प्रेम का ही एक रूप था। उनका कथन था कि "मेरा लक्ष्य विश्व-मैत्री है। हम विश्व-भ्रातृत्व के लिए *जीना और मरना चाहते हैं।" गांधीजी ने जीवन भर भारत-राष्ट्र की स्वतन्त्रता के* लिए अथक् परिश्रम किया। उन्होंने राष्ट्र भाषा, राष्ट्रीय शिक्षा और राष्ट्रीय एकता पर बल दिया और यह सब कुछ इसलिए किया क्योंकि उनके शब्दो मे—"मैं अपने देश की स्वतन्त्रता इसलिए चाहता हूँ कि अन्य राष्ट्र मेरे राष्ट्र से कुछ सीख सकें। मेरी राष्ट्रीयता उग्र अन्तर्राष्ट्रीयता है।" उन्होने एक बार कहा था —"मानवता जीवित रखने के लिए यदि आवश्यकता हो तो सब देशो की बलि दी जा सकती है।" स्पष्ट है कि गांधीजी की दृष्टि मे विशुद्ध राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता की विरोधी नहीं है, बल्कि उसके विकास मे सहायक है, क्योंकि "एक व्यक्ति के राष्ट्रीयतावादी हुए बिना अन्तर्राष्ट्रीयतावादी होना असम्भव है।" राष्ट्रवाद कोई बुराई नही है, बुराई तो सकीर्णता, स्वार्थ और एकाकीपन की भावनाएँ हैं जिनसे आज के राष्ट्र ग्रसित दिखाई देते हैं।

गांधीजी के राष्ट्रवाद मे अहंकार, अन्य जातियो के पद-दलित करने अथवा अपने राष्ट्र के स्वार्थ के लिए अन्य दुर्बल देशो का मनमानी उपयोग करने का भाव नहीं है। उनके राष्ट्रवाद में जाति और धर्म का भेदभाव नही है। *वह तो विश्व-प्रेम* का, विश्ववाद का तथा मानव-जाति की सेवा का एक साधन है।

गांधीजी और विकेन्द्रीकरण
(Gandhiji & Decentralisation)

विकेन्द्रीकरण पर गांधीजी के विचार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। राजनीतिक एव *आर्थिक दोनों ही क्षेत्रो मे विकेन्द्रीकरण उनके अहिंसा प्रधान राज्य का एक प्रमुख* लक्षण था। गांधीजी के अनुसार विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता इसलिए है कि केन्द्रीकृत व्यवस्था शक्ति एव हिंसा पर आधारित होती है। एक व्यवस्था के रूप में केन्द्रीकरण का परिणाम होता है ऊपर के कुछ व्यक्तियो के हाथो मे सत्ता का एकत्रित होना जो सामाजिक समानता तथा व्यक्तित्व के सिद्धान्तों के विपरीत है। गांधीवादी सामाजिक दर्शन में विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त की व्याख्या अग्रिम अवतरण मे बड़ी सुन्दर रीति से की गई है—

'विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त का समर्थन गांधीवाद मे इस अनुभूति के आधार पर किया जाता है कि केन्द्रीकृत उत्पादन की वर्तमान व्यवस्था तथा राजनीतिक सत्ता का एकत्रीकरण ये दोनो ही बातें व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक वातावरण के प्रतिकूल होती हैं। गांधीजी का विश्वास था कि मानव सुख का लक्ष्य, जो व्यक्ति के मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास की पूर्ण सुविधा पर निर्भर है, उत्पादन और सत्ता की विकेन्द्रीकृत व्यवस्था मे ही प्राप्त हो सकता। राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण से व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा स्वत कार्य करने की सामर्थ्य पर आधारित जनतन्त्र कारगर होता है और इसके द्वारा व्यक्ति अपने देश के शासन मे भाग ले सकता है। इससे मानव जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओ के उत्पादन और वितरण की व्यवस्था अपने आप ही हो जाती है। उत्पादन और उपभोग दोनो एक ही स्थान पर होंगे। *ऐसा नहीं होगा कि उत्पादन किसी एक ही विशिष्ट स्थान पर केन्द्रित हो* जिससे उपज तथा सम्पत्ति के वितरण के लिए नियमो के निर्माण की आवश्यकता पड़े। विकेन्द्रीकरण से मशीनों का नियमन भी हो सकेगा। स्वार्थ सिद्धि के लिए मशीनो के वर्तमान अनियन्त्रित प्रयोग से असख्य लोगो का जीवन नीरस तथा भार रूप हो गया है।"

राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ यह है कि ग्रामो को अपने कार्यों की व्यवस्था करने मे अधिक से अधिक स्वतन्त्रता और अपनी ओर से कार्य करने की सुविधा प्राप्त होनी चाहिए। उनके ऊपर राष्ट्रीय अथवा सघीय सरकार का नियन्त्रण न्यूनतम होना चाहिए। यदि नियन्त्रण स्वरूप मे दमनकारी न होकर केवल नैतिक हो तो वह आदर्श व्यवस्था होगी। राष्ट्रीय निकायो के लिए चुनावो को अप्रत्यक्ष बना देने से विकेन्द्रीकरण मे बहुत सहायता मिलेगी। प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर निर्मित राष्ट्रीय ससद अपने हाथो मे अत्यधिक सत्ता हस्तगत कर व्यक्ति के विकास के लिए भयावह सिद्ध होगी। अपने 'हिन्द स्वराज्य' मे गांधीजी ने ब्रिटिश ससद की कटु आलोचना की थी।

राजनीतिक क्षेत्र म विकेन्द्रीकरण का जो विचार महात्मा गांधी ने प्रस्तुत किया, उसकी आवश्यकता को पाश्चात्य ससार आज अनुभव कर रहा है। आज जिस प्रकार बहुलवाद (Pluralism) राजसत्ता की निरकुशता के विरुद्ध आवाज उठा कर उसे अनेक मधो मे विभाजित करना चाहता है, वह गांधीवादी दर्शन की इस मान्यता के अनुरूप है कि राजा सर्वेसर्वा नही होना चाहिए और राजसत्ता सीमित, मर्यादित तथा नियन्त्रित होनी चाहिए। प्रो जोड का मत है कि यदि सामाजिक कार्यवाही मे मानव विश्वास को पुनर्जीवित करना है तो "शासन के टुकडे करके उसके कार्यों को बाँट देना चाहिए। *शासन की मशीन का आकार छोटा कर* देना चाहिए और इसे अस्थायी रूप देकर ऐसा बना देना चाहिए कि इसका प्रबन्ध सरलतापूर्वक किया जा सके ताकि अपने राजनीतिक परिश्रम का प्रतिफल सम्मुख देखकर वे यह अनुभव कर सकें कि जहाँ स्वशासन एक तथ्य है वहाँ समाज इनकी इच्छाओ के सम्मुख छिप जाता है क्योंकि वे स्वय ही समाज हैं।"

आर्थिक विकेन्द्रीकरण का ध्येय विशाल पैमाने पर कार्य करने वाले उद्योगो और कारखानो को बन्द कर उनके स्थान पर कुटीर उद्योगो को स्थापित करना है। गांधीजी स्वदेश व कुटीर व्यवस्था (Cottage Industries) के समर्थक थे और यूरोप के औद्योगिक इतिहास का अध्ययन कर इस निर्णय पर पहुँचे थे कि भारत जैसे देश मे जहाँ जनसख्या बहुत अधिक है बडे बडे कल कारखानो की स्थापना बेरोजगारी व बेकारी को बढाने के अतिरिक्त और कुछ नही करेगी। बडे उद्योगो द्वारा उत्पादन दरिद्र कारीगरो का विनाश कर देगा और मजदूर तथा मालिको के झगडो से समाज मे भीषण अशान्ति व्याप्त हो जाएगी। देश की कृषि अवनत हो जाएगी और कच्चे माल के बिना अन्त मे वे बडे उद्योग भी विनष्ट हो जाएँगे। गांधीजी का यह दृढ विश्वास था कि अपने चारो ओर के ससार म आज हिंसा का जैसा नर्तन दिखाई देता है उसका एक बहुत बडा अश कन्द्रीकृत औद्योगिक व्यवस्था का ही परिणाम है। भौतिक पाश्चात्य सभ्यता की अधिकांश बुराइयाँ इसी की देन हैं। साम्राज्यवाद, अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता, सघर्ष आदि एक बडी सीमा तक इसी की उत्पत्ति हैं। अत अहिंसा प्रधान राज्य म अत्यधिक केन्द्रीकृत औद्योगिक व्यवस्था के स्थान पर कुटीर-उद्योग व्यवस्था ही उपयुक्त होगी जिसम उत्पादन के यन्त्रो और उत्पादित वस्तु का स्वामी स्वय श्रमिक होगा। गांधीजी का यह स्पष्ट मत था कि यदि आर्थिक क्षेत्र मे सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तो का प्रस्थापित करना है तथा मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को समाप्त करना है तो इसका सर्वोत्तम साधन कुटीर उद्योग ही हैं। कुटीर-उद्योग व्यवस्था मे राष्ट्रीय सम्पत्ति के वितरण म अधिक विषमता नहीं आ सकती।

शारीरिक श्रम की महान् उपयोगिता मे आस्था रखने वाले गांधीजी के लिए यह स्वाभाविक था कि उन्होने आधुनिक औद्योगिकता मशीनो द्वारा बड पैमाने पर केन्द्रीभूत उत्पादन आदि को मनुष्य जाति के लिए एक अभिशाप समझा किन्तु यह नही समझा जाना चाहिए कि गांधीजी मशीनो और मशीनो द्वारा सचालित बड बड उद्योगो के सर्वथा विरुद्ध थे। गांधीवाद चर्खा भक्ति या लगोटी लगान की सीख दन वाली आर्थिक व्यवस्था (Loin Cloth Economy) नही है। गांधीवाद औद्योगीकरण का विरोधी होते हुए भी उस सीमा तक मशीनो के प्रयोग की अनुमति देता है जहाँ तक वह सम्पूर्ण समाज के हित मे बाधक नहीं है। गांधीजी ऐसी मशीनो का प्रयाग नही चाहते थे जो या तो विनाशकारी हो या शोषण को प्रोत्साहन देने वाली हो। उदाहरणार्थ, तोप, बन्दूक, मशीनगन व बम आदि विनाशकारी हैं अत इनका निर्माण सवथा त्याज्य है। इसी प्रकार बडे-बडे कारखानो मे प्रयुक्त होने वाली व मशीनें जो श्रमिको का शोषण करने मे पूँजीपतियो की सहायता करती हैं त्याज्य हैं। पर रेल, जहाज, सिलाई मशीन, हल, चर्खा, फावडा आदि मशीनो का प्रयोग विहित है क्योकि वे मनुष्य के लिए आवश्यकता की वस्तुओ के उत्पादन म सहायक होती हैं। व गृह-उद्योगो में काम आने वाली मशीनों के प्रयोग और उनके सुधार के समर्थक थे, यद्यपि वह कहते थे कि "यान्त्रिक शक्ति से चलने वाली मशीनो का व्यवहार कर

लाखों लोगो को बेकार कर देना मेरी दृष्टि मे अपराध है।" वास्तव मे 'समय और दूरी को नष्ट करने, पाशविक इच्छाओं की वृद्धि करने तथा उनको पूर्ण करने के लिए जमीन आसमान एक कर देने की 'उन्मादपूर्ण इच्छा' से उन्हें हार्दिक घृणा थी। उनके अहिंसा प्रधान राज्य मे जीवन बहुत सादा होगा और जनता की आवश्यकताएँ भी कम होगी जिनकी पूर्ति सरलता से हो सकेगी। ऐसे वातावरण में उत्पन्न होने वाली सभ्यता ग्रामीण सभ्यता होगी। इसका एक बहुत बड़ा लाभ यह होगा कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय सघर्षों और तनाव का अन्त हो जाएगा। जब समाज छोटी-छोटी इकाइयो मे विभक्त होगा, दैनिक आवश्यकता की सारी चीजें स्थानीय कुटीर-व्यवसायो से प्राप्त हो जाएँगी, छोटे धन्धे गाँवो मे इतनी उन्नत दशा मे होगे कि प्रत्येक कारीगर व देश के सशक्त नवयुवक को काम मिल सकेगा तो निश्चित रूप से औद्योगिक पूँजीवाद की प्रतियोगिता समाप्त होकर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना हो सकेगी। अहिंसा और विकेन्द्रीकरण के आधार पर स्थित समाज से दूसरे समाजों की स्वतन्त्रता तथा सुरक्षा को कोई भय नहीं होगा और न उस समाज को ही उनसे कोई भय रहेगा। किन्तु यहाँ यह शका होती है कि क्या आर्थिक क्षेत्र मे विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त को इस प्रकार कार्यान्वित किया जा सकता है कि बड़े-बड़े कारखानों को पूर्णतया बन्द कर दिया जाए? यहाँ गांधीजी का आदर्शवाद पुन यथार्थ से सन्धि करता है। एक व्यावहारिक व्यक्ति होने के नाते गांधीजी ने मनुष्य की दुर्बलताओ को ध्यान मे रखते हुए यह अनुभव किया कि चूँकि राज्यहीन समाज 'एक सुदूर दैविक घटना' है, अत. शीघ्रता मे तुरन्त ही भारी यातायात एव यान्त्रिक उद्योगो को बन्द कर देना सम्भव नहीं है। अहिंसात्मक राज्य मे भाप और बिजली के प्रयोग तथा न्यूनतम केन्द्रीकृत उद्योगों को रहने देने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी, बशर्ते कि नागरिक उद्योगवाद के दोषो से बचे रहें। सिद्धान्त यह है कि बड़े पैमाने के उद्योगो को कुटीर उद्योगों का प्रतिद्वन्द्वी न होकर उनका सहायक होना चाहिए। वस्तुतः गांधीवादी अर्थव्यवस्था केन्द्रित एव औद्योगिक व्यवस्था के दुर्गुणो के विरुद्ध चेतावनी देकर एक ऐसी विकेन्द्रित व्यवस्था चाहती है जिससे कुटीर व ग्रामीण उद्योगो का विकास हो और पूँजीपति नैतिकता का पालन करते हुए स्वय को पूँजी का ट्रस्टी मात्र समझें, स्वामी नही।

प्राय. यह कहा जाता है कि "गांधीजी का राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का विचार अवश्य ही उचित है, लेकिन कुटीर-उद्योग के पुनरुत्थान करने का उनका प्रयास एक प्रतिगामी कदम है, घड़ी की सुइयों को पीछे की ओर घुमाना है।" गांधीजी के आर्थिक विकेन्द्रीकरण की इस आलोचना को पूर्णत· सही नही कहा जा सकता, क्योकि यह एक तथ्य है कि जितने दोषो से आज हम ग्रस्त हैं उनमे से अधिकांश आधुनिक उद्योगवाद और उससे उत्पन्न निर्दय शोषण का परिणाम हैं। साम्यवाद उद्योगवाद को कायम रख कर उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व के सामाजीकरण द्वारा उसके दोषो को दूर करने का प्रयास करता है। किन्तु साम्यवाद का प्रयोग उद्योगवाद के दोषो से मानव जाति को मुक्त नहीं कर सकता। ये दोष तभी मिट सकते हैं जब इनके स्रोत को ही नष्ट कर दिया जाए। इसमे सशय की कोई गु जाइश

नहीं है यदि मनुष्य इन ससार को एक अधिक श्रेष्ठ निवास-स्थल बनाना चाहता है तो राजनीति ही नहीं बल्कि अर्थनीति भी सत्य और अहिंसा पर आधारित होनी चाहिए। मानवता को बढते हुए कष्टों से बचाने के लिए औद्योगीकरण की नीति का परित्याग करना एक सफल उपचार सिद्ध हो सकता है। विशाल पैमाने का उद्योगवाद यदि आज के समान ही पूर्णत गतिशील रहा तो मानव जाति को प्रथम दो महायुद्धों से भी भयानक और विनाशकारी तृतीय महायुद्ध की विभीषिकाओं का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

गांधीजी का स्वतन्त्रता-दर्शन
(*Gandhiji's Philosophy of Freedom*)

गांधीजी में नैतिक और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के प्रति अगाध लगन के साथ हम राजनीतिक स्वतन्त्रता की उत्कट लालसा के दर्शन करते हैं। गांधीजी के लिए स्वराज सत्य का अग है जिसमे स्वतन्त्रता की भावना सन्निहित है। राजनीतिक स्वतन्त्रता अथवा स्वराज केवल कष्टों और सघर्षों द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, ऐसा गांधीजी का विश्वास था। गांधीजी ने एक लेख द्वारा व्यक्त किया था कि भारत मे ब्रिटिश शासन के विरुद्ध असन्तोष का प्रसार करना भारतीयों का धर्म था। महान् मनोवैज्ञानिक दूरदर्शिता के साथ गांधीजी ने साम्राज्यवादी देशों को यह पूर्व चेतावनी दे दी थी कि *दूसरों पर साम्राज्य स्थापित करने की लालसा महान्* शक्तियों का नैतिक पतन कर देगी। गांधीजी ने लोकमान्य तिलक के इस विख्यात मन्त्र की सत्यता को हृदय से स्वीकार किया कि स्वराज प्राप्ति भारतीयों का जन्मसिद्ध अधिकार है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों मे कहा था—"जो कोई भी जनमत का निरादर करता है, वह मेरे लिए विदेशी शासक है।" गांधीजी का विश्वास था कि वे भारतीय स्वाधीनता के अधिकारी थे क्योंकि वे इसके लिए अकथनीय कष्ट झेल चुके थे। गांधीजी राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ आर्थिक स्वतन्त्रता भी चाहते थे। गांधीजी का स्वराज लाखों-करोड़ो पददलितों के लिए था। उनका कहना था कि *श्रमिकों को उनके सम्पूर्ण उचित श्रम का उचित पारिश्रमिक मिलना चाहिए*, लेकिन जब तक इस आदर्श की प्राप्ति न हो तब तक प्रत्येक श्रमिक को इतना अवश्य मिलना चाहिए कि वह अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण सुचारु रूप से कर सके। शासन का यह निश्चित कर्त्तव्य है कि वह इस बात का पूर्ण प्रबन्ध करे। वह सरकार जो इतना भी नहीं कर सकती, सरकार नहीं है। वह तो अराजकता की सत्ता मानी जाएगी। इस प्रकार के राज्य का शान्तिपूर्ण विरोध किया जाना चाहिए। गांधीजी ने अपना सम्पूर्ण जीवन राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए अर्पित कर दिया था। उन्होंने इसे *अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया था कि वे भारत को साम्राज्यवादी शिकंजे से* मुक्त करके रहेंगे। गांधीजी ने *व्यक्तिगत और नागरिक दोनों ही प्रकार की स्वतन्त्रता* का पक्ष-पोषण किया। उनके मत में यह स्वराज की आधारशिला थी।

गांधीजी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक अनुशासन (Individual Liberty and Social Discipline) के सामञ्जस्य की समस्या का समाधान

चाहते थे। वे एक महान् व्यक्तिवादी थे जिनकी मान्यता थी कि राज्य जन-कल्याण का एक साधन मात्र है जिसका उद्देश्य सभी व्यक्तियों का अधिकतम हित प्राप्त करना है। वे राज्य अथवा राज्यो के कार्यों मे कोई रहस्यात्मक पवित्रता (*Mysterious Sanctity*) नहीं ढूंढते थे, बल्कि उनका विश्वास था कि राज्य मानवीय दुर्बलताओ की उपज है और यदि वह अपनी सत्ता का दुरुपयोग करता तो इसका विरोध किया जाना चाहिए। वस्तुतः गांधी-चिन्तन मे व्यक्ति सर्वोपरि है, वह सत्ता तथा मूल्य का केन्द्र है जिससे राज्य जीवन और शक्ति प्राप्त करता है। चूंकि व्यक्ति साध्य है और राज्य उसकी आत्मानुभूति; वह साध्य के लिए एक साधन है, अत राज्य मे सदैव सेवा-भावना रहनी चाहिए और उसे स्वय को व्यक्ति का स्वामी कभी नही समझना चाहिए। व्यक्तिवादी चिन्तन को प्रधानता देते हुए भी गांधीजी इस बात से अनभिज्ञ नही थे कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और अपने आपको समाज की प्रगति के अनुकूल ढालने के कारण ही उसने वर्तमान विकसित अवस्था को प्राप्त किया है। उनके स्वय के शब्दो मे—"मैं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की कीमत समझता हूँ, परन्तु आपको यह नही भूलना चाहिए कि मनुष्य मुख्यत एक सामाजिक प्राणी है। वह अपने व्यक्तिवाद को सामाजिक प्रगति की आवश्यकता के अनुकूल बनाकर ही मौजूदा उच्च स्तर पर पहुँचा है। अनियन्त्रित व्यक्तिवाद जगली जानवरो का काम होता है। हमे व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य और सामाजिक सयम के बीच के मार्ग पर चलना सीखना होगा। सारे समाज की भलाई के लिए सामाजिक सयम को खुशी से स्वीकार कर व्यक्ति और समाज दोनो को समृद्ध करना होगा।"

गांधीजी की धारणा थी कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सामाजिक कर्त्तव्य के मध्य सघर्ष का मूल कारण यह है कि राज्य अपने स्वरूप मे हिंसात्मक है। राज्य इस बात का परिणाम है कि कुछ व्यक्ति दूसरो का शोषण करने को कटिबद्ध रहते हैं। अहिंसात्मक समाज मे इस प्रकार की स्थिति नहीं होगी। अहिंसात्मक लोकतन्त्र मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सामाजिक कर्त्तव्य-पालन का ही दूसरा नाम होगा। मनुष्य मे अहिंसा, सत्य और प्रेम के प्रति आस्था मे जितनी अधिक वृद्धि होगी और सेवा व सहयोग की भावना का जितना अधिक विकास होगा, उसी अनुपात मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक कर्त्तव्य के मध्य सामञ्जस्य स्थापित होता जाएगा तथा सघर्ष की स्थिति समाप्त होती जाएगी।

गांधीजी का विचार था कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सामाजिक सयम के बीच सघर्ष का एक अन्य कारण यह है कि व्यक्ति के अधिकारो पर आवश्यकता से अधिक बल दिया जाता है। गांधीजी अधिकारो की अपेक्षा कर्त्तव्य पर अधिक बल देते थे। उनकी मान्यता थी कि यदि सब लोग केवल अधिकारो की बात करेंगे और कर्त्तव्य पर बल नही देंगे तो चारो तरफ अव्यवस्था फैल जाएगी। लेकिन यदि अधिकारो के आग्रह के बजाय प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्त्तव्य पालन करे तो मानव-जाति मे तुरन्त सुव्यवस्था स्थापित हो जाएगी। गांधीजी कर्त्तव्यों के पालन को व्यक्ति के जीवन-मरण की समस्या मानते थे। उनका कहना था—"इसमे उसके सभी न्यायपूर्ण

अधिकारो का समावेश हो जाता है। अधिकार का प्रश्न ही नही उठता जब तक कि उसके साथ कर्त्तव्य जुडा हुआ न हो। इसी प्रकार अधिकार के बिना कर्त्तव्य की स्थिति है। अधिकार उसी व्यक्ति को प्राप्त हो सकते हैं जो अपने राज्य की सेवा करता है।"

स्पष्ट है कि व्यक्ति स्वातन्त्र्य और समाज के प्रति कर्त्तव्य मे संघर्ष का कारण असीमित व्यक्तिवाद है। हमे अपने अधिकारो और कर्त्तव्यो के सामाजिक स्वरूप को पहचानना है और सामान्य जनता को यह ध्यान रखना है कि सरकार का अस्तित्व उसके निरन्तर सहयोग मे ही है। गांधीजी का कहना था कि यदि यह विचार धनात्मक (Positive) और नकारात्मक (Negative) दोनो रूपो से जनता का मार्गदर्शन करता है और लोग सभी कल्याणकारी कार्यों म तथा श्रेष्ठ कानूनो की रक्षा करने मे यथा-सम्भव सहयोग देते है, तो यह निश्चित है कि संघर्षों के अवसर शनैः-शनैः घटते जाएँगे।

गांधीजी धार्मिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता के समर्थक थे और इस सम्बन्ध मे स्वाधीनता को वे एक मूल अधिकार मानते थे। यद्यपि गांधीजी ने मानव-अधिकारो की सूची नही गिनाई, किन्तु वे अधिकारो के स्वरूप और सीमाओ को परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन के लिए तैयार रहते थे।

गांधीजी के सामाजिक और आर्थिक विचार
(Social & Economic Ideas of Gandhi)

गांधीजी के जिन विचारो की समीक्षा की गई है वे सामाजिक पक्ष और कुछ आर्थिक पक्ष से सम्बन्धित हैं। यहाँ हम गांधीजी के कुछ अन्य प्रमुख आर्थिक एव *सामाजिक विचारो की विवेचना करेंगे।*

- सरक्षकता-सिद्धान्त (*Principle of Trusteeship*)

समाज मे जो आर्थिक विषमताएँ विद्यमान हैं, उनका निराकरण गांधीजी उस साम्यवादी ढग से नहीं करना चाहते थे जिसके अन्तर्गत धनिको के धन को उनसे बलपूर्वक छीनकर उस सार्वजनिक हित के लिए प्रयोग करने की बात कही जाती है। गांधीजी व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त चाहते थे लेकिन व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति स वचित करने के लिए मार्क्सवादी श्रमिक (Proletarian) क्रान्ति के पक्षपाती नही थे। सत्य और अहिंसा द्वारा हृदय-परिवर्तन उनका प्रमुख अस्त्र था जिससे पूँजीपति नि शक्त किए जा सकते हैं। गांधीजी की मान्यता थी कि आर्थिक विषमता की समस्या का हल सरक्षकता सिद्धान्त (Principle of Trusteeship) के अनुसरण मे हो सकता है। बलपूर्वक धनिको का धन छीनकर उसे सार्वजनिक हित म लगाना दो दृष्टियो से विशेष हानिकारक है और इसलिए त्याज्य है—प्रथम, ऐसा करना हिंसापूर्ण है, द्वितीय, धनिको को पूर्णत नष्ट कर देने से समाज उनकी सब ओ म वचित हो जाता है। गांधीजी का विश्वास था कि, 'ऐसे व्यक्ति खोकर जो धन एकत्रित करना जानता है, समाज अपनी ही क्षति कर लेगा।" इसलिए गांधीजी

चाहते थे कि धनी सम्पत्ति अपने पास रखें और अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं के लिए जितना वह उचित समझें खर्च करें, परन्तु शेष सम्पत्ति को समाज की धरोहर (Trust) समझें जिसका उपयोग समाज के लिए ही होना है। समान वितरण का सिद्धान्त यह है कि अमीरों को अपने पड़ोसियों से एक रुपया भी अधिक नहीं रखना चाहिए। इस आदर्श को प्रन्यास अर्थात् ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त पर चलकर प्राप्त किया जा सकता है। गांधीजी के शब्दों में, "धनवान् आदमी के पास उसका धन रहने दिया जाएगा, परन्तु वह उसका उतना ही भाग काम में लेगा जितना उसे अपनी जरूरत के लिए उचित रूप में चाहिए। बाकी को वह समाज के उपयोग के लिए धरोहर के रूप में समझेगा। इस तर्क में यह मान लिया गया है कि संरक्षक विश्वसनीय होंगे।" समाज की वर्तमान अवस्था में ही नहीं बल्कि सभी अवस्थाओं में अपरिग्रह के आदर्श के अनुकूल जीवन व्यतीत करने का व्यावहारिक ढंग यही है कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को अपने लिए न रखकर समाज की ओर से ट्रस्टी की तरह सम्भालें। इस सिद्धान्त के अनुसार निजी तथा अन्य सम्पत्ति में कोई भेद नहीं है। सभी सम्पत्ति, चाहे उसका स्वामी कोई हो, निक्षेप (Trust) समझी जानी चाहिए। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस सिद्धान्त को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए व्यक्ति के उच्चकोटि के नैतिक विकास की आवश्यकता है। यदि राष्ट्र और व्यक्ति इसके अनुसार आचरण करें तो व्यक्ति का व्यक्ति द्वारा शोषण बन्द हो जाएगा और अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों के कारण कम हो जाएँगे।

प्रश्न उठता है कि यदि भरसक प्रयत्न करने पर भी धनी लोग सच्चे अर्थ में समाज के तथा निर्धनों के संरक्षक न बनें और गरीबों का अधिकाधिक शोषण कर उनको भूखों मारते रहें तो क्या किया जाए? इस समस्या का हल ढूँढने के प्रयत्न में गांधीजी अहिंसक असहयोग और सविनय अवज्ञा का 'सही और अचूक' उपाय सुझाते हैं। धनवान् समाज के गरीबों के सहयोग के बिना धन संग्रह नहीं कर सकते। यदि यह ज्ञान गरीबों को हो जाए तो वे अहिंसा द्वारा उन व्यापक असमानताओं से मुक्त होना सीख लेंगे, जिन्होंने उन्हें भुखमरी के कगार पर पहुँचा दिया है।[1] गांधीजी ने कहा कि हिंसात्मक साधनों का प्रयोग स्वयं मजदूरों के प्रति विनाशकारी होगा। यदि मजदूरों को अपनी भावनाओं को संयत और नियन्त्रित करना नहीं सिखाया जाएगा और उनके संगठन का आधार केवल एक सामान्य शत्रु के प्रति घृणा-भाव होगा तो इस बात की बहुत अधिक सम्भावना है कि शक्ति प्राप्ति के लिए उनमें आपस में ही संघर्ष का सूत्रपात हो जाएगा। ट्रस्टीशिप-सिद्धान्त पूर्णतः अहिंसात्मक है जिसमें अमीरों को इस बात का विश्वास दिलाया जाता है कि जो धन उनके पास है वह जनता के श्रम का फल है, केवल उन्हीं के प्रयास का नहीं। यह एक सामाजिक थाती है, अतः व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए समाज के लिए इसका उपयोग करना हर तरह उचित है।

1. हरिजन, 22-8-40, पृष्ठ 260-61.

गांधीजी के एक निकटतम साथी श्री प्यारेलाल ने, ट्रस्टीशिप के उस अन्तिम मसौदे को, जो गांधीजी ने स्वीकार किया था, इस प्रकार प्रकट किया है—

(1) सरक्षता (ट्रस्टीशिप) ऐसा साधन प्रदान करती है जिससे समाज क वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था समतावादी व्यवस्था मे परिवर्तित हो जाती है। इसमे पूँजीवाद के लिए कोई स्थान नहीं है, वरन् यह वर्तमान पूँजीपति-वर्ग को अपना सुधार करने का अवसर देता है। इसका आधार यह मान्यता है कि मानव-स्वभाव ऐसा नहीं है जिसका कभी सुधार न हो सके।

(2) यद्यपि वह सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व का कोई अधिकार मान्य नहीं करती, तथापि समाज स्वय अपनी भलाई के लिए किसी हद तक इसकी अनुमति दे सकता है।

(3) इसमे धन के स्वामित्व और उपयोग के कानूनी नियमन का निषेध नहीं है।

(4) इस प्रकार राज्य द्वारा नियन्त्रित सरक्षता मे कोई व्यक्ति अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए या सामाजिक हित के विरुद्ध सम्पत्ति पर अधिकार रखने या उसका उपयोग करने के लिए स्वतन्त्र नही होगा।

(5) जिस प्रकार न्यूनतम वेतन स्थिर करने की बात कही गई है ठीक उसी प्रकार यह भी तय कर दिया जाना चाहिए कि समाज मे प्रत्येक व्यक्ति की अधिक से अधिक कितनी आय हो। न्यूनतम और अधिकतम आय के बीच का अन्तर उचित, न्यायपूर्ण और समय-समय पर इस प्रकार परिवर्तनशील होना चाहिए कि झुकाव उस अन्तर को मिटाने की तरफ हो।

(6) गांधीवादी अर्थ-व्यवस्था मे उत्पादन का स्वरूप समाज की आवश्यकता के अनुसार निश्चित होगा, न कि व्यक्ति की इच्छा या प्रलोभन के कारण।

ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त का बहुत ही सुन्दर विवरण Theosophical Free Tract No 23 मे उपलब्ध है जो विस्तृत होने के बावजूद यहाँ ज्यो का त्यो उद्धृत करने योग्य है—

"आधुनिक सामाजिक दार्शनिकों द्वारा कल्पित सामाजिक क्रान्ति की दूसरी मुख्य बात 'आर्थिक समानता' है जिसका अर्थ है व्यक्ति की चरम उन्नति के लिए समान अवसरों की सुविधा प्रदान करना। आजकल सम्पत्ति के उचित वितरण की समस्या का समाधान समाजवादी अथवा लोक-कल्याणकारी राज्य द्वारा करने की बात की जाती है। यदि हम मान लें कि ये दोनों ही उपाय अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रभावकारी हो सकते हैं, तो उसमें सामाजिक सगठन विकेन्द्रीकरण के प्रथम आधारभूत सिद्धान्त के प्रतिकूल होगा। समाजवादी राज्य मे उत्पादन के साधनो

तथा वितरण के तरीको का सामाजीकरण किया जाता है तथा उनका सचालन प्रबन्धको विशेषज्ञो आदि की एक विशाल नौकरशाही द्वारा किया जाता है। लोक-कल्याणकारी राज्यो मे भी गरीबों को मुफ्त सहायता, सामाजिक बीमे तथा राजकीय अस्पताल, नि शुल्क पाठशालाओ आदि के रूप मे जनहितकारी कार्यों तथा अन्य प्रकार के लाभदायक कार्यों के लिए बढती हुई दर पर कर वसूल करने के लिए एक विशाल नौकरशाही सगठन की आवश्यकता होती है। सम्पत्ति के समान वितरण का समाजवादी तरीका निजी सम्पत्ति हस्तगत करना है। लोक-कल्याणकारी राज्य यही काम ऊँची आयो पर ऊँचे कर लगाकर करता है।

"गाँधीजी का विश्वास था कि सम्पत्ति के समान वितरण की समस्या के समाधान के लिए ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त होना चाहिए। धनी लोग अपनी-अपनी अतिरिक्त सम्पत्ति के ट्रस्टी हैं अथवा उनको ऐसा होना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार अपनी उचित आवश्यकताओं से अधिक कुछ रखना या सग्रह करना चोरी है। यदि ऐसा है तो सम्पत्ति का समान वितरण किस प्रकार हो? धनी की सम्पत्ति उसी के पास रहेगी और वह उसमे से अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओ के लिए खर्च करेगा, शेष सम्पत्ति को अपने पास समाज की थाती समझेगा और उसका उपयोग वह समाज के लिए ही करेगा। किन्तु यदि धनी लोग इस प्रकार गरीबो के सरक्षक न बनें तो क्या किया जाना चाहिए? महात्माजी के पास इसका एक ही उचित एव अचूक उपाय था—'अहिंसात्मक असहयोग' तथा 'सविनय अवज्ञा'।

"धनी लोगो को अपने गरीब भाइयो के प्रति अपनी जिम्मेदारी बतलाने के लिए गाँधीजी कहते थे कि गरीबों के ऐच्छिक अथवा जबरदस्ती प्राप्त किए हुए सहयोग के बिना वे न धन प्राप्त कर सकते हैं और न उसे रख ही सकते हैं। पूँजीपतियो, जमीदारो, मिल-मालिको, साहूकारो, मुनाफाखोरो आदि से उन गरीब लोगा के ट्रस्टी बनने का अनुरोध किया जाएगा, जिन पर वे अपनी सम्पत्ति प्राप्त करने, अपने पास बनाए रखने तथा उसकी वृद्धि करने के लिए निर्भर हैं। धनिको द्वारा इस विचार के ग्रहण किए जाने के लिए प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। यदि धन से शक्ति प्राप्त होती है तो श्रम से भी शक्ति प्राप्त होती है। दोनो परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर हैं। जब मजदूर अपनी शक्ति को पहचान लेता है तो वह गुलाम बने रहने की अपेक्षा पूँजीपति का सहभागी बनने की स्थिति मे पहुँच जाता है। मजदूर के असहयोग से पूँजीपति की आँखें खुल जाएँगी और उसे अपनी त्रुटियाँ ज्ञात हो जाएँगी। यदि मजदूर लोग प्राय: असफल होते हैं तो इसका कारण यह है कि वे पूँजीपतियो को उनकी जिम्मेदारी का ज्ञान कराने के बजाय अपने लिए सम्पत्ति प्राप्त करना और स्वय पूँजीपति बन जाना चाहते हैं।

"मजदूरो को आवश्यकता के समय अहिंसात्मक असहयोग के प्रयोग की शिक्षा धीरे-धीरे प्राप्त होगी, परन्तु यह दावा किया जा सकता है कि उपाय निरापद और त्वरित फल देने वाला है। यह बात सरलता से समझ मे आ सकती है कि पूँजीपतियो के विनाश का अर्थ अन्त मे मजदूरों का विनाश होगा। कोई भी सामान्य मनुष्य

इतना बुरा नहीं होता कि उसका सुधार ही न हो सके और कोई भी साधारण मनुष्य संसार में इतना पूर्ण नहीं है जो यह जान सके कि दूसरा पूर्णतया बुरा है या नहीं।

"ट्रस्टीशिप के सिद्धान्तों की बहुत आलोचना हुई और कुछ लोग इसे केवल एक अल्पकालिक उपाय या धोखे की टट्टी समझते हैं। कुछ लोग, जिन्होंने इसे स्वीकार कर लिया है, समझते हैं कि ट्रस्टी की आवश्यकता केवल क्रान्ति के बाद के युग में उस समय तक ही है जब तक कि समाज स्वयं अपनी वसीयत को अपने हाथों में लेकर उसका प्रबन्ध करना प्रारम्भ नहीं कर देता। यह सर्वहारा वर्ग के साम्यवादी अधिनायकतन्त्र के समान है जो समाज के नेताओं द्वारा अपनी वसीयत सम्हालने तक के लिए एक प्रकार से एक दल की ट्रस्टीशिप है। किन्तु जब तक हम इस सिद्धान्त के दार्शनिक आधार को ठीक-ठीक न समझ लें तब तक उसकी सही कल्पना हमारे लिए सम्भव नहीं।"

वर्ण व्यवस्था

गाँधीजी का अहिंसात्मक राज्य वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त पर आधारित होगा। वर्ण के बारे में गाँधीजी के विचार मौलिक थे। इनका न तो जातियों से कोई मतलब है और न रोटी बेटी व्यवहार से ही कोई सरोकार है। ये विचार ऊँच-नीच या धन की न्यूनाधिकता के आधार पर नहीं, बल्कि सामाजिक और आर्थिक समानता के सिद्धान्त और उसके क्रियान्वयन के आदर्श पर निरूपित हुए हैं। हो सकता है कि यदि पाठक कल्पनाशील नहीं है तो इन विचारों को हवाई किले समझे, लेकिन आदर्शवादी जनता उन पर अमल करने की कोशिश करेगी। गाँधीजी के नमूने के समाज में विश्वविद्यालय का विद्वान् प्रोफेसर और गाँव का मुंशी, बड़ा सेनापति और छोटा-सा सिपाही, होशियार व्यापारी और उसका गुमाश्ता, मजदूर और भंगी सब एक से खानदानी माने जाएँगे और सबकी व्यक्तिगत आर्थिक स्थिति समान होगी। इसमें प्रतिष्ठा या आय वृद्धि के लिए एक धन्धा छोड़कर दूसरा धन्धा करने का प्रलोभन नहीं रहेगा। गाँधीजी का विश्वास था कि कोई धन्धा करने की योग्यता चाहे विरासत से चली आती हो अथवा शिक्षा और आसपास के वातावरण से मिली हो लेकिन 100 में से 90 प्रतिशत बच्चों की योग्यता तो पैतृक धन्धा करने की होना सम्भव है और वह धन्धा करने से यदि आय या प्रतिष्ठा कम न हो तो वे स्वयं ही दूसरा धन्धा ढूँढना नहीं चाहेंगे। जिस तरह चाहे योग्यता हो या न हो तो भी सैकड़ों विद्यार्थी युनिवर्सिटी की डिग्रियों के पीछे पड़ते हैं, वैसे वे व्यर्थ कोशिश नहीं करेंगे। गाँव के कुशाग्रबुद्धि युवक गाँवों को खाली करते नहीं देखे जाएँगे। यह हो सकता है कि इक्के-दुक्के बालकों का झुकाव दूसरी तरफ हो। यह भी सम्भव है कि आवश्यकतानुसार विभिन्न धन्धों के लिए कुछ लोगों को प्रेरणा दी जाए। गाँधीजी की कल्पना में इसकी मनाही नहीं है, न उसमें आगे बढ़ने के बजाय एक जगह बैठे रहने की गुंजाइश है।

संक्षेप में, यह कहा जाना चाहिए कि वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त से गाँधीजी का अभिप्राय यह है कि यथासम्भव प्रत्येक व्यक्ति को अपना परम्परागत और

वशानुगत उद्यम करना चाहिए बशर्ते कि वे उद्यम आधारभूत नैतिक सिद्धान्त के विरुद्ध न हो और यह बात केवल आजीविका प्राप्त करने के लिए हो। इस सिद्धान्त के बडे दूरगामी लाभ हैं। यह सिद्धान्त प्रायिक जीवन मे प्रतिस्पर्द्धा और व्यक्तिगत लाभ की भावना दूर करने वाला तथा समाज मे स्थिरता लाने वाला है। यह बालकों को अपने जीवन-उद्यम का स्वाभाविक प्रशिक्षण देने वाला और परिणामस्वरूप तकनीकी प्रगति का सूचक है। इसमे समस्त उद्योगो की समानता निहित है जिसमे ऊँच-नीच के भेदभाव को स्थान नहीं है।

गाँधीजी की वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्त पर यह गम्भीर आपत्ति की जाती है कि किसी भी व्यक्ति से यह माँग करना सर्वथा अनुचित है कि वह प्रत्येक स्थिति मे अपना वशानुगत उद्यम ही करे। वैयक्तिक प्रतिभा का विकास अधिकतम तभी हो सकता है जब हर व्यक्ति अपना उद्यम चुनने मे स्वतन्त्र हो। इस प्रकार के विचार मे नि सन्देह बल है क्योकि हम इस तथ्य की अवहेलना नहीं कर सकते कि व्यक्तिगत लाभ की भावना सजोए रखना मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। आज की स्वतन्त्र प्रतिस्पर्द्धा की प्रणाली में एक व्यक्ति को अपना वशानुगत उद्यम अपनाने के लिए कहना अन्यायपूर्ण होगा। गाँधीजी का आदर्श वास्तव मे इतना महान् है कि समाज के हर साधारण व्यक्ति द्वारा उसका अनुसरण करना सम्भव नही दिखाई देता। स्वय गाँधीजी इस बात के प्रति सचेत थे और इसलिए यथार्थवादी स्थिति को स्वीकार कर उन्होंने कहा था—"हो सकता है कि समाज कभी भी इस लक्ष्य पर न पहुँच सके, लेकिन यदि भारत को एक सुखी देश बनाना है तो हर भारतीय का यह कर्त्तव्य है कि वह अन्य किसी दिशा मे अग्रसर न होकर इस लक्ष्य की ओर चले।" उनका विश्वास था कि इस लक्ष्य पर चलने से कोई भी समाज आधुनिक ससार के अधिकांश दोषो से मुक्त हो सकता है।

अस्पृश्यता (Untouchability)

अस्पृश्यता हिन्दू समाज का एक अभिशाप है जिसे मिटाने के लिए गौतम बुद्ध के समय से ही प्रयत्न होते रहे हैं, किन्तु महात्मा गांधी की भूमिका इस क्षेत्र मे सबसे अधिक सफल हुई है। गाँधीजी से पहले *अस्पृश्यता के विरुद्ध अभियान को कोई भी* उस उच्च भावात्मक स्तर तक न ले जा सका जिस पर उसे गाँधीजी ले गए। इस प्रश्न पर गाँधीजी ने हिन्दू जाति के अन्त करण को झकझोर दिया। गाँधीजी को अपने प्रयास मे महान् सफलता प्राप्त हुई और भारतीय गणराज्य के सविधान में हर रूप मे अस्पृश्यता को एक अपराध घोषित कर दिया है। गाँधीजी ने अपने ऐसे अनुयायियो की फौज खडी कर दी जो अस्पृश्यता को हिन्दू समाज के लिए कलक मानने लगे और हिन्दू समाज से इसे मिटाने में उन्होंने कोई कसर नहीं रखी।

गाँधीजी ने अस्पृश्यता निवारण को अपने सार्वजनिक जीवन का प्रमुख अग बनाया। उन्होने सन्देश दिया कि जब तक हम अछूतों को अपने गले से नहीं लगाएँगे, हम मनुष्य नहीं कहला सकते। उन्होने अपने आचरण से इस अन्याय का प्रतिकार किया। उनका दृढ विश्वास था कि यदि हिन्दुओं के हृदय से अस्पृश्यता का विष

पूर्णतः निकल जाएगा तो इसका प्रभाव न केवल भारत की समस्त जातियों पर बल्कि सम्पूर्ण विश्व पर पड़ेगा। 17 नवम्बर, 1922 के 'हरिजन' में उन्होंने लिखा—"हिन्दुओं का अपने आप को ऊँच और नीच के भेदभाव से मुक्त कर लेना मात्र ही अन्य जातियों के बीच पारस्परिक वैमनस्यता एवं अविश्वास को दूर कर देना है।"

गांधीजी ने सरकार के अत्याचारों के विरुद्ध उपवास किए और यह मांग की कि उन्हें जेल के अन्दर अस्पृश्यता विरोधी आन्दोलन चलाने की आज्ञा दी जाए। उनके प्रयत्नों से 'हरिजन सेवक संघ' नामक संस्था की स्थापना हुई। गांधीजी ने स्वराज्य आन्दोलन से भी अधिक महत्त्व अस्पृश्यता की समस्या को दिया और कहा—"*स्वराज्य के कई अर्थ हैं। हमें अस्पृश्यता को दूर करना होगा। यह एक सामाजिक* प्रश्न है जिसे हिन्दुओं को हल करना है। साधारणतया लोगों के दिलों ने स्वराज्य के साथ-साथ देश की स्वतन्त्रता की भावना मिली हुई है। यह अछूतोद्धार और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों मे हार्दिक एकता के बिना सम्भव नहीं है। स्वराज का अर्थ निरन्तर आन्तरिक विकास है और जब तक इस विकास के शुभ पौधे को पक्षपात, मनोविकार और अन्धविश्वास की दीवारें घेरे हुए हैं, वह उग नही सकता।" गांधीजी ने स्पष्ट रूप से घोषणा की कि अस्पृश्यता-निवारण के बिना स्वराज नहीं मिल सकता। उन्होंने कहा कि अस्पृश्यता एक कृत्रिम चीज है, इसका लोगों के बौद्धिक विकास या नैतिक विकास से कोई सम्बन्ध नही है। उन्होंने लिखा—"अस्पृश्यता का मौलिक उद्भव धर्म मे नहीं है। अस्पृश्यता दैवी नहीं, मानवकृत है। अछूतपन जैसा हम आज मानते हैं, न पूर्व कर्म का फल है, न ईश्वरकृत है, आज का अछूतपन मनुष्यकृत है, सवं हिन्दूकृत है।"

गांधीजी को हरिजनों से इतना प्रेम था कि उन्हीं के बीच मे रहते और खाते-पीते थे। दिल्ली मे वे प्राय. हरिजन बस्ती में ही ठहरा करते थे। हरिजनों के प्रति किए अन्याय और शोषण उन्हें असह्य थे। एक बार उन्होंने लिखा था—"*मैं फिर से जन्म लेना नहीं चाहता। लेकिन यदि मुझे फिर से जन्म लेना ही पड़े तो मैं एक* अछूत के घर में जन्म लेना चाहूँगा ताकि मैं उनके कष्टों, क्लेशों, अपमानों में भाग ले सकूँ और इस दयनीय परिस्थिति से स्वयं अपने को उबार सकूँ। इसीलिए मेरी प्रार्थना है कि यदि मुझे फिर से जन्म धारण करना पड़े तो मुझे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र के रूप में नहीं वरन् अति शूद्र के रूप मे जन्म मिलना चाहिए।" गांधीजी ने हिन्दुओं को बराबर सचेत किया कि उन्हें अपने आप को अस्पृश्यता के अभिशाप से मुक्त करना होगा। उन्होंने घोषणा की कि "यदि हिन्दू धर्म ने अस्पृश्यता को नहीं त्यागा तो उसका मिट जाना ही श्रेयस्कर है।" अस्पृश्यता गांधीजी को इतनी विवेकहीन और अमानुषिक प्रतीत होती थी कि यदि उसे धर्म द्वारा भी मान्यता प्राप्त होती तो भी वे उसे सहन न करते। अस्पृश्यता का विरोध करने के मूल मे उनका कोई राजनीतिक आधार न होकर नैतिक आधार था। इस कुप्रथा के विरुद्ध उनका विद्रोह तभी से शुरू हो गया था जब एक दिन उनकी माता ने उनसे एक लड़के को न छूने के लिए कहा था क्योंकि वह अछूत था।

गांधीजी ने अस्पृश्यता के निवारण के लिए समय-समय पर अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए। उन्होने हरिजनो के मन्दिर प्रवेश का सबसे अधिक महत्त्व दिया क्योंकि उनका विश्वास था कि अछूतो मे आत्म-सम्मान का भाव उत्पन्न करने और सवर्ण हिन्दुओं के दृष्टिकोण को बदलन का इससे अच्छा और कोई उपाय नहीं हो सकता। उन्होने हिन्दुओ को यह भी सलाह दी कि वे हरिजन बालको को अपने परिवार मे स्थान दें और उनका अपनी सन्तान की भाँति पालन पोषण करें। उन्होने स्वय भी एक हरिजन लडके को गोद लिया था और उसका विवाह एक सवर्ण हिन्दू के साथ किया था। गांधीजी ने हरिजनो को यह उपदेश दिया कि वे माँस-भक्षण तथा मद्यपान न करें, जुआ न खेलें और दूसरे की छोडी हुई भूठन स्वीकार न करें। उन्होने इस बात का पूरा प्रयत्न किया कि हरिजन लोग अपने रहन सहन के ढग मे सुधार करें।

महात्मा गांधी के प्रयत्नो के फलस्वरूप ही हरिजनोद्धार के लिए भारतीय सविधान मे कुछ सांविधानिक सरक्षणो का प्रावधान किया गया और उनकी निर्योग्यताओ के निवारणार्थ कुछ नियम निर्धारित किए गए। सविधान द्वारा अस्पृश्यता का अन्त किया गया और उसका किसी भी रूप मे आचरण निषिद्ध ठहराया गया।

पश्चिमी सभ्यता क दोप

महात्मा गांधी पाश्चात्य सभ्यता के आलोचक थे। उनका आरोप था कि इस सभ्यता ने ईश्वर और धर्म के प्रति व्यक्ति की निष्ठा को समाप्त कर दिया है और नैतिकता के महत्त्व को बहुत कम कर दिया है। उन्होने कहा कि पाश्चात्य सभ्यता म भौतिक सुखो को ही जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। इसके अनुसार आवश्यकताओ को बढाते जाना तथा प्रकृति की शक्तियो पर अधिकार कर उनको पूरा करने की क्षमता प्राप्त कर लेना ही प्रगति समझी जाती है। पाश्चात्य सभ्यता मूलत और प्रधानत भौतिकवादी है। इस सभ्यता मे एसे व्यक्तियो को, जो कोट, पतलून, टाई व टोप पहनते हैं, बगलो मे निवास करते हैं, कार, रेडियो, टेलीविजन आदि रखते है उन व्यक्तियो की अपेक्षा कही अधिक सभ्य माना जाता है जो सरल जीवनयापन करते हैं और जिनकी आवश्यकताएँ सीमित होती हैं। गांधीजी ने स्पष्ट किया कि भौतिक उन्नति अथवा समृद्धि को हम वास्तविक प्रगति नहीं कह सकते। वास्तविक प्रगति तो नैतिक प्रगति, सत्य एव अहिंसा की प्रगति मे निहित है। पाश्चात्य भौतिकवादी सभ्यता मानव जीवन को नैतिक विनाश की ओर ले जाने वाली है। यह मनुष्य के आन्तरिक और मानवीय गुणो को नष्ट करती है। यह सभ्यता मनुष्य को पाषाण युग की ओर ल जाने वाली है।

गांधीजी ने अपना दृढ विश्वास व्यक्त किया कि मानव जाति वर्तमान सभ्यता स उत्पन्न जिन विभिन्न दायो से ग्रसित है उनका समाधान केवल तभी सम्भव है जब हम जीवन को सत्य और अहिंसा पर आधारित करें, अर्थात् भौतिकवादी लक्ष्य की अपेक्षा आध्यात्मिक आचरण का प्रधानता दें। गांधीजी ने जिस तरह राजनीति

को शुद्ध करने के लिए उसमें धर्म के समावेश की कामना की थी, उसी तरह वर्तमान अर्थ-व्यवस्था को भी उन्होंने एक नैतिक अथवा आध्यात्मिक आधार पर आश्रित करना चाहा। वास्तव में यह उनका एक क्रान्तिकारी प्रयास था। राजनीतिक और आर्थिक दोनों ही क्षेत्रों में उन्होंने अहिंसात्मक लोकतन्त्र के लिए एक अनुकूल मानसिक और नैतिक वातावरण तैयार करने की चेष्टा की। वस्तुतः अपने उदात्त विचारों द्वारा अपने व्यावहारिक जीवन में इन विचारों के सफल प्रयोग द्वारा उन्होंने महात्मा बुद्ध और ईसा मसीह की भाँति एक नवीन सभ्यता का सन्देश दिया। संसार इस सन्देश को ग्रहण कर जीवन का मार्ग निर्धारित करेगा अथवा इसकी उपेक्षा कर विनाश को आमन्त्रित करेगा—यह मानव बुद्धि पर निर्भर है और इसी पर उसका भविष्य निर्भर है।

अर्थशास्त्र के प्रति नैतिक दृष्टिकोण

महात्मा गांधी ने अपने आर्थिक विचारों को भी नैतिक आधारशिला प्रदान की। उन्होंने यह आधारभूत सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि सच्चा अर्थशास्त्र कभी भी उच्चतम नैतिक मापदण्ड के विरुद्ध नहीं जा सकता। अर्थशास्त्र को न्याय-भावना से पूर्ण होना चाहिए। यदि वह न्याय-भावना से शून्य है तो उसे हम एक श्रेष्ठ अर्थशास्त्र कभी नहीं कह सकते। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि "मुझे यह स्वीकार करना होगा कि मैं अर्थशास्त्र और आचार-शास्त्र के बीच कोई भेद नहीं करता। वह अर्थशास्त्र जो व्यक्ति अथवा राष्ट्र के नैतिक कल्याण पर आघात करता है, अनैतिक है, इसलिए कलुषित है।"

अर्थशास्त्र के प्रति गांधीजी ने जो नैतिक दृष्टिकोण प्रतिपादित किया, वह 'आर्थिक मनुष्य' (Economic Man) की उस धारणा के विरुद्ध है जिसके समस्त कार्यों का एकमात्र उद्देश्य धन कमाना होता है। गांधीजी का विश्वास था कि यह सोचना मूल रूप से गलत है कि मनुष्य अपने लिए भौतिक लाभ की आशा से ही कर्म करने को प्रेरित होता है। उन्होंने कहा कि "मनुष्य एक इंजिन है जिसकी संचालक शक्ति आत्मा है। यह विलक्षण इंजिन धन के प्रलोभन अथवा दबाव में आकर अधिकतम कार्य नहीं कर सकता। अधिकतम कार्य तो तभी किया जाएगा जब संचालन शक्ति अर्थात् मनोबल या आत्मा का प्रेम रूपी ईंधन देकर पूर्ण शक्तिशाली बना दिया जाएगा।" गांधीजी ने मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धों का आधार धन नहीं, वरन् प्रेम को बनाना चाहा। उन्होंने अपनी यह मान्यता प्रकट की कि मालिक अपने नौकर से जितना काम प्रेमपूर्वक और उदार व्यवहार द्वारा ले सकता है, उतना आर्थिक प्रलोभन अथवा दबाव से नहीं ले सकता। अतः हमारा उद्देश्य एक ऐसी न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की स्थापना होना चाहिए जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थों के विषय में ही न सोचे वरन् दूसरों के प्रति अपने कर्तव्य के विषय में भी सोचे। गांधीजी ने बताया कि जब इस प्रकार के [illegible] विचार उत्तरोत्तर बलवान हो जाएँगे तो सम्पूर्ण समाज सुखी और समृद्ध हो जाएगा। उन्होंने स्वतन्त्र प्रतिस्पर्द्धा के सिद्धान्त को बहुत [illegible] [illegible]

आधारित आर्थिक व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह है कि धनी लोग निर्धन वर्ग के शोषण द्वारा अपार धन अर्जित करते हैं और मालिक तथा नौकर के सम्बन्ध दिन प्रतिदिन बिगड़ते जाते हैं। इस प्रकार के समाज मे प्रत्येक पक्ष केवल अपने सकुचित स्वार्थों के बारे मे ही सोचता है। पूँजीपति अथवा मालिक बेईमान हो जाते हैं, श्रमिक विक्षुब्ध रहने लगते हैं और उपभोक्ता भी अपने नैतिक मापदण्ड को भूलने लगते हैं। एक अन्याय दूसरे अन्याय को जन्म देता है। इस तरह अन्याय की शृ खला सी बन जाती है जिससे सम्पूर्ण समाज को कष्ट भोगना पड़ती है। महात्मा गांधी ने कहा कि यदि अर्थशास्त्र को नैतिक आधार पर प्रतिष्ठित कर दिया जाए और लाभ की इच्छा के स्थान पर न्याय-भावना को प्रोत्साहन दिया जाए तो आधुनिक आर्थिक युग के अनेको दोष दूर हो जाएँगे। सारांशतः गांधीजी ने अर्थशास्त्र को सत्य और अहिंसा की भावना से ओतप्रोत करने का जबरदस्त प्रयास किया।

स्त्रियों की स्थिति

गांधीजी एक महान् समाज-सुधारक थे जिन्होने महिला अधिकार, पर्दा-प्रथा, आदि पर अपने क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किए और इस क्षेत्र मे बहुत काम किया वे स्त्रियो को पूर्ण स्वाधीनता देने के पक्ष मे थे। उनका कहना था कि स्त्री पुरुष की सहचरी है जिसकी मानसिक शक्ति पुरुष से कम नही है। उसे स्वतन्त्रता का उतना ही अधिकार है जितना पुरुष को। अपने क्षेत्र मे नारी की सर्वोच्चता उसी प्रकार स्वीकार की जानी चाहिए जिस प्रकार पुरुष की उसके क्षेत्र मे की जाती है। स्त्री-पुरुष का दर्जा समान है, पर वे एक नहीं हैं। दोनो की एक ऐसी अनुपम जोडी है जिसमे प्रत्येक एक दूसरे का पूरक है।

गांधीजी ने नारी को चरित्र की दृष्टि से बहुत उच्च माना था और उसे प्रेम मूक-तपस्या, श्रद्धा और ज्ञान की मूर्ति बताया। उन्होने नारी को अबला सम्बोधित करना अपमानजनक माना और लिखा—"स्त्री को अबला कहना उसका निरादर करना है। यह पुरुष का स्त्री के प्रति अन्याय है। यदि बल का अर्थ पशुबल है तो बेशक स्त्री पुरुष से निर्बल है, क्योकि उसमे पशुता कम है। किन्तु अगर बल का अर्थ नैतिक बल है तो स्त्री पुरुष से बेहद ऊँची है। अगर अहिंसा हमारे जीवन का धर्म है तो भविष्य स्त्री के हाथ मे है।"

महात्मा गांधी ने नारी को अहिंसा का साकार रूप माना था। उन्होने कहा कि अहिंसा के नैतिक शस्त्र का प्रयोग वह पुरुष की अपेक्षा अधिक क्षमता के साथ कर सकती है क्योकि उसमे प्रेम और बलिदान करने की शक्ति अधिक है। उन्होने यहाँ तक कहा था कि नारी जो प्रेम अपने शिशु को देती है, यदि वह उस प्रेम को समस्त मनुष्य जाति को देदे तो वह (नारी) इस युद्धग्रस्त ससार को शान्ति की कला सिखा सकती है और एक माता, एक सगिनी तथा एक मौन नेता के रूप मे वह पुरुष के साथ सम्माननीय स्थान ग्रहण कर सकती है। गांधीजी ने पर्दा-प्रथा पर चोट करते हुए कहा कि पर्दे से कोई चरित्र की पवित्रता नहीं आती। घर की चाहरदीवारी के भीतर बन्द स्त्रियों को जीवन की यथार्थ बातो का कोई ज्ञान

नहीं हो पाता और उन्हे स्वतन्त्रता की स्वच्छ स्वांस नही मिलती। गांधीजी ने लिखा था—"चरित्र की पवित्रता पर्दा रखने से नही आती और न वह ऊपर से लादी जा सकती है। पर्दे की दीवार खींच देने से इसकी रक्षा नही हो सकती। इसका विकास अन्तरात्मा से ही होना चाहिए। आज हम भारत की नारी-जाति के स्वतन्त्र विकास मे हस्तक्षेप कर स्वाधीन और स्वतन्त्र पुरुषो की तरक्की मे बाधा डाल रहे हैं। हमारी कमजोरी, अनिश्चय, तग दिली और लोकाचारिता का एक कारण यह भी है, इसलिए हमे जबरदस्त वार करके पर्दे को फाड डालना चाहिए।"

गांधीजी ने बाल-विवाह को एक अत्यन्त अनैतिक कार्य और शारीरिक बुराई बताया तथा विधवा विवाह का समर्थन किया। उन्होने कम उम्र की बाल-विधवाओ की शादी का समर्थन किया। वैसे उन्होने सच्ची हिन्दू विधवा को एक रत्न माना था। इस सम्बन्ध मे उनका विचार था—"स्वेच्छापूर्वक विधवा रहना हिन्दू धर्म की एक अमूल्य देन है। जबरन विधवा रहना पाप है और उन्हे लगता है कि उसे जबरदस्ती रोके जाने के पीछे हिन्दू लोकमत की निन्दा का डर है। यदि ऐसा है तो वे कहेगे कि बहुत-सी हिन्दू विधवाएँ निःसकोच पुन विवाह कर लें।"

महात्मा गांधी ने स्त्रियो की सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता का ही समर्थन नहीं किया, वरन् राजनीतिक स्वतन्त्रता की भी वकालत की। उन्होने स्त्रियो को मतदान का अधिकार देने की पुष्टि की और कहा—"स्वराज्य की विजय म भारत की स्त्रियो का उतना ही हिस्सा होना चाहिए जितना पुरुषो का। शान्ति, शालीनता पूर्ण तपस्या नारी जाति का स्वाभाविक लक्षण है।" उन्होने यहाँ तक कहा—"स्त्रियो को मताधिकार मिल जाना भी काफी नही है। सवाल इतने से ही समाप्त नही हो जाता। जहां स्त्रियां राष्ट्र की राजनीतिक चर्चा को प्रभावित करना शुरू करती हैं, वहां से तो वह प्रारम्भ होता है।"

महात्मा गांधी ने विवाह की व्यवस्था को एक व्यावहारिक आवश्यकता के रूप मे स्वीकार किया था। उन्होने कहा था कि विवाह का उद्देश्य विषयभोग न होकर प्रजनन है। यह एक पवित्र सस्कार है। यह आत्मानुशासन की व्यवस्था है। पति और पत्नी जीवन-साथी हैं जिन्हे समान स्तर पर रहना चाहिए। यह एक भयानक भूल है कि पति पत्नी को अपनी सम्पत्ति समझे। दोनो म प्रेम, वासना से मुक्त होना चाहिए। महात्मा गांधी ने विवाह पद्धति म भी अनेक सुधारो का सुझाव दिया। बाल-विवाह तथा वृद्ध पुरुष और युवा स्त्री के बीच विवाह का भी उन्होने विरोध किया। विवाह के अवसर पर पैसा पानी की तरह बहाना उन्हे पसन्द नही था। उन्होने यह अनुरोध किया कि धनी व्यक्ति विवाह-सस्कार को सरल बनाएँ और एक विवाह पर 10 रुपये से अधिक व्यय न करें, निर्धन व्यक्तियों के समक्ष एक उदाहरण प्रस्तुत करें। उन्होने अन्तर्जातीय (Inter-caste) और अन्तर्सम्प्रदायी (Inter-communal) विवाह का भी काफी समर्थन किया। अस्पृश्यता-निवारण के उद्देश्य से उन्होने सवर्ण हिन्दुओ को हरिजन कन्याओ के साथ विवाह करने की सलाह दी। वेश्यावृत्ति को गांधीजी एक अमिश्रित अभिशाप मानते थे।

वास्तव में महात्मा गाँधी नारी जाति के उत्थान के प्रबल प्रवक्ता थे। उनका मत था कि जब तक राष्ट्र की जननी स्वरूप हमारी स्त्रियाँ ज्ञानवान नहीं होंगी, उन्हें स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होगी और जब तक उनसे सम्बन्धित कानूनों, रीति-रिवाजो तथा पुरानी रूढ़ियों मे आवश्यक परिवर्तन नहीं किए जाएँगे, तब तक राष्ट्र आगे नहीं बढ सकेगा। उन्होंने यहाँ तक विश्वास व्यक्त किया कि यदि हम अपने देश मे अहिंसक समाज का निर्माण और दुनिया मे शान्ति स्थापित करना चाहते हैं तो नेतृत्व स्त्रियों का सौंपना चाहिए।

राष्ट्रीयकरण और हडताल

उद्योगो के राष्ट्रीयकरण अथवा सामाजीकरण और हडतालों के प्रति गाँधीजी का दृष्टिकोण रूढिवादियो से सर्वथा भिन्न था। बडे पैमाने पर राष्ट्रीयकरण का समर्थन उन्होंने इसलिए नहीं किया कि इससे राज्य अत्यन्त शक्तिशाली हो जाएगा। राज्य और बडे पैमाने के उद्योगो के विरोधी होते हुए भी वे जनता के लिए उपयोगी उद्योगो के विरुद्ध नहीं थे। वे रेलवे, जहाज, सिलाई मशीनों, आदि उद्योगों का समर्थन करते थे। ऐसे बडे उद्योग राज्य द्वारा चलाए जाने चाहिए या नहीं, इस सम्बन्ध में उनका कहना था कि—"मैं इतना समाजवादी हूँ कि मैं कहता हूँ कि ऐसे उद्योगो पर राज्य का नियन्त्रण होना चाहिए। उन्हें केवल अत्यन्त आकर्षक और आदर्श स्थितियो मे चलाया जाना चाहिए, व्यक्तिगत लाभ के लिए न चलाकर मानवता के लाभ के लिए चलाना चाहिए जिसमे लोभ का स्थान प्रेम ले ले। धन के लिए यह दीवाना दौर बन्द होना चाहिए और श्रमिक को न केवल समुचित वेतन वरन् ऐसे दैनिक कार्य का आश्वासन दिलाया जाना चाहिए जो कोरा नीरस श्रम न हो।"

श्रम को स्वय सगठित करने और हडताल करने के सम्बन्ध मे गाँधीजी का विचार था कि श्रम को अपना सगठन पूँजी के प्रति शत्रु-भाव से नही, प्रत्युत् उसके साथ समानता का पद प्राप्त करने के उद्देश्य से करना चाहिए। हडतालों का निरन्तर सिलसिला तो असन्तोष का सकेत है। उन्होने कहा कि हडतालें केवल पूर्णतः उचित उद्देश्य के लिए और सर्वथा अहिंसात्मक ढग से की जानी चाहिए। स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों और राजनीतिक हितो की पूर्ति के लिए हडताल का आश्रय लेना एक भयकर भूल है। ऐसी हडताल को अहिंसक असहयोग की योजना में स्थान नहीं दिया जा सकता। हडतालें शुद्ध रूप से न्यायपूर्ण और अहिंसक होनी चाहिए तथा हडतालियों मे व्यावहारिक मतैक्य होना चाहिए। हडताल किसी वास्तविक शिकायत के बिना नही होनी चाहिए तथा हडताल छेडने से पहले हडतालियों को एक अपरिवर्तनीय न्यूनतम निश्चय की घोषणा कर देनी चाहिए।

महात्मा गाँधी ने पूँजीपतियो व मिल-मालिको से कहा कि श्रमिको द्वारा हडताल कर देने पर उन्हें दमन का तरीका न अपना कर उचित और सम्मानपूर्ण तरीका काम मे लेना चाहिए। उन्हें हडताल के गुण-दोषों पर विचार करके मजदूर को उनका हक दे देना चाहिए। यह हक वह नहीं है जिसे वे खुद हक समझें बल्कि वह है जिसे मजदूर स्वय अपना हक समझें और प्रबुद्ध लोकमत जिसे उचित माने।

मिल-मालिकों को यह भी अपना कर्त्तव्य समझना चाहिए कि वे मजदूरो को अच्छी तरह शिक्षा दें ताकि उनके भीतर छिपी हुई बुद्धि प्रकाश मे आए । मजदूरो को एकता से जो शक्ति प्राप्त होती है, उसका मालिको को स्वागत करना चाहिए ।

मूल्यांकन
(Evaluation)

महात्मा गांधी के व्यावहारिक जीवन और उनके विचारो से नि सदिग्ध रूप से यह स्पष्ट है कि वे एक महान् राजनीतिज्ञ, सगठनकर्त्ता, लोकनेता और नैतिक सुधारक थे, लेकिन मानव के रूप मे वे उन सबसे ऊँचे थे । अमेरिकी पादरी डॉ जॉन हेस ने तो यहां तक कहा है कि ईसा मसीह के बाद गांधीजी ससार के महानतम् मानव थे । वे इसीलिए इतने महान नहीं थे कि उन्होंने अपने देश के स्वाधीनता सग्राम का सफलतापूर्वक सचालन किया, बल्कि इसलिए कि हिंसा, स्वार्थ, शक्ति की तृष्णा और नैतिक पतन के वर्तमान वातावरण मे उन्होने सत्य, अहिंसा और साधनो की शुद्धता का कठिन पाठ अपने व्यावहारिक जीवन द्वारा लोगो के गले उतारा । गांधीजी की महानता इस बात मे है कि उन्होन पुराने सिद्धान्तो के आधार पर नई समस्याओं को सुलझाने का भागीरथ प्रयत्न किया । मौलिकता सदैव नवीनता मे ही नहीं हुआ करती । यदि पुरानी बात को भी नवीन ढग से कहा जाए तो लो वह मौलिक है ।

बहुधा यह प्रश्न उठता है कि महात्मा गांधी को समाजवादी कहना उचित है या नही, इस प्रश्न का उत्तर वस्तुत इस बात पर निर्भर है कि हम समाजवाद का क्या अर्थ लेते हैं । यदि समाजवादी वह व्यक्ति है जो सामाजिक समानता, सामाजिक न्याय के आदर्शों और राष्ट्रीय धन के न्यायपूर्ण वितरण मे विश्वास करता है भूमि तथा पूँजी पर स्वामित्व को प्राकृतिक नियमो के विरुद्ध समझता है और धनिको द्वारा गरीबो के हर प्रकार के शोषण का अन्त करने के लिए सतत् प्रयास करता है, तो निश्चय ही महात्मा गांधी सवश्रेष्ठ समाजवादी थे । वे सच्चे समाजवादी इसलिए थे क्योंकि वे व्यक्ति के हित की अपेक्षा समाज के हित को अधिक महत्त्व देते थे । वे थाकथित समाजवादियो से कहीं ऊँचे दर्जे के और सच्चे समाजवादी थ क्योकि उनका आचरण उनके सिद्धान्तो के अनुरूप था । पूँजीवाद का अन्त करने को उनकी उतनी ही इच्छा थी जितना किसी बडे से बड समाजवादी या साम्यवादी की हो सकती है । वे सामाजिक समानता के प्रवतक थे और चाहते थ कि सभी व्यक्तियो और व्यवसायो की समान प्रतिष्ठा होनी चाहिए ।

परन्तु यह सब होते हुए भी गांधीजी ने समाज का जो स्वरूप सामने रखा वह कार्ल मार्क्स के समाजवाद अथवा पश्चिम मे विकसित इसके अन्य रूपो स बहुत भिन्न है । समाजवाद गांधीजी के समाजवाद का एक अग था, किन्तु उसका प्रेरणा-स्रोत वे पुस्तकें नहीं थी जो पूँजीवाद की आलोचना से परिपूर्ण है । गांधीजी एक अहिंसात्मक समाजवाद के प्रवर्तक थे जिनका नारा था —'हमारा समाज अहिंसा पर आधारित होना चाहिए और पूँजी व श्रम तथा जमींदार व कृषक म सामजस्यपूर्ण

सम्बन्ध होने चाहिएँ।" गांधीजी ने यह विश्वास व्यक्त किया कि केवल अहिंसावादी और शुद्ध हृदय वाले व्यक्ति ही एक सच्चे समाजवादी समाज की स्थापना कर सकते हैं जिसका आधार यह सिद्धान्त होगा कि—"प्रत्येक सबके लिए और सब प्रत्येक के लिए।" महात्मा गांधी ने वर्ग-संघर्ष, वर्ग-घृणा, शक्ति-पूजा, श्रमजीवी अधिनायकवाद आदि के विचारो को अपने चिन्तन और व्यवहार मे लेशमात्र भी स्थान नही दिया। गांधीजी को, सच्चा समाजवादी न मानने वाले वही व्यक्ति हो सकते हैं जो विशुद्ध मार्क्सवाद अथवा साम्यवाद के पोषक हैं तथा समाजवाद को वर्ग-युद्ध और पूंजी व श्रम मे शाश्वत विरोध का प्रतिरूप मानते हैं, हिंसक क्रान्तियो मे विश्वास करते हैं और वर्ग-संघर्ष एव क्रान्ति के अतिरिक्त अन्य किसी साधन को अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए सम्भव नही समझते।

गांधीवाद को सनकियो का विचार-दर्शन, कायरो की अहिंसा का पोषक, बालू पर बना हुआ महल, असम्भव और अव्यावहारिक आदि कहने का युग बीत गया है क्योकि स्वय विरोधियो ने अपनी भ्रान्ति स्वीकार कर ली है। इसके अतिरिक्त भारतीय समाज की विशिष्ट परम्परा मे गांधीवाद ही अब तक सफल हुआ है और उसका स्थाई प्रभाव सर्वत्र व्याप्त है। गांधी और उनके विचारो की महानता एकदेशीय और एककालिक न होकर सर्वदेशीय और सर्वकालिक है।

11

माइकेल ऑकशॉट, हन्ना आरेन्ट, सार्त्रे और निस्बेत; आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त : राजनीति शास्त्र की प्रकृति और क्षेत्र—बदलते हुए दृष्टिकोण लॉसवैल और ईस्टन के विशेष सन्दर्भ में; व्यवहारवादी क्रान्ति—चार्ल्स मेरियम, आर्थर बेन्टले, डेविड ईस्टन, आमण्ड तथा लॉसवैल; सम्प्रेषण सिद्धान्त और निर्णय प्रतिमान (कार्ल डायच एवं स्नाइडर); उत्तर-व्यवहारवाद

(Michael Oakeshott, Hanna Arendt, Sartre and Nisbet, Modern Political Theory . Nature and Scope of Political Science—Changing Perspectives with Special Reference to Lasswell and Easton, the Behavioural Revolution—Charles Merriam, Arthur Bentley David Easton, Almond and Lasswell, The Communication Theory and Decision Making (Karl Deutch and Snyder), Post-Behaviouralism)

प्रौद्योगिक और तकनीकी क्रान्ति ने यद्यपि मानव के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन पर अभूतपूर्व प्रभाव डाला है लेकिन साथ ही यह भी सत्य है कि व्यक्ति अपने जीवन मूल्य खोता जा रहा है और यह सम्पूर्ण वैज्ञानिक प्रगति कुछ अधिक आशाप्रद सिद्ध नहीं हो रही है। मानव समस्याएँ अधिक जटिल और गहरी हो गई हैं तथा नैतिकता, विवेक और संस्कृति के क्षेत्रों में अराजकता और निराशा व्याप्त होती जा रही है। राजनीतिशास्त्रियों और दार्शनिकों ने अपने अपने ढंग से इस व्यापक निराशा के कारण खोजे हैं। मीहान (Meehan) ने आज के समाज के मनुष्य का जो चित्र खींचा है वह इस प्रकार है—

1 वह अकेला और असहाय है तथा हताश होकर अपने भीतर एक मूल्य व्यवस्था (A Value System) खोज रहा है,

2 आज व्यक्ति स्वयं अपने से और समाज से अलगाव और विलगाव अनुभव कर रहा है,

3 व्यक्ति का दमन कर दिया गया है (Repressed) और वह घुटन अनुभव कर रहा है (Suffocating) एव

4 मनुष्य सत्य और न्याय के पथ (Path of Truth and Right) से विमुख हो गया है।[1]

रॉबर्ट ए निस्बेत ने भी इसे एक भारी विडम्बना माना है कि जहाँ एक ओर पर्यावरण (Environment) पर मनुष्य का नियन्त्रण बहुत अधिक बढा है वहाँ स्वय मे उसका विश्वास (Belief in himself) अत्यधिक घट गया है। अस्तित्व-वादी विचारक 'वैयक्तिक मानवीय अस्तित्व' पर बल देते हुए अपने दर्शन का महल खडा करते हैं। अर्वाचीन राजनीतिक विचार जिन मुख्य धाराओ में वर्गीकृत हुआ है, उनमे दो उल्लेखनीय धाराएँ हैं—अस्तित्ववादियो (Existentialists) की और परम्परावादियों (Traditionalists) की। अस्तित्ववादियो मे ज्यॉ पाल सार्त्र (Jean Paul Sartre), अल्बर्ट कामू (Albert Camus), एरिक फ्राम (Erick Fromm), रॉबर्ट निस्बेत (Robert Nisbet) तथा हर्बर्ट मारक्यूज (Herbert Marcuse) का नाम विशेषत उल्लेखनीय है। परम्परावादी धारा के मुख्य विचारक हैं—माइकेल ओकशॉट (Michael Oakshott), हन्ना आरेन्ट (Hanna Arendt), बर्ट्रेण्ड-डी जोवेनेल (Bertrand de Jouvennel), लियो स्ट्रॉस (Leo Strauss) तथा वोगेलिन (Vogelin) आदि। इन विचारको ने आधुनिक राजनीतिक चिन्तन को जो कुछ दिया उसका सक्षिप्त परिचय अर्वाचीन राजनीति विज्ञान के स्वरूप को समझने की दृष्टि से उपयोगी है।

अस्तित्ववादी
(Existentialists)

अस्तित्ववाद उस दार्शनिक प्रवृत्ति अथवा दृष्टिकोण का नाम है जो प्रथम महायुद्ध के कुछ वर्ष बाद जर्मनी मे विकसित हुआ और आगे चलकर द्वितीय महायुद्ध के बाद मुख्यत फ्रांस और इटली मे भी फैल गया। एक आन्दोलन के रूप मे अस्तित्ववाद का इतिहास डेनिश विचारक सोरेन किर्कगार्ड (Soren Kierkguard, 1813 to 1855) से माना जाता है। उसकी रचनाओ का अस्तित्ववादियो पर काफी प्रभाव पडा।

अस्तित्ववादी दृष्टिकोण राजनीतिक चिन्तन के रूप मे मानक ग्रन्थो और विचार-विमर्श से लोकप्रिय नहीं बना वरन् इसके समर्थको ने इसकी विभिन्न मान्यताओ को रोचक उपन्यासो और नाटको के माध्यम से जन-सामान्य तक पहुँचाने की सफल चेष्टा की। अस्तित्ववादियो मे 'स्वय मानव की वर्तमान दशाओ में मानव-मूल्यो के लिए एक आधार' (A basis for human values within the human conditions itself) ढूंढने की कोशिश की, लेकिन इसके लिए उन्होंने धार्मिक सत्ता (Religious Authority) अथवा इतिहासवाद (Historicism)

1 *S P. V rma*, Modern Political Theory, page 357.

का सहारा नहीं लिया। उनका आग्रह मानव-भावनाओ, सवेदनाओ और सवेदिक अनुभवो (*Emotion, Feeling and Sensory Experience*) पर था। मीहान के अनुसार, "अस्तित्ववाद एक अर्थ मे वैज्ञानिक विवेकवाद, निर्व्यक्तिकरण, सर्वाधिकारवाद, व्यवस्था, सिद्धान्तवादिता आदि के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया (A reaction against scientific rationalism, *depersonalization, totalitarianism*, system and dogma) था।" बर्न्स के शब्दों मे, "अस्तित्ववादी इस बात से बहुत अधिक क्षुब्ध हैं कि मनुष्य का निर्व्यक्तिकरण बढता जा रहा है।' इसके लिए अस्तित्ववादी न केवल विज्ञान और प्रविधि को वरन् आधुनिक उद्योगवाद की सम्पूर्ण जटिलता को उत्तरदायी मानते हैं।

अस्तित्ववाद के अनेक स्वरूप हैं, अत यह कोई ऐसी विचारधारा नहीं है जिसे सफलतापूर्वक या निश्चित शब्दो मे परिभाषित किया जा सके। स्वय *अस्तित्ववादी भी एक-दूसरे से सहमत नहीं हैं, तथापि लगभग सभी मे एक समान* तत्त्व यह है कि वे वैयक्तिक मानवीय अस्तित्व पर बल देते हैं। उनके लिए व्यक्ति का अस्तित्व प्रमुख है। उनकी मान्यता है कि हम विचारों से व्यक्ति को नहीं समझ *सकते क्योंकि व्यक्ति को विचारों मे बाँधा नहीं जा सकता। कर्म और चयन* का महत्त्व उसके कर्त्ता की दृष्टि से आंका जाना चाहिए, पर्यवेक्षक की दृष्टि से नही। अस्तित्ववाद म व्यक्ति के अपने अनुभवा को प्रधानता दी गई है। ब्रेन्टेनो ने व्यक्ति *को सबसे अलग-थलग करके उसके विश्वासो, भावनाओं, सकल्पो आदि पर* विचार किया है। अस्तित्ववादियो का दृढ मत है कि विज्ञान अपनी सीमाओ के कारण मानव प्रकृति और दर्शन की वास्तविकताओ को नहीं समझ सकता। स्वतन्त्रता और चयन (*Freedom and Choice*) *अस्तित्ववाद के केन्द्रीय तत्त्व हैं*। मानव प्रकृति मे चयन की स्वतन्त्रता' एक मुख्य तत्त्व है और मनुष्यो को ऐसी कोई निश्चित प्रकृति नहीं होती जो उनके चयनो को सीमित अथवा प्रतिबन्धित करे। व्यक्ति अपने *चयन म सम्प्रभु' होता है। वह अपने श्रोता या पाठक या सहसम्बन्धी के दृष्टिकोण* से परिचालित नहीं होता।

वस्तुत अस्तित्ववाद मनुष्य को भाग्य के हाथो मे खिलौना बनने से बचाना चाहता है। वह उसे नियतिवादी विचारो से छुटकारा दिला कर स्वतन्त्र और उत्तरदायी मानव प्राणी बनाना चाहता है। मनुष्य कोई घास-फूस या साग-सब्जी नहीं है जिसे दूसरो के द्वारा बोया और उगाया जाता है। वह अपना निर्माण अपने चयनो द्वारा करता है। वह चयन कर सकता है और वह अपने को जैसा बनाना चाहता है बना सकता है। वह मनुष्य को सुखी बनाने का दावा नहीं करता किन्तु प्रतिष्ठापूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार कर सकता है। इस स्वतन्त्रता को *तैयारी भी कहा जा सकता है, किन्तु इस स्वतन्त्रता का दण्ड है* अकेलापन और मनोव्यथा। सार्त्र सरीखे अस्तित्ववादी प्राय ईश्वर के अस्तित्व म विश्वास नहीं करते। कार्ल यास्पर्स और गेब्रियल ईश्वर के अस्तित्व म विश्वास करते हैं, किन्तु *उनका ईश्वर भाग्य निर्माता या हस्तक्षेप करने वाला नहीं है*। व्यक्ति को *न तो*

ईश्वर ने पैदा किया है और न ईश्वर ने ही कोई नैतिक शिक्षाएँ दी हैं। वह अपने चयन तथा अपनी असफलताओ और पापो के लिए पूरी तरह जिम्मेदार है। उसकी मनोव्यथा इस कारण भी है कि उसे अकेला होते हुए भी दूसरो की दृष्टि में रहते हुए निर्णय लेने पडते हैं। यही उसका वास्तविक अस्तित्व है। उसे पूरी तरह नही जाना जा सकता। मनुष्य न तो प्रकृतिवादियो की मान्यता के अनुसार मशीनी या प्राकृतिक नियमो से परिचालित होता है और न वह सर्वज्ञ होकर सोच समझ कर कार्य करता है। अस्तित्ववाद वास्तविक मानवीय अस्तित्व का असत्यीकरण करने के विरुद्ध है।[1] अस्तित्ववादियो का ध्येय स्वतन्त्रता को एक लक्ष्य की भाँति प्रतिष्ठित करना और मनुष्य को कर्म की ओर प्रवृत्त करना है। अनेक प्रमुख अस्तित्ववादियों ने स्वतन्त्रता के लिए उसी प्रकार राजनीतिक संघर्ष किए हैं जिस प्रकार धर्म-युद्ध लडे जाते हैं। आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए वे कटिबद्ध रहे हैं। परमाणु शस्त्रो, परमाणु परीक्षणो, वियतनाम पर बमवर्षा और युद्धो का उन्होने संगठनात्मक विरोध करके अपने दृढ संकल्प का परिचय दिया। रूढिवादी समाजो और आधुनिक शिक्षा व्यवस्थाओ के विरुद्ध उन्होने आवाज बुलन्द की। इस तरह अस्तित्ववाद को हमे एक प्रभावशाली शक्ति और राजनीतिक विचारधारा के रूप मे देखना चाहिए, गैर-राजनीतिक बुद्धिवादियो के शौकिया आन्दोलन के रूप मे नही।

अस्तित्ववादी विचारक : सार्त्र एवं निस्बेत
(Existentialists : Sartre and Nisbet)

अस्तित्ववादी आन्दोलन के साथ प्रथम स्रोत के रूप मे सोरेन किर्कगार्ड का नाम जुडा है जिसने 19वी शताब्दी की बौद्धिक और वैज्ञानिक प्रगति की श्रेष्ठता को मानने से इन्कार कर दिया और भावनाओ तथा बौद्धिक निराशा से उत्पन्न आधारो पर ईसाई धर्म को पुन प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। उसने प्लेटो की भाँति अस्तित्व को वास्तविकता बताया। उसने कहा कि संकट मे केवल अस्तित्व ही वास्तविकता के रूप मे विद्यमान रहता है। किर्कगार्ड का दृढ विश्वास था कि हम सच्ची ईसाइयत की व्याख्या बुद्धि और विवेक से नही कर सकते, इसके लिए *विश्वास, भावना और श्रद्धा आवश्यक है।* किर्कगार्ड ने हीगल की आलोचना की और यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि विश्व एक तर्कसंगत या विवेकपूर्ण (Rational) व्यवस्था नही है। किर्कगार्ड के विचारो का कार्ल यास्पर्स, मार्टिन हीडेगर आदि ने आगे बढाया और ज्याँ पाल सार्त्र ने लोकप्रिय बनाया। कार्ल यास्पर्स (1883) ने आदर्शवादी आध्यात्मशास्त्र का खण्डन करते हुए अस्तित्व के तीन प्रकार या रूप स्वीकार किए—प्रथम रूप वस्तुपरक जगत, दूसरा उच्चतर रूप भावना, अह अस्मि या मात्र अस्तित्व एव तीसरा रूप परा-अस्तित्व। कार्ल यास्पर्स ने अपने दार्शनिक अध्ययन मे मनुष्य को केन्द्रीय स्थान दिया और इसलिए उसकी विचारधारा को मानववादी अस्तित्ववाद का नाम दिया गया है। कार्ल यास्पर्स को

1 श्याम लाल वर्मा - समकालीन राजनीतिक चिन्तन एव विश्लेषण, पृष्ठ 133.

दार्शनिक अस्तित्ववाद का सस्थापक माना जाता है। हीडेगर यास्पर्स की अपेक्षा अधिक आध्यात्मिक है और व्यक्ति को स्वतन्त्र सकल्प से कार्य करने को कहता है। *राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि से ज्याँ पाल सार्त्र के विचार ही पूर्ववर्ती अस्तित्ववादियों* के विचारो से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

सार्त्र के विचार (Ideas of Sartre)

सार्त्र की रचना (L'Etre et le neant, 1943) अस्तित्ववाद का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अनेक उपन्यासो तथा नाटको की विषय-वस्तु का चयन इसके आधार पर हुआ है। सार्त्र के कई कथन पर्याप्त लोकप्रिय हुए हैं, जैसे—Man is condemned to be free, Hell is other people, आदि। सार्त्र ने मार्क्सवाद की आलोचनाएँ प्रस्तुत की हैं। मार्क्स के *मतानुसार व्यक्ति का भौतिक वातावरण* मुख्य होता है और उसी से प्रभावित होकर व्यक्ति के विचार, आस्थाएँ, मूल्य और विश्वास ढलते हैं। व्यक्ति का मस्तिष्क वातावरण को नही बनाता वरन् वातावरण मस्तिष्क को बनाता है। मार्क्स की इस चिन्तनधारा की आलोचना मे सार्त्र एव अन्य अस्तित्ववादियो का कहना था कि व्यक्ति वातावरण से प्रभावित होकर अपना जीवन नहीं ढालता वरन् उनके जैसे विचार होते है वैसा ही उसका जीवन और वातावरण बन जाता है। *सार्त्र की मान्यता है कि स्वतन्त्रता व्यक्ति का स्वभाव है। यह समाज द्वारा नहीं दी जा सकती वरन् यदि व्यक्ति स्वयं चाहे तो इसे प्राप्त कर सकता है।* यह कहना गलत है कि व्यक्ति पर जब अत्याचार होगा तो वह खामोश रहेगा। वह निश्चय ही इसका विरोध करेगा। सापेक्षता (Relativity) का समर्थन करते हुए सार्त्र ने यह माना कि समाज के सभी व्यक्ति एक-दूसरे से जुडे हुए हैं और इसलिए समाज एक इकाई के रूप मे कार्य कर पाता है।

सार्त्र स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए सगठित विरोध का समर्थन करता है। वह अपने जीवन के अधिकांश समय मे साम्यवादी दल का सक्रिय सदस्य रहा। वह किर्कगार्ड की भाँति हीगल की आलोचना करता है और व्यक्ति के अस्तित्व एव व्यक्तित्व को महत्त्व देते हुए उसे किसी विशिष्ट विचारधारा से जकडना नही चाहता। मार्क्स के प्रति सार्त्र की मुख्य आपत्ति *यह है कि उसने मानव व्यक्तित्व को भुला दिया। प्रत्येक व्यक्ति राज्य के साथ स्वय को आत्मसात् करने की अपेक्षा अपने व्यक्तित्व* को पूर्ण करने मे अधिक रुचि लेता है। *मार्क्सवादी विचारधारा* अधिक गलत नहीं है। मुख्य समस्या यह है कि इसका विकास रुक गया है। मार्क्सवाद मे मानववाद (Humanism) की उपेक्षा कर दी गई है। सार्त्र ने अस्तित्ववादी आन्दोलन का लक्ष्य मार्क्सवाद मे पुन मानववाद की स्थापना बताया। सोवियत रूस मे मार्क्सवादी विचारधारा सही अर्थों मे अपनाई नही जा सकी थी क्योंकि चारो ओर से पूँजीवादी देशो मे घिरा होने के कारण सोवियत सघ मार्क्सवाद की अपेक्षा राष्ट्रीय सुरक्षा की ओर अधिक झुक गया था। सार्त्र का कहना था कि अस्तित्ववाद रुकी हुई मार्क्सवादी चिन्तनधारा को आगे बढ़ाने का प्रयास है।

सार्त्र अपने चिन्तन से मार्क्सवाद को मानवतावादी बनाना चाहता है। वह मार्क्सवाद के प्रचलित रूप का विरोध करता है जिसमें मजदूरों की तानाशाही के नाम पर व्यक्ति को पूर्णत भुला दिया गया है। वह मानव-व्यक्तित्व के प्रति सम्मान और प्रतिष्ठा की स्थापना करके मार्क्सवाद को आगे बढ़ाकर दोष-मुक्त करना चाहता है। इस प्रकार अस्तित्ववाद मार्क्सवाद का अगला कदम नहीं है वरन् उसमें सशोधन करने का पक्षपाती है।

रॉबर्ट निस्बेत के विचार (Ideas of Robert Nisbet)

निस्बेत एक ऐसा अस्तित्ववादी विचारक है जो राज्य की शक्ति का विरोध तो करता है, किन्तु व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर इतना बल नहीं देता। उसकी मान्यता है कि राज्य ने व्यक्ति की धार्मिक, पारिवारिक आदि निष्ठाओं को तोड़ दिया है। उसके प्राथमिक समूह समाप्त हो चुके हैं। इन्हें राज्य ने आत्मसात् कर दिया है। मध्ययुग म जो स्वतन्त्र प्राथमिक समूह वर्तमान थे उनकी प्रशसा निस्बेत ने की है, किन्तु उनकी पुनर्स्थापना का कोई निश्चित मार्ग नहीं बताया है।

अस्तित्ववाद की आलोचना
(The Criticism of Existentialism)

आलोचकों द्वारा अस्तित्ववाद के विरुद्ध प्राय ये आपत्तियाँ उठाई गई हैं—

(i) यह एक बुद्धि-विरोधी सिद्धान्त है।

(ii) इस विचारधारा की यह मान्यता उपयुक्त नहीं है कि मानव-समाज का कोई ऐसा व्यवस्थित दृष्टिकोण नहीं बनाया जा सकता है, जिसके आधार पर भावी समाज की रूपरेखा के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की जा सके।

(iii) अस्तित्ववादियों की यह मान्यता भी भ्रामक थी कि नैतिक नियमो द्वारा व्यक्ति को विशेष परिस्थितियों के कर्त्तव्यो का निर्देश नही दिया जा सकता। नैतिक आचरण मे अनिश्चितता की मान्यता एक अतिशयोक्ति है क्योंकि अधिकांश लोगो के लिए उनका कर्त्तव्य प्राय· स्पष्ट रहता है।

(iv) विज्ञान तथा धम के प्रति अस्तित्ववादियो का अबुद्धिपूर्ण मत भी आलोचना का विषय है।

(v) मार्क्सवादी आलोचकों की मान्यता है कि अस्तित्ववाद सकट तथा युद्ध रोकने मे असमर्थ पूंजीवाद की विचारधारागत अभिव्यक्ति है।

(vi) यह विचारधारा समाज तथा राज्य को उपेक्षा की दृष्टि से देखती है। सार्त्र तथा कामू के अतिरिक्त प्राय सभी अस्तित्ववादी व्यक्ति को अत्यधिक महत्त्व देकर उसे एक गैर-जिम्मेदार स्थिति मे ला पटकते हैं।

हन्ना आरेन्ट (Hanna Arendt)

परम्परावादी दार्शनिक विचारधारा मे हन्ना आरेन्ट का महत्त्व मूलत इसलिए है कि उसने मानव दशा का चित्रण करते हुए सर्वाधिकारवाद के कारको और स्रोतो का गहन विश्लेषण किया है। इस महिला विद्वान् की मुख्य कृतियाँ ये हैं—

1 Origins of Totalitarianism, 1951, 1964
2. The Human Condition, 1958

3 Between Past and Future : Six Exercises in Politica Thought, 1961
4 On Revolution, 1963

हन्ना ग्रारेन्ट एक साहित्यकार हैं जिसने व्यक्ति के मानसिक ग्रौर वैयक्तिक पक्षों को प्रमुखता प्रदान की है ग्रौर यह मान्यता प्रकट है कि मानव की वैयक्तिक एव ग्रान्तरिक समस्याग्रों को समझने के लिए एक विशेष परिप्रेक्ष्य की ग्रावश्यकता है। हमारी मूल समस्या यह है कि 'ऐसी सस्थाग्रों का निर्माण किया जाए जो सार्वजनिक कार्यों में सलग्न व्यक्तियों में एकता के साथ-साथ उनके व्यक्तिगत जीवन को ग्रर्थवत्ता भी प्रदान करे।" दूसरे शब्दों में समस्या है—'सार्वजनिक ग्रभिकरणों को वैयक्तिक विभिन्नताग्रों का उपयोगी उपकरण बनाया जाए।" हन्ना ग्रारेन्ट के ग्रनुसार ग्राज की सार्वजनिक स्वतन्त्रता तब तक ग्रर्थहीन है जब तक कि हम उससे ग्रपने वैयक्तिक ग्रस्तित्व को प्रतिष्ठापूर्ण नहीं बनाते। जब तक हमारे निजी ग्रस्तित्व को जन-समर्थन नहीं मिलता तब तक हमारी निराशा का ग्रन्त नहीं हो सकता।

ग्रारेन्ट ने सर्वाधिकारवाद के ऐतिहासिक दार्शनिक ग्रौर सैद्धान्तिक कारकों का विश्लेषण किया है ग्रौर यह मत प्रस्तुत किया है कि सर्वाधिकारवाद परम्परागत नैतिक मूल्यों के प्रति तटस्थ तो होता ही है, साथ ही एक नई ग्रौर विकृत नैतिकता स्थापित करने का भी प्रयास करता है। हन्ना की सहानुभूति शास्त्रीय राजनीति-दर्शन ग्रौर उसमें प्रतिपादित सस्थाग्रों के प्रति है।

परम्परावादी माइकेल ग्रॉकशॉट
(Traditionalists : Michael Oakshott)

राजनीतिशास्त्र के स्वरूप क्षेत्र ग्रादि के सम्बन्ध में दो विचारधाराग्रों में द्वन्द्व है—परम्परागत (Traditional) विचारधारा ग्रौर ग्रर्वाचीन या समकालीन (Contemporary) विचारधारा। परम्परावादी सम्प्रदाय के ग्रनुसार राजनीतिशास्त्र में उन सभी विषयों का सम्मिलित किया जाता है जिनके सम्बन्ध में प्लेटो ग्ररस्तू हॉब्स, लॉक रूसो, बेन्थम मिल, ग्रीन हीगल, मार्क्स ग्रादि प्रमुख राजनीतिशास्त्रियों ने लिखा है। सेबाइन ने जो परम्परागत ग्रथवा ऐतिहासिक विचारधारा का सही प्रतिनिधित्व करते है यह मान्यता प्रकट की है कि एक ग्रोर तो हमें इन महान् राजनीतिशास्त्रियों की रचनाग्रों में उन प्रश्नों को खोजना चाहिए जिनकी उन्होंने विशेष रूप से चर्चा की है ग्रौर दूसरी ग्रोर यह भी देखना चाहिए कि कौन से ऐसे प्रमुख प्रश्न हैं जिन पर इन विचारकों ने पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला है ग्रथवा जो *उपेक्षित छूट गए हैं। परम्परावादियों के ग्रनुसार राजनीति का क्षेत्र मुख्यतः* तीन बातों से सम्बद्ध है—(1) राजनीतिक दर्शन (2) राजनीतिक सस्थाग्रों का विवरण, तथा (3) सीमित रूप में तथ्यों की खोज। राजनीतिक मूल्यों ग्रौर विचारों पर परम्परावादी सम्प्रदाय का विशेष ग्राग्रह रहा है। राजनीतिक विश्लेषकों की जो परम्परागत विश्लेषण पद्धतियाँ हैं वे हैं ऐतिहासिक दार्शनिक वर्णनात्मक ग्रौपचारिक वैधानिक ग्रौर सस्थागत।

परम्परावादी दृष्टिकोण और विश्लेषण पद्धतियो के परिणामों से 20वीं शताब्दी के प्रमुख राजनीतिक विचारको ने अपने को असन्तुष्ट अनुभव किया और फलस्वरूप राजनीतिशास्त्र मे विश्लेषण की नई पद्धतियो को खोज निकालने का कार्य प्रारम्भ हुआ और राजनीतिशास्त्र के नए आयामो को ढूँढा जाने लगा। वर्तमान शताब्दी के तीसरे दशक मे यह विचार बल पकडने लगा कि राजनीतिशास्त्र को एक अन्तर *शास्त्रीय विज्ञान बनाना चाहिए, उसे व्यवहारवादी चश्मे से देखा जाना चाहिए।* विश्लेषण की नई पद्धतियो को खोज निकालने का कार्य प्रारम्भ किया गया। मुख्य उद्देश्य एक ऐसी अध्ययन-पद्धति को खोजना था जिसके द्वारा राजनीतिक घटनाओ का अवलोकन और परीक्षण कर, राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत अनुभवजन्य सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया जा सके। सारभूत रूप मे, राजनीतिक व्यवहारवाद का जन्म हुआ जिसने द्वितीय महायुद्ध के बाद तेजी से लोकप्रियता प्राप्त की और आज के अधिकांश राजनीतिक विचारक राजनीतिशास्त्र के 'व्यवहारात्मक' स्वरूप पर ही बल देते हैं। अध्ययन के सरचनात्मक-प्रकार्यात्मक (स्ट्रक्चरल-फक्शनल), व्यवहारात्मक निर्णय निर्माण, राजनीतिक सम्प्रेषण आदि नए-नए दृष्टिकोण विकसित हुए हैं। सरकार और राजनीति सम्बन्धी सभी घटनाओ को प्रेक्षित (Observed) और प्रेक्षण योग्य मानव-व्यवहार के रूप मे व्यक्त करना आज के व्यवहारवादियो का मुख्य उद्देश्य है। व्यवहारवाद राजनीतिशास्त्र को विज्ञान का स्तर दिलाने मे एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है।

लेकिन राजनीतिशास्त्र के इस अर्वाचीन दृष्टिकोण की लोकप्रियता का यह अभिप्राय नही है कि परम्परावादी सम्प्रदाय मृतप्राय हो चुका है। विद्वानो का एक ऐसा शक्तिशाली समुदाय भी है जो राजनीतिशास्त्र के स्वरूप और क्षेत्र के सम्बन्ध मे परम्परावादी दृष्टिकोण को *ही सही मानता है।* इन *विद्वानो ने न केवल परम्परावादी* शास्त्रीय राजनीतिक सिद्धान्त का रक्षण और पोषण किया है बल्कि अनुभवात्मक-विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण (Empirical Analytical Approach) की कटु आलोचना भी की है। परम्परावाद के समर्थक इन महारथियो मे प्रमुख हैं—माइकेल ऑकशॉट, हन्ना, मलफर्ड सिवली ऑरेन्ट, बर्ट्रेण्ड जोवेनेल, लियो स्ट्रॉस तथा एरिक वोगेलिन। माइकेल ऑकशॉट को, जिसने हैरॉल्ड लॉस्की की मृत्यु के बाद सन् 1951 मे लन्दन स्कूल ऑफ इकॉनॉमिक्स एण्ड पालिटिकल साइस मे राजनीति विज्ञान की अध्यक्षता सम्भाली, एक पक्का रूढिवादी *राजनीतिक विचारक माना जाता है।* इगलैण्ड मे रूढिवादी चिन्तन के पुनरुज्जीवन के साथ उसका नाम मुख्य रूप से जुडा हुआ है। माइकेल ऑकशॉट ने पाश्चात्य सभ्यता के बुद्धिवाद (Rationalism) के विरुद्ध आवाज बुलन्द की है और इस बात का उपहास किया है कि नियन्त्रित बुद्धि (Controlled Reason) द्वारा ही सभी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक सम्बन्धो को समझा जा सकता है।[1] ऑकशॉट की मान्यता है कि इस प्रकार का दृष्टिकोण ही हमारी

1 *David Easton* The Political System—An Enquiry into the State of Political System p 21

अनेक असफलताओ का एक मूल कारण हैं। ग्रॉकशॉट के अनुसार इतिहास के माध्यम से जाने गए पूर्वाग्रह, परम्परा तथा सग्रहीत ज्ञान बुद्धि से कही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। जैसा कि डेविड ईस्टन ने लिखा है, ग्रॉकशॉट का विश्वास है कि राजनीतिक जीवन का ज्ञान कोरी पुस्तकें पढकर प्राप्त नही किया जा सकता बल्कि यह राजनीति के कार्यकलापो के माध्यम से (Through the Act of Politics) प्राप्त होता है, ग्रन्य सामाजिक विज्ञानो से नही बल्कि कार्यों के इतिहास से (From the History of Acts) प्राप्त होता है।[1] माइकेल ग्रॉकशॉट ने अपने विश्लेषण को अनुभव (Experience) पर आधारित किया है और उन बहु आयामो (Multi-dimentionality) की पुनर्खोज पर बल दिया है जिसका कि निषेध प्राय सिद्धान्तवादी और स्वीकारवादी लेखक (Ideological and Positivist Writers) करते हैं। ग्रॉकशॉट का राजनीतिक दर्शन उसके द्वारा रचित निम्न ग्रन्थो मे प्रतिपादित है–Rationalism in Politics, Experience and Its Modes, Introduction to Thomas Hobbes' Leviathan, and Political Education

अपने ग्रन्थ 'एक्सपीरियेन्स एण्ड इट्स मोड्स' मे ग्रॉकशॉट ने यह विचार व्यक्त किया है कि दर्शन और विज्ञान आधारभूत रूप मे दो भिन्न प्रकार की गतिविधियाँ हैं और ऐसे प्रयत्नो मे कोई तुक नहीं है कि एक की पद्धतियो को दूसरे मे ले जाया जाए अथवा एक के विषयो को दूसरे मे स्थानान्तरित किया जाए। इस प्रकार का विचार ही भ्रामक है कि दर्शन वैज्ञानिक चिन्तन की पद्धतियो से कुछ सीख सकता है।[2] ग्रॉकशॉट व्यवहारवादियो के इस मत से सहमत नही है कि राजनीतिक दर्शन एक ऐसा 'प्रगतिशील (Progressive) विज्ञान है जो ठोस परिणामो का सचय करता है और ऐसे नतीजो पर पहुँचता हो जिन पर कि आगामी शोध आधारित किए जा सकें। उसका तो विश्वास है कि राजनीतिक दर्शन इतिहास से निकटता के साथ एकीकृत है—सिद्धान्तो का इतिहास नहीं बल्कि उन समस्याओ का इतिहास जिन्हे दार्शनिकों ने खोजा है और समाधान के उन तरीको का इतिहास जो उन्होंने प्रस्तावित किए हैं।[3] डेविड ईस्टन जैसे व्यावहारवादियो ने ग्रॉकशॉट और उसके परम्परावाद के पोषण पर कठोर प्रहार किया है। ईस्टन के अनुसार परम्परावाद एक प्रकार के सामाजिक अन्धपन का सज्ञान रक्षक (Deliberately Defends a Kind of Social Blindness) है। यह सामाजिक वैज्ञानिको की सजग कार्यवाहियो के विरुद्ध (Against the Conscious Deliberation of the Social Scientist) राजनीतिज्ञो की अन्तरात्मा की कला के सदगुणो (In the Virtues of the Initiative Art of the Statesman) म विश्वास करता है।[4]

1 *David Easton* The Political System—An Enquiry into the State of Political Science, p 21
2 *Michael Oakeshott* Experience and Its Modes, p. 354
3 *Michael Oakeshott* Political Education, p. 26.
4 *David Easton* Ibid, p 21.

राजनीतिशास्त्र की प्रकृति और क्षेत्र
(Nature and Scope of Political Science)

'राजनीति' का पर्यायवाची शब्द 'पोलिटिक्स' (Politics) है जो यूनानी भाषा के 'पोलिस' (Polis) शब्द से बना है। ईसा से लगभग 500 वर्ष पूर्व यूनानी लोग नगर राज्यो मे रहते थे, जिन्हे 'पोलिस' कहा जाता था। ये नगर निर्भर और स्वशासित राजनीतिक इकाई थे। यूनानी दार्शनिको ने इन नगर-राज्यो की स्थिति, घटनाओ और शासन-विद्या को पोलिटिक्स कहा है। इतिहास के कालचक्र मे राज्य का स्वरूप बदला और नगर-राज्यो का स्थान राष्ट्रीय राज्यों (Nation States) ने ले लिया। अब राजनीति राज्य के विस्तृत स्वरूप से सम्बन्धित विद्या हो गई, सामान्य ज्ञान से एक विज्ञान बन गई। आधुनिक युग मे, जब हर क्षेत्र मे वैज्ञानिक और व्यवस्थित अध्ययन की लहर है, राजनीति से सम्बन्धित विषयो के अध्ययन को राजनीतिशास्त्र (Political Science) की सज्ञा दी जाती है। राजनीति की परिभाषा समयानुसार दी जाती रही है और आज भी इसमें मतैक्य नहीं है। आधुनिक युग मे राजनीतिशास्त्र की प्रकृति एव विस्तार के सम्बन्ध मे काफी परिवर्तन हुए हैं, तथा परम्परागत परिभाषाएँ काफी बदल चुकी हैं।

राजनीतिशास्त्र की प्रकृति परम्परागत और अर्वाचीन दृष्टिकोण

राजनीतिशास्त्र की परम्परावादी परिभाषाएँ ब्लशली, गेरिस, गार्नर, पाल जेनिट, सीले, गेटेल लीकाक आदि की हैं। परम्परागत अथवा ऐतिहासिक विचारधारा का सही प्रतिनिधित्व जॉर्ज एच सेबाइन ने किया है। ब्लशली के अनुसार "राजनीतिशास्त्र वह विज्ञान है जिसका राज्य से सम्बन्ध है और जो राज्य की आधारभूत स्थितियो, उसकी प्रकृति और विविध स्वरूपो एव विकास को समझने का प्रयत्न करता है।" गेरिस ने लिखा है कि "राजनीतिशास्त्र मे, शक्ति की सस्था के रूप मे, राज्य के सभी सम्बन्धो, उसकी उत्पत्ति, उसके मूर्त रूप (भूमि तथा निवासी), उसके प्रयोजन एव नैतिक महत्व, उसकी आर्थिक समस्याओ, उसके अस्तित्व की अवस्थाओ, उसके वित्तीय पहलू, उद्देश्य आदि पर विचार किया जाता है।" गार्नर की दृष्टि मे, "राजनीतिशास्त्र का प्रारम्भ तथा अन्त राज्य के साथ होता है।" सीले के मत मे "राजनीतिशास्त्र शासन सम्बन्धी बातो पर ठीक उसी प्रकार विचार करता है, जिस प्रकार अर्थशास्त्र सम्पत्ति जीवशास्त्र जीवन, बीजगणित अक तथा रेखागणित स्थान और परिमाण के सम्बन्ध मे विचार करते हैं।" गेटेल के अनुसार, "राजनीतिशास्त्र राज्य के भूतकालीन, वर्तमान या भावी स्वरूप का, राजनीतिक सगठन एव राजनीतिक कार्यक्रम का, राजनीतिक सस्थाओ तथा राजनीतिक विचारधाराओ का अध्ययन करता है।" लीकाक के मतानुसार, "राजनीतिशास्त्र सरकार से सम्बन्धित विद्या है।" लॉस्की का उल्लेख है कि, "राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का सम्बन्ध मानव सम्बन्धित सगठित राज्य से है।" इन विभिन्न परम्परावादी परिभाषाओ से यही स्पष्ट होता है कि राजनीतिशास्त्र राज्य, समाज, सरकार और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धो का एक क्रमबद्ध और

संश्लिष्ट अध्ययन है। सभी परिभाषाएँ मूलतः राज्य पर केन्द्रीभूत हैं और वही राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का विषय है। इस दृष्टिकोण के पीछे प्लेटो और अरस्तू के समय से चली आ रही यह मान्यता है कि राज्य कुछ पवित्र लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अस्तित्व में है। ब्रेबाइन ने लिखा है कि इस शास्त्र में हम उन सभी विषयों को सम्मिलित करते हैं जिनके सम्बन्ध में प्लेटो, अरस्तू, हॉब्स, लॉक, रूसो, बेन्थम, मिल, ग्रीन, हीगल, मार्क्स आदि ने विस्तार से लिखा है। जिन प्रश्नों अथवा समस्याओं की उन्होंने विशेष रूप से चर्चा की है, वे हैं—राज्य के माध्यम से किन आदर्शों की प्राप्ति सम्भव और वांछनीय है, स्वतन्त्रता का क्या अभिप्राय है, सरकार के कार्यक्षेत्र की सीमाएँ राज्य या सरकार को राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का मुख्य विषय मानती हैं।

राजनीतिशास्त्र की जो परम्परागत परिभाषाएँ हैं उनकी प्रमुख विशेषताओं को इस प्रकार गिनाया जा सकता है—

1 संस्थागत पहलू पर अधिक जोर दिया गया है। उदाहरणार्थ राज्य, सरकार आदि संस्थाओं को राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का प्रमुख आधार माना गया है।

2 सम्बन्धित संस्था की संरचना का वर्णन किया जाता है, जैसे राज्य के तत्त्वों पर प्रकाश डाला जाता है, सम्प्रभुता, सरकार के रूप, सरकार के अंग, शक्ति-पृथक्करण आदि का वर्णन किया जाता है।

3 राज्य के कार्यों पर अधिक जोर नहीं दिया जाता, उन्हें गौण विषय माना जाता है।

4 ये परिभाषाएँ राज्य के लक्ष्य पर विशेष प्रकाश नहीं डालती और न ही संस्थाओं तथा उनके कार्यों का मूल्यांकन करती हैं।

5. मूल्यों और लक्ष्यों में इन परिभाषाओं का सम्बन्ध भौतिक रूप में है, अनुभव के आधार पर इन्हें सिद्ध करने का प्रयास नहीं है।

6, राजनीतिक प्रक्रिया के औपचारिक तथा कानूनी दृष्टिकोणों पर अधिक जोर दिया गया है। विभिन्न सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक शक्तियों के बीच क्या पारस्परिक सम्बन्ध रहता है, ये एक दूसरे पर क्या प्रभाव डालती हैं, आदि में इसकी कोई रुचि नहीं है।

7 राजनीतिशास्त्र का अध्ययन एक व्यापक प्रणाली के रूप में किया गया है, उसका झुकाव आज की भाँति वैज्ञानीकरण की ओर नहीं है।

राजनीतिशास्त्र की परिभाषा का परम्परावादी रूप अब बदलता जा रहा है, नवीन रूप के प्रतिपादकों द्वारा यह विवाद खड़ा किया गया है कि राजनीतिशास्त्र क्या व्यक्ति के केवल उन्हीं कार्यकलापों का अध्ययन करता है जिनका सम्बन्ध राज्य से है अथवा व्यक्ति के कुछ उन कार्यकलापों का भी अध्ययन करता है जिनका सम्बन्ध उसके जीवन के केवल राजनीतिक पहलू से न होकर सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि अन्य पहलुओं से होता है। राजनीतिशास्त्र के नवीन रूप के प्रतिपादकों को व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्री कहा गया है जिनकी मान्यता है कि राजनीतिशास्त्र

की गवेषणा का आधार व्यक्ति के केवल राज्य सम्बन्धी व्यवहार और क्रियाकलाप ही नहीं हैं बल्कि बहुपक्षीय व्यवहार और क्रियाकलाप हैं। अर्वाचीन सम्प्रदाय मे भी विद्वानो मे मैतक्य नहीं है। कैटलिन का विचार है कि राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध उन सभी क्रियाकलापो से लिया जाना चाहिए जो समाज के तत्वावधान मे होते हैं। राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र का क्षेत्र एक ही है, केवल दृष्टिकोण अलग-अलग हैं। राजनीति के अध्ययन को हम केवल उन्हीं वस्तुओ तक सीमित नहीं रख सकते जिनका सम्बन्ध राज्य से है। जहां कहीं भी शक्ति-संघर्ष है वहीं राजनीति है। यदि यह शक्ति-संघर्ष, धार्मिक संगठनो, पारिवारिक सम्बन्धो, श्रमिक संघो आदि मे भी दिखाई देता है तो उन सब का अध्ययन भी राजनीतिशास्त्र का विषय है।

हरमन हीलर का मत है कि आज का राजनीतिशास्त्र मुख्यतः राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति, रक्षा एवं वितरण की समस्या पर विचार करता है। ऐसा विचार करते समय किसी मूर्त राज्य को अध्ययन का विषय बनाया जा सकता है अथवा मूर्त राज्यो मे प्राप्त तत्त्वो के आधार पर अमूर्त राज्य की कल्पना की जा सकती है। इसके अतिरिक्त आधुनिक राजनीतिशास्त्र जिन विभिन्न तत्त्वो का अध्ययन करता है वे हैं—प्रक्रियाओ का वह पारस्परिक सम्बन्ध जिसके द्वारा शक्ति को भौगोलिक एवं जलवायु सम्बन्धी परिस्थितियो के अनुरूप संस्थागत बनाया जा सकता है। जातीय विशेषताओ तथा अन्य विशेषताओ का प्रभाव, संगठन के नियन्त्रण के प्रमुख प्रकारो, का वर्णन तथा विश्लेषण, राज्य की महत्त्वपूर्ण राजनीतिक संस्थाओ का विशेषत दलो का संगठन एवं कार्य, राजनीतिक संस्थाओ के अन्त तथा विकास मे राजनीतिक विचारो का योगदान, संगठित राजनीतिक शक्तियो के प्रमुख सामाजिक शक्तियों के साथ सम्बन्ध का विश्लेषण, चर्च, लोकमत, प्रेस तथा प्रमुख आर्थिक शक्तियों का प्रभाव, अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियो एवं अन्य राज्यो के सन्दर्भ में, एक राज्य की शक्तियो की पुनरीक्षा आदि। लॉसवैल ने शक्ति-सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए उसे राजनीतिशास्त्र का मूल माना है। उनका कहना है 'एक अनुभववादी व्यवस्था के रूप मे राजनीतिशास्त्र शक्ति की रूप रचना एवं उपभोग का अध्ययन है।" डेविड ईस्टन ने राजनीतिशास्त्र को 'सामाजिक मूल्यो के आधिकारिक निर्धारण' का अध्ययन माना है। लॉसवैल और ईस्टन आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों में दो महारथी हैं जिनके विचारो का अगले शीर्षक के अन्तर्गत विस्तार से विवेचन किया गया है।

राजनीतिशास्त्र की परम्परागत और अर्वाचीन परिभाषाएँ विषय-वस्तु, प्राथमिकता तथा मूल्यांकन की दृष्टि से अपने गुण-दोष और अपनी भिन्नताएँ रखती हैं। परम्परागत मान्यता मे अत्यधिक औपचारिकता पर बल दिया गया है। इसके द्वारा यथार्थता की गहराई तक नहीं पहुँचा जा सकता है। परम्परागत परिभाषाएँ राजनीतिशास्त्र की रुचि के अनेक विषयो को अछूता छोड़ देती हैं जैसे राज्य के कार्य, सरकार की प्रक्रियाएँ, राज्य तथा समाज के बीच पाई जाने वाली अन्तःक्रियाएँ, निर्णय लेने की प्रक्रिया, नीति रचना का कार्य, नीति-निर्धारण के कारण तथा परिणाम आदि। इन परिभाषाओ मे राज्य और सरकार को ही सब कुछ माना गया

है, अन्य तत्वो की उपेक्षा की गई है, अराजनीतिक तत्वो तथा सस्थाओ का राजनीतिक क्रियाओ पर जो प्रभाव पड़ता है उसके अध्ययन को स्थान नहीं दिया गया है। अर्वाचीन परिभाषाएँ भी आलोचना से परे नहीं हैं। वर्तमान विचारकों ने राजनीतिक व्यवस्था के किसी एक पहलू पर बहुत अधिक बल दिया है तो दूसरे पहलुओ की अवहेलना की है। लॉसवैल ने शक्ति को महत्त्वपूर्ण माना है तो ईस्टन ने मूल्यो के वितरण पर जोर दिया है। राजनीतिशास्त्र को समग्र रूप मे नही देखा गया है बल्कि टुकड़ो मे बाँट दिया है। दृष्टिकोण विषयगत अत्यधिक है और परिभाषाएँ असन्तुलन के दोष से ग्रसित हैं। राजनीतिशास्त्र की सन्तुलित परिभाषा एक ऐसे विज्ञान के रूप मे की जानी चाहिए जिसमे व्यक्ति के उन कार्यकलापो का अध्ययन किया जाता है जिनका सम्बन्ध उसके जीवन के राजनीतिक पहलू से अर्थात् राज्य, सरकार, राजनीतिक सस्थाओ, राजनीतिक प्रक्रियाओ आदि से सम्बन्धित पक्षो से होता है और इस अध्ययन मे व्यक्ति के जीवन के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि अन्य पहलुओ के पारस्परिक प्रभावो का मूल्यांकन भी किया जाता है और यह भी देखा जाता है कि व्यक्ति के जीवन के राजनीतिक पहलू तथा अन्य पहलू किस तरह एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।

राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र . परम्परागत और अर्वाचीन दृष्टिकोण

राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र पर विभिन्न विचार व्यक्त किए गए हैं—परम्परागत दृष्टिकोण तो है ही, नवीन दृष्टिकोण भी प्रतिपादित किए गए हैं। यदि मोटे रूप मे लें तो राजनीतिशास्त्र राज्य और सरकार के सर्वांगीण अध्ययन के साथ मानव-तत्व और आधुनिक वातावरण का भी अध्ययन करता है। हरमन हेलर के अनुसार, आज राजनीतिशास्त्र प्रधानत. राजनीतिक शक्ति की पूर्ति, उसके दृढीकरण और वितरण की समस्या पर केन्द्रीभूत है। इसके अन्तर्गत उन प्रक्रियाओ के पारस्परिक सम्बन्धो का अध्ययन किया जाता है जिनके द्वारा भौगोलिक, जलवायु सम्बन्धी, जातीय, प्राकृतिक, आर्थिक, सैनिक, नैतिक, धार्मिक तथा राष्ट्रीय वातावरण और कानून के अनुसार जनशक्ति राज्य-सस्था का स्वरूप धारण करती है। इस म महत्त्वपूर्ण राजनीतिक समुदायो–विशेषकर राजनीतिक दलो के सगठन और कार्यों का वर्णन एव विश्लेषण किया जाता है। हम यह भी देखते हैं कि राजनीतिक समुदायो की उत्पत्ति एव विकास मे राजनीतिक विचारो के प्रभाव का क्या महत्व है। साथ ही इसमे सगठित राजनीतिक शक्ति तथा सघीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ मे राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो का पर्यवेक्षण भी किया जाता है।

राज्य का सर्वांगीण और सर्वकालीन अध्ययन—राजनीतिशास्त्र के अन्तगत राज्य के अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनो का अध्ययन किया जाता है। सभी राजनीतिक सस्थाएँ क्रमिक विकास का परिणाम हैं। राज्य का वर्तमान स्वरूप ऐतिहासिक विकास की उपज है। राजनीतिशास्त्र राज्य की उत्पत्ति, राज्य के वर्तमान स्थिति तक पहुँचाने की विभिन्न अवस्थाओ, विभिन्न युगो और देशो के राज्य तथा शासन के स्वरूपो के विकास आदि का अध्ययन करता है। राजनीतिक

विचारधारा (Political Thought) के विकास, राजनीतिक विकास (Political Development) के सिद्धान्त और नियम भी राजनीतिशास्त्र की विषय-सामग्री हैं । राज्य का वर्तमान स्वरूप, सगठन, औचित्य, उद्देश्य, कार्यक्षेत्र आदि भी राजनीतिशास्त्र की अध्ययन सामग्री हैं । यह शास्त्र राज्य के भावी स्वरूप का भी अध्ययन और विश्लेषण करता है । राज्य के तात्कालिक स्वरूप और सगठन से मनुष्य की तृप्ति नहीं होती । अत प्रारम्भ से ही वह आदर्श राज्य का स्वप्न लेता रहा है । प्लेटो, अरस्तू, मूर आदि ने आदर्श राज्य का चित्र खींचा और वर्तमान विचारक भी राज्य के स्वरूप, उद्देश्य तथा कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध मे अनेक नवीन विचार हमारे सम्मुख प्रस्तुत करते रहे हैं ।

सरकार का अध्ययन—सरकार वह उपकरण है जो राज्य के स्वरूप की क्रियात्मक अभिव्यक्ति करता है। राजनीतिशास्त्र मे सरकार के विभिन्न अगो, उनके सगठन, कार्यक्षेत्र, उन अगो मे पारस्परिक सम्बन्ध, राजनीतिक दल, जनमत, स्थानीय शासन आदि का विशेष अध्ययन किया जाता है ।

मनुष्य, अन्तर्राष्ट्रीय विधि आदि का अध्ययन—राजनीतिशास्त्र राज्य और सरकार के सर्वागीण अध्ययन के साथ मानव तत्त्व और आधुनिक वातावरण का भी अध्ययन करता है । यह मानव अधिकारो, राज्य के प्रति उसके कर्त्तव्यो, व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धो पर प्रकाश डालता है । व्यक्ति के वे क्रियाकलाप जिनका सम्बन्ध राज्य और शासन से है, इस शास्त्र की अध्ययन-सामग्री हैं । इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय विधि और सम्बन्धो, अन्तर्राष्ट्रीय सगठन, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा आदि का अध्ययन भी सम्मिलित है ।

राज्य के विषय-क्षेत्र के बारे मे उपरोक्त विचार परम्परागत रूप मे चले आ रहे हैं । इन्हे सुगठित रूप मे व्यक्त करते हुए प्रो फेयरली ने लिखा है—"राजनीतिशास्त्र राज्य के अन्तर्गत शासन और कानून की अधीनता मे सगठित मानव-जीवन से सम्बन्धित है । इसमे राज्यो के सगठन, उनके क्रियाकलापो, राजनीतिक सगठनो और क्रियाओ से सम्बन्धित सिद्धान्तो तथा विचारो का अध्ययन किया जाता है । यह राजनीतिक सत्ता और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सामञ्जस्य की समस्या पर विचार करता है । राज्य द्वारा नियन्त्रित मनुष्यो के आपसी सम्बन्धो और मनुष्य तथा राज्य के सम्बन्धो पर यह प्रकाश डालता है । जिन अभिकरणो द्वारा राज्य के कार्यों का निर्धारण, अभिव्यजन और क्रियान्वयन होता है उनके बीच शासन सत्ता का विभाजन होता है उनका भी और राष्ट्रीय जीवन की समस्या का भी इसमे अध्ययन होता है ।" सन् 1948 मे यूनेस्को के एक सम्मेलन मे राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र पर विचार किया गया था । तदनुसार राजनीतिशास्त्र का विषय क्षेत्र मोटे रूप मे चार शाखाओ मे विभाजनीय है—

(क) राजनीतिक सिद्धान्त (Political Theory)—इसमे राजनीतिक विचारो का इतिहास तथा राजनीतिक सिद्धान्त या विचारधारा सम्मिलित है ।

(ख) राजनीतिक सस्थाएँ (Political Institutions)—इसमे सविधान,

राष्ट्रीय सरकार, लोक शासन, सरकार के सामाजिक एवं आर्थिक कार्य, राजनीतिक संस्थाएँ आदि शामिल हैं।

(ग) राजनीतिक दल (Political Parties)–इसमे राजनीतिक दलो, समुदाय, जनमत, सरकार एव प्रशासन मे जनता के योगदान आदि का अध्ययन निहित है।

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (International Relations)–इसमे अन्तर्राष्ट्रीय सगठन, अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि सम्मिलित हैं।

राजनीतिशास्त्र के स्वरूप और क्षेत्र पर कुछ प्रमुख अर्वाचीन दृष्टिकोण—राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का उपरोक्त विषय-क्षेत्र पारस्परिक है। तदनुसार इस *शास्त्र का अध्ययन राज्य और राजनीतिक सस्थाओं तक सीमित माना जाता रहा* है। किन्तु अति आधुनिक काल मे—मुख्यत द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त—राजनीतिशास्त्र के अध्ययन मे नवीन प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हुई हैं, नए दृष्टिकोण प्रतिपादित किए गए हैं। नवीन प्रवृत्ति के अनुसार राज्य तथा राजनीतिक सस्थाओं की परिधि के परे भी कुछ प्रक्रियाएँ और परिवेश हैं जिनका अध्ययन राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत किया जाना आवश्यक है। इस अध्ययन की उपेक्षा करना राजनीतिशास्त्र की उपयोगिता को खोना या कम करना है। सभी समाज विज्ञानों का प्रेरणा-स्रोत और अध्ययन-केन्द्र बिन्दु मानव-व्यवहार के अध्ययन की यह उपेक्षा नही कर सकता। मानव-व्यवहार के केवल राजनीतिक पहलू का अध्ययन अपर्याप्त है, कुछ उन प्रक्रियाओं का अध्ययन भी आवश्यक है जो गैर-राजनीतिक चरित्र की हैं। इन प्रक्रियाओं का मानव-व्यवहार के राजनीतिक पहलू पर प्रभाव पड़ता है। राज्य और राजनीतिक सस्थाओं का अध्ययन ही महत्त्वपूर्ण नही है बल्कि राजनीतिक व्यवहार और इस पर पड़ने वाले मानसिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक परिस्थितियों के प्रभावों का अध्ययन भी महत्त्वपूर्ण है। राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का यह नवीन दृष्टिकोण व्यवहारवादी आन्दोलन के नाम से विख्यात हुआ है। इस आन्दोलन के विरुद्ध भी एक प्रतिक्रिया चल पड़ी है जिसे उत्तर-व्यवहारवाद की सज्ञा दी गई है। वस्तुत राजनीतिशास्त्र के विषय-क्षेत्र पर अभी तक विद्वानो मे कोई मतैक्य नहीं हो सका है, अनेक दृष्टिकोण विकसित हुए हैं। विभिन्न दृष्टिकोणो मे यदि अनेक समानताएँ देखने को मिलती हैं तो पारिभाषिक स्तर पर विभिन्नताएँ भी कम नही है। राजनीतिशास्त्र के स्वरूप और क्षेत्र पर मत-भिन्नताओं के सम्बन्ध मे युलाऊ (Eulau) की यह टिप्पणी ठीक ही है कि "राजनीतिशास्त्री विभिन्न दिशाओं मे स्पष्ट रूप से यह मानकर यात्रा कर रहे हैं कि यदि किसी को मंजिल का पता नहो भी है तो भी कोई न कोई रास्ता उसे मंजिल तक पहुँचा ही देता है।"[1] स्टीफेन वास्बी ने भी लिखा है—"राजनीतिशास्त्री सुबह 9 बजे से शाम 5 बजे तक जो कुछ करते हैं वही राजनीतिशास्त्र है।"[2]

राजनीतिशास्त्र के स्वरूप और क्षेत्र के सम्बन्ध मे कुछ प्रमुख नए या अर्वाचीन दृष्टिकोण अधोलिखित शीर्षकों मे स्पष्ट किए जा रहे हैं—

1 *Heinz Eulau* : 'Political Science' in *Bert F Hoslitz*, 'A Reader's Guide to the Social Sciences' p 91

2 *Stephen Wasby* Political Science The Discipline and Its Dimensions, p 3

(क) राजनीतिशास्त्र शक्ति का अध्ययन है (कैटलिन तथा लॉसवेल)—कैटलिन और लॉसवेल ने राजनीतिशास्त्र को शक्ति का अध्ययन माना है। दोनो के विचारो का मुख्य आधार मनोविज्ञान है। कैटलिन ने राज्य के स्थान पर व्यक्ति के राजनीतिक क्रियाकलापो के अध्ययन पर बल दिया है और राजनीति को प्रभुत्व तथा नियन्त्रण (Dominance and Control) के लिए किया जाने वाला संघर्ष माना है। संघर्ष का मूल कारण मानव की यह इच्छा है कि दूसरे लोग उसके अस्तित्व को स्वीकार करें। सन् 1962 मे 'सिस्टेमेटिक पॉलिटिक्स' शीर्षक से कैटलिन की पुरानी पुस्तक का जो सशोधित सस्करण निकला उसमे कैटलिन के विचार अधिक स्पष्ट और परिष्कृत हैं।

कैटलिन ने 'शक्ति' (Power) को इच्छाओ के संघर्ष और नियन्त्रण-प्रक्रिया का आलम्बन मानते हुए सभी राजनीतिक कार्यों की कुञ्जी बताया है। अपने विचार को स्पष्ट करते हुए उसने लिखा है—"समाज मे नियन्त्रण जो कुछ करना है, नियन्त्रण-भावना के कारण जो भी कार्य किए जाते हैं, नियन्त्रण-भावना पर आधारित सम्बन्धो की इच्छाओ के कारण समाज मे जिस ढाँचे और जिन इच्छाओ का निर्माण होता है, उन सबसे राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध है।"[1]

लॉसवेल 'शक्ति' की अवधारणा का दूसरा प्रमुख प्रणेता है। उसने शक्ति-सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए इसे राजनीतिशास्त्र का मूल माना है और कहा है—"एक अनुभववादी व्यवस्था के रूप मे राजनीतिशास्त्र शक्ति की रूप-रचना तथा उपभोग का अध्ययन है।" समाज मे कतिपय मूल्यो को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति दूसरो पर अपना प्रभाव डालने की चेष्टा करता है और इस प्रभाव-चेष्टा मे 'शक्ति' का भाव निहित रहता है। इस प्रकार राजनीतिशास्त्र प्रभाव तथा प्रभावी (Influence and Influencial) का अध्ययन है। राजनीतिशास्त्र भी अन्य सामाजिक विज्ञानो की भाँति एक नीति विज्ञान है और सामाजिक नीति ऐसी होनी चाहिए जिसके द्वारा परिस्थितियाँ बनाई जा सकें जिनमे कि समाज के मूल्यो को शक्ति के साथ समायोजित किया जा सके। शक्ति सम्बन्धी प्रक्रिया सामाजिक प्रक्रिया से भिन्न न होकर सम्पूर्ण सामाजिक प्रक्रिया या राजनीतिक पहलू मात्र है। राजनीतिशास्त्र अमूर्त सस्थाओ या सगठनो का अध्ययन नहीं करता, यह व्यक्ति को उसके पूर्ण रूप मे देखता है तथा अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धो का अध्ययन करता है। इसमे व्यक्ति की आवश्यकताओ एव हितो के पक्ष मात्र को नहीं देखा जाता वरन् उसके समस्त पहलुओ के साथ पूर्ण व्यक्तित्व का अध्ययन किया जाता है। यह उन सभी तत्त्वो का ज्ञान प्राप्त करता है तथा उनका मूल्यांकन करता है जो नीति सम्बन्धी लक्ष्यो के पूर्ण होने मे अवरोध का कार्य करते हैं।

लॉसवेल ने बताया कि शक्ति का वितरण असमान होने से मूल्यो की प्राप्ति सब लोगो को एक जैसी, एक समय पर और एक तरह से नहीं होती है। इसीलिए

1 *Catlin* : Systematic Politics, p. XIII

राजनीतिशास्त्र उस राजनीति को खोजता है जो यह बतलाए कि 'कौन, क्या, कब और कैसे प्राप्त करता है ?" इसी विचार के आधार पर उसने सन् 1936 मे प्रकाशित अपनी एक पुस्तक का नाम ही "राजनीति—कौन, क्या, कब और कैसे प्राप्त करता है ?" रखा है। लॉसवेल के अनुसार 'शक्ति' राजनीति का मुख्य सार है। राजनीतिक व्यक्ति वह है जिसका प्रमुख मूल्य (उद्देश्य) शक्ति प्राप्त करना है। शक्ति का अभिप्राय महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने से है और निर्णयो का महत्त्व इस बात से नापा जाता है कि मूल्यो के वितरण पर उनका कितना प्रभाव है। लॉसवेल शक्ति को मूल्यो के वितरण को प्रभावित करने वाला साधन मानता है। मूल्यो के सम्बन्ध मे निर्णय शक्तिशाली व्यक्तियो द्वारा लिए जाते हैं और ये निर्णय मूल्यो के वितरण को प्रभावित करते हैं। कौन, क्या, कब और कैसे पाता है—ये प्रश्न हमे उन व्यक्तियो के कार्य-भाग के अध्ययन की ओर ले जाते हैं जो इन्हे प्राप्त करते हैं। व्यक्ति मूल्यो को प्राप्त करने का प्रयास इसलिए करते हैं क्योकि इनकी प्राप्ति से उन्हें वैभव, पद और प्रतिष्ठा की उपलब्धि होती है। मूल्यो को प्राप्त कर लेने के कारण समाज द्वारा ये सब चीजें व्यक्तियो को प्रदान की जाती हैं। मूल्यो का समाज में वितरण किस तरह होता है, राजनीतिशास्त्र के विद्यार्थी के अध्ययन का यह प्रमुख विषय है। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति को हम तभी समझ सकते हैं जब मूल्यों के वितरण का अध्ययन करें। उल्लेखनीय है कि लॉसवेल की प्रारम्भिक रचनाओ से यह ध्वनित होता है कि वह मूल्यो से अधिक 'शक्ति' को राजनीतिशास्त्र का केन्द्र बिन्दु मानता है, किन्तु बाद की रचनाओ से यह स्पष्ट होता है कि उसने शक्ति की महत्ता का प्रतिपादन इसलिए किया है क्योकि विभिन्न आदर्शों और मूल्यो की प्राप्ति के लिए शक्ति आवश्यक है। लॉसवेल ही के शब्दो मे, "राजनीतिक क्रिया-कलापो का आरम्भ उस परिस्थिति में होता है जिसमे कर्त्ता विभिन्न मूल्यो की प्राप्ति की चेष्टा करता है और शक्ति जिसकी आवश्यक (और सम्भवत पर्याप्त भी) शर्त होती है।" इस तरह लॉसवेल के सशोधित विचार के अनुसार शक्ति और मूल्य दोनो का अध्ययन राजनीति मे महत्त्वपूर्ण है। लॉसवेल का अभिमत है कि राजनीतिशास्त्र के रूप मे जो परिवर्तन आया है वह वैज्ञानिक और तकनीकी विकासो के प्रभाव का परिणाम है। विज्ञान ने विश्व के स्वरूप को इतना बदल दिया है कि राजनीतिशास्त्र उससे अप्रभावित नहीं रह सकता। राजनीतिशास्त्र का सही अध्ययन तभी किया जा सकता है जबकि उस पर प्रभाव डालने वाली विभिन्न शक्तियो को भी अध्ययन का विषय बनाया जाए।

कैटलिन और लॉसवेल के विचार महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु इस मान्यता मे सशय है कि व्यक्ति के वे सभी कार्य राजनीतिशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र की सीमा मे आ बैठे हैं जिनका आधार शक्ति है। राजनीतिक और गैर-राजनीतिक क्रिया-कलापो के बीच सीमा-रेखा तो है ही। फिर, राजनीति को केवल शक्ति का सघर्ष ही नही माना जा सकता, उसमे सहयोग और सहमति का भी स्थान है। पुनश्च, लॉसवेल ने 'कौन, क्या, कब और कैसे प्राप्त करता है" जैसे प्रश्न उठा कर राजनीति को शक्तिशाली

अभिजात्य वर्ग के क्रियाकलापो के अध्ययन तक ही सीमित ,कर दिया है। जबकि जन-साधारण के क्रियाकलाप भी राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का महत्त्वपूर्ण भाग है।

(ख) **राजनीतिशास्त्र सामाजिक मूल्यों के प्राधिकारिक निर्धारण का अध्ययन है (डेविड ईस्टन के विचार)**—शक्ति अवधारणा की कमियो को दूर करने के प्रयास मे डेविड ईस्टन ने अपना अलग ही विचार प्रस्तुत किया है। अपनी पुस्तक 'दी पॉलिटिकल सिस्टम' मे एक स्थल पर उसने लिखा है कि राजनीतिशास्त्र सामाजिक मूल्यो के प्राधिकारिक आवटन या निर्धारण (Authoritative allocation of the values of society) का अध्ययन है।[1] इसी पुस्तक मे एक अन्य स्थल पर उसका कथन है—"राजनीतिशास्त्र मूल्यो के प्राधिकारिक आवटन का अध्ययन है, जैसा कि यह शक्ति के वितरण एव प्रयोग के द्वारा प्रभावित किया जाता है।"[2] ईस्टन ने राजनीति के सैद्धान्तिक अध्ययन को दो भागों मे बाँटा है—प्रथम भाग के अन्तर्गत वह राजनीतिक व्यवस्थाओं (Political System) के जीवित रहने (Survival) के अध्ययन को सम्मिलित करता है और दूसरे भाग मे शक्ति के वितरण और इस वितरण के आधार पर मूल्यों के निर्धारण के अध्ययन को शामिल करता है। ईस्टन का विचार है कि प्राधिकारिक आवटन या निर्धारण तथा प्राप्त होने वाले मूल्यो और शक्ति के प्रयोग तथा वितरण के बीच एक घनिष्ठ ग्रन्थि है जो एक-दूसरे को जोडती है। ईस्टन ने राजनीतिशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र मे तीन बातो पर प्रमुख रूप से बल दिया है—नीति, अधिसत्ता और समाज (Policy, Authority and Society)। उसने इन तीनो बातो की व्याख्या की है। नीति का सार (The Essence of Policy) इस तथ्य मे है कि इसके माध्यम से कुछ बातें कुछ व्यक्तियो को निषिद्ध की जाती हैं और कुछ बातें दूसरो को प्राप्त करने योग्य बनाई जाती है। दूसरे शब्दो मे, नीति का आशय समाज द्वारा अथवा किसी सन्धि या समुदाय द्वारा अथवा समूह द्वारा किए गए उन निर्णयो और मानव-क्रियाकलापों के ताने-बाने (A web of decisions and actions) से है जिनके द्वारा सामाजिक मूल्यो का आवटन हाता है। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखने योग्य बात है कि मूल्यो के निर्धारण की प्रक्रिया का अभिप्राय यह निश्चित करना होता है कि सामाजिक सम्पन्नता अथवा विपन्नता मे कौन किस सीमा तक भागीदार बने। इस प्रक्रिया मे किए गए निर्णयो की सफलता और असफलता दोनो राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। अधिसत्ता (Authority) सम्बन्धी अध्ययन राजनीतिशास्त्र के लिए आवश्यक है क्योकि नीति सम्बन्धी निर्णयो को मनवाने के लिए अधिसत्ता का अस्तित्व जरूरी है। मूल्यो का आवटन प्राधिकारिक होता है। कोई भी चीज प्राधिकारिक तभी मानी जाती है जब इससे प्रभावित होने वाले या इससे सम्बन्ध रखने वाले लोग यह मान लें कि इसका पालन करना अनिवार्य है। अधिसत्ता की मान्यता के पीछे अनेक कारण हो सकते हैं, यथा, कानून के अनुसार आचरण करने की भावना, दवाब का भय आदि। समाज (Society) का अध्ययन राजनीतिशास्त्र

1-2 *David Easton* · op cit, p 128

मे इसलिए आवश्यक है कि व्यक्ति इस समाज का अग है उसका व्यवहार एकाकी न होकर समाज के सदस्यो के प्रति होता है और राजनीतिशास्त्र मे लोगो के उन्ही क्रियाकलापो और नीतियो का अध्ययन किया जाता है जो सामाजिक एव सार्वजनिक रूप लिए हो अर्थात् जिनसे समाज किसी न किसी रूप मे प्रभावित होता हो । यदि एक श्रमिक सगठन केवल ऐसे नियमो का निर्माण करे जो सगठन की सीमाओ मे ही प्रभावी हो तो राजनीतिशास्त्र मे उसका अध्ययन आवश्यक नही है, किन्तु यदि श्रमिक सगठन एक ऐसी हडताल का निर्णय करें जिसका सारे समाज पर प्रभाव पडता हो तो उसका अध्ययन राजनीतिशास्त्र के लिए आवश्यक है ।

उल्लेखनीय है कि ईस्टन को ही यह प्रमुख श्रेय जाता है कि उसने राजनीतिक व्यवस्था (Political System) की सकल्पना (Concept) का प्रतिपादन किया है। राजनीतिशास्त्र के विषय-क्षेत्र के सम्बन्ध मे जो विभिन्न कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं उन्हें ध्यान मे रखते हुए ही ईस्टन ने अपनी यह सकल्पना या अवधारणा प्रस्तुत की है । राजनीतिक व्यवस्था से आशय 'किसी भी समाज मे घटित होने वाले उन पारस्परिक सम्बन्धो की व्यवस्था से है जिनके माध्यम से ऐसे उत्तरदायित्वो का वितरण हो जो बन्धनकारी अथवा अधिकारपूर्ण हो तथा जिन पर अमल किया जाता हो ।" जब ईस्टन की इस परिभाषा को लेते हैं तो राजनीति को हम सघर्ष की राजनीति तक ही सीमित नहीं रखते, उसमे सहयोग और सहमति को भी स्थान देते हैं । इस दृष्टिकोण का एक महत्त्वपूर्ण लाभ यह भी है कि इसके आधार पर राजनीति का अध्ययन राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय और स्थानीय—अर्थात् विभिन्न स्तरों पर किया जा सकता है । इस दृष्टिकोण से राजनीतिक व्यवस्था के अन्तगत क्रियाशील प्रक्रियाओ का ही अध्ययन नही किया जाता वरन् इन सब बातो की भी व्याख्या की जा सकती है—यथा बाह्य, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक वातावरण से राजनीतिक व्यवस्था पर क्या दबाव पडते हैं इन दबावो के परिणामस्वरूप किन निर्णयो तक पहुँचा जाता है जिन नियमो का निर्माण किया जाता है उनके क्या परिणाम अथवा प्रभाव हमारे सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन पर परिलक्षित होते हैं आदि ।

'राजनीतिक व्यवस्था' (Political System) शब्दावली आज अधिकाधिक सामान्य होती जा रही है । आज जिसे हम राजनीतिक व्यवस्था कहते हैं, उसे पुरानी पाठ्य-पुस्तको मे 'सरकार', 'राष्ट्र', 'राज्य' आदि शब्दो द्वारा व्यक्त किया जाता था तथापि यह नवीन शब्दावली कुछ अधिक व्यापक है जो राजनीतिक विषय-सामग्री पर एक नए तरीके से प्रकाश डालती है। इसमे पुरानी बातो के लिए कुछ नए नाम निहित हैं और कुछ नए शब्द उन गतिविधियो तथा प्रक्रियाओ को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं जिन्हे राजनीति के अगो अथवा पहलुओ के रूप मे पहले मान्यता प्राप्त नहीं थी ।

ईस्टन का मत है कि राजनीतिशास्त्र का पहला काय उन सामान्य समस्याओ का विश्लेषण करना है जो सभी राजनीतिक व्यवस्थाओ मे लगभग समान रूप से

पाई जाती हैं। राजनीतिशास्त्र के समक्ष मुख्य समस्याएँ दो प्रकार की हैं—तथ्यात्मक समस्याएँ (Concrete Problems), तथा सैद्धान्तिक समस्याएँ (Theoretical Problems)। दोनो प्रकार की समस्याओ के समाधान के लिए ईस्टन ने व्यवस्था-विश्लेषण पद्धति का सुझाव दिया है। ईस्टन के विचार आदर्शपरक न होकर व्यापारिक हैं, अनुभवजन्य हैं।

ईस्टन ने राजनीतिशास्त्र के अध्ययन को यद्यपि एक नया दृष्टिकोण दिया है तथापि यह दृष्टिकोण भी अनेक कमियो का शिकार है। उदाहरणार्थ, ईस्टन इस समस्या का समाधान करने मे सफल नही हुआ कि 'राजनीतिक' को 'अराजनीतिक' से कैसे अलग किया जाए। इस बात के निर्धारण मे भी भ्रम होता है कि किसी नीति के आधिकारिक आवटन से केवल कोई समूह-विशेष ही प्रभावित हो रहा है अथवा सम्पूर्ण समाज। यह निश्चित करना भी कई बार बडा कठिन हो जाता है कि एक नीति-विशेष का उद्गम कोई वैध अधिसत्ता है अथवा नही।

(ग) राजनीतिशास्त्र नीति-निर्माण प्रक्रिया का अध्ययन है—अनेक आधुनिक लेखको का आग्रह है कि राजनीतिशास्त्र मे अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु नीति-निर्माण प्रक्रिया होनी चाहिए। राजनीतिशास्त्र का एक प्रमुख भाग स्पष्टत. नीति-निर्माण कार्य से सम्बन्धित है। इसमे उन अनेक अभिकरणो और साधनो का अध्ययन किया जाता है जो कि नीति स्थापित करते हैं। इस दृष्टि से राजनीतिशास्त्र व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के सभी प्रशासकीय कार्यों तथा मतदाताओ का अध्ययन करता है। इसमे राजनीतिक दलो के सगठन, प्रक्रिया, सरकारी क्रियाओ के विभिन्न परिणामो आदि पर विचार किया जाता है। राज्य की विविध सस्थाएँ क्या नीति अपनाएँ और उन नीतियो को किस प्रकार क्रियान्वित किया जाए, इस सम्बन्ध मे राजनीति-शास्त्र विस्तार से विवेचन करता है। नीति-निर्माण-प्रक्रिया के अध्ययन पर आग्रह का विचार नि.सन्देह उपयोगी है, तथापि इस दृष्टिकोण मे एक बड़ी कमी यह रह जाती है कि इस बात का पता लगाने का प्रयत्न नहीं किया जाता कि जिस समस्या के सम्बन्ध मे निर्णय लिया जा रहा है, समाज के सन्दर्भ मे उसका महत्त्व क्या है और समाज पर क्या प्रतिक्रिया होगी। कुल मिलाकर नीति-निर्माण की प्रक्रिया राजनीति का एक सीमित रूप है और केवल उसी के अध्ययन से हम महत्त्वपूर्ण राजनीति का अध्ययन नहीं कर सकते।

(घ) समस्याओ और संघर्षों का अध्ययन—कुछ विद्वानो के मतानुसार राजनीतिशास्त्र समस्याओ और सघर्षों का अध्ययन है। समाज मे मूल्य और साधन सीमित हैं, अत. उनके वितरण के प्रश्न पर विवाद और सघर्ष उत्पन्न होते रहते हैं, मत-वैभिन्न्य चलता रहता है। जहाँ कही समस्या उत्पन्न होती है वही तनाव की राजनीति शुरू हो जाती है। तनाव की यह राजनीति न केवल राजनीतिक दलो बल्कि विभिन्न व्यक्तियो और समूहो तक फैल जाती है। समाज मे जो कुछ उपलब्ध और प्राप्य है उसके वितरण की समस्या को लेकर व्यक्तियो, समूहो, दलो, शासन सभी क्षेत्रो मे अभिनेता राजनीतिक मच पर उदय और विलीन होते रहते हैं।

वितरण सम्बन्धी संघर्ष की राजनीति चलती ही रहती है और इसी आधार पर प्रो. डायक ने सार्वजनिक समस्याओं पर परस्पर विरोधी मतों और इच्छाओं वाले पात्रों के संघर्ष को राजनीति कहा है। पीटर ओडीगार्ड का मत कुछ भिन्न है। तदनुसार सभी संघर्ष तब तक राजनीतिक नहीं माने जा सकते जब तक कि उनका उद्देश्य यह न हो कि संघर्ष के बाह्य तत्त्वों पर नियन्त्रण किया जाए।

सारांशत, राजनीतिक विज्ञान राज्य, समाज, सरकार और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों का एक क्रमबद्ध और सश्लिष्ट अध्ययन है। इसमें राज्य और सरकार के साथ ही एक राजनीतिक इकाई के रूप में मानव जाति का अध्ययन किया जाता है। समकालीन राजनीतिक विचारकों (Contemporary Political Thinkers) के अनुसार राजनीतिक प्रक्रिया, राजनीतिक व्यवहार, सामुदायिक जीवन के विविध राजनीतिक पक्ष आदि राजनीतिक विज्ञान की विषय सामग्री हैं। कैटलिन के मतानुसार राजनीतिक विज्ञान का विषय सगठित मानव समाज से सम्बन्धित है, किन्तु मुख्यत वह सामुदायिक जीवन के राजनीतिक पहलुओं का अध्ययन करता है। लॉसवैल, मेरियम, मैक्स, वेबर, बाटकिन्स, मार्गेन्थो आदि विद्वान शक्ति को राजनीति में केन्द्रीय अवधारणा अथवा सकल्पना मानते है। रॉब्सन के अनुसार शक्ति एक ऐसी आधारभूत सकल्पना है जो राजनीतिक विज्ञान के सभी विभागों को एक सूत्र में पिरो देती है। कुछ समकालीन विचारक अब राजनीति विज्ञान में नीति सम्बन्धी पक्ष पर अधिक बल देने लगे हैं और इसलिए विगत कुछ काल से नीति-निर्धारण की प्रक्रिया विशेष का अध्ययन होने लगा है। प्राचीन और अर्वाचीन परिभाषाओं एव व्याख्याओं के प्रकाश में व्यापक रूप में राजनीति विज्ञान को हम राज्य, शासन और राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन कह सकते हैं।

व्यवहारवादी क्रान्ति
(The Behavioural Revolution)

पिछले कुछ दशकों में—विशेषकर द्वितीय महायुद्ध के बाद—सरकार तथा राजनीति' के अध्ययन में व्यवहारवादी अध्ययन-पद्धति को अधिक महत्त्व दिया गया है। यह अध्ययन-पद्धति वर्तमान शताब्दी की एक महत्त्वपूर्ण देन है जिसे विकसित करने का श्रेय अमेरिकी राजनीति-वैज्ञानिकों को है। व्यवहारवाद परम्परागत राजनीतिशास्त्र की उपलब्धियों के प्रति असन्तोष का फल है। व्यवहारवादी आन्दोलन राज्य और राजनीतिक सस्थाओं की परिधि से बाहर मानव-व्यवहार को राजनीतिशास्त्र का अध्ययन केन्द्र-बिन्दु बनाए जाने पर बल देता है। व्यवहारवादियों के अनुसार जो भी समाज विज्ञान है उनका प्रेरणा-स्रोत और उनके अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु मानव-व्यवहार है और राजनीतिशास्त्र सामान्यत मानव व्यवहार के राजनीतिक पहलू का अध्ययन है। राजनीतिक विश्लेषकों की परम्परागत विश्लेषण पद्धतियाँ ऐतिहासिक, दार्शनिक, वर्णनात्मक, औपचारिक, वैधानिक एव सस्थागत हैं जबकि इन पद्धतियों के परिणामों से निराश व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्री विश्लेषण की ऐसी नवीन पद्धतियों पर बल देते है जिनके द्वारा राजनीतिक घटनाओं का प्रेक्षण

और परीक्षण कर राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत अनुभवजन्य सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया जा सके। इस कार्य को पूरा करने के लिए वे अन्य समाज-विज्ञानो से सहायता लेने के पक्ष मे हैं। व्यवहारवादी आन्दोलन के फलस्वरूप राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्त इसकी अध्ययन पद्धतियाँ, प्राप्तियाँ और दृष्टिकोण अन्य समाज-विज्ञानो (मानवशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि) के बहुत निकट आ गए हैं। व्यवहारवादी दृष्टिकोण 'अनुभवात्मक और प्रकार्यात्मक' (Empirical and Functional) है, यह राजनीति विज्ञान को सस्थागत, कानून और दार्शनिक सीमा मे नही मानता। व्यवहार पक्ष पर ध्यान सकेन्द्रित करने के कारण यह एक अन्तर-शास्त्रीय दृष्टिकोण है अर्थात् ऐसा उपागम है जो दूसरी अनुशासनात्मक अवधारणाओं, सिद्धान्तो और दृष्टिकोणो को अपनाकर अन्तर-अनुशासनात्मक शोध को आगे ब ाना चाहता है। परम्परावादी दृष्टिकोणो के विपरीत यह राज्य-विज्ञान को अर्था क वैज्ञानिक और व्यावहारिक बनाने का आकांक्षी है। अनुभवात्मक और प्रकार्यात्मक होने के फलस्वरूप इनमे व्यक्ति-निष्ट मूल्यो, मानकीय विवरण, कल्पनाओ आदि के लिए कोई स्थान नही है। वैज्ञानिक परिशुद्धता, प्रेक्षण या अवलोकन, सत्यापन, परीक्षण, परिमाणन तथा प्राक्कल्पना व्यवहारवाद के मुख्य आधार हैं जिनकी सहायता से व्यवहारवादी राजनीति के महत्त्वपूर्ण पहलुओ की व्याख्या करना चाहते हैं। व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्री ऐसे सामान्य सिद्धान्तो के प्रतिपादन के पक्ष मे हैं जो जीवन की वास्तविकताओ पर आधारित हैं और जिनका उपयोग वर्तमान और भावी राजनीतिक समस्याओ के अध्ययन मे किया जा सके।

व्यवहारवाद के अर्थ के बारे मे कोई समान दृष्टिकोण नही पाया जाता। कुछ व्यवहारवादियो के अनुसार यह केवल एक मनोदशा (Mood) अथवा मनोवृत्ति (Attitude) है तो कुछ अन्य विद्वानो की दृष्टि मे इसके अपने कुछ निश्चित विचार और सिद्धान्त हैं तथा कुछ निश्चित कार्य-विधियाँ हैं। डेविड ईस्टन ने इस दृष्टिकोण को 'वैज्ञानिक मनोदशा का प्रतिबिम्ब' कहा है। उन्होने इसे बौद्धिक प्रवृत्ति एव 'तथ्यात्मक शैक्षणिक आन्दोलन' (Concrete Academic Movement) घोषित किया है तथापि किर्क पैट्रिक का यह मत वर्तमान परिस्थितियो मे स्वीकार्य है कि अब यह पद (व्यवहारवाद) ऐसा नही रह गया है जिसका मनचाहा अर्थ लगा लिया जाए। अब यह शब्द बहुत कुछ निश्चित हो चला है और राजनीतिक जीवन के अध्ययन हेतु इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत आने वाली पूर्व धारणाओ, क्रिया-विधियो, तकनीको और लक्षणो को पहचानना सम्भव है।

सारभूत रूप मे, व्यवहारवाद एक समग्र क्रान्ति है जो कि राजनीतिशास्त्र अथवा इसकी अन्य शाखाओ की दुनिया को व्यवहारवादी चश्मे से देखती है। उदाहरणार्थ, लोक-प्रशासन को ही लें तो इसके अध्ययन मे व्यवहारवादियो के अनुसार विशेष बल इस बात पर दिया जाना चाहिए कि प्रशासनिक सगठन मे मानवीय व्यवहार का स्वरूप कैसा होता है और विभिन्न प्रकार के सगठन किस प्रकार अपनी गतिविधियाँ सचालित करते हैं। व्यवहारवादियो का दावा है कि

विभिन्न प्रकार के सगठनो मे मानवीय व्यवहार और आचरण का निष्पक्ष परीक्षण तथा अध्ययन सम्भव है। व्यवहारवादियो का यह तर्क है कि प्रशासनिक सगठनो की व्यावहारिक गतिविधियो का सावधानीपूर्वक अध्ययन करके प्रशासन और सगठन के बारे मे निश्चित रूप से कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

व्यवहारवाद की मूल मान्यताएँ

वास्तव मे व्यवहारवादी दृष्टि की मूल मान्यताएँ चार हैं जिनका ईस्टन, डहल, कैटलिन आदि राज्यशास्त्रियों ने विस्तार से विवेचन किया है—

(1) व्यवहारवादी यह मानते हैं कि अध्ययन की इकाई (Unit of Conceptualisation) जब तक यह बहुत बडी (Macro) है तब तक अध्ययन गहन नहीं बन सकेंगे। अत इस विशालता को विशेषीकरण की दृष्टि से तोडकर 'लघुता' (Micro) की इकाइयो मे परिवर्तित किया जाए। उदाहरणार्थ किसी भी भीमकाय प्रशासकीय या राजनीतिक सगठन का वर्णन करने के साथ-साथ यदि यह भी पढ़ा जाए कि इस सगठन मे परिवेक्षण प्रक्रिया किन-किन तत्त्वो से बाधित होती है तो अध्ययन अधिक सार्थक और उपयोगी होगा। व्यवहारवादी दृष्टि ने छोटे-छोटे विषयो पर गम्भीर अध्ययन और विश्लेषण को प्राथमिकता दी है।

(2) व्यवहारवादी दृष्टि अध्ययनो की वैज्ञानिकता की बहुत बडी पक्षधर है। राजनीति मे एक वैज्ञानिक बौद्धिक उद्यम है जिसकी अध्ययन-विधियो म यह आवश्यक है कि अवधारणाएँ एव निष्कर्ष स्थायी, निश्चित तथा सार्वदेशिक बन सकें। व्यवहारवादियो क अनुसार वैज्ञानिक अध्ययन विधि को बडी कठोरता से अपनाया जाना चाहिए, चूँकि यह ज्ञान को गहराई, सच्चाई और निष्पक्षता से परीक्षित कर विश्वसनीय बनाती है। इस दृष्टि से व्यवहारवादी निरीक्षणवादी, अनुभववादी और प्रयोगवादी शोधकर्त्ता हैं।

(3) व्यवहारवाद चाहता है कि ज्ञान के क्षेत्र मे वैज्ञानिक विधि से सचित एव सुरक्षित यह ज्ञान भण्डार एक सन्दर्भ विशेष को ध्यान मे रखकर आगे बढाया जाए। दूसरे शब्दो मे इस ज्ञान की समग्रता और सच्चाई इस पर निर्भर करेगी कि वह ज्ञान के अन्य पहलुओ से कितना सम्बन्धित है। उदाहरण के लिए राजनीतिशास्त्र के विषय मे या राज-विज्ञान के बारे मे कोई भी निष्कर्ष इस सन्दर्भ मे परीक्षित किया जाना चाहिए कि मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि अन्य अध्ययन क्षेत्रो म चल रहे अनुसन्धान उसे कितना स्वीकार्य मानेंगे। स्पष्ट शब्दों मे, व्यवहारवादी दृष्टि आत्म निर्भरता और अन्तर-अध्ययन ज्ञानों की एक समन्वित दृष्टि है। यह राजनीति विज्ञान को बहु-दृष्टि अथवा अन्तर-अनुशासनीय (Inter disciplinary) अध्ययन मानती है, पर साथ ही एक स्वतन्त्र और स्वशासित विज्ञान भी।

(4) व्यवहारवाद एक अनुभव मूलक सिद्धान्त का प्रणयन करना चाहता है। अनुभव, निरीक्षण प्रयोग, सन्दर्भ ज्ञान, परिस्थिति, विवेचन आदि क आधार पर सम्पूर्णता या गहनता से विश्लेषण करन वाल व्यवहारवादी यह मानकर चलत

है कि राजनीतिशास्त्र एक स्वतन्त्र अध्ययन विज्ञान के रूप मे अपनी स्वतन्त्र विचारधाराएँ विकसित या आविष्कृत कर सकता है।

व्यवहारवाद का उदय और विकास

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे व्यवहारवादी मान्यताओ के यत्र-तत्र प्रसग प्लेटो और अरस्तू के समय से ही मिलते हैं, लेकिन एक सिद्धान्त के रूप मे व्यवहारवाद वर्तमान शताब्दी की उपज है। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त व्यवहारवादी चिन्तन का तेजी से विकास हुआ और आज, जैसा कि व्यवहारवादियो का दावा है, व्यवहारवाद एक पूर्ण विकसित अध्ययन-पद्धति है। आधुनिक रूप मे व्यवहारवाद के उदय के मूल मे अनेक कारण उत्तरदायी रहे हैं जिनमे कुछ प्रमुख ये हैं—

(1) अनेक राजनीतिशास्त्रियो को परम्परागत राजनीतिशास्त्र की अध्ययन-पद्धतियो के परिणामो से निराशा हुई। परिणाम निराशापूर्ण इस अर्थ मे समझे गए कि वे जीवन की वास्तविकताओ का स्पष्ट और न्याय सगत चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत नहीं कर पाए। परम्परागत राजनीतिशास्त्र की अध्ययन-पद्धति वैज्ञानिक न होने से परिणामो को निश्चित रूप में व्यक्त न करके सम्भावनाओ के रूप मे व्यक्त किए जाने की प्रवृत्ति अधिक रही।

(2) अन्य सामाजिक विज्ञानों में अध्ययन के नवीन तरीकों और उपकरणों के प्रयोग की प्रवृत्ति से राजनीतिशास्त्र का अछूता रहना सम्भव न था। राजनीतिशास्त्री इन नवीन अध्ययन पद्धतियों की ओर आकर्षित हुए। चार्ल्स मेरियम ने सन् 1925 मे 'अमेरिकन पॉलिटिकल साइन्स एसोसियेशन' की बैठक मे अपने अध्यक्षीय भाषण मे स्पष्ट रूप से कहा—"अन्य विज्ञानो की भाँति किसी दिन हम औपचारिक दृष्टिकोण के स्थान पर नवीन दृष्टिकोण अपना सकते हैं और राजनीतिक व्यवहार राजनीतिक खोजबीन या अन्वेषण का आवश्यक विषय बन सकता है।" चार्ल्स मेरियम के नेतृत्व मे शिकागो विश्वविद्यालय अनुभववादी आन्दोलन का केन्द्र बन गया।

(3) सन् 1930 के लगभग अमेरिका मे अनेक यूरोपीय छात्र आए और वे अपने साथ समाजशास्त्रीय भूमिका लाए। जब इन छात्रों ने समाजशास्त्रीय विधियों द्वारा राजनीतिक समस्याओ का अध्ययन प्रारम्भ किया तो व्यवहारवाद की लोकप्रियता बढने लगी। मैक्स वेबर आदि समाजशास्त्री पहले से ही व्यवहारवादी पद्धति का प्रयोग कर रहे थे और अब इन छात्रो—विशेषकर जर्मन छात्रों के कारण व्यवहारवादी अध्ययन-पद्धति को बल मिला।

(4) अमेरिका के विभिन्न विश्वविद्यालयों में राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र के अध्यक्ष पद पर कुछ ऐसे व्यक्ति बैठे जिन्होने राजनीतिक समस्याओं क समझने के लिए समाजशास्त्रीय एव मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो पर विशेष बल दिया कार्ल मार्क्स, दुर्खीम, फायड, परेटो, मोस्का, वेबर आदि के विचारो की ओ राज विज्ञान के छात्रों का ध्यान आकर्षित किया जाने लगा। फ्रेंज न्यूमैन, सिगम न्यूमैन, पाल लेजर्सफेल्ड, हेन्स स्पीयर, हेंस गर्थ, रिनहर्ड वेनडिक्स आदि ने राजनीति शोध को प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया।

(5) द्वितीय महायुद्ध ने व्यवहारवाद को गति प्रदान की। महायुद्ध की हलचलों के फलस्वरूप अमेरिका में राजनीतिशास्त्रियों का ध्यान परम्परागत सिद्धान्तों और मूल्यों से हटकर दैनिक राजनीतिक एवं प्रशासकीय परिवर्तनों की ओर आकर्षित होने लगा। कल्पना और चिन्तन की दुनिया में विचरने के स्थान पर जीवन की वास्तविकताओं को समझने पर बल दिया जाने लगा। संकटकाल में राष्ट्रपति, कांग्रेस, सर्वोच्च न्यायालय आदि का किस तरह का व्यवहार रहा, फलस्वरूप राष्ट्र को क्या उपलब्धियाँ हासिल हुईं आदि बातें अध्ययन का मुख्य विषय बनीं। युद्धकालीन घटनाओं ने राजनीतिशास्त्रियों के मन में यह बात बैठा दी कि यदि राजनीतिक जीवन की जटिलताओं को समझना है तो संस्थाओं और उनकी संरचनाओं के अध्ययन की सीमा से आगे बढ़कर उन संस्थाओं के व्यवहार का, संस्थाओं में कार्य करने वाले व्यक्तियों के व्यवहार का अध्ययन करना होगा।

(6) द्वितीय महायुद्ध के बाद के दशकों में राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र के अधिकाधिक विस्तार के साथ विद्वानों के मन में यह बात घर करती गई कि राजनीतिशास्त्र में नवीन अध्ययन पद्धतियों को स्थान देना होगा। यह मान लिया गया कि राजनीतिशास्त्र का अध्ययन केवल राज्य और सरकार की संरचनाओं तथा उनके कार्यों तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसके अन्तर्गत उन औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठनों, संरचनाओं भूमिकाओं, दृश्य-अदृश्य क्रियाओं, प्रेरकों, उद्देश्यों, मूल्यों, समूहों आदि का अध्ययन भी सम्मिलित है जिन्हें परम्परावादी राजनीतिशास्त्री महत्त्व नहीं देते, और राजनीतिशास्त्र के विषय-क्षेत्र से अलग मानते हैं। राजनीतिशास्त्र में नवीन अध्ययन पद्धतियों के अपनाए जाने का दूसरा अर्थ यही है कि व्यवहारवाद का पोषण किया जाए।

(7) वर्तमान शताब्दी में राजनीतिशास्त्र में व्यवहारवादी दृष्टिकोण को व्यापक बनाने का प्राथमिक श्रेय आर्थर एफ. बेन्टले और ग्राहम वॅलास को जाता है। इस दिशा में प्रगति की रफ्तार तब तेज हुई जब चार्ल्स मेरियम ने सन् 1925 में, 'न्यू आसपेक्ट्स ऑफ पॉलिटिक्स' पुस्तक लिखकर शिकागो स्कूल का उद्घाटन किया। शिकागो स्कूल अन्तर विषय अध्ययन-पद्धति और स्कूल अनुभवजन्य अध्ययन का समर्थक है। शिकागो स्कूल व्यवहारवाद का प्रमुख गढ़ बन गया और इसके बाद अनेक निजी संस्थाओं ने करोड़ों डॉलर सामाजिक विज्ञानों के विकास पर व्यय करके व्यवहारवादी दृष्टिकोण को भारी लोकप्रियता प्रदान की। लॉसवेल, गोसनेल, पेंडलटन, हेरिंग आदि ने व्यवहारवादी पद्धति के साहित्य में उल्लेखनीय वृद्धि की। डेविड ईस्टन का योगदान महत्त्वपूर्ण रहा और आगे चलकर व्यवहारवाद में अभिनव क्रान्ति—उत्तर व्यवहारवाद—का भी उद्घोषक वही बना। व्यवहारवादियों में ही हाल ही के वर्षों में एक नए गुट का उदय हुआ जिनका तर्क है कि व्यवहारवाद के अन्तर्गत शोध-परिणाम प्रायः बहुत विलम्ब से प्राप्त होते हैं और जब तक प्राप्त होते हैं तब तक उनका महत्त्व बहुत कुछ समाप्त हो चुका होता है, अतः इस स्थिति में परिवर्तन लाया जाना चाहिए। उत्तर-व्यवहारवाद के नाम से वि॰

आन्दोलन व्यवहारवादी कट्टरवाद पर एक सीधा प्रहार है। इस पर पृथक् से 'उत्तर-व्यवहारवाद' नामक शीर्षक मे प्रकाश डाला गया है।

व्यवहारवाद के बाद कुछ प्रमुख लेखक

व्यवहारवादियो की सूची तो काफी लम्बी है किन्तु इसके प्रमुख प्रतिपादकों मे आर्थर बेन्टले, चार्ल्स मेरियम, डेविड ईस्टन, लॉसवेल आदि हैं।

आर्थर बेन्टले—व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्र की आधारशिलाएँ रखने म जिन व्यक्तियो का योगदान रहा उनमे आर्थर बेन्टले और चार्ल्स मेरियम सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। सन् 1908 मे बेन्टले की 'दी प्रासेस ऑफ गवनमेंट' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमे उसने विभिन्न प्रकार की पद्धतियो मे मानव व्यवहार के अध्ययन पर ध्यान केन्द्रित करने पर बल दिया। उसने लिखा कि राजनीतिशास्त्र का केन्द्र-बिन्दु व्यक्तियो तथा समूहो का पारस्परिक सम्बन्ध और उससे उत्पन्न प्रक्रियाओ को माना जाता चाहिए। बेन्टले ने कहा कि राजनीतिक प्रक्रियाओ की विशेषताओ को जानने और समझने का सबसे अच्छा साधन समूहो का अध्ययन और अवलोकन है, हम लिखित सविधानो और विधियो के अध्ययन मात्र से राजनीति का वास्तविक अथवा सही ज्ञान प्राप्त नही कर सकते। राजनीति को सभी अर्थों मे समझने के लिए आवश्यक है कि हम इस बात का भी अध्ययन करें कि उन सविधानो अथवा विधियो के प्रति व्यावहारिक जीवन मे उन लोगो की क्या प्रतिक्रियाएँ है जिनके लिए कि उनका निर्माण किया गया है। यह बात इतनी महत्त्वपूर्ण नही है कि निर्वाचन नियम बढे जाएँ अथवा निर्वाचन नियमो के अनुसार निर्वाचन कराए जाएँ जितनी कि यह जानकारी कि निर्वाचित निकाय किस प्रकार कार्य करते हैं और निर्वाचन मे जनता का व्यवहार कैसा रहा है।

चार्ल्स मेरियम—राजनीतिशास्त्र के शिकागो स्कूल के जनक चार्ल्स मेरियम को व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्र के बौद्धिक धर्म पिता (Intellectual God-Father) की सज्ञा दी जाती है। मई, 1921 मे अमेरिकन पॉलिटिकल साइन्स रिव्यू मे चार्ल्स मेरियम का एक निबन्ध 'दी प्रेजेन्ट स्टेट ऑफ दी स्टेडी ऑफ पॉलिटिक्स' प्रकाशित हुआ जिसमे उन्होने समाजशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान, भूगर्भ शास्त्र, सांख्यिकी आदि मे विकसित पद्धतियों को राजनीतिशास्त्र मे अपनाने पर जोर देने की वकालत की। सन् 1925 में मेरियम की राजनीति के नए सन्दर्भ' (New Aspects of Politics) नामक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमे उन्होने राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन के लिए लगभग वैसे ही लक्ष्यो, पद्धतियो और तकनीकों को अपनाने पर बल दिया जो व्यवहार-विज्ञान के लिए आवश्यक मानी जाती हैं। इसी वर्ष अमेरिकन पॉलिटिकल साइन्स एसोसियेशन मे अपने अध्यक्षीय भाषण मे मेरियम ने व्यवहारवादी दृष्टिकोण के अवश्यम्भावी विकास की ओर सकेत किया। उन्होने पूरी आशा प्रकट की कि निकट भविष्य मे ही राजनीतिशास्त्री अन्य विज्ञानो के समान राजनीतिशास्त्र मे भी संस्थागत दृष्टिकोण के अतिरिक्त अन्य दृष्टिकोणो को भी स्थान देंगे और राजनीतिक व्यवहार को अपने अनुसन्धान का एक आवश्यक लक्ष्य स्वीकार करेंगे।

अपनी 'राजनीति के नए सन्दर्भ' पुस्तक के प्रथम अध्याय में ही राजनीति के अध्ययन की तत्कालीन स्थिति पर गहरा असन्तोष व्यक्त करते हुए चार्ल्स मेरियम ने लिखा—"प्रमुखतः राजनीतिक कार्यविधि अभी भी बुरी तरह त्रुटिपूर्ण है। सर्वाधिक सुसज्ज विद्या संस्थान के सर्वाधिक सुसज्ज शोधकर्त्ता को ऐसी यन्त्रावली मुश्किल से उपलब्ध है जो सर्वश्रेष्ठ वकील को अपने दफ्तर में, या सर्वश्रेष्ठ अभियन्ता को, या बड़े निगम के विशेषज्ञ को, या वाणिज्य-मण्डल के सचिव को, या अमलगमेटेड क्लोदियर्ज के शोध-विभाग को, उपलब्ध यन्त्रावली के समकक्ष हो। सच तो यह है कि उसके पास प्रयोगशाला के उपकरण हैं ही नहीं, और यह आश्चर्य की बात है कि व्यापक संगठन के इस युग में, वह जब हमारी सभ्यता के इस विशेष लक्षण की भी विवेचना करता है, तब भी उपकरणों से रहित अकेला ही श्रम करता रहता है। इस दृष्टि से तथाकथित 'प्राकृतिक' विज्ञानों ने—जिनका विशेषण 'प्राकृतिक' अब बहुधा हटा दिया जाता है—जिन्हें शोध कार्य की सुविधाएँ तथा कार्यकर्त्ता कहीं अधिक सुलभ हैं, राजनीतिक एवं सामाजिक विज्ञानों को सामान्यतः बहुत पीछे छोड़ रखा है।" मेरियम ने इस बात पर क्षोभ प्रकट किया कि "राजनीतिक संस्थाओं की व्यावहारिक कार्य-विधि से सम्बन्धित सामग्री का यथोचित रूप से पूर्ण तथा तात्कालिक संकलन अधिकतया अगठित और वैज्ञानिक संस्थाओं के स्थान पर बहुधा प्रचार के अभिकरणों द्वारा, केवल अनियमित रूप से ही संयोजित हुआ। राजनीति के अध्ययन को एक गम्भीर मोड़ देने का आमन्त्रण देते हुए मेरियम ने राजनीति के अध्येताओं के लिए शोध-साधनों की सुलभता पर बल दिया। उन्होंने लिखा—

"यदि इन अध्येताओं को, समय-समय पर उठने वाले विषयों पर विशेषज्ञ-प्रायोगों द्वारा सम्पादित सर्वांगीण शोध कार्य के लिए आवश्यक साधनों से सज्जित कर दिया जाए, तो उन पर आधारित प्रमाणसिद्ध गवेषणाएँ और सुचिन्तित निष्कर्ष बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। व्यावहारिक अनुभव और प्रेक्षण इस निष्कर्ष की ओर नहीं ले जाते हैं कि जनता, या संसदीय संस्थाएँ, या प्रशासकीय अभिकरण, व्यग्रता के साथ राज-विज्ञान के संस्थानों की घोषणाओं की प्रतीक्षा कर रहे हैं, किन्तु दूसरी ओर यही अनुभव और प्रेक्षण यह अवश्य इंगित करते हैं कि अनेक अवसरों पर ये संस्थाएँ उसी सूचना, विश्लेषण और राजनीतिक विज्ञान के प्रयोगात्मक निष्कर्षों का स्वागत करेंगी जो केवल इसी प्रकार के गम्भीर वृत्तिक संगठन प्रदान कर सकते हैं।"

"सामान्य रूप में सामाजिक विज्ञान की पद्धतियों की ही भाँति, राजनीति की पद्धतियों को भी सवीक्षण और संशोधन की निरन्तर आवश्यकता रहती है ताकि वह ऐसी कोटि के अन्तर्गत आने से बच सके, जो न तो वैज्ञानिक शास्त्र है और न ही व्यावहारिक राजनीति।"

मेरियम ने प्रश्न किया कि—"क्या हम राजनीतिक मनुष्य, राजनीतिक व्यक्तित्व, उसकी उत्पत्ति, पर्यावरण, प्रतिक्रियाओं, अनुकूलन और प्रशिक्षण की

विधाओ, उन समूहो जिनका वह अग है, तथा जटिल राजनीतिक प्रक्रिया सम्बन्धी अपने अध्ययन को इस सीमा तक नही बढा सकते कि राजनीति सम्बन्धी पूर्व धारणाओ को कहीं अधिक सुनिश्चित तथ्यपूर्ण आधार दिया जा सके, और व्यावहारिक विज्ञता को राज्य की समस्याओ से बरतने मे कही अधिक प्रभावपूर्ण बनाया जा सके ?"

पुस्तक मे चार्ल्स मेरियम ने राजनीतिशास्त्र के नए सन्दर्भों, नए आयामो की ओर सकेत किया और इस दिशा मे आगे बढने के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किए। नवराजनीति के मूल आधारो, राजनीतिक चिन्तन के अभिनव इतिहास, राजनीति और मनोविज्ञान तथा राजनीति तथा सांख्यिकी के सम्बन्ध पर उन्होंने अलग-अलग अध्याय लिखे। पुस्तक के अन्तिम अध्याय मे राजनीतिक शोध कार्य की आवश्यकता पर बल देते हुए मेरियम ने लिखा—

"जिस नवराजनीतिक जगत मे हम तेजी से प्रवेश कर रहे हैं उसके लिए माध्यमिक राजनीतिक शिक्षा और वयस्क राजनीतिक विवेक का गठन, दोनो ही मौलिक महत्त्व के हैं। परन्तु इन दोनो के लिए अधिक प्रभावकारी राजनीतिक शोध-कार्य के सृजन की दिशा मे आन्दोलन ही वास्तव मे मौलिक है।" ऐसे विज्ञान के क्षेत्र और प्रविधि के सम्बन्ध मे कुछ सुझाव पहले व्यक्त किए जा चुके हैं, फिर भी इस सम्बन्ध मे निकट भविष्य मे जो कदम सम्भव लगते हैं उनमे से कुछ को यहाँ इगित करना कदाचित उपयोगी होगा। इन्हे सक्षेप मे निम्नलिखित ढग से दुहराया जा सकता है—

(1) राजनीतिक सूचना का अधिक पूर्णता के साथ गठन।
(2) राजनीतिक प्रेक्षण का अधिक पूर्णता के साथ गठन।
(3) जनगणना, सांख्यिकी और मनोविज्ञान द्वारा विकसित किए गए सामाजिक प्रेक्षण के उपकरणो का व्यापकतर प्रयोग।
(4) सम्बन्धित विज्ञानो के तत्त्वो का नवराजनीति मे समावेश।
(5) नियन्त्रित राजनीतिक समूहो द्वारा प्रयोग का विकास।
(6) शासनो, विश्वविद्यालयो, सस्थानो और सम्भवत राज-विज्ञान की सस्थाओ द्वारा गहन राजनीतिक शोध-कार्य का गठन।

मेरियम ने यह विश्वास प्रकट किया कि नवराजनीति मे सांख्यिकी और मनोविज्ञान का पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक प्रयोग होगा। पुस्तक के इसी अध्याय मे उन्होने आगे लिखा—"राज-विज्ञान को विज्ञता या सूचनाओ अथवा अनुभवो के आदान-प्रदान के आधार की अपेक्षा अधिक मौलिक आधार पर खडा करना होगा। उसकी नीव राजनीतिक प्रक्रिया के अध्ययन पर होना आवश्यक है जिससे सस्थाओ का निर्माण तथा उनके बाह्याकारो या उनकी कार्य-विधि का वर्णन होता है। राजनीति मे मूलभूत आदतो, विशेषको, चित्तवृत्तियो, प्रवृत्तियो का जिन पर राजनीतिक कर्म आधारित हैं, गहन अध्ययन सम्मिलित है। उसमे इन प्रवृत्तियो की क्रियाओ तथा अन्यान्य क्रियाओ, प्रेरणाओ के प्रति उनकी प्रतिक्रियाओ का,

उनकी शक्ति, स्थायित्व, सीमाओं और विविधताओं उनके उद्भव, उनकी अनुकूलनीयता तथा उनकी शिक्षणीयता का अध्ययन समाविष्ट है। इसके लिए केवल व्यक्ति का अध्ययन ही नहीं वरन् उस समूह या उन समूहों का भी अध्ययन आवश्यक है जिसका वह अंग है। राजनीतिक जगत की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों का अधिक गहन ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से हमें या तो व्यक्तियों के आचरण एवं विशेषकों का या फिर व्यक्तियों के समूहों के आचरण एवं विशेषकों का परीक्षण करना होगा।" मेरियम ने यह आशा प्रकट की कि निकट भविष्य में ही "आदेश एवं आज्ञापालन की आदत का, तथा अनुपालन के नेतृत्व के विद्रोह के या अपालन के विशेषकों का अध्ययन करना सम्भव हो सकेगा। राजनीतिक घृणा और पूर्वाग्रह, भक्तियों और अनुरक्तियों का अध्ययन सम्भव हो सकता है। राजनीतिक मनोबल के तत्त्वों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण फल प्रदान कर सकता है।" मनोबल के अध्ययन के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए मेरियम ने लिखा है कि "कुछ दृष्टियों से राजनीति को मनोबल का *विज्ञान या उसकी कला माना जा सकता है, परन्तु सामंजस्य की तथा राजनीतिक* जगत में रहने वाले व्यक्तियों और समूहों में सद्भावनाओं के उद्दीपन की इस प्रक्रिया का कोई विशिष्ट अध्ययन वैज्ञानिक ढंग पर कभी भी प्रस्तुत नहीं किया गया है। अभी तक राजनीतिक अन्वेषकों ने इसकी सम्भाव्यताओं को स्पर्श तक नहीं किया है, जबकि यह प्रक्रिया राजनीतिक क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण है। सैन्य मनोबल के रोचक अध्ययन किए गए हैं और वस्तुतः प्रत्येक सैन्य शिक्षा संस्था के पाठ्यक्रम का यह अंग है। राज्य कर्मचारियों के मनोबल के सम्बन्ध में भी गवेषणाएँ करना सम्भव हो सकेगा और निश्चय ही यह आश्चर्य की बात है कि वह कार्य पहले *ही क्यों नहीं किया गया। यहाँ हमें मनोचिकित्सक और मनोविज्ञानी दोनों ही की* सहायता लेनी चाहिए।"

चार्ल्स मेरियम के विचारों का भारी प्रभाव पड़ा। सन् 1925–31 के बीच शिकागो विश्वविद्यालय का राजनीतिशास्त्र विभाग व्यवहारवादी अध्ययन का बड़ा केन्द्र बन गया। लॉसवेल, वी. ओ. की, ट्रूमैन, हर्बर्ट स इमन आमण्ड आदि विद्वानों ने मेरियम से प्रेरणा ग्रहण की और राजनीति शास्त्र को व्यवहार विज्ञान बनाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। शिकागो के बाहर भी इस नए दृष्टिकोण का तेजी से विस्तार हुआ।

डेविड ईस्टन—आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों में डेविड ईस्टन का स्थान अग्रणी है। ईस्टन का इस शास्त्र को अपना विशिष्ट योगदान है। ईस्टन के कुछ प्रमुख विचारों का ही यहाँ हम उल्लेख करेंगे।

(क) ईस्टन के अनुसार व्यवहारवाद की विशेषताएँ डेविड ईस्टन ने चार्ल्सवर्थ द्वारा सम्पादित पुस्तक Contemporary Political Analysis में अपने एक निबन्ध 'The Current Meaning of Behaviouralism' में व्यवहारवादी आधारों विशेषताओं आदि को इस प्रकार प्रस्तुत किया है[1]—

1 *David Easton* "The Current Meaning of Behaviouralism" in Charlesworth's Contemporary Political Analysis p 16

1 नियमितताएँ (Regularities)—राजनीतिक व्यवहार मे कुछ महत्त्वपूर्ण और अन्वेषण योग्य समानताएँ पाई जाती हैं जिन्हें व्याख्यात्मक और पूर्व-कथनीयता के लिए हम सामान्यीकरणो अथवा सिद्धान्तो के रूप मे अभिव्यक्त कर सकते हैं ।

2 सत्यापन (Verification)—मानव-व्यवहार के सन्दर्भ मे इस प्रकार के सामान्यीकरणों की प्रामाणिकता का परीक्षणीय होना आवश्यक है ।

3 प्रविधियां (Techniques)—आधार सामग्री (Data) को प्राप्त करने और उनकी व्याख्या करने के साधनो को स्वय सिद्ध नही माना जा सकता । आधार सामग्री समस्या मूलक होती है परिशुद्ध नही होती, अत यह नितान्त आवश्यक है कि उसे सावधानीपूर्वक शुद्ध और परीक्षित किया जाए तथा प्रामाणिक बनाया जाए। एक परिशुद्ध प्रविधि या तकनीक ही समुचित पर्यवेक्षण, सग्रह तथा विश्लेषण का आधार बन सकती है ।

4 परिमाणनीकरण (Quantification)—जहा कही लक्ष्यो को स्पष्ट करना आवश्यक हो वहाँ आँकडो के सग्रह, शोध-परिणामो और कथनो की अभिव्यक्ति के लिए मापन तथा परिमाणनीकरण की प्रक्रियाओ का सहारा लिया जाना चाहिए ।

5 मूल्य (Values)—स्पष्टता क लिए यद्यपि नैतिक मूल्यांकन और अनुभववादी स्पष्टीकरण को अलग रखा जाना उचित है तथापि राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन मे उन्हे अलग रखना अनिवार्य नहीं है इन्हे अलग भी रखा जा सकता है और मिलाया भी जा सकता है किन्तु इन्हे समरूप मानने से अवश्य बचना चाहिए और इस सम्बन्ध म पूरी सावधानी रखनी चाहिए । अध्येता को निजी मूल्यो को भी स्पष्ट तथा अध्ययन से दूर रखना चाहिए ।

6 क्रमबद्धीकरण (Systematization)—यह आवश्यक है कि शोध क्रमबद्ध और व्यवस्थित हो । सिद्धान्त और शोध व्यवस्थित ज्ञान से ही सम्बन्धित हैं। सिद्धान्तहीन शोध और तथ्यहीन सिद्धान्त दोनो निस्सार हैं ।

7 विशुद्ध विज्ञान (Pure Science)—सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण और वैज्ञानिक उद्यम के लिए ज्ञान का उपयोग आवश्यक है । यदि हम राजनीतिक ज्ञान का उपयोग राजनीतिक समस्याओ को सुलझाने के लिए करना चाहते हैं तो आवश्यक है कि राजनीतिक व्यवहार को उसका आधार बनाया जाए ।

8 एकीकरण (Integration)—चूँकि सभी सामाजिक विज्ञान समग्र मानवीय स्थिति से सम्बन्धित हैं, अत कोई भी राजनीतिक शोध दूसरे अनुशासनो अथवा शास्त्रो के शोधो या उनकी खोजो की उपेक्षा नही कर सकता, अन्यथा वह अपने स्वय के परिणामो की प्रामाणिकता (Validity) और सामान्यता (Generality) को कम करने अथवा दुर्बल बनाने का खतरा मोल लेगा । यदि विभिन्न सामाजिक विज्ञानो की इस अन्तर्सम्बन्धता को ध्यान मे रखा जाए तो राजनीति-शास्त्र को प्रारम्भिक शताब्दियो वाला स्तर दिलाने मे और उसे सामाजिक विज्ञानो

के मुख्य समुदाय में पुन. लौटाने में सहायता मिलती। आशय यह हुआ कि राज्य विज्ञान और राजनीतिक अनुसंधान को अन्य सामाजिक विज्ञानों के शोधों के प्रति तटस्थ या उनसे पृथक् नहीं रहना चाहिए।

डेविड ईस्टन द्वारा बताई गई इन विशेषताओं में व्यवहारवादी विश्लेषण की पूर्व-धारणाएँ, उसके लक्ष्य एवं बौद्धिक आधार सन्निहित हैं। साथ ही ये विशेषताएँ व्यवहारवादी और परम्परावादी दृष्टिकोणों में पाए जाने वाले मुख्य अन्तर को भी स्पष्ट करती हैं। राजनीति में व्यवहारवाद केवल विज्ञान की परिशुद्ध प्रविधियों मात्र के प्रयोग से कुछ अधिक है। यह केवल सुधार ही नहीं है, अपितु पुनर्निर्माण का प्रयत्न भी है। राजनीतिक व्यवहारवाद ने राज्य विज्ञान को नए मूल्य, नई भाषा, नई पद्धतियाँ, नई दिशाएँ और अनुभवात्मक वैज्ञानिकता प्रदान की है। व्यवहारवाद को ही यह श्रेय भी जाता है कि उसने राजनीति को मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, नृवंशशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि सामाजिक शास्त्रों के समीप ला दिया है और इन सामाजिक शास्त्रों की पद्धतियों, उपलब्धियों और दृष्टिकोणों को राजनीति के क्षेत्र में अपनाने तथा उनसे लाभ उठाने की प्रेरणा दी है।

व्यवहारवादी क्रान्ति के पूर्ण होने से पहले ही इस चुनौती दी जाने लगी है और इस अभिनव क्रान्ति अथवा उत्तर-व्यवहारवादी क्रान्ति के उद्घोषक होने का श्रेय भी डेविड ईस्टन को ही गया है। उत्तर-व्यवहारवाद का जो विश्लेषण और स्पष्टीकरण ईस्टन ने किया है उसे आगे एक पृथक् शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है।

(ख) विश्लेषण पद्धति—ईस्टन ने राजनीतिक विश्लेषण के क्षेत्र में एक सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। ईस्टन से पूर्व राजनीतिक सिद्धान्त के अन्तर्गत कोई एक ऐसा सिद्धान्त अथवा सिद्धान्त-समूह नहीं था जिसके द्वारा अर्द्ध-विकसित विकासोन्मुख तथा आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं की समस्याओं और स्थानीय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का विश्लेषण किया जा सके। पहले राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के विश्लेषण के लिए प्रायः अलग अलग सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता था किन्तु ईस्टन ने एक सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करके राजनीतिक विश्लेषण के इतिहास में एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। ईस्टन का दावा है कि इसके व्यवस्था-सिद्धान्त द्वारा सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं और सभी स्तरों की समस्याओं का विश्लेषण और व्यवहार सम्बन्धी वास्तविकताओं की सही व्याख्या करना सम्भव है। जिस अनुभवजन्य सिद्धान्त का प्रतिपादन ईस्टन ने किया है उसे उसने 'सामान्य सिद्धान्त' (General Theory) कहा है। परम्परावादी कार्य विभाजन में विश्वास न रखते हुए ईस्टन ने राजनीति के एक एकीकृत सिद्धान्त के प्रतिपादन पर बल दिया है। ईस्टन का यह भी विचार है कि राजनीति शास्त्र का पहला कार्य उन सामान्य समस्याओं का विश्लेषण करना है जो लगभग सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में समान रूप में पाई जाती हैं।

ईस्टन के विचार लासवेल, आमण्ड आदि से भिन्न हैं। वह इस प्रकार की

मान्यताओं से सहमत नही है कि राजनीतिक व्यवस्थाओं के तत्त्वों के बीच पाए जाने वाले शक्ति-सम्बन्धों, एक कर्त्ता की शक्ति की मात्रा आदि बातों का विश्लेषण सबसे महत्त्वपूर्ण है। ईस्टन ने 'आवंटन' (Allocation) की समस्या को प्रमुख माना है। कोई भी राजनीतिक कार्य तभी है जब उसका सम्बन्ध मूल्यों के प्राधिकारिक आवंटन से होता है। ईस्टन के आवटन-विश्लेषण में यह मान्यता निहित है कि प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में कुछ समय तक बने रहने की क्षमता पाई जाती है और हमें उन दशाओं का विश्लेषण करना चाहिए जो कि राजनीतिक व्यवस्था को जीवित रखती है और जिसे समाज द्वारा वैध माना जाता है। ईस्टन ने संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक अध्ययन-पद्धति मे सबसे बडा दोष यह माना है कि जिन संकल्पनाओ को *यह पद्धति प्रस्तुत करती है वे न तो पर्याप्त हैं और न व्यापक। उनके द्वारा सभी* प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओ का अध्ययन सम्भव नही है। संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक अध्ययन-पद्धति की मुख्य सकल्पना 'कार्य' है जिसे कि हम एक सिद्धान्त का आधार नही बना सकते क्योकि 'कार्य' तो किसी भी व्यवस्था-सिद्धान्त का पूर्व-अपेक्ष्य है। कार्य-सम्पादन व्यवस्था के व्यवहार की न्यूनतम आवश्यकता है अर्थात् किसी भी व्यवस्था के लिए कुछ न कुछ कार्य तो स्वतः अनिवार्य हैं। इसके अतिरिक्त 'कार्य' शब्द मे परिशुद्धता का अभाव होने से इसे हम अनुभवजन्य अध्ययन के लिए प्रयोग मे नही ला सकते। ईस्टन ने सन्तुलन-सिद्धान्त की भी आलोचना की है क्योंकि यह वास्तविकता का सही-सही चित्रण नही कर पाता। यह सिद्धान्त वस्तुतः घटनाओं का वर्णन न करके केवल कुछ घटनाओ के व्यवहार अथवा अस्तित्व की विवेचना भर करता है। लॉसवेल का विचार भी ईस्टन की दृष्टि मे उचित नही है क्योंकि उसने और उसके समर्थको ने राजनीतिशास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष की उपेक्षा करके, व्यावहारिक पहलू पर अधिक ध्यान दिया है। इन सभी विचारको के विपरीत ईस्टन ने, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, राजनीति के सैद्धान्तिक अध्ययन को दो भागो में बाँटा है—प्रथम भाग मे उसने राजनीतिक व्यवस्थाओं के जीवित रहने के अध्ययन को और दूसरे भाग मे शक्ति के वितरण तथा इस वितरण के आधार पर मूल्यो के आवटन के अध्ययन को शामिल किया है। ईस्टन की दृष्टि में, "राजनीतिशास्त्र मूल्यों के प्राधिकारिक आवटन का अध्ययन है—जैसा कि यह शक्ति के वितरण और *प्रयोग द्वारा प्रभावित किया जाता है।" राजनीतिशास्त्र के अर्थ, विषय-सामग्री आदि* पर ईस्टन के जो विचार हैं उनका विवेचन पहले ही किया जा चुका है।

लॉसवेल—लॉसवेल को परम्परागत राजनीतिशास्त्र को व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्र से जोडने की सबसे सशक्त कडी माना गया है। 'साईको-पैथोलॉजी एण्ड पॉलिटिक्स,' 'वर्ल्ड पॉलिटिक्स एण्ड पर्सनल इनसिक्युरिटी' और 'पॉलिटिक्स हू गेट्स, व्हेन, हाउ' नामक अपनी सभी पुस्तकों में लॉसवेल ने राजनीतिक अध्ययन में मनोवैज्ञानिक साधनों को अपनाने और समाज-विज्ञानों को मूलभूत एकता तथा राजनीति विज्ञान की शोध-सामग्री को सख्याबद्ध करने की उपयोगिता एवं सम्भावना पर बल दिया है। लॉसवेल का विश्वास है कि मानव-व्यवहार सदैव उन चीजों से

प्रेरित होता है जिन्हें कि वह प्राप्त करना चाहता है। प्रत्येक उस वस्तु को, जो कि व्यक्ति प्राप्त करना चाहते हैं, लॉसवेल ने 'मूल्य' (Value) की संज्ञा दी है।

लॉसवेल ने शक्ति-सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए उसे राजनीतिशास्त्र का मूल माना है। उनका कहना है—"एक अनुभववादी व्यवस्था के रूप में राजनीतिशास्त्र शक्ति की रूप-रचना एवं उपभोग का अध्ययन है।" राजनीतिशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों की भाँति एक नीति विज्ञान है जो शक्ति और प्रभाव (Power and Influence) का अध्ययन करता है। सामाजिक नीति ऐसी होनी चाहिए जिसके द्वारा वे परिस्थितियाँ बनाई जा सकें जिनमें कि समाज के मूल्यों को शक्ति के साथ समायोजित किया जा सके। शक्ति सम्बन्धी प्रक्रिया सामाजिक प्रक्रिया से भिन्न कोई भाग नहीं है वरन् यह सम्पूर्ण सामाजिक प्रक्रिया का राजनीतिक पहलू मात्र है। यह सच है कि राजनीतिशास्त्र एक स्वायत्त शास्त्र है और इसको अर्थशास्त्र या मनोविज्ञान का व्यावहारिक रूप मात्र नहीं कहा जा सकता, किन्तु इसकी स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं है कि इसे अन्य सभी सामाजिक विज्ञानों से पूर्णत पृथक् मान लिया जाए। इसकी स्वायत्तता का अर्थ केवल यही है कि यह अन्य सामाजिक विज्ञानों में से किसी का भी एक भाग नहीं है।

लॉसवेल का यह स्पष्ट मत है कि राजनीतिशास्त्र अमूर्त संस्थाओं या संगठनों का अध्ययन नहीं करता, यह व्यक्ति को उनके पूर्ण रूप में देखता है तथा अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है। इसमें व्यक्ति की आवश्यकताओं एवं हितों के पक्ष मात्र को नहीं देखा जाता, वरन् उसके समस्त पहलुओं के साथ पूर्ण व्यक्तित्व का अध्ययन किया जाता है। राजनीतिशास्त्र में प्रभाव एवं प्रभावी (Influence and Influencial) का अध्ययन किया जाता है। यह उन सभी तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करता है तथा उनका मूल्यांकन करता है जो नीति सम्बन्धी लक्ष्यों के पूर्ण होने में अवरोध का कार्य करते हैं।

राजनीति में 'कौन पाता है, क्या, कब कैसे' इन प्रश्नों का विश्लेषण करना लॉसवेल का मुख्य उद्देश्य है। जैसा कि एक विद्वान् ने लिखा है—'कौन, क्या, कब और कैसे पाता है'—ये प्रश्न उसे उन व्यक्तियों के कार्य भाग के अध्ययन की ओर ले जाते हैं, जो इन्हें प्राप्त करते हैं। वह सामाजिक व्यवस्था की सकल्पनाओं, कार्य-भाग सम्पादन (Role-fulfilment), तथा राजनीति की अन्त सक्रिय प्रक्रियाओं (Inter-active Processes) की विवेचना न करके इस बात की विवेचना करता है कि व्यक्ति को प्रेरणा कहाँ से प्राप्त होती है या प्रेरक तत्त्व कौन-कौन हैं, किसके लिए वे प्रयास करते हैं तथा राजनीतिक क्रिया से वे क्या प्राप्त करने की आशा रखते हैं। इस प्रकार लॉसवेल का मुख्य उद्देश्य इस बात की विवेचना करना है कि व्यक्ति क्या प्राप्त करना चाहता है।

आमण्ड—व्यवहारवादी लेखकों ने राजनीतिक विश्लेषण की नई-नई पद्धतियाँ विकसित की हैं जिनमें आमण्ड का सरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण अपना विशिष्ट स्थान रखता है। सरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण पद्धति का सर्वप्रथम विकास

जैविक तथा यान्त्रिक विज्ञानो मे हुआ और तत्पश्चात् सामाजिक विज्ञानो मे सर्वप्रथम इसे मानव-विज्ञान के अध्ययन मे अपनाया गया। बाद म टॉलकट पारसन्स तथा मेरियन लेवी ने इसे विकसित और परिष्कृत कर समाजशास्त्रीय विश्लेषण की एक पद्धति के रूप मे ग्रहण किया।

सरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण वह है जो अध्ययन की विधियो मे ढांचे अथवा सरचना के गठन और उसके कार्यो की प्रक्रियाओ के बीच तालमेल के कारण तथा परिणामो को पहचानने का प्रयत्न करता है। स्थूल रूप से इसे हम एक व्यवस्था-विश्लेषण का तरीका भी कह सकते हैं। व्यवस्था विश्लेषण (System-analysis) से अभिप्राय यह है कि राजनीति की दुनिया मे जिसे व्यवस्था कहा जाता है, उसका एक ढांचा (Structure) होता है और यह ढांचा या सरचना अपने आप मे एक गतिशील मशीन की भांति कुछ कार्य करता है। इस सम्पूर्ण ढांचे अथवा सरचना के कुछ कार्य हैं और इसके अलग-अलग अग-प्रत्यगो के भी अपने-अपने कार्य हैं। उदाहरण के लिए शरीर को एक व्यवस्था (System) के रूप मे लिया जा सकता है और जिन हाथ, पैर, आँख, कान आदि से मिलकर शरीर का सगठन बनता है, उनमे से प्रत्येक का अपना-अपना विशिष्ट कार्य है और उन सब को आत्म-निर्भरता एव सगठनात्मकता, कार्य (Structural Function) है। व्यवस्था, विश्लेषको का मानना है कि सभी व्यवस्थाएँ गत्यात्मकता, अन्तर्निर्भरता, चेतना, केन्द्र एव कार्य-क्षमता आदि विशेषताएँ लेकर चलती हैं। एक मशीन की भाति उनमे कुछ डाला जाता है जिन्हे व्यवस्था-विश्लेषको ने 'इन-पुट' (In-put) की सज्ञा दी है। ये 'इन-पुट' (In-put) एक प्रक्रिया विशेष से निकल कर कुछ 'आउट-पुट' (Out-put) मे बदलती हैं। इस तरह सस्थाओ अथवा व्यवस्थाओ की कार्य-प्रणाली मे सगठन का कार्य अपने अवयवो से अलग-अलग कार्यों के 'इन-पुट' पैदा कर उन्हें कुछ विशेष प्रकार के 'आउट-पुट' मे बदलना है। आज के राजनीतिक वैज्ञानिक इन्ही 'इन-पुट' और 'आउट-पुट' के सम्बन्ध और प्रक्रियाओ को पहचानना चाहते हैं तथा इसके लिए जो विधि वे अपना रहे है उनमे से एक विधि को *'सरचनात्मक-कार्यात्मक दृष्टिकोण' का नाम दिया गया है।*

आमण्ड के अनुसार इन-पुट कार्य (In put Functions) चार हैं—(1) राजनीतिक सामाजीकरण और भर्ती, (2) हितो का जोड-तोड, (3) हितो का समूहीकरण, एव (4) राजनीतिक सवाद आउटपुट कार्य (Out-put Functions) *तीन हैं—(1) नियम-निर्माण, (2) नियम-कार्यान्विति, एव (3) नियम-निर्णय। आमण्ड ने आगे चलकर इन-पुट और आउट-पुट कार्यों के कुछ उप-कार्य और माने हैं तथा यह मान्यता प्रकट की है कि ये सभी उप-कार्य मिलकर सम्पूर्ण व्यवस्था म एक कनवर्शन फक्शन (Conversion Function) पूरा करते हैं। आमण्ड ने गैर-*सरकारी कार्यों को इन पुट कार्य और सरकारी कार्यों को आउट-पुट माना है। इन-पुट कार्य गैर-सरकारी उप-व्यवस्थाओ जैसे हित-समूह, शिक्षण सस्था, राजनीतिक दल, स्वतन्त्र समाचार पत्र आदि द्वारा किए जाते हैं। आउट-पुट सरकारी कार्य हैं—सरकार

और उसकी नौकरशाही कानून बनाती है, कानून लागू करती है और कानून तथा नियमो के आधार पर व्यक्तियो एव समूहो के बीच अधिनिर्णय का कार्य करती है। राजनीतिक व्यवस्था मे इनपुट-आउटपुट कार्यों का यह विश्लेषण प्रस्तुत करने मे आमण्ड के मुख्यत तीन उद्देश्य हैं—

प्रथम, आमण्ड सस्थाओ के वर्णन के स्थान पर उन सस्थाओ द्वारा किए जाने वाले कार्यों का वर्णन करना चाहता है, अपने विश्लेषण को सस्थागत न बनाकर कार्यात्मक बनाना चाहता है। उसने सस्थागत सकल्पनाओ के स्थान पर कार्यात्मक सकल्पनो का प्रयोग किया है।

द्वितीय, इनपुट सकल्पना द्वारा आमण्ड यह स्पष्ट करना चाहता है कि राजनीतिक व्यवस्था एक खुली व्यवस्था है जो समाज में होने वाली क्रियाओं से प्रभावित होती रहती है। यही नही, राज्य की सीमा के बाहर की हलचलो से भी राजनीतिक व्यवस्था प्रभावित होनी है।

तृतीय, इनपुट कार्य के अन्तर्गत राजनीतिक सामाजीकरण और राजनीतिक सचार या सम्प्रेषण को शामिल कर आमण्ड राजनीतिक मूल्यो के विश्लेषण पर भी बल देता है। राजनीतिक सम्प्रेषण और सामाजीकरण ये दोनो ही कार्य राजनीतिक मूल्यों का निर्माण करके राजनीतिक सस्कृति को जन्म देते हैं।

सरचनात्मक विशेषीकरण की मात्रा के आधार पर आमण्ड ने राजनीतिक व्यवस्थाओ का तुलनात्मक अध्ययन करने की चेष्टा की है। विशेषीकरण की मात्रा से उसका आशय इस बात से है कि एक विशिष्ट सरचना द्वारा कितने कार्य किए जा रहे हैं अथवा कौन कौन से कार्य नही किए जा रहे हैं। राजनीतिक व्यवस्थाओ के विकास के अध्ययन से हमे यह जानने में सहायता मिलती है कि राजनीतिक व्यवस्था मे किस मात्रा तक मिश्रित सस्कृति पाई जाती है।

आमण्ड के सम्पूर्ण विश्लेषण का निष्कर्ष यह है कि राजनीतिक व्यवस्था जितनी विकसित होगी उसकी सरचनाएँ (Structures) उतनी ही विशेषीकृत तथा सीमा की दृष्टि से व्यापक और विस्तृत होगी। इसी प्रकार परम्परावादी अथवा विकसित समाजो मे सीमाएँ सकीर्ण होगी और मिश्रित स्थिति अधिक होने के साथ-साथ हितो का जोड-तोड एव समूहीकरण विशिष्ट ढग से नही होगा। आमण्ड अपने सरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण द्वारा वास्तव में राजनीतिक परिवर्तन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। उसका यह सगठन और कार्यों के विभिन्न स्तरो को पहचानने तथा उन्हें स्पष्ट करने की क्षमता रखता है। आमण्ड ने कार्यों के विभिन्न स्तर भी बतलाए हैं, जो ये हैं—क्षमता कार्य, परिवर्तन कार्य, सरक्षण तथा समायोजन कार्य एव सचालन कार्य। इन चारो स्तरो के कार्यों मे सम्बन्धो का स्थापित करना ही परिवर्तन और विकास का सिद्धान्त है।

व्यवहारवाद की समीक्षा

इस सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट है कि व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्र को अधिक वैज्ञानिक बनाने के इच्छुक हैं ताकि परिणामो म निश्चितता आ सक।

व्यवहारवाद के अध्ययन-क्षेत्र मे व्यापक पहलू समाविष्ट हैं जिन्हे हीज यूलाउ ने इन इकाई बिन्दुओ मे रखा है—(1) व्यक्ति और व्यक्ति के सम्बन्ध, (2) समूहो, समुदायो और सगठनो के माइक्रो तथा मैक्रो रूप और उनका पारस्परिक सम्बन्ध, (3) राजनीतिक व्यवस्थाओ और उप व्यवस्थाओ के पारस्परिक सम्बन्ध–उदाहरणार्थ राजनीतिक व्यवस्था तथा राजनीतिक दलो, हित समूहो, कार्यपालिका आदि के आपसी सम्बन्ध, (4) राजनीतिक व्यवस्था का अपने से अधिक व्यापक व्यवस्थाओ मे सम्बन्ध, (5) विभिन्न सकल्पनाओ का अध्ययन जैसे निर्णय-समूह, सरचनाएँ, कार्य, शक्ति, नियन्त्रण आदि का अध्ययन, (6) नीतियो, नीति-निर्माण प्रक्रिया, निर्णय प्रक्रिया आदि का अध्ययन, (7) राजनीतिक सिद्धान्तो, उपागमो आदि का अध्ययन, (8) तुलनात्मक राजनीति, (9) प्रक्रियाएँ, क्रिया-विधियाँ, नवीन उपकरण नवीन गतिविधियाँ आदि । सक्षेप मे कहा जा सकता है कि हीज यूलाउ के अनुसार राजनीतिक व्यवहार का आशय केवल प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पर्यवेक्षणीय राजनीतिक क्रियाओ से नही है बल्कि इसका सम्बन्ध व्यवहार के उन बोधात्मक अभिप्रेरणात्मक और अभिवृत्तात्मक (Perceptional, Motivational and Attitudinal) घटको से भी है जिनसे हमारी राजनीतिक माँगो, आशाओ, विश्वासो, मूल्यो एव लक्ष्यो की व्यवस्था आदि का तानाबाना बुना जाता है । व्यवहारवाद का सम्बन्ध मनुष्य के केवल बाह्य कार्यों से ही नही है बल्कि वह उसकी भावनात्मक, ज्ञानात्मक और मूल्यांकनात्मक प्रक्रियाओ से भी घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है । मनुष्य के राजनीतिक ज्ञान, उसकी राजनीतिक माँगो, अभिलाषाओ और लक्ष्यो, मूल्यो तथा राजनीतिक विश्वासो की व्यवस्थाओ आदि का निर्माण करने वाली जो भी व्यवहारात्मक प्रक्रियाएँ हैं, वे सभी राजनीतिक व्यवहारवाद की अध्ययन सामग्री है ।

व्यवहारवादी दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण है, उसका क्षेत्र व्यापक है और उसने राजनीति के क्षेत्र और प्रकृति म क्रान्तिकारी परिवतन ला दिया है तथा जीवन की वास्तविकताओ के अध्ययन की ओर ध्यान आकर्षित कर ज्ञान के नवीन आयामो को जन्म दिया है । सस्थागत राजनीतिक अध्ययन की दुर्बलताओ को उजागर करके इसने हमारा ध्यान उन अ तर्वैयक्तिक सम्बन्धो के अध्ययन की ओर आकर्षित किया है जिनके समूह या पुञ्ज को हम सस्था के नाम से सम्बोधित करते हैं । इस प्रकार व्यवहारवादी दृष्टि बताती है कि सस्था स्वय मे कुछ नहीं है, यह वस्तुत अन्त-र्वैयक्तिक सम्बन्धो का नाम है । सस्था की सफलता उसमे कार्य कर रहे लोगो पर निर्भर है, इसीलिए व्यवहार का अध्ययन राजनीति को समझने की 'कुञ्जी' है ।

व्यवहारवादी दृष्टिकोण नि सन्देह आकर्षक और क्रान्तिकारी है, किन्तु यह भी अनेक सीमाओ और दुर्बलताओ का शिकार है । हीज यूलाउ, मलफोर्ड सिबली आदि राजनीतिशास्त्रियो ने व्यवहारवाद की सीमाओ का अच्छा स्पष्टीकरण किया है—

1. व्यवहारवादी पद्धति को राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की श्रेष्ठतम पद्धति स्वीकार करना राजनीतिशास्त्र के सम्पूर्ण साहित्य को सन्देह की दृष्टि से देखना है।

व्यवहारवाद की अपूर्णता इसी बात से स्पष्ट है कि व्यवहारवादी मान्यताओं का स्वयं व्यवहारवादी ही खण्डन कर रहे हैं और उत्तर व्यवहारवादी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है।

2 व्यवहारवादी स्वयं को मूल्य निरपेक्ष मानते हैं किन्तु वे जीवित प्राणी हैं और अनुसन्धान आदि के समय मूल्यों से सर्वथा अप्रभावित नहीं रह सकते। समस्या के चयन में जिन मूल्यों का महत्त्व है वे शोधकर्त्ता के लक्ष्यों और जीवन अनुभव से प्रभावित रहते हैं।

3 अनुसन्धान और प्रयोग आरम्भ कर देने के उपरान्त भी अनुसन्धानकर्त्ता की उपलब्धियाँ सीमित रहती हैं उसकी आशाएँ आकांक्षाएँ पूर्ण नहीं होतीं। भौतिक विज्ञान में जिन संघटकों का विश्लेषण किया जाता है उन पर विश्लेषक का पूर्ण नियन्त्रण होता है किन्तु राजनीतिशास्त्र की प्रयोगशाला में राजनीतिक प्रक्रिया के जिन सन्दर्भों का अध्ययन किया जाता है उन पर विश्लेषक का कोई वास्तविक नियन्त्रण नहीं होता। विश्लेषक अपनी इच्छानुसार अपने प्रयोग पूरे नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ भारत में लोकतान्त्रिक व्यवस्था है जो इतनी जड़ जमा चुकी है कि यहाँ अब राजतन्त्र का प्रयोग नहीं हो सकता।

4 व्यवहारवादी अध्ययन शोधकर्त्ता को सम-सामयिक राजनीतिक सामग्री से प्राय विलग कर देता है और इसका सम्बन्ध यदि जुड़ता भी है तो प्राय ऐसे साधनों से जिन्हें व्यवहारवादी कहना मुश्किल है।

5 नीति निर्माण के क्षेत्र में व्यवहारवाद का उपयोग सीमित है। व्यवहारवाद से प्राप्त निष्कर्षों के अलावा नीति निर्माण में दूसरे कारकों का भी काफी महत्त्व है।

6 कोई भी व्यवहारवादी अध्ययन सभी परिस्थितियों के लिए अन्तिम मूल्य प्रस्तुत नहीं कर सकता।

7 व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्र को विज्ञान बनाने के प्रयास में विषय के राजनीतिक पहलुओं की उपेक्षा कर बैठते हैं।

8 व्यवहारवाद केवल 'क्या है?' का अध्ययन करता है 'क्या होना चाहिए?' का उत्तर नहीं देता। इस प्रकार यह अपूर्ण विश्लेषण पद्धति है। वास्तविकता को चित्रित कर देना ही काफी नहीं है निराकरण के लिए उपाय बताना भी अपेक्षित है। व्यवहारवादी रोग का पता तो लगाते हैं पर उसके निदान के बारे में कुछ नहीं कहते। राजनीतिक प्रक्रिया के दोषपूर्ण स्थानों की ओर ध्यान आकर्षित करना किन्तु उनके निवारण के सम्बन्ध में मौन रहना एक सैद्धान्तिक त्रुटि है।

9 व्यवहारवादी साहित्य राजनीतिक प्रक्रियाओं की समुचित व्याख्या नहीं करता और राजनीतिक संकल्पनाओं का बहुत व्यापक और साथ ही अस्पष्ट व्याख्या करता है।

व्यवहारवाद से उत्पन्न निराशा के फलस्वरूप [illegible]
क्रान्ति आई है जिसे उत्तर व्यवहारवाद की
उत्प[illegible] डेविड ईस्टन के शब्दों में हो

"अमेरिकी राजनीति विज्ञान में एक अभिनव क्रान्ति का श्रीगणेश हो चुका है। व्यवहारवादी पूर्व क्रान्ति अभी समाप्त भी नहीं हुई थी कि हमारे युग के गहराते सामाजिक और आर्थिक सकटो ने इसे पीछे छोड़ दिया है। इन संकटो का गुरु भार एक नए विरोध के रूप मे हमारे अध्ययन विषय पर अनुभव होने लगा है। चूंकि यह मूल विरोध हमे चारो ओर से घेरे हुए है। यह नवीनतम चुनौती व्यवहारवादी कट्टरवाद पर एक सीधा प्रहार है और मैं इसे उत्तर-व्यवहारवादी क्रान्ति की सज्ञा देना चाहूँगा।"

सम्प्रेषण सिद्धान्त (कार्ल डायच)
[The Communication Theory (Karl Deutsch)]

कार्ल डायच वह राजनीतिशास्त्री है जिसने राजनीतिक विश्लेषण के अन्तर्गत सचार विज्ञान (Cybernetics) की अध्ययन पद्धतियो का प्रयोग किया है और राजनीति के बारे मे यथार्थवादी विचार प्रस्तुत किए हैं। 'सचार' अथवा 'सम्प्रेषण' (Communication) शब्द के अन्तर्गत यहाँ अधिकतर मानव-व्यवहार सम्मिलित हैं क्योकि मानव-सम्बन्धो मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शक्ति सन्देश भेजने और प्राप्त करने की क्षमता है। यदि हम इस क्षमता को स्वीकार कर लें तो इसका अर्थ यह स्वीकार करना होगा कि सम्पूर्ण सामाजिक वातावरण पर सचार या सम्प्रेषण छाया रहता है, सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू मे यह विद्यमान है। इस प्रकार सम्प्रेषण-प्रक्रियाओ का विश्लेषण सामाजिक जीवन के अध्ययन की एक विधि है। वैसे सचार शब्द का प्रयोग विशेष सस्थाओ और उद्योगो, प्रेस, रेडियो, पत्रकारिता, आदि के लिए किया जाता है। वस्तुत मानव जीवन मे सम्प्रेषण अत्यधिक व्यापक है, प्रत्येक राजनीतिक गतिविधि मे उसका अस्तित्व है। राजनीतिक जीवन मे सम्प्रेषण के महत्त्व को इगित करते हुए ही कार्ल डायच ने अपनी पुस्तक (The Nerves of Government) मे सुझाव दिया है कि सम्पूर्ण राजनीतिशास्त्र का पुनर्विचार सम्प्रेषण के दृष्टिकोण से होना चाहिए, हमे अपना अध्ययन उन तत्त्वो पर आधारित करना चाहिए जो सन्देहों को उत्पन्न करते हैं और उनका प्रभाव निश्चित करते हैं। राजनीतिक सम्प्रेषण, कार्य का विश्लेषण और तुलनात्मक अध्ययन विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओ का परीक्षण करने का वस्तुत एक बहुत ही रुचिकर और लाभदायक साधन है।

सम्प्रेषण कार्य का महत्त्व चिरकाल से स्वीकार किया जा रहा है और अरस्तू ने पशुओ से मानव को इसी अर्थ मे भिन्न किया था कि उसके पास 'वाणी की प्रतिभा' (Gift of Speech) है। आज का सामान्य व्यक्ति भी इस बात से अनभिज्ञ नहीं है कि व्यवस्थित सम्प्रेषण प्रक्रिया सभी सामाजिक प्राणियो मे किसी न किसी रूप मे पाई जाती है। हम मानव समाज को ही लें तो प्रत्येक नागरिक और पदाधिकारी एक ओर तो उस सूचना पर निर्भर करता है जो उसे प्राप्त होती है तथा दूसरी ओर उन सन्देशो या सूचनाओ की प्रभावशीलता पर भी निर्भर करता है जिनका कि वह प्रसारण करता है। राजनीतिक प्रक्रिया और सम्प्रेषण प्रक्रिया के बीच स्वाभाविक

रूप से घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि प्रत्येक राजनीतिक क्षेत्र के अन्तर्गत सम्प्रेषण प्रक्रियाओं द्वारा महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित किए जाते हैं। यदि किसी विषय पर हमें कोई राजनीतिक जानकारी प्राप्त करनी है तो हम सम्प्रेषण-प्रक्रिया का सहारा लेते हैं। सम्प्रेषण प्रक्रियाओं को व्यवस्थित रूप में सगठित करके उनके माध्यम से सम्पूर्ण समाज में एक व्यवस्था कायम की जाती है और जनता द्वारा शक्ति प्राप्त करने के प्रयत्नों को भली प्रकार एक दूसरे से सम्बन्धित कर दिया जाता है। इस प्रक्रिया से समाज में राजनीतिक *व्यवस्था अथवा राजनीतिकतन्त्र का निर्माण होता है।* सम्प्रेषण के महत्त्व को समझते हुए ही लोकतान्त्रिक चिन्तन में 'प्रकाशन' और 'अभिव्यक्ति' की स्वतन्त्रता पर सदैव बल दिया गया है ताकि जनता शासक-वर्ग के कार्यों पर वाञ्छित नियन्त्रण रख सके। यदि निरकुश शासन को लें तो सर्वाधिकारवादी नेता सम्प्रेषण या सचार साधनों पर अपना नियत्रण बनाए रखते हैं, नागरिकों को प्राप्त होने वाली सूचनाओं को नियत्रित कर लेते हैं और इस प्रकार अपने सर्वाधिकारवादी शासन को बनाए रखने की चेष्टा करते हैं। इस तथ्य से इकार करना कठिन है कि सम्प्रेषण का राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण योगदान है, सम्प्रेषण का प्रभाव जीवन के हर पहलू पर पडता है और यदि सम्प्रेषण-प्रक्रिया का समुचित गठन हो तो समाज का नवीन कायाकल्प हो सकता है। किसी भी समाज में *या राजनीतिक व्यवस्था में सम्प्रेषण-प्रक्रिया अन्य सरचनाओं से जुड़ी रहती है* और इस तरह सम्पूर्ण व्यवस्था को प्रभावित करती है। सम्प्रेषण प्रक्रिया को भली प्रकार समझ लेने से हमें उस समाज या राजनीतिक व्यवस्था का समुचित ज्ञान हो सकता है। उल्लेखनीय है कि सम्प्रेषण की परिभाषा देते हुए इसे व्यक्तियों के बीच अर्थपूर्ण सूचनाएँ प्रसारित करने की प्रक्रिया (The process of transmitting meaningful information) माना गया है।[1] इस प्रक्रिया द्वारा इच्छाओं, आवश्यकताओं, अभिप्रायों और ज्ञान का आदान-प्रदान किया जाता है। किसी प्रशासनिक सगठन को लें तो, जैसा कि हर्बर्ट साइमन ने लिखा है, "सम्प्रेषण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी सगठन के एक सदस्य के विचार दूसरे सदस्य तक पहुँच जाते हैं और वे निर्णय पर प्रभाव डालते हैं।" सम्प्रेषण निर्णय लेने की प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण पहलू है, राजनीतिक व्यवहार और प्रशासनिक सगठन दोनों की दृष्टि से प्रभावशाली तत्त्व है।

सामान्यतया यह माना जाता है कि जीवित वस्तुओं और सामाजिक सगठनों (राजनीतिक सगठन सहित) का विश्लेषण एक ही विश्लेषण पद्धति द्वारा नहीं किया जा सकता, किन्तु डायच का विचार है कि सचार विज्ञानों (Communication Sciences) के विकास के कारण अब यह सम्भव हो गया है कि दोनों का विश्लेषण एक ही पद्धति द्वारा किया जा सके। डायच ने नियत्रण और सचार-विज्ञानों की अध्ययन पद्धतियों तथा सकल्पनाओं द्वारा राजनीतिक सगठनों के व्यवहार का

1 *Norbert Weiner* : Cybernetics in Sidney Weiner, ed Introductory Readings in Political Behaviour, p 297

अध्ययन किया है और राजनीतिक व्यवस्था के विकास के साथ-साथ इस अध्ययन पद्धति द्वारा यह भविष्यवाणी भी करने का दावा किया है कि राजनीतिक सरचनाओं को प्रभावित करने वाले परिवर्तनो के क्या परिणाम हो सकते हैं। राजनीतिक व्यवस्था को, जो कि सम्पूर्ण समाज के लिए निर्णय लेती है, 'सम्प्रेषण-मार्गों का जाल' (Net-work of Communication Channels) मानते हुए कार्ल डायच ने इस धारणा को ठुकरा दिया है कि शक्ति (Power) राजनीतिक जीवन का मुख्य आधार है, राजनीति का सार है। डायच का कहना है कि जिस तरह मुद्रा आर्थिक जीवन का चलार्थ है उसी तरह शक्ति राजनीति का चलार्थ है किन्तु राजनीति को 'शक्ति का विज्ञान' कहना भ्रामक है। डायच ने शक्ति (Power) और भौतिक बल (Physical Force) मे अन्तर किया है। अनुपालन, अनुसरण आदि के असफल हो जाने पर शक्ति का सहारा लिया जाता है और जब शक्ति भी असफल हो जाती है तब बल का सहारा लिया जाता है और जब बल द्वारा भी किसी वस्तु को प्राप्त करने या किसी आदेश को लागू करवाने मे असफलता हाथ लगती है तो उस वस्तु को प्राप्त करने का विचार छोड दिया जाता है अथवा उस आदेश को वापिस ले लिया जाता है।[1] डायच की मान्यता है कि शक्ति और बल की धारणा मात्र के अध्ययन से किसी राजनीतिक व्यवस्था का विश्लेषण नहीं किया जा सकता।

डायच के अनुसार राजनीति का उद्देश्य है—सामाजिक ध्येयो को प्राप्त करना। राजनीति के अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज के लिए निर्णय लिए जाते हैं और ये निर्णय प्रवर्तनीय (Enforceable) होते है। राजनीति वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज इस बात का निर्णय करता है कि कौनसे कार्य किन कार्यों से श्रेष्ठतर हैं जिन्हे कि करना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, राजनीति की प्रक्रिया के माध्यम से कार्यों को वरीयता के आधार पर चुना जा सकता है। निर्णयो अथवा कानूनो का समाज के सदस्यो द्वारा अनुपालन होता है। इस अनुपालन के पीछे मात्र शक्ति का भय नही होता अर्थात् यह मानना भ्रामक है कि शक्ति ही समाज मे निर्णयों को लागू करने का एकमात्र साधन या आधार है। इसके विपरीत वास्तविकता यह है कि जनता कानूनो का पालन करने की आदी हो जाती है। यदि शक्ति का प्रयोग ही सब कुछ हो तो अमेरिका मे मद्य-निषेध कानून को जनता के विरोध के कारण लागू करना असम्भव नहीं होता। अमेरिकी जनता मद्यपान की इतनी अधिक आदी या अभ्यस्त हो चुकी है कि मद्य-निषेध के कानून को लागू करना वहां असम्भव है। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था मे इस प्रकार के उदाहरण सरलता से ढूंढे जा सकते है।

अत. हमे यह स्वीकार करना होगा कि निर्णयो अथवा कानूनो के प्रवर्तन मे जनता की आदत का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह कहना होगा कि भय और आदर इन दोनो ही कारणो से जनता निर्णयों का पालन करती है। डायच की मान्यता है कि किसी भी समाज और राजनीतिक व्यवस्था का जीवन और विकास इसी बात पर निर्भर है कि उसके अन्तर्गत ऐसे सयत्र सदैव क्रियाशील रहते हैं जो आदत के निर्माण

1 Deutsch : The Analysis of International Relations, pp 40-47

का कार्य किया करते हैं अर्थात् जनता को इस बात के लिए अभ्यस्त बनाते रहते हैं कि वह निर्णयो अथवा कानूनों को मानती रहे, स्वीकार करती रहे। ये सयत्र सूचनाओ को प्राप्त करने मे, उनके चयन और सग्रह मे, प्राप्त सूचनाओ के प्रयोग से सम्बन्धित मानको के चयन आदि में सहायता करते हैं और प्रोत्साहन देते हैं। अपन इस विश्लेषण द्वारा डायच ने हमारे सामने 'राजनीतिक शक्तियो के आन्तरिक स्रोत' का विचार प्रस्तुत किया है। यादें, आदर्श और मूल्यो की स्थायी सरचना—ये सब मिल कर राजनीतिक शक्तियो का आन्तरिक स्रोत बनती हैं। अन्तरिक स्रोत के ये सभी आधार या निर्माणक तत्त्व 'सामाजिक सम्प्रेषण' (Social Communication) की सुविधा पर निभर करते हैं। सम्प्रेषण के साधनो के माध्यम से ही कोई भी समाज अथवा राजनीतिक तन्त्र अतीत, वर्तमान और समकालीन स्थिति के बारे मे जानकारी हासिल करता है।[1] अतीत की जानकारी वर्तमान की आदत का निर्माण करती है अर्थात् पिछली बातो का ज्ञान लोगो मे आदत या अभ्यास को उत्पन्न और विकसित करता है। जब लोग जानते हैं कि उनके पुरखा सरकारी आदेशो का पालन करते रहे तो वे भी स्वत ही सरकारी आदेशो का पालन करने लगते हैं। समकालीन परिस्थितियो का ज्ञान भी जनता मे राजनीतिक निर्णयों को स्वीकार करने की भावना विकसित करता है। अभिप्राय यह हुआ कि सम्प्रेषणो अथवा सूचनाओ का किसी भी सामाजिक एव राजनीतिक व्यवस्था के विकास मे, उसकी अभिवृद्धि मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। राजनीतिक व्यवस्था मे सबसे पहला स्थान सूचनाओ का है और तत्पश्चात् बाध्यकारी शक्ति का। सूचनाएँ लोगो म आदतों का निर्माण करती हैं और फलस्वरूप वे निर्णयों अथवा कानूनों का अधिकांशत पालन करते हैं। सूचनाओं के बाद बाध्यकारी शक्ति का स्थान है,[2] जो लोग कानूनो का प्रतिरोध करते हैं उन्हें बाध्यकारी शक्ति द्वारा कानूनों के अनुपालन के लिए विवश कर दिया जाता है। डायच का निष्कर्ष है कि जब किसी समाज या राजनीतिक व्यवस्था के अस्तित्व और विकास के लिए सूचनाओ की मात्रा और विस्तार' सूचनाओं के सचार के लिए सयत्रो और सरचनाओ की शक्ति का इतना अधिक महत्त्व है तो यह स्वीकार करने मे कोई हिचक नहीं होनी चाहिए कि राजनीतिक व्यवस्था वस्तुत 'सचार मार्गों का जाल' (Net work of Communication Channel) है। विभिन्न राजनीतिक प्रश्नों और समस्याओं को सम्प्रेषण के अध्ययन मे सही रूप मे और सरल परिप्रेक्ष्य मे समझा जा सकता है।

किसी भी समाज और राजनीतिक व्यवस्था मे सम्प्रेषण के मूलत दो प्रकार हैं—औपचारिक एव अनौपचारिक। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था म औपचारिक सम्प्रेषण के लिए कुछ सस्थागत व्यवस्थाएँ की जाती है। इनकी समस्याओं एव अभावों को दूर करने के लिए क्रमश अनौपचारिक सचार व्यवस्था का भी विकास होने लगता है। औपचारिक सम्प्रेषण के पाँच मुख्य माध्यम हैं—

1 *Deutsch* Nationalism and Social Communication, p. 75
2 *Deutsch* The Nerves f Government p 151

(क) मौखिक सम्प्रेषण (Oral Communication)
(ख) स्मृति-पत्र (Memorandum)
(ग) कागजी कार्यवाही (The Paper-flow)
(घ) प्रतिवेदनो का अभिलेख (The Record of Reports)
(ङ) सक्षिप्त पुस्तिका (Manuals)

अनौपचारिक सम्प्रेषण के तरीके औपचारिक साधनों के पूरक हैं। अपनौपचारिक सम्प्रेषण व्यवस्था सगठनो के सदस्यो के सामाजिक सम्बन्धो पर आधारित है। जब दो व्यक्तियो के बीच मित्रता होती है तो उनके बीच निकट सम्पर्क और खुली बातचीत के अनेक अवसर आते हैं। अनौपचारिक सम्प्रेषण व्यवस्था कभी-कभी व्यवस्था के लक्ष्यो की अपेक्षा व्यक्तिगत लक्ष्यो की ओर भी उन्मुख हो जाती है। अनौपचारिक सम्प्रेषण का अधिकांश भाग गप्पों के रूप मे होता है। कार्ल डायच के अनुसार एक राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत इसके सघटक जैसे व्यक्ति का समूह, राष्ट्र और राज्य, प्राप्त एव सग्रहीत सूचनाओ के आधार पर इस आशा के अनुसार क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं कि दूसरे कैसी क्रिया-प्रतिक्रिया करेंगे। दूसरे शब्दो, राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत क्रियाओं-प्रतिक्रियाओ का स्रोत वे सूचनाएँ हैं जो अतीत और वर्तमान से प्राप्त की जाती हैं और जिनका सग्रह भी है। डायच की मान्यता है कि राजनीतिक व्यवस्था बडी सीमा तक समन्वित आशाओं के ढांचे (Fabric of Co-ordinate Expectations) पर निर्भर करती है। राजनीतिक व्यवस्था म सचार-तन्त्रो के समान ही सूचनाओ को प्राप्त, एकत्र, प्रसारित, चयन एव सग्रह करने की यत्र रचनाएँ और प्रक्रियाएं पाई जाती हैं तथा इन्हीं के कारण राजनीतिक व्यवस्था स्व विनियमित (Self Regulating) अथवा स्व-नियत्रक (Self Controlling) व्यवस्था होती है। राजनीतिक व्यवस्था के सदस्य सदेश-प्रसारण और सचार मार्गों के नियत्रण तथा समन्वय के लिए इन्हीं यत्रों अथवा यत्र रचनाओ को प्राप्त करते हैं। इसीलिए राजनीतिक व्यवस्था का विश्लेषण हम इस आधार पर कर सकते है कि समन्वय और नियत्रण के यत्र उद्देश्यो के सन्दर्भ मे किस मात्रा मे काम कर रहे है।

किसी सम्प्रेषण या सचार व्यवस्था को प्रभावित तभी बनाया जा सकता है जबकि उसका रूप एव विषय-वस्तु ग्रहणकर्त्ताओ की इच्छा, मूल्य, प्राथमिकता और मन स्थिति के अनुकूल होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य बातो का भी सचार की ग्रहणशीलता पर प्रभाव पडता है उदाहरण के लिए सूचनादाता की प्रभावशीलता, सूचना का रूप, उसका मौखिक या लिखित होना, उसकी औपचारिक या अनौपचारिक भाषा और सचार व्यवस्था के स्रोत। कार्ल डायच ने लिखा है कि यदि किसी सचार के लिए अनेक विकल्पात्मक स्रोत हैं तो अनिर्णय की स्थिति के कारण सम्प्रेषण व्यवस्था रुक जाती है। दूसरी ओर यदि कुछ स्रोतो मे ही अनेक समाचार मिल रहे है तो सम्प्रेषण व्यवस्था मे भ्रम उत्पन्न हो जाता है।

सम्प्रेषण व्यवस्था एव निर्णय प्रक्रिया दोनो के मध्य महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है। यदि ये दोनो समरूप नहीं हैं तो कम से कम परस्पर निर्भर अवश्य हैं। व्यवहार मे इन्हे एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

डायच के अनुसार एक राजनीतिक व्यवस्था के शासनतन्त्र अथवा सरकार को चलाना एक जहाज चलाने के समान है। सरकार को हम सचार मार्गों के प्रशासन का एक रूप मान सकते हैं। शक्ति नही बल्कि चालन (Steering) सरकार की मुख्य समस्या है। सरकार के अन्तर्गत शक्ति का प्रयोग उतना अधिक नहीं होता जितना सूचनाओ का। राजनीतिक व्यवस्था मे इच्छाओ को बल की धमकी द्वारा नहीं बदला जाता वरन् सूचनाओ के चालन से इच्छाएँ स्वय बदलती रहती हैं। जिस तरह सचार विज्ञान के उपकरण सूचनाओ के अनुसार कार्य करते रहते हैं इसी तरह राजनीतिक व्यवस्था के सघटक (व्यक्ति, समूह, राज्य आदि) सूचनाओ के ही आधार पर कार्यरत रहते हैं। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था मे उपसचार तन्त्र भी होते हैं। डायच ने हित समूह, राजनीतिक दल आदि को इसी प्रकार के तन्त्र माना है। ये तन्त्र न केवल एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं बल्कि अपने मे चालन क्षमता भी रखते हैं और अपनी व्यवहार-सरचनाओ को सुधारते रहते हैं।

डायच ने वे कसौटियाँ भी प्रस्तुत की हैं जिनके द्वारा हम यह पता लगा सकें कि एक राजनीतिक व्यवस्था का विकास हो रहा है या नही। इसके लिए हमे ज्ञात करना होगा कि—(1) सचार या सम्प्रेषण मार्गों को परिष्कृत करने की क्षमता राजनीतिक व्यवस्था मे कितनी है अर्थात् प्राप्त सूचनाओ के आधार पर राजनीतिक व्यवस्था उन मार्गों को, जिनसे कि सूचनाएँ मिल रही हैं, परिष्कृत कर रही है अथवा नहीं ? (2) सूचनाओ से पर्यावरण को प्रभावी उत्तर देने की क्षमता अवरुद्ध है, घटी है या बढी है ? एव (3) जो ध्येय हैं उनके क्षेत्र मे और उनकी विविधता म विस्तार हुआ है अथवा नहीं ?

डायच ने राजनीतिक व्यवस्था को एक ऐतिहासिक व्यवस्था भी माना है क्योकि वह अपने अतीत मे भी सूचनाएँ प्राप्त करती है इस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था की अपनी एक स्मृति (Memory) भी होती है। सूचनाओ के मुख्य स्रोत होते हैं—अतीत (Past) बाह्य पर्यावरण (External Environment) और आन्तरिक पर्यावरण (Internal Environment)। चूंकि बाह्य पर्यावरण भी राजनीतिक व्यवस्था के लिए सूचनाओ का प्रमुख स्रोत है, अत राजनीतिक व्यवस्था एक खुली व्यवस्था होनी है न कि बन्द।

डायच की विश्लेषण पद्धति सन्तुलन सिद्धान्त से भिन्न है और प्रतिसम्भरण' या प्रदाय (Feed-back) वह प्रमुख विचार है जो डायच के विश्लेषण को सतुलन विश्लेषण से पृथक् करता है। 'फीडबैक' एक प्रकार की सूचना है। यह सचार या सम्प्रेषणो का एक जाल अथवा ढाँचा है जो सूचनाओं के इनपुट के प्रत्युत्तर म कार्यों को जन्म देता है। साथ ही इसके अन्तर्गत अपने ही कार्यों के परिणाम भी आते है जो कि इसके व्यवहार को बदलते हैं। डायच के अनुसार प्रत्येक व्यवस्था म प्रत्येक

सगठन मे 'फीडबैक' सयन्त्र होते हैं जो सूचनाओ के आधार पर व्यवस्था या सगठन को अपनी दिशा बदलने को प्रेरित करते हैं। फीडबैक का विचार गतिशीलता के विचार का जनक है, इसके कारण ही राजनीतिक व्यवस्था में सदैव गतिशीलता बनी रहती है। डायच ने फीडबैक सकल्पना के अन्तर्गत 'भार' (Load), 'पश्चायन' (Lag), 'अर्जन' (Gain) और 'अग्रायण' (Lead) शब्दावलियाँ प्रयुक्त की हैं, उसने इन्हें उप-सकल्पनाएँ माना है और नकारात्मक फीडबैक (Negative Feed-back) के विचार का प्रतिपादन किया है। नकारात्मक फीडबैक, डायच के अनुसार वह सयन्त्र अथवा यन्त्र रचना है जो व्यवस्था को अपने निर्णयो और कार्यों के परिणामो के बारे मे सूचित करता है और इस सूचना के आधार पर ही राजनीतिक व्यवस्था अपने ध्येयो को प्राप्त करने से सम्बन्धित व्यवहार को आवश्यकतानुसार बदलती रहती है। 'भार' (Load) से डायच का आशय सूचनाओ की पूरी मात्रा से है जो एक राजनीतिक व्यवस्था किसी समय विशेष को अपने पास रखती है। 'पश्चायन' (Lag) से आशय उस समय से है जो एक राजनीतिक व्यवस्था सूचनाओ को प्राप्त करने के बाद अपने निर्णयो को रिपोर्ट करने मे लगाती है। अर्जन (Gain) का तात्पर्य उस ढग से है जिसके द्वारा राजनीतिक व्यवस्था सूचनाओ का प्रत्युत्तर देती है। 'अग्रायण' (Lead) का भी अपना विशेष अर्थ है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था कुछ निर्णय लेती है और कार्य करती है तथा इन निर्णयो और कार्यों के परिणामो के बारे मे अनेक पूर्व घोषणाएँ की जाती हैं। इन पूर्व घोषणाओ के सम्बन्ध मे राजनीतिक व्यवस्था की प्रतिक्रिया-क्षमता क्या है, इस विचार को अग्रायण प्रस्तुत करता है। ये सभी उप-सकल्पनाएँ एक दूसरे से सम्बन्धित हैं और उद्देश्य-प्राप्ति की सफलता इनकी मात्रा पर विशेषकर 'भार' और 'पश्चायन' की मात्रा पर निर्भर करती है।

डायच का सम्प्रेषण-सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है जिसकी सहायता से राजनीतिक विश्लेषण मे यथार्थता, विशुद्धता और गहराई अधिक आ गई है। सम्प्रेषण व्यवस्था के अध्ययन मे निर्णय-निर्माण यन्त्र को अधिक सार्थक, उपयोगी और प्रभावशाली बनाने मे सहायता दी है। तथापि इस सिद्धान्त की अनेक कमजोरियाँ हैं और आलोचकों ने मुख्यत ये आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं—(1) यह सिद्धान्त सूचना के प्रवाहों पर अधिक ध्यान देता है, सूचना के परिणामो पर नहीं। (2) डायच न इस सिद्धान्त के विवेचन मे जिस शब्दावली का प्रयोग किया है, वह पर्याप्त दुरूह है, (3) यह उपागम शक्ति एव नियन्त्रण को गहराई से समझने मे कोई सहायता नहीं कर पाता, (4) डायच उपागम के लक्ष्यो के सम्बन्ध मे उद्देश्यपूर्ण तरीके से सोचता है। यह प्रवृत्ति अवैज्ञानिक है, (5) डायच के प्रति सम्भरण प्रतिरूप मे अबौद्धिक, आकस्मिक और दैवीय व्यवहार के लिए कोई स्थान नही है, (6) डायच का चिन्तन अति औपचारिक एव अति बौद्धिकता के कुछ पूर्वाग्रहो से ग्रस्त है, (7) यह सिद्धान्त मनुष्यो एव जानवरो मे अन्तर नहीं करता जबकि यह अन्तर मूलभूत है और हमेशा बना रहेगा।

निर्णय-निर्माण (स्नाइडर)
[Decision-Making (Snyder)]

राजनीतिशास्त्र की दुनिया मे निर्णय अथवा विनिश्चय निर्माण उपागम का प्रवर्तन हर्बर्ट साइमन ने प्रशासनिक व्यवहार के क्षेत्र मे किया है और स्नाइडर, ब्रुक एव सेपिन ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के क्षेत्र मे विशिष्ट स्थान दिलाने का श्रेय अर्जित किया है। इन विद्वानों की मान्यता है कि एक व्यवस्था की विशेषताएँ निर्णय निर्माताओ के व्यवहार को पर्याप्त प्रभावित करती हैं। लेखको ने सगठनात्मक सन्दर्भ के लक्षणो को स्पष्ट किया है और इस पर बल दिया है कि जब तक हम लक्षणो का पूरा ध्यान न रखें तब तक एक समाज-व्यवस्था मे निर्णय-निर्माण के कार्य को सही रूप मे नही आंक सकते। इन्होने सगठनात्मक सरचना के जिन लक्षणो का उल्लेख किया है वे इस प्रकार हैं—(1) औपचारिक सगठनो के कर्मचारी सगठन के सदस्य होने के नाते जीविका प्राप्त करते हैं जिनका सीमित कार्यकाल होता है, (2) सगठन द्वारा प्रदत्त अथवा निर्णित विशेष तथा सीमित पदसोपानीय लक्ष्य होते हैं, (3) *आन्तरिक विशेषीकरण अथवा श्रम-विभाजन*, (4) *सत्ता और नियन्त्रण*, (5) अभिप्रेरणा, (6) सचार, (7) औपचारिक एव नैतिक सम्बन्ध, (8) पद स्थिति एव जीविका का व्यवसायीकरण। सगठनात्मक सन्दर्भ के ये सभी लक्षण *निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया* को प्रभावित करते हैं। जो *लोग निर्णय-निर्माण मे भाग* लेते हैं वे किसी निश्चित सामाजिक सरचना (सगठन) के सदस्य होते हैं। उनकी क्षमता का आधार आन्तरिक विशेषीकरण और उनकी अभिप्रेरणा का स्रोत भर्ती एव प्रशिक्षित होता है।

स्नाइडर, ब्रुक एव सेपिन ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि राजनीतिक साहित्य मे निर्णय-निर्माण प्रक्रिया के विवेचन की अवहेलना की गई है। इसे निराशाजनक स्थिति ही कहा जाएगा कि नीति-निर्माण मे राजनीतिक वैज्ञानिकों की दीर्घकालीन रुचि होते हुए भी निर्णय-निर्माण की अवधारणा को अधिक विकसित या परिभाषित नही किया गया है।[1] *निर्णय-निर्माण के सिद्धान्तो और* सन्दर्भों का विवेचन करने की ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया है—यहाँ तक कि यह प्रश्न भी अभी तक एक पहेली बना हुआ है कि निर्णय क्या होता है और किस तरह *लिया जाता है*। इन विद्वानो ने अपनी परिभाषा प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि—'निर्णय-निर्माण एक ऐसी प्रक्रिया है जो एक परियोजना के सामाजिक रूप से परिभाषित समस्या-जनक वैकल्पिक परियोजनाओ मे से चयन के रूप मे प्रतिफलित होती है। यह परियोजना निर्णय निर्माता द्वारा कल्पित, विशेष भावी वस्तु स्थिति को लाने को अभिलक्षित होती है।"

रिचर्ड स्नाइडर ने निर्णय निर्माण उपागम के पच-सूत्रीय विकास की ओर सकेत किया है—

1 *Snyder, Bruck and Sapin*. The Decision Making Approach in Political Behaviour, p 253

प्रथम, पर्यावरण सम्बन्धी तत्त्वो का निर्णय-निर्माण पर प्रभाव पड़ता है। पर्यावरण निर्णय-कार्य को आशा से अधिक सरल भी बना सकता है और निर्णय-कार्य के सभी अनुमानो को निराशा मे भी बदल सकता है। पर्यावरण का मनोवैज्ञानिक एव परिचालन सम्बन्धी पहलू का निर्णय-सीमाओं के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण हाथ होता है।

द्वितीय, व्यक्तित्व सम्बन्धी तत्त्व भी निर्णय-निर्माण को प्रभावित करते हैं। उदाहरणार्थ राजनीतिक क्रियाएँ राजनेताओं के व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रहतीं। यदि व्यक्तित्व सम्बन्धी तत्त्वो का सही मूल्यांकन किया जाए तो राजनेताओं द्वारा लिए गए महत्त्वपूर्ण निर्णयों को समझने और उनके आधार पर सिद्धान्त-निर्माण करने मे काफी सफलता मिल सकती है। राजनीतिक तथ्यो की प्राप्ति के लिए मनो-विश्लेषण सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक ज्ञान का प्रयोग बड़े अच्छे परिणाम दे सकता है।

तृतीय, नीति प्रक्रिया अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र मे निर्णय-निर्माण पर राजकीय और अराजकीय अभिकर्त्ताओं का प्रभाव पड़ता है। *हम विदेश नीति के निर्माण को लें तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि सामान्य जनमत,* दबाव समूहो, व्यापक जन-सम्पर्क साधनो, कार्यपालिका विभाग के विशिष्ट अभिकर्त्ताओं, विशिष्ट व्यवस्थापिका समितियो आदि की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है और कुछ मामलो मे तो एक बड़ी सीमा तक निर्णयात्मक भी।

चतुर्थ, कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका अन्योन्याश्रित क्रिया का भी निर्णय-निर्माण पर काफी प्रभाव पड़ता है। राजनीतिक निर्णय लेने का भार सरकार पर होता है और कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका इन दो महत्त्वपूर्ण सरकारी अगो का पारस्परिक प्रभाव इस क्षेत्र मे अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यदि इन तीनो अगो मे मेल जोल और सद्भावना है तो निर्णय-निर्माण प्रभावी त्वरित और अधिक फलदायक सिद्ध होता है और यदि दोनो अगो मे परस्पर तनाव अथवा सघर्ष है तो निर्णय-निर्माण प्रक्रिया विपरीत रूप मे प्रभावित होती है।

पचम, निर्णय-निर्माण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के अध्ययन का एक आवश्यक उपागम है। किंचित भी ध्यानपूर्वक देखने से हमे स्पष्ट होगा कि किसी भी राज्य *का निर्णय उसके अभिकर्त्ता द्वारा बहुत* अधिक प्रभावित होता है। किस परिस्थिति मे कौन सा निर्णय होता है यह मुख्यत इस बात पर निर्भर है कि निर्णयकर्त्ता कौन और कैसा है। इसी प्रकार सगठन की प्रकृति, सम्प्रेषण, प्रयोजन आदि निर्णय-व्यवहार को उत्प्रेरित करते हैं।

वस्तुत निर्णय-सिद्धान्त के अन्तर्गत निर्णय-निर्माण एक वह प्रक्रिया है जिसमे अनेक क्रियाएँ अन्तर्निहित होती हैं। समस्या का अभिज्ञान, सूचना-अन्वेषण, विकल्प-निश्चय, कर्त्ता द्वारा किन्हीं दो या अधिक विकल्पों मे से किसी एक का चयन आदि निर्णय-निर्माण के आवश्यक अग हैं। यदि किसी क्षेत्र विशेष की निर्णय-निर्माण प्रक्रिया को लें तो उसमे विभिन्न इकाइयाँ निर्णायक इकाइयों जैसी भूमिका अदा

करती हैं। स्नाइडर, ब्रुक एव सेपिन ने अमेरिकी विदेशी नीति की रचना मे भाग लेने वाले लगभग साठ अभिकरणों की बात कही है। ये सभी निर्णायक इकाइयाँ हैं, किन्तु इनका और इनमे कार्य कर रहे कर्मचारियो का नियम-निर्माण की दृष्टि से एक जैसा महत्त्व नहीं होता। इसके अतिरिक्त एक इकाई प्रत्येक निर्णय मे एक जैसी भूमिका नही निभाती। इन इकाइयो का महत्त्व बराबर का नहीं है। इनका आपसी सम्बन्ध कभी समानता और कभी असमानता का होता है। प्रत्येक निर्णय-निर्माण मे इनके अलग-अलग सदस्य कार्य करते हैं। इन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए सम्पूर्ण व्यवस्था में से निर्णायक इकाइयो को पृथक् करना एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। इन विचारको की मान्यता है कि सभी निर्णायक इकाइयाँ सगठनात्मक व्यवस्थाएँ होती हैं। सगठन का अर्थ कार्यक्रमो की व्यवस्था और सम्बन्धो की सरचना से है। निर्णायक इकाइयो के विभिन्न रूपों मे आकार, सरचना, सस्थागत ढाँचे मे स्थिति, अन्य सगठनात्मक इकाइयो से सम्बन्ध, इकाई का कार्यकाल, उद्देश्य का प्रकार आदि आधारों पर अन्तर पाए जाते हैं। स्नाइडर ब्रुक एव सेपिन ने निर्णायक इकाई की स्थापना की दो प्रणालियो का उल्लेख किया है—Automatic Assignment एव Negotiation। इन दोनो प्रणालियो द्वारा सकल निर्णय निर्माता सरचना मे निर्णायक इकाइयाँ स्थापित की जाती हैं। निर्णय-निर्माताओ का चयन प्रायः समस्याओ अथवा निर्णय के वर्गीकरण पर आधारित होता है। विभिन्न अभिनेताओ का औपचारिक कार्य यह निर्धारित करता है कि वे निर्णायक इकाई के भाग होंगे या नहीं। जहाँ कहीं नैयिक प्रक्रिया नहीं होती अथवा नई परिस्थितियों के कारण विशेष प्रक्रिया अपनानी पडती है वहाँ चयन का भिन्न तरीका अर्थात् Negotiation अपनाया जाता है। विदेश नीति निर्माण की सरचना मे हुए महान् सघर्ष प्राय इस प्रश्न पर निर्भर रहे हैं कि निर्णय कौन लेगा। निर्णयकर्त्ता प्राय ऐसे ही व्यक्ति होत हैं जो सार्वजनिक अथवा वैधिक उत्तरदायित्व के साथ महत्त्वपूर्ण राजनीतिक विनिश्चय (निर्णय) करते हैं अथवा व व्यक्ति होते हैं जो निर्णय-निर्माण मे हाथ बँटाते हैं। निर्णय निर्माण मे सलग्नकर्त्ताओ को सूचना देने वाले लोग भी निर्णय कर्त्ताओ की श्रेणी मे आ जाते हैं और इसी प्रकार उन अभिजनो को भी अपने प्रभाव के कारण निर्णयकर्त्ताओ की श्रेणी मे रखा जाता है जो निर्णयो का विकल्प ढूँढने मे सक्षम होते हैं। दबाव समूह के नेता निर्णयो को प्रभावित करने वाले प्रशासक, निर्णयो को विशेषाधिकार द्वारा करने वाले व्यक्ति आदि भी निर्णयकर्त्ताओ म गिने जाते है। इस तरह स्थानीय, राज्य-स्तरीय अन्तर्राष्ट्रीय आदि स्तरो पर निर्णयकर्त्ताओ का निर्धारण किया जाता है। निर्णय जितने महत्त्वपूर्ण लेने होत हैं प्राय निर्णयकर्त्ताओ की सख्या उतनी ही कम होती है। दूसरे शब्दो मे शीर्षस्थ या चोटी के निर्णयकर्त्ता सख्या मे कुछ ही होते हैं—और अधिनायकवादी व्यवस्था म तो प्राय एक ही।

निर्णय सिद्धान्त का एक पहलू यह है कि निर्णय निर्माण जडता का बोध नहीं देता अर्थात् यह एक गत्यात्मक कार्य है जिसमे खेल-सिद्धान्त के समान

निर्णयकर्त्ताओं द्वारा प्रतिस्पर्द्धा, परिवर्तन, सहयोगपूर्ण समाधान, आतंक, भय, सम्मेलन आदि प्रक्रियाओं का उपयोग किया जाता है।

निर्णय-निर्माण उपागम को स्पष्ट करते हुए स्नाइडर, ब्रुक एवं सेपिन ने विदेश नीति के निर्णयों की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख किया है। यद्यपि विदेश नीति के निर्णय अन्य निर्णयों से भिन्न नहीं होते, तथापि इन निर्णयों की कुछ अपनी विशिष्टताएँ होती हैं जो इस प्रकार हैं—(1) विदेश नीति में सम्भव उद्देश्यों एवं परियोजनाओं का एक व्यापक क्षेत्र होता है जिसकी अनेक व्याख्याएँ की जा सकती हैं, (2) यहाँ सेवित व्यक्ति बहुरूपी होते हैं, अतः निर्णयों के प्रति विरोधी या असन्तोषजनक प्रतिक्रिया और माँग की सम्भावना रहती है, (3) सहमति प्राप्त करने से पूर्व अनेक सम्भावनाओं को एकीकृत किया जाता है, (4) यहाँ निर्णयों की परिस्थिति और वातावरण अधिक जटिल, कम निश्चित तथा कम स्थाई होता है, इसलिए कार्यों के परिणाम की भविष्यवाणी और नियन्त्रण कठिन है, (5) सूचना के स्रोत व्यापक तथा कम विश्वसनीय होते हैं। इनके वर्गीकरण की आवश्यकता एक विशेष समस्या उत्पन्न करती है, (6) यहाँ प्रयोग के अवसरों का अपेक्षाकृत अभाव रहता है और परिस्थितियों के पुनः पैदा होने की सम्भावना नहीं रहती, (7) यहाँ संगठनात्मक प्रभावशीलता और नीति सम्बन्धी परिणामों को मापने में कठिनाई होती है, (8) यहाँ विकल्पों पर इस रूप में विचार करने की आवश्यकता होती है कि उन्हें प्रमाणीकरण की जाँच के लिए प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, (9) यहाँ समस्याजनक परिस्थिति उत्पन्न होने तथा उसके परिणाम सामने आने में पर्याप्त दूरी रहती है, (10) यहाँ मूलभूत मूल्य सम्बन्धी संघर्षों की अधिक सम्भावना रहती है और इसलिए अधिक व्यापक समझौते जरूरी बन जाते हैं।

निर्णय निर्माण प्रक्रिया में अनेक परिस्थितियों द्वारा वैकल्पिक उद्देश्यों, तकनीकों, परियोजनाओं की राजनीतियों और निर्णय-निर्माण के साधन स्रोतों पर सीमाएँ स्थापित की जाती हैं। इन सीमाओं पर निर्णय-निर्माता की दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए। ये सीमाएँ अपने स्रोतों के आधार पर तीन भागों में वर्गीकृत की जा सकती हैं—निर्णय-निर्माता व्यवस्था से बाहर के तत्त्व, निर्णय-निर्माता व्यवस्था की प्रकृति एवं कार्यों से उत्पन्न तत्त्व और इन दोनों के संयोग से उत्पन्न तत्त्व। बाहरी सीमाओं की दृष्टि से राज्य को ऐसे उद्देश्यों का चयन नहीं करना चाहिए जिन्हें प्राप्त करने के लिए उसके पास पर्याप्त साधन न हों। उसे ऐसी तकनीकें नहीं चाहिए जो लक्ष्य-प्राप्ति के लिए अन्य तकनीकों की अपेक्षा कम प्रभावशील हों। इन बाहरी सीमाओं की अनुभूति निर्णय निर्माताओं को व्यक्तिशः प्रत्यक्ष रूप से नहीं होती। आन्तरिक सीमाएँ वे हैं जो स्वयं व्यवस्था में अन्तर्निहित रहती हैं। ऐसी आन्तरिक सीमाओं के रूप में सूचना के अभाव या गलत सूचना, संचार-व्यवस्था की सफलता, परम्पराएँ, निर्णय-निर्माताओं की अनुभूति और सीमित साधन स्रोत आदि हैं।

निर्णय-निर्माण के प्रतिपादकों का यह दावा नहीं है कि उनका प्रतिरूप सभी

राजनीतिक क्रिया-कलापो की व्याख्या करने मे असमर्थ है, अपितु उनका कहना यह है कि निर्णय-निर्माण एक राजनीतिक व्यवस्था का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इसमे सन्देह नही कि निर्णय-निर्माण विश्लेषण ने अध्ययन के नए आयामो का उद्घाटन किया है, तथापि यह विश्लेषण कई दृष्टियो से तीव्र आलोचना का पात्र बना है। यह विश्लेषण सिद्धान्त-स्थापना मे सफल नही हो पाया है क्योकि अत्यन्त वृहत है। इसके अतिरिक्त निर्णय-निर्माण उपागम के अन्तर्गत जब तक अन्तर-शास्त्रीय अध्ययन की विशिष्ट संरचना प्राप्त नहीं होगी तब तक मनोवैज्ञानिको समाजशास्त्रियो अर्थ शास्त्रियो आदि के ज्ञान का राजनीतिक अध्ययन की दृष्टि से प्रयोग सम्भव नही है। यह भी एक गम्भीर दोष है कि निर्णय-निर्माण द्वारा प्रक्रिया पर अधिक जबकि प्रक्रिया के परिणाम पर बहुत कम जोर दिया गया है। फलस्वरूप कई बार निर्णय-प्रक्रियाओ की झंझट *निर्णय के उद्गम को समझ मे दूर कर देनी हैं। निर्णय सिद्धान्त* की सफलता तब तक संदिग्ध है जब तक कि हम यह जान पाएँ कि निर्णय किस प्रकार किए जाते हैं और उनका क्या प्रभाव होता है। रोजनाऊ जैसे विद्वानो ने *निर्णय-निर्माण* विश्लेषण की अनेक *कमियो और दुर्बलताओ की ओर संकेत किया है। उदाहरणार्थ, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो तथा विदेश नीति को समझाने के लिए* निर्णय-निर्माण विश्लषण अपर्याप्त है। एक तो इन क्षेत्रो मे कर्त्ता द्वारा लिए गए निर्णय किसी निश्चित मार्ग का अनुगमन करने का दावा नहीं करते और दूसरे निर्णय निर्माण मे कर्त्ता अपने पूर्वाग्रहो से भी मुक्त नही रह पाते। हम इन तथ्यो को *भी नही भुला सकते कि निर्णय निर्माण नौकरशाही पर पलता और फलता-फूलता* है विधान मण्डलो पर छाया रहता है, कार्यपालिका को उलझाए रखता है और न्यायिक संस्थाओ को भी बोझिल बनाता है। रोजनाऊ स्नाइडर के निर्णय निर्माण सिद्धान्त को सिद्धान्त मानने के पक्ष म नही है। उसका कहना है कि स्नाइडर न *संगठनात्मक परिवृत्यो का विवेचन तो काफी विस्तार स किया है जबकि आन्तरिक* एव बाह्य कारणो पर बहुत कम प्रकाश डाला है। स्नाइडर न निर्णय निर्माण प्रक्रिया को विदेश नीति के निर्णय से संयुक्त करने के प्रयास म आन्तरिक और वैदेशिक प्रभावो का समुचित मूल्यांकन नही किया है इन प्रभावो को सरसरी निगाह से *न देखकर एक प्रकाशक की निगाह से देखता है। निर्णय निर्माण मे बाह्य दबाव* महत्त्वपूर्ण और अधिक परिवर्तनशील हैं जिन पर स्नाइडर न कम ध्यान दिया है। उसने आन्तरिक और बाह्य तत्त्वो का जो विवेचन प्रस्तुत किया है उमस यह स्पष्ट नही होता कि विभिन्न परिस्थितियो म कर्त्ता द्वारा क्या विकल्प लिए जा सकते हैं। *निर्णय निर्माण सिद्धान्त को सम्पूर्ण राजनीतिक निर्माण का सिद्धान्त होना चाहिए* जबकि आज यह उपागम केवल विदेश नीति तक ही सीमित रह गया है यह आवश्यक है कि निर्णय निर्माण उपागमा को वास्तविकताओ के और अधिक सन्निकट लाया जाए।

उत्तर-व्यवहारवाद

(Post-Behaviouralism)

व्यवहारवादी दृष्टिकोण जब अपनी सफलता की चरम सीमा पर था तभी युग

के बढते हुए सामाजिक और राजनीतिक संकटों ने इसे आ घेरा और उत्तर-व्यवहारवादी क्रान्ति (Post-Behavioural Revolution) का आरम्भ हो गया जिसे हम व्यवहारवाद के विरुद्ध कोरी प्रतिक्रिया मात्र नहीं कह सकते अपितु जो प्रतिक्रिया से कुछ अधिक है। डेविड ईस्टन के अनुसार उत्तर व्यवहारवादी क्रान्ति अतीत-अभिमुख न होकर भविष्योन्मुख है, यह एक आन्दोलन भी है और बौद्धिक प्रवृत्ति भी, जिसका नारा है संगति एवं कार्य (Relevance and Action), अर्थात् राजनीतिक विज्ञान की शोध और अध्यापन को वर्तमान समस्याओं के साथ अपनी संगति बैठाना और उनके प्रति कार्यशील होना चाहिए। डेविड ईस्टन को इस उत्तर-व्यवहारवादी क्रान्ति का उद्घोषक कहा जाता है। ईस्टन ने लिखा है कि—

"उत्तर-व्यवहारवादी क्रान्ति न तो राजनीतिक शोध के किसी स्वर्ण युग की ओर लौटने का प्रयास है और न ही इसका मन्तव्य किसी पद्धतीय दृष्टिकोण विशेष का विनाश करना है। इस ऐसे समर्थकों की आवश्यकता नहीं है जो मानव आचरण के सम्बन्ध में परीक्षण योग्य सामान्यताएँ खोजने की सम्भावनाओं को नकार सकें। *यह राजनीति विज्ञान को नई दिशाओं की ओर उत्प्रेरित करती है। जिस प्रकार* सन् 1950 के दशक में व्यवहारवाद ने अपनी नई तकनीक से हमारी विरासत में से कुछ भी घटाने के स्थान पर बहुत कुछ जोड़ा था, वैसे ही यह भी एक सकारात्मक आन्दोलन है। *अतः यह कहा जा सकता है कि यह नया विकास एक प्रतिक्रिया न* होकर एक वास्तविक क्रान्ति है, जो आरक्षण की अपेक्षा भवितव्य पर बल देती हुई *प्रतिसुधारात्मक न होकर सुधारात्मक अधिक है।"*

"उत्तर-व्यवहारवाद एक दुहरा आन्दोलन है जो व्यक्ति समूह और बौद्धिक प्रवृत्ति दोनों का प्रतिनिधित्व करता है। एक आन्दोलन के रूप में इसमें बिखरे हुए अस्थिर एवम् ऐसे कितने ही प्रखर गुण हैं, जो स्वयं व्यवहारवादी क्रान्ति में उसके यौवनकाल में रहे हैं। इस व्यापक और अस्त व्यस्त आन्दोलन को व्यवसाय के अन्दर अथवा बाहर के संगठित समूहों के साथ मिलाकर देखना एक भारी भूल ही नहीं अपितु भयंकर अन्याय भी होगा। इसी प्रकार सभी उत्तर-व्यवहारवादियों को कुल मिलाकर किसी विशेष प्रकार का राजनीतिक रंग देना भी अनुचित होगा। ये लोग अनुदारों से लेकर सक्रिय वामपन्थियों तक में पाए जाते हैं। इस आन्दोलन की किसी पद्धति विशेष में भी कोई विशेष निष्ठा नहीं है। इसमें कठोर विज्ञानवादियों से लेकर *समर्पित परम्परावादी तक भाग ले रहे हैं। न ही किसी उम्र विशेष के* वर्ग की इसमें विशिष्ट आस्था है। इसके समर्थन में आज नई पीढ़ी के स्नातकोत्तर विद्यार्थी तथा व्यवसाय के बुजुर्ग नेता सभी एक रूप में भाग ले रहे हैं। यह असम्भाव्य विविधता, जो राजनीतिक, पद्धतीय एवं पीढ़ी विरोध के बावजूद भी आज एक भावना से संयुक्त होकर प्रस्तुत हुई है, उसके जड़ में केवल एक ही तथ्य है और वह है 'समकालीन राजनीतिक अनुसंधान की दिशा में गहरा असन्तोष'।"

उत्तर-व्यवहारवाद चाहे कितना ही नया हो इसके मूल सिद्धान्त इतने अवश्य उभर चुके हैं कि उन्हें पहचाना जा सकता है। डेविड ईस्टन ने इसके प्रमुख सिद्धान्तों का अधिक ढंग से वर्णन किया है—

1. तकनीक से तथ्य पहले आने चाहिए। यदि एक के लिए दूसरे का परित्याग करना ही है (और यह सदैव आवश्यक नही है) तो यह अधिक महत्त्वपूर्ण है कि समकालीन आवश्यक सामाजिक समस्याओ के साथ एक सप्रयोज्य सगति स्थापित की जाए, अपेक्षाकृत इसके कि अनुसन्धान के यन्त्रो को पैना बनाने मे शक्ति व्यय की जाए। विज्ञान जगत् की यह लोकोक्ति कि "अस्पष्ट होने से गलत होना अधिक अच्छा है" उत्तर-व्यवहारवादियो द्वारा इस नए सिद्धान्त से बदल दी गई है कि "असगत रूप से निश्चित होने की अपेक्षा अस्पष्ट होना कही श्रेयस्कर है।"

2 व्यवहारवादी विज्ञान एक निरीक्षणात्मक अनुदारवाद छुपा कर चलती है। तथ्यो के केवल वर्णन और विश्लेषण मात्र को लेकर चलना उन्ही तथ्यो को उनके व्यापक सन्दर्भ मे समझने से इन्कार करना है। अत प्रयोगात्मक राजनीति विज्ञान को चाहिए कि वह उन तथ्यात्मक स्थितियो को सुरक्षित रखे, जिन्हे वह स्वय खोजना चाहती है। जाने अनजाने यह उस सामाजिक अनुदारवाद को लेकर चलता है, जिसमे साधारण सा विकासवादी परिवर्तन भी सम्मिलित है।

3 व्यवहारवादी शोध का यथार्थताओ से बच कर चलना चाहिए। व्यवहारवादी अन्वेषण की मूल बात यह है कि वह अमूर्तता और विश्लेषण के प्रपच मे राजनीति की वास्तविक यथार्थताओ को छुपा लेती है। उत्तर-व्यवहारवाद मौन के इन्ही अवरोधो को ढहाना चाहता है, जो व्यवहारवादी शब्दावली ने अपने चारो ओर खडे कर लिए हैं। इसका उद्देश्य राजनीति विज्ञान को वह सहायता प्रदान करना है, जिससे वह सकट के क्षणो मे मानव-मात्र की वास्तविक आवश्यकताओ तक पहुँच सके।

4. मूल्यो का सृजनशील विकास एव उनके विषय म शाश्वत शोध राजनीति अध्ययन का एक ज्वलन्त पहलू है। विरोधी प्रतिक्रियाओ के बावजूद भी विज्ञान मूल्यात्मक दृष्टि से न कभी तटस्थ रहा है और न ही रह सकता है। अतः अपने ज्ञान की सीमाएँ पहिचानने के लिए हमे उन मूल्य-आधारो को जानना होगा जिन पर वह ज्ञान टिका है और उन विकल्पो को भी ढूंढना होगा, जिनके लिए इस ज्ञान का उपयोग किया जा सकता है।

5 किसी भी विषय के विद्वान् लोग बुद्धिजीवियो का उत्तरदायित्व वहन करते हैं। एक बुद्धिजीवी की ऐतिहासिक भूमिका यही है और यह होनी भी चाहिए कि वह सभ्यता के मानवीय मूल्यो की रक्षा करे। यह उसका विशिष्ट कार्य और दायित्व भी है। इसके अभाव मे बुद्धिजीवी केवल ऐसे तकनीकी और मशीनी व्यक्ति बन कर रह जाएँगे, जो समय के साथ व्यर्थ की छेडछाड करते हैं। ऐसा करने से वे उन सभी विशेष सुविधाओ को गँवा बैठेंगे, जो उन्हे विचार जगत के सदस्य होने के नाते मिली हैं, जैसे अन्वेषण की स्वतन्त्रता तथा समाज के आघातो मे सुरक्षित रहने के लिए अर्द्ध गैर-सरकारी सुरक्षा आदि।

6 ज्ञान का अर्थ क्रियाशीलता के उत्तरदायित्व को वहन करना है, और क्रियाशीलता का दूसरा अर्थ है—समाज को बदलना। एक वैज्ञानिक के रूप मे बुद्धिजीवी का यह विशेष दायित्व है कि वह अपने ज्ञान की क्रियाशीलता को स्वय

करे। चिन्तात्मक-विज्ञान उस उन्नीसवी शताब्दी की देन था, जब नैतिक प्रश्नो पर एक आम राय थी। आवश्यकता का क्रियाशील विज्ञान समाज के समकालीन सघर्षों को प्रतिबिम्बित करता है और आदर्शों के इस युद्ध को चाहिए कि वह हमारे शोध प्रयास मे नए रग भर सके।

7 यदि एक बुद्धिजीवी का दायित्व अपने ज्ञान को क्रियान्वित करना है, तो बुद्धिजीवियो के सगठनो, विशेषकर विश्वविद्यालयो को चाहिए कि वे अपने समय के सघर्षों से तटस्थ न रहे। व्यवसायो का राजनीतिकरण आज केवल वाञ्छनीय ही नही, बल्कि ऐसी स्थिति है जिससे बचा भी नही जा सकता।

यद्यपि कोई भी उत्तर-व्यवहारवादी उपरोक्त सभी सिद्धान्तो से एक साथ सहमत नही है, तथापि डेविड ईस्टन का दावा है कि उन्होने 'उनकी अधिकतम प्रतिभा को सूक्ष्म रूप मे' प्रस्तुत किया है। ईस्टन ने आगे लिखा है कि आज की दुनियां तीव्र गति से बदल रही है और राजनीति-विज्ञान यह दावा नही कर सकता कि उसका विकास सम्पूर्ण हो चुका है। यह मानना भ्रामक होगा कि व्यवहारवाद राजनीति विज्ञान के क्षेत्र म अपने अन्तिम शब्द कह चुका है। यद्यपि काफी लम्बे समय से राजनीति विज्ञान ऐसे मॉडल बनाता रहा है जो एक अच्छे शास्त्र और समुचित शोध के लिए आवश्यक हैं तथा व्यवहारवादी मॉडल इस शताब्दी की लम्बी शृ खला का अन्तिम मॉडल है, तथापि आधुनिक विश्व की नई परिस्थितियां हम विवश करती हैं कि हम अपनी भावी और वाञ्छनीय प्रतिमा पर पुर्नविचार करें। अनेक ऐसी स्थितियां घटित हुई हैं जिनकी व्यवहारवादी या गैर-व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान ने कोई भविष्यवाणी नही की थी,। वस्तुत राजनीति वैज्ञानिको ने सन् 1960 की दुनियां को पहचानने मे जो प्रभावहीनता प्रदर्शित की, उसने उत्तर-व्यवहारवादी क्रान्ति को जन्म दिया जो अब फलती-फूलती जा रही है। समय की मांग है कि हम परिवर्तनशील परिस्थितियो को पहचानने, व्यवहारवादी या गैर व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान के प्रति शाश्वत रूप से निष्ठावान बने रहने के स्थान पर अपनी पुरानी प्रतिमाओ को आवश्यकतानुसार बदलने को उद्यत रहे। इस बात म कोई तुक नही कि राजनीति विज्ञान वही सब कुछ करता रहे जो वह विगत कुछ दशको से कर रहा है। इसके विपरीत आशा यह करनी चाहिए कि एक ऐसा युग किसी दिन आएगा जिस दिन समय के अनुसार राजनीतिक प्रक्रियाओ को *समझने का एक अधिक विश्वसनीय मॉडल प्रस्तुत हो सकेगा।* हम इस तथ्य को नजर अन्दाज नही करना चाहिए कि मनुष्य की भौतिक सृजनशीलता, प्राविधिक *विकास और समृद्धि ने राजनीतिक तथा सामाजिक प्रक्रियाओ को समझने का एक* नया क्षितिज दिया है। यह एक उत्साहजनक स्थिति है कि राजनीति विज्ञान और अन्य सभी सामाजिक विज्ञानो का उत्तर-व्यवहारवादी आन्दोलन हमारे विषय की एक नई प्रतिमा प्रस्तुत कर रहा है जिसके फलस्वरूप राजनीतिशास्त्रियो पर नए उत्तरदायित्व आए हैं। उत्तर-व्यवहारवादी आन्दोलन का कहना है कि शोध-कार्य मे प्रगति होनी चाहिए। उत्तर-व्यवहारवादी क्रान्ति की मान्यता है कि ससार इस

इस प्रकार से रचा जाना चाहिए कि राजनीति वैज्ञानिक अपने व्यवसाय की दृष्टि से इतने सक्षम हो कि ऐसे उपचार बतला सकें और कार्य कर सकें, जिससे मानवता की कसौटी पर राजनीतिक जीवन उन्नत बन सके।

उत्तर-व्यवहारवाद शोध तकनीकों की प्रति का आलोचक है तथापि, जैसा कि ईस्टन ने लिखा है—"इस तथ्य को अस्वीकारा नहीं जा सकता कि शोध की तकनीकी यथेष्टता भी अनिवार्यता है। यदि ऐसा न होता तो ज्ञान के समस्त क्षेत्रों में परीक्षणात्मक विज्ञान का गत दो हजार वर्षों का सारा विकास निरर्थक हो गया होता।"

उत्तर-व्यवहारवादियों के अनुसार व्यवहारवादी शोध यथार्थता से इतना विलग है कि हमारे अध्ययन शास्त्रों की मांगों को पूरा नहीं कर सकता। व्यवहारवादी का विज्ञानवाद एक बोझ बन गया है। इस सम्बन्ध में उत्तर व्यवहारवादी भी दो खेमों में विभाजित हैं—विद्वानों के एक पक्ष ने विज्ञान को तिलांजलि दे दी है तो दूसरा पक्ष व्यवहारवादी विज्ञान में कुछ न कुछ आस्था रखे हुए समुचित अपनी शोध को अधिक सगत बनाने के पक्ष में है। दोनों पक्षों की चिन्तनधारा को डेविड ईस्टन ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

अनेक उत्तर व्यवहारवादियों ने तो आज अपने नैतिक एवं राजनीतिक आत्मघात के भय से विज्ञान को ही पूरी तरह तिलांजलि दे दी है। वे मानने लगे हैं कि विज्ञान आज की सम-सामयिक आवश्यकताओं को मानने में सर्वथा अक्षम है। कुछ अन्य लोग जो विज्ञान में अन्तर्निहित दोष ढूंढते हैं अब अपनी मान्यताओं को उचित मानने लगे हैं। किन्तु उन उत्तर व्यवहारवादियों के लिए जो आज भी आधुनिक व्यवहारवादी विज्ञान में अपनी आस्था रखते हैं आज का संकट यह प्रश्न उपस्थित करता है कि वैज्ञानिक शोध की सामान्य तकनीकों में निष्ठा रखना उचित भी है अथवा नहीं। ये उत्तर व्यवहारवादी यह निष्कर्ष निकालने पर विवश हुए हैं कि हमारे पास हमारी अपनी शोध को अधिक सगत बनाने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं है। इसके अनुसार ऐसा करने के लिए हमें चाहिए कि हम अपनी व्यावसायिक शक्तियों का आज की समस्याओं पर शोध, उनके प्रति कर्मण्यता के भाव एवं निदान की दिशाओं पर व्यय करें। संक्षेप में हमसे यह कहा जा रहा है कि हम अपनी स्वयं की प्रतिमा को बदलें और ऐसा करने के लिए मन्दगति से बढ़ने वाली मौलिक शोध की मांगों को विलम्बित कर उपलब्ध ज्ञान के तात्कालिक प्रयोग के लिए अपनी व्यवसायिक क्षमता से कार्य करें।

हमें अपने मौलिक विज्ञान के ऐतिहासिक उद्देश्यों के परित्याग की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसी तकनीकें हैं, जिनसे हम आज के असाधारण रूप से नाजुक संकटों का सामना करते हुए अपनी इन परम्पराओं को भी सुरक्षित रख सकते हैं। इस मार्ग को अपनाने वाला उत्तर व्यवहारवाद, व्यवहारवादी शोध के लिए कोई भय न माना जाकर उसी का एक ऐसा विस्तार मात्र माना जाना चाहिए, जिसके द्वारा आज के युग की असाधारण समस्याओं से निपटा जा सके।"

उत्तर-व्यवहारवादी क्रान्ति, ईस्टन के अनुसार, हमारे अपने ज्ञानशास्त्र की आदर्श प्रतिमा को जैसा कि उस व्यवहारवादियों ने प्रस्तुत की है, बदलना चाहती है। उत्तर-व्यवहारवाद का आग्रह है कि हमारे प्रयासों में आदर्श वितरण की दृष्टि से मौलिक शोध पर अनुपात से अधिक बल दिया जाना चाहिए। यद्यपि इस प्रकार की शोध के सामाजिक दृष्टि से उपयोगी परिणाम बहुत दूरगामी होते हैं तथापि अन्ततोगत्वा वे अधिक विश्वसनीय रहते हैं। आज के संकटों के दबाव के सामने हमें अपनी प्राथमिकता बदलनी होगी। हमें यह मान लेना होगा कि हमारे अध्ययन-उपकरण और हमारी सामान्यीकृत मान्यताएँ चाहे कितनी ही अपर्याप्त हों, किन्तु उनके द्वारा आज की प्रत्यक्ष समस्याओं का सरल और शीघ्रतम समाधान ढूंढना होगा।

"हम आदर्शवादी विज्ञान का व्यवहारवादी तर्क लेकर आज यह नहीं कह सकते कि हमारी समझदारी की सीमाओं के कारण हमारे प्रयोग अपरिपक्व हैं और हमें भावी मौलिक शोधों की प्रतीक्षा करनी चाहिए।" पुनश्च, "आज हमें अपनी व्यवहारवादी प्रतिमा को इतना ताडना तो आवश्यक है कि संकट के इस नाजुक दौर में हमारा अध्ययन-शास्त्र हमसे आज की राजनीति की केवल दृश्य जगत् की मूल सच्चाइयों को ढूंढने मात्र पर ही हमारे सारे प्रयास अपव्यय करने के लिए न कहे। हमें अपना सन्तोष तात्कालिक समस्याओं के तात्कालिक उत्तरों की आवश्यकता से ढूंढना होगा।" उत्तर-व्यवहारवाद की धारणा को, व्यवहारवाद के प्रति उसके असन्तोष को स्पष्ट करते हुए ईस्टन ने आगे लिखा है—

"उत्तर-व्यवहारवाद की सबसे बडी शिकायत यही रही कि हमारी शोध का कोई औचित्य नहीं है। यह तर्क दिया जाता है कि तकनीकों और तथ्यात्मक वर्णनों में ही आवश्यकता से अधिक उलझे रहने के कारण हम महत्त्वपूर्ण प्रश्नों से दूर चले गए हैं और वह बात अमेरिकी जनतन्त्रात्मक व्यवस्था के व्यवहार पर अधिक लागू होती है। हमने इस व्यवस्था के विषय में गत वर्षों में बहुत कुछ सीखा है किन्तु ऐसा करते समय हम मूल्यों के उस घेरे में घिरे रहे हैं, जो या तो हमारे आचरण को सन्तोषजनक मानता है या उसी में थोडी बहुत वृद्धि की बातें करता है। एक अध्ययन-शास्त्र के रूप में हम अपनी राजनीतिक व्यवस्था के प्रति निष्ठा के भाव से अपने को बचाने में असमर्थ रहे हैं। उत्तर-व्यवहारवादियों का कहना है कि शोध की इसी मन्द दृष्टि से सत्तात्मक निर्णयों के पीछे जो सक्रिय मूल तत्त्व होते हैं, उन्हें पहिचानने के लिए जिन सही प्रश्नों को पूछने की आवश्यकता है उनसे हम निरुत्साहित किया है। यहाँ हमें उत्तर-व्यवहारवादी एक बार फिर चेतावनी दे रहे हैं जो कुछ-कुछ वैसी ही है जैसी कि मार्क्स वेबर, मानहाईम आदि समय-समय पर देते आए हैं। इनका कहना है कि शोध चाहे विशुद्ध हो अथवा प्राविधिक, वह आवश्यक रूप से कुछ मूल्यों की आधारभूमि में गडी होती है। किन्तु फिर भी यह 'मिथ' की शोध तटस्थ और मूल्य मुक्त हो सकती है अभी मरी नहीं है। हम अपने अध्ययन-शास्त्र का विकास यह समझ कर करते रहे हैं कि हमारे द्वारा चयनित विषय, अनुसन्धानित तथ्य संग्रहित सामग्री और प्रस्तुत व्याख्याएँ ऐसी हैं, जो असाधारण रूप से मौलिक हैं और उन्हें हमारे चेतन अथवा अचेतन के मूल्य-आधारों

ने विकृत नहीं किया है। हम ज्ञान के समाजशास्त्र से सम्बन्धित यह केन्द्रीय प्रश्न अपने-आप में निरन्तरता से नहीं पूछते कि हमारी भूलें, अभाव और व्याख्याएँ किस सीमा तक हमारी अज्ञानता तकनीकी अपर्याप्तता तथा अन्तर्दृष्टि एवं समुचित सामग्री के अभाव के कारण हैं अथवा हमारे अपने मूल्यात्मक पूर्वाग्रहों के कारण जिस उत्साह से हम अपनी प्राविधिक आविष्कारों को दुनियाँ में अपने क्रियाशील मूल्यों को पहचानने और परीक्षित करने में व्यग्र रहे हैं, वैसा उत्साह व्यवहारवादियों की पीढ़ी नहीं दिखा सकी है।

ईस्टन के अनुसार हमने उन महत्त्वपूर्ण समस्याओं से जो हमारे अध्ययन शास्त्र को आन्दोलित करनी चाहिए, अपनी आँखें सामूहिक रूप से बन्द कर रखी हैं। उदाहरणार्थ हम यह कैसे सिद्ध करेंगे कि जनतन्त्र की वर्तमान बहुलवादी व्याख्याएँ जो सन् 1960 से उत्पन्न होने वाली राजनीतिक आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति को पहचानने समझने और भविष्यवाणी करने में सक्षम थीं, क्या असफल हो गई। हमारे पास इसका क्या उत्तर है कि हमने राजनीतिक व्यवस्था में शक्ति वितरण के प्रश्न को क्यों गौण माना जबकि यह प्रश्न उन बहुत से उपायों से सम्बन्धित है जो माँगों की अभिव्यक्ति में हिंसा को रोक सकते हैं। इस कठिनाई का आज हमारे पास कोई समाधान नहीं है कि एक अध्ययन शास्त्र के रूप में राजनीति-विज्ञान घर और बाहर दोनों ही दिशाओं में राष्ट्रीय नीति की मूल मान्यताओं में निष्ठा के प्रश्न से क्या कतराता रहा? ईस्टन ने आगे प्रश्न किया है कि इसका क्या कारण है कि 'राजनीतिक समाजीकरण जैसे शास्त्र के नवीनतम क्षेत्र में भी राजनीतिक परिवर्तन को लाने में सामाजीकरण के योगदान की उपेक्षा कर हमारे निष्प्रयोज्य अनुसन्धान व्यवस्थाओं की स्थिरता सम्बन्धी वक्तव्य निष्कर्ष से आगे नहीं बढ़ सके हैं। उत्तर-व्यवहारवादियों का आग्रह है कि हम सृजनात्मक चिन्तन का विकास करना होगा। हम वे परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी चाहिए जिनके द्वारा एक राजनीतिक व्यवस्था के व्यावहारिक स्वरूप से सम्बन्धित मौलिक प्रश्नों को पूछने में सहायता मिलती है। यदि हम ऐसा कर सकेंगे तो वे भयानक अवधारणाएँ स्वतः ही सामने आएँगी जिनके विषय में रावर्ट लिंड हमें एक बार पहले भी प्रताड़ित कर चुके हैं। अपनी मूल्य निष्ठा के प्रति एक नया जागरण और सामाजिक प्रभावों द्वारा सामित की जाने वाली मौलिक शोध की सीमाओं को पहिचानने पर ही यह सम्भव है कि हम अपने कार्य करने के तरीकों में आंशिक सुधार ला सकें। किन्तु यह मौलिक निरीक्षण अपने आप में पर्याप्त नहीं होगा। यदि हम अपनी सांस्कृतिक और पद्धतीय दुर्भावनाओं से पार निकलना है तो इस प्रकार की आत्म-चेतना हम आधे मार्ग तक तो ले जा ही सकती है। हमें अधिक कठोर उपायों की आवश्यकता हो सकती है और ऐसा करने में पुरानी परम्परावादी राजनीतिक शास्त्र हमें आधुनिक ढंग से एक अतिरिक्त सहायता प्रदान कर सकते हैं।'

ईस्टन का अभिमत है कि हमें आज समस्त सृजनात्मक विचारों की आवश्यकता है और इसके लिए समकालीन व्यवहारवादी विज्ञान के निष्कर्षों का न करने की अपेक्षा नया कुछ बनाना है। यह नया कुछ ऐसा होना चाहिए कि वह

राजनीतिक जीवन की घोना और उनके निहितार्थों को वैकल्पिक एवं जटिल मूल्यों के सन्दर्भ में अनिश्चिनित कर सके। इस प्रकार ये सृजनात्मक चिन्तन का राजनीतिक विज्ञान में अत्यन्त महत्त्व है जो लोग यह जानना चाहते हैं कि राजनीतिक व्यवस्था कैसे चलती है उन्हें इस प्रकार का चिन्तन ऐसे वैकल्पिक दृष्टिकोण देता है जिससे वे अपनी माँग तथा विश्लेषण की समस्याओं के चयन का निर्धारण कर सकते हैं। यदि हम ज्ञान के समाजशास्त्रियों के निष्कर्षों को गम्भीरता से देखें तो हमें विदित होगा कि हमारी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ हमारे नैतिक दृष्टिकोणों से निर्मित होती हैं। इस स्थिति से अपने अध्ययन शास्त्र में सृजनात्मक चिन्तन को प्रोत्साहित न करने का कार्य कर हम अपने को ऐसे बन्दी की स्थिति में डाल रहे हैं जो बदलते हुए मूल्यों के साँचे की सीमाओं में बंधकर रह गया है। जैसे-जैसे इस मूल्य व्यवस्था में सामाजिक समस्याओं का औचित्य घटता है वैसे वैसे ही इस व्यवस्था को जीवित रखने की निष्ठा हमें उन प्रश्नों के प्रति अन्धा बना रही है, जो निकट भविष्य की परिस्थिति से उद्‌गामित होंगे।

ईस्टन के अनुसार हमारा अध्ययन शास्त्र ही नहीं बल्कि हमारा व्यवसाय भी आज पुनर्व्यवस्थापन चाहता है। यह पुनर्व्यवस्थापन आज के समाज विज्ञान की बदलती अवधारणाओं के सन्दर्भ में और भी अधिक आवश्यक बन गया है। अध्ययन शास्त्र केवल हमारे बौद्धिक उद्यम तक ही सीमित है जबकि व्यवसाय में हम उन प्रशिक्षित एवं विशेषज्ञ विद्वानों को लेते हैं जो वर्तमान में इस अध्ययन शास्त्र के विकास में लगे हैं। उत्तर व्यवहारवाद यह चाहता है कि व्यवहारवादी निष्ठा द्वारा हम अपने अध्ययन-शास्त्र (Discipline) को व्यवसाय के स्तर पर ले आएँ और आज के विश्व की राजनीतिक यथार्थताओं के साथ उसका औचित्य स्थापित करें।

अनेक उत्तर व्यवहारवादियों ने गत कुछ वर्षों से हमारे बुद्धिजीवियों की गतिविधियों का परीक्षण कर यह निष्कर्ष निकाला है कि हमारे राजनीति वैज्ञानिक की प्रतिभा का उपयोग सरकार, व्यापार, सेना और स्वतन्त्र संगठनों के समाज के कुछ सम्भ्रांत (Elite) समूहों के हित साधन के लिए हुआ है। आज के व्यवसायवादी का उन लोगों से सम्बन्ध एवं सम्पर्क नहीं के बराबर है जिन्हें आधुनिक औद्योगिक समाज के सबसे कम लाभ मिले हैं। अमरिकी समाज में ये समूह जातीय एवं आर्थिक अल्पसंख्यकों के रूप में देखे जा सकते हैं जिन्हें व्यवस्था से प्रतिनिधित्व नहीं मिल सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उपनिवेशों का एक बड़ा जन-समूह इसी श्रेणी में आता है। इन समुदायों के उस विशेषीकृत ज्ञान को, जिससे कम लाभ मिला है, जिनकी जानकारी आज के राजनीति विज्ञान के पास है। अतः आज के राजनीति विज्ञान का यह सामाजिक दायित्व है कि इस असन्तुलन को ठीक करे।

उत्तर व्यवहारवादी इस दृष्टिकोण की यह माँग है कि सामाजिक सुधारों के लिए विशिष्ट ज्ञान का प्रयोग और ज्ञान के लिए ज्ञान प्राप्ति के विचारों में एक स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा होनी चाहिए। सुधार ज्ञान का एक अविभाज्य अंग है और ऐसा ही माना भी जाना चाहिए।